

* तत्सद्ब्रह्मणे नमः *

श्रीभवाब्धिमथनमन्दराय नमः

श्रीसकलगुणविज्ञानमन्दिराय नमः ।

अथ



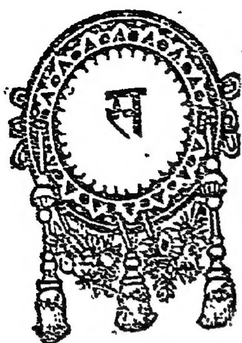
श्रीमद्भगवद्गीता

ज्ञानाख्ये तृतीयषट्के

* पञ्चदशोऽध्यायः *

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!



सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकारिणे ।
नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे ॥ १

फुल्लेन्दीवरकान्तमिन्दुवदनं बर्हावतंसप्रियं,
श्रीवत्सांकमुदारकौस्तुभधरं पीताम्बरं सुन्दरम् ।
गोपीनां नयनोत्पलार्चिततनुं गोगोपसंघावृतं,
गोविन्दं कलवेणुवादनपरं दिव्यांगभूषं भजे ॥ २

गोविन्देति सदा स्नानं गोविन्देति सदा जपः ।
गोविन्देति सदा ध्यानं सदा गोविन्दकीर्तनम् ॥ ३

कृष्णे रताः कृष्णमनुस्मरन्ति रात्रौ च कृष्णम्पुनरुत्थिता ये ।
ते भिन्नदेहाः प्रविशन्ति कृष्णं हविर्यथा मन्त्रहुतं हुताशे ॥ ४

अहा ! सखे ! आज शीतल मन्द सुगन्ध वायुकी लपट किधरसे चली आरही है हो न हो किसी ओर एक पुष्पवाटिका समीपमें उपस्थित है थोडा आगे बढकर अजी है वह देखो ! सामने एक अद्भुतवाटिका ही तो दृष्टिगोचर होरही है जिसके चारों ओर नाना प्रकारके वृक्ष अति सुन्दर सुहावने मञ्जर, पुष्प और फलोंसे लदे देख पडते हैं पर क्या ही आश्चर्य्यजनक लीला है, कि जितने वृक्ष हैं सबोंका मूल आकाशकी ओर और टहनियां नीचे पृथ्वीकी ओरे फैली हुई हैं । अर्थात् सबके सब वृक्ष उलटे लटके हुए हैं इन सबोंमें दो-दो फल भी लटकरहे हैं जिनमें एक श्वेत और दूसरा कृष्णवर्णका है जिनसे रस टपक-टपक कर श्वेत और कृष्णवर्णकी दो सरिताएं बन आगे जा एकसंग मिलती

हुई ऐसी शोभा देरही हैं मानो गंगा और यमुना लहरें लेतीहुई श्रीप्रयागराजमें मिलरही हैं।

इन वृक्षोंपरे समानरूपसे दो-दो पक्षी एक दूसरेकी ओर पीठ किये बैठे हैं। इनमें एक तो चोंच मार-मार कर दोनों फलोंका रस पीरहा है और दूसरा केवल टकटकी लगाये उसे देखताहुआ चुप साधे बैठाहुआ है न कुछ बोलता है, न खाता है, न हिलता है और न डोलता है अधिक क्या कहूं तनक पर भी नहीं मारता। क्या ही आश्चर्य है ? किसीसे पूछना चाहिये, कि यह कौनसी वाटिका है? और ये ऐसे वृक्ष किसके लगायेहुए हैं? ये दोनों प्रकारके फल क्या हैं और ये दोनों पक्षी कौन हैं? कुछ आगे बढकरे अहा! वह देखो दाहिनी ओर महाभारतकी रणभूमिमें रथपर आरूढ श्रीआनन्द-कन्द व्रजचन्द अर्जुनके प्रति इन ही वृक्षोंके फल और पक्षियोंका वृत्तान्त कहरहे हैं चलो हमलोग भी चलकर सुनें क्या कहते हैं।

मू०— ऊर्द्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१

पदच्छेदः— ऊर्द्ध्वमूलम् (महत्वात् क्षराक्षराभ्यामुच्छ्रित-मुत्कृष्टं परमानन्दस्वरूपम् ब्रह्म मूलकारणं यस्य तम् । अथवा सर्वोत्कृष्टे ब्रह्मणि मूलं यस्य तम्) अधःशाखम् (ऊर्द्ध्वादधोधः सोपानस्था-नीयाः शाखा इव शाखा अव्यक्तमहदहंकार पंचतन्मात्रा षोडशविकार-हिरण्यगर्भविराट्प्रजापतिसुरगन्धर्वासुरनरतिर्यक्स्थावररूपा यस्य तम्) अश्वत्थम् (पिप्पलम् । स्वरूपेण विनाशरहितया प्रभातपर्यन्तमपि

न स्थास्यतीति विश्वासानर्हं क्षणभंगुरं मायामयं संसारवृक्षम्) अव्य-क्तम् (अनादिकालप्रवृत्तत्वात् प्रवाहरूपेण विच्छेदात् व्ययरहितम् । नित्यम् । कालत्रयेऽपिनाशशून्यम्) प्राहुः (कथयन्ति) यस्य (संसार रूपाश्वत्थवृक्षस्य) छन्दांसि (ऋगादयश्चत्वारो वेदाः) पर्णानि (पत्राणि) तम् (एवम्भूतमश्वत्थवृक्षम) यः, वेद (जानाति) सः, वेदवित् * (वेदार्थवित्) ॥ १ ॥

पदार्थः— (ऊर्ध्वमूलम्) ऊपरको जिसका जड है तथा (अधःशाखम्) नीचे मुंह जिसकी शाखाएं हैं ऐसा जो (अश्वत्थम) स्वरूप करके नाश होनेवाला पीपलका वृक्ष (अव्ययम) प्रवाहरूपसे जो नित्य (प्राहुः) कहागया है (छन्दांसि) चारों वेद (यस्य) जिसके (पर्णानि) पत्ते हैं (तम) तिस वृक्षको (यः) जो पुरुष (वेद) जानता है (सः) वही (वेदवित्) वेदोंका अर्थ ठीक-ठीक जानने वाला है ॥ १ ॥

भावार्थः— श्रीजगत्‌हितकारी गोलोकविहारी मदनमुरारी गिरवरधारीने जो पिछले १४ वें अध्यायमें अर्जुनके तीसरे प्रश्नका यों उत्तर दिया, कि हे अर्जुन ! मैं ही सर्वसुखरूप ब्रह्मकी प्रतिष्ठा अर्थात् वास्तविकस्वरूप हूं, जिसकी भक्ति करनेसे प्राणी गुणातीत

* संसारवृक्षस्य हि मूलं ब्रह्म हिरण्यगर्भादयश्च जीवाः शाखास्थानीयाः स च संसार-वृक्षः स्वरूपेण विनश्वरः प्रवाहरूपेण चाव्ययः स च वेदोक्तैः कर्मभिः सिच्यते ब्रह्मज्ञानेन च छिद्यते इत्येतावान् हि वेदार्थः ।

होकर परमानन्द लाभ करताहुआ अक्षयसुखको प्राप्त होजाता है सो 'भक्ति' बिना संसारसे विरक्त हुए नहीं प्राप्त होसकती और जब तक किसी वस्तुकी भलाई बुराईका पूर्ण बोध न हो तब तक उससे विरक्ति नहीं प्राप्त होसकती। इसी कारण भगवान् संसारको क्षणभंगुर बताकर अर्जुनके हृदयमें संसारसे विराग उत्पन्न करानेके तात्पर्यसे इस पन्द्रहवें अध्यायमें इस संसारको अश्वत्थवृक्षका रूप बनाकर उसे असंगरूप कुठारसे छेदन करवाकर निज चरणारविन्दोंकी भक्तिका उपाय बतातेहुए कहते हैं कि, [ऊर्द्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्] यह जो सम्पूर्ण विश्व एक अश्वत्थके वृक्षके समान है तिसकी जड ऊपरकी ओर है और डालियां नीचेकी ओर फैलीहुई हैं तिसे विद्वान् लोग 'अव्यय' अर्थात् नित्य कहते हैं।

अब यहां प्रथम यह विचारने योग्य है, कि इस विश्वको भगवान्ने अश्वत्थ वृक्षसे क्यों उपमा दी? यदि वृक्ष ही से उपमा देनी थी तो अन्य जो आम, जामुन, अशोक, शाल्मली, उदुम्बर, सेव, नाशपाती इत्यादि अनेक प्रकारके स्वादु फलदायक वृक्ष हैं उनसे उपमा देते।

उत्तर यह है, कि प्रथम तो अश्वत्थ सब वृक्षोंमें विशाल होता है जिसका विस्तार अधिक होता है इसी प्रकार इस संसारका विस्तार अधिक है अर्थात् ब्रह्मलोकसे पाताललोक पर्यन्त फैलाहुआ है। दूसरा यह, कि आम, जामुन, सेव, नाशपातीके फलोंको मनुष्य भोजन करते हैं और अश्वत्थके फलोंको कोई मनुष्य भोजन नहीं करता

केवल पशु पक्षी भक्षण करते हैं। इसी प्रकार संसाररूप वृक्षके फलों को केवल अज्ञानीजन जो पशु पक्षीके समान हैं भोजन करते हैं कोई ज्ञानी इस संसाररूप अश्वत्थवृक्षके फलोंमें जानबूझकर हाथ नहीं लगाता क्योंकि इसके फल खानेयोग्य नहीं होते केवल देखनेमें फल,पत्ते और डालियां अधिक होती हैं। फिर तीसरा कारण इसे अश्वत्थ कहनेका यह भी है, कि यह विशेषकर हस्तियोंका आहार होता है इसी कारण अमरकोशादि कोशोंमें इसका नाम 'कुञ्जराशन' है और मत्त होने के कारण इस मनकी उपमा मतंग (गज) से है सो यह संसारियोंके मन-रूप मतंगका आहार है यह मन इस संसारके विषयोंको बडी रुचिसे भोजन करता है और भोजन करते समय सुखी होता है पर नित्य भोजनसे क्षणिक तृप्त होकर फिर इसीकी ओर दौडता है इसके भोजन से कभी तृप्त नहीं होता इसी कारण इसको अश्वत्थ कहते हैं।

चौथा कारण इसको अश्वत्थ कहनेका यह है, कि अश्वत्थ शब्दका अर्थ है—" कामकर्मवातेरितनित्यप्रचलितस्वभावत्वात् आशुविनाशित्वेन श्वोऽपिस्थास्यतीति विश्वाशानर्हत्वाच्च मायामयः संसारवृक्षः "।

अर्थ— काम्यकर्मोंके पवनसे प्रेरित नित्य डावांडोल दायें बायें हिलताहुआ चञ्चल स्वभाववाला है और शीघ्र नाश होनेके कारण जिसमें ऐसा विश्वास नहीं होता, कि 'श्वः' प्रातःकाल पर्यन्त इस की स्थिति रहेगी वा नहीं ऐसा जो मायामय संसार तिसे अश्वत्थ कहते हैं।

अब वह अश्वत्थवृक्ष कैसा है, कि उदुर्ध्वमूल अर्थात् ऊपरको जिसकी जड है अर्थात उलटा वृक्ष है।

यदि शंका हो, कि अश्वत्थ वृक्षसे जब भगवान्‌ने उपमा दी तो वृक्षसे उपमा देनेमें तो यह दोष आता है, कि संसारमें किसी भी वृक्ष का मूल ऊपरको नहीं होता फिर इस वृक्षका मूल ऊपरकी ओर कहकर क्यों उपमा दी ?

उत्तर यह है, कि प्रायः देखा जाता है, कि श्रीगंगाजीके तटपर जो पीपल इत्यादिके वृक्ष होते हैं वे गंगाजीके प्रवल प्रवाहसे तटके कटजानेके कारण वायुके झकोडोंसे गिरकर उलटे मुंह होजाते हैं। वैसे ही यह संसाररूप अश्वत्थवृक्ष भी ब्रह्मप्रवाहरूप गंगाके तटपर मायाकी वायुके घोर झकोड़ोंसे चोटें खाकर उलटा होरहा है इसी कारण भगवान्‌ने इसको उलटे वृक्षसे उपमा दी है, कि इस संसारका मूल कारण जो वह महद्ब्रह्म सो सबोंसे ऊपर है और उसके नीचे संसार फैला हुआ है इसलिये इसको उलटा कहागया है। इसको उलटा कहनेका दूसरा मुख्य कारण यह भी है, कि जिसके विषय भगवान्‌ पिछले अध्यायमें कह आये हैं, कि “मह्द्योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन गर्भं दधाम्यहम। सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत!” (अ० १४ श्लो० ३) हे भारत! महद्ब्रह्म जो मेरी योनि है जिसमें चित्संवितरूप बीज डालता हूं तिससे ब्रह्मादि सब भूतोंकी सृष्टि होती है सो महद्ब्रह्म, ब्रह्मलोकादि सम्पूर्ण लोकोंसे उत्कृष्ट और ऊंचा है और सो ही इस संसाररूप वृक्षका मूल कारण है इसलिये इस संसारवृक्षको ऊर्ध्वमूल कहा।

अब भगवान् कहते हैं, कि " अधःशाखम् " इस वृक्षकी सब शाखाएं नीचे मुंह हैं सो कहनेका अभिप्राय यह है, कि तिस महद्ब्रह्मसे नीचेकी ओर रचनाकी डालियां बढती चलीगयी हैं। अर्थात् तिस ब्रह्मरूप मूलसे जिसकी प्रधान शाखा अव्यक्त है जिसे प्रकृतिके नामसे पुकारते हैं। एवम्प्रकार महत्तत्त्व अहंकार, पांचो तन्मात्राएं, पांचों महाभूत, हिरण्यगर्भ, विराट्, प्रजापति, देवगण, गन्धर्व, असुर, नर, पशु, पक्षी तथा स्थावर इत्यादि इसी महद्ब्रह्मसे उत्पन्न हैं अर्थात् चारों खान और चौरासीलक्ष योनियां ये सब शाखा-प्रशाखा-रूपसे नीचे मुंह फैल गयीं। अधिक कहांतक कहूं इस वृक्षकी शाखाओंकी गणना नहीं होसकती जब तारागणोंकी ओर दृष्टि करोगे तो असंख्य और अप्रमाण डालियां नीचे मुंह लटकी हुई देख पडेंगी। इसी कारण भगवानने इसे " अधःशाखम् " कहकर पुकारा है।

अब भगवान् इस अश्वत्थको 'अव्यय' कहरहे हैं अर्थात् यह अश्वत्थ कभी नाशको प्राप्त नहीं होता नित्य है और शाश्वत है। क्योंकि जो अनादि और अनन्त है उसीको अव्यय कहते हैं पर अश्वत्थ कहकर अव्यय कहना अयोग्य देखपडता है क्योंकि अश्वत्थ शब्दका अर्थ पहले ऐसा करआये हैं, कि क्षणभंगुर और नश्वर होनेका कारण एक दिन भी जिसके ठहरनेका विश्वास न हो तिसे ' अश्वत्थ ' कहते हैं और अब उसे अव्यय कहरहे हैं तो अश्वत्थ और अव्यय शब्दमें आग पानीके समान एक दूसरेसे प्रतिकूलता है फिर एकही संसारको अश्वत्थ औरअव्यय दोनों कहना कैसे बनसकता है ?

उत्तर यह है, कि इस संसारकी स्थिति दो प्रकारसे है एक स्वरूपतः दूसरी प्रवाहतः। तहां स्वरूपतः उसे कहिये जो आकृति अर्थात नाना प्रकारकी वस्तुवस्तुओंके आकारोंको लिये हुए स्थित हो और प्रवाहतः उसे कहिये जो स्वरूपकरके तो स्थित न हो पर बारम्बार फिर वही तत्व भिन्न २ स्वरूपोंमें उत्पन्न हुआ करे अर्थात् अनादिकालसे जो उत्पन्न होहोकर नाश हुआ करे। तात्पर्य यह है, कि जिसके बनने और बिगड़नेका अन्त न हो। सो यह सृष्टि स्वरूपतः तो नाश होजाती है पर प्रवाहरूपसे इसका कभी नाश नहीं है यह तो उस अविनाशी ब्रह्ममें गुप्त वा प्रकटरूपसे निवास किये रहती है इसलिये प्रवाहरूपसे इसकी सदा स्थिति है सो वेदमन्त्रोंसे भी सिद्ध है– " सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् " अर्थात् वर्त्तमान सृष्टिकी रचना करते हुए धाताने इन सूर्य, चन्द्र इत्यादिकी वैसी ही रचना करदी जैसी पूर्वमें थी।

इस वेदमन्त्रसे सृष्टिका अनादि होना तथा अनन्त होना भी सिद्ध होगया अतएव प्रवाहरूपसे यह सृष्टि अव्यय है।

अब विचारवानोंको भगवत्के वचनमें किसी प्रकारकी शंका न करके ऐसा समझना चाहिये, कि भगवानने स्वरूपकरके तो इसे " अश्वत्थ " अर्थात् नश्वर कहा और प्रवाह करके इसे अव्यय अर्थात् नाशरहित कहा।

भगवान्के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि यह संसाररूप वृक्ष ऊर्द्ध्वमूल, अधःशाख तथा अव्यय है अर्थात् ऊपर जड़ नीचे डाल और स्वरूप करके नाशमान तथा प्रवाह करके अविनाशी है।

दूसरा कारण इसके अव्यय कहनेका यह है, कि स्थूलरूपसे तो यह नश्वर है परे सूक्ष्मरूपसे परमाणु होनेके कारण नित्य है क्योंकि जितनी वस्तु हैं ये सब नष्ट होकर परमाणुरूपमें रहजाती हैं परमाणुओंका नाश नहीं होता ये परमाणु अत्यन्त छोटे होते हैं जिनको नेत्र नहीं देखसकता। देखो यह जो तुम्हारे सामने एक कागद रखा हुआ है इसको किसी दीपककी लौमें लगादो तो यह जलकर भस्म होजावेगा फिर उस जले हुए भस्मको हथेलियोंसे मलडालो तो यह सारा भस्म परमाणुस्वरूप होकर इसप्रकार आकाशमें फैलजावेगा, कि कुछ भी देखनेमें नहीं आवेगा। इसी प्रकार इस संसारमें सूर्य, चन्द्र, तारागण, जल, पृथ्वी तथा ब्रह्मलोकसे लेकर पाताल पर्यन्तके लोकलोकान्तरोंमें जितनी वस्तुतत्त्व तथा देव, गन्धर्व, किन्नर, असुर, नर, पशु, पक्षी इत्यादि हैं सब नाश होकर परमाणुरूपमें हो आकाशमें फैल जावेंगे तिस परमाणुको शास्त्रवेत्ता बुद्धिमानोंने अविनाशी और नित्यरूप कहा है तहां न्यायशास्त्रका प्रमाण है, कि " दोधूयमानास्तिष्ठन्ति प्रलये परमाणवः " (प्राचीनकारिकामें देखो) अर्थात् स्वयं महाभूतोंसे नष्ट होते २ प्रलयकालमें केवल परमाणुरूप रहजाता है तहां इनके नष्ट होजानेका क्रम यों है, कि प्रलयपयोधिजल अर्थात् प्रलयकालमें जब पहले जलकी वृद्धि होती है तो यह सागर बढते-बढते इतना विस्तृत होजाता है, कि सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डलको अपने उदरमें डाललेता है तहां यह पृथ्वी अपनी सब वस्तुओंके साथ पानीमें डूबकर ऐसे लय होजाती है जैसे एक घटमें एक छोटीसी लवणकी डली गलकर लय होजाती है तत्पश्चात् प्रलयकालकी अग्निकी वृद्धि होने

लगजाती है, अर्थात् फिर १२ हों सूर्य अपने पूर्ण प्रचण्ड तापसे उदय होते हैं जो सागरकी सम्पूर्ण जलराशिको शोषण करलेते हैं।

तहां पृथ्वी, जल, अग्निके परमाणु एकरूप होजाते हैं पश्चात् प्रलय-कालकी वायुकी वृद्धि होने लगती है पश्चात् वायु इतनी अधिक बढ़जाती है, कि उस अग्निको शमन करदेती है पश्चात पृथ्वी, जल, अग्नि और परमाणु एकरूप होकर आकाशमें फैलजाते हैं और सूक्ष्मरूपसे सदा वर्त्तमान रहते हैं, इनका कभी नाश नहीं होता सो न्यायने इसीके विषय कहा है, कि " **प्रलये परमाणवः** " सबकुछ नष्ट होकर प्रलयकालमें परमाणुरूप रहजाते हैं ये ही भिन्न परमाणु नित्य हैं। तहां परमाणुका कोषोंने भी ऐसाही अर्थ किया है, कि " **पृथिव्यादिभूत-चतुष्टयानां द्व्यणुकानामवयवः स च नित्यः निरवयवः ततः किमपि सूक्ष्मं नास्ति** " इस कारण इस संसारको परमाणुरूपसे भी भगवान्‌ने अव्यय कहा तहां न्यायवाले ऐसा कहते हैं, कि " प्रलयेऽतिस्थूलस्थूलनाशानन्तरं परमाणुक्रियाविभागपूर्वकसंयोगनाशादिक्रमेण द्व्यणुकनाशात्तिष्ठन्ति परमाणवः " अर्थात् प्रलयकालमें अति-स्थूलके नाशहोनेपर परमाणुक्रियाके विभाग होनेसे पहले जो सब परमाणुओंके एक संग मिलनेसे द्व्यणुकादि होकर भूतोंकी उत्पत्ति हुई थी उनके संयोगका नाश होनेसे त्रसरेणु, फिर तिसके नाश हुए द्व्यणुक फिर तिसके नाश हुए परमाणु रहजाता है जो नित्यस्वरूप है।

फिर जब भगवानकी सृष्टिकी इच्छा होती है, तो " तैरेव परमाणुभिराद्युपादानैर्द्व्यणुकत्रसरेण्वादिक्रमेण स्थूलक्षितिजलतेजोमरुतः

सृजति परमेश्वरः " (कुसुमाञ्जलिः) अर्थ— तिस परमाणु आदि उपादानकारणसे प्रथम दो२ परमाणुओंको मिलाकर द्व्यणुक, फिर तीन २ को मिलाकर त्रसरेणु फिर बहुतसे त्रसरेणुओंको मिलाकरे चारों स्थूल तत्वोंको परमेश्वर रचडालता है। एवम्प्रकार परमाणुओंके नित्य प्रवाहके कारण इस मायामय संसारवृक्षको भगवान्ने ' अव्यय ' कहा।

अब जानना चाहिये, कि जैसे पृथ्वीकी रचना और नाश परमाणुओंके संयोग और विभागसे होते रहतेहैं इसी प्रकार जितने लोकलोकान्तर हैं चाहे वे किसी भी तत्वके बने क्यों न हों प्रलयके समय अपने ऊपरवाले तत्वोंमें लय होते हुए नष्ट होजाते हैं अर्थात् जिस क्रमसे वे बने हैं उसी क्रमसे नष्ट होजाते हैं। जैसे पृथ्वी पहले जलमें लय होती है सूर्य्यमण्डल अपने प्रलयके समय पहले वायुमें लयहोता है फिर आकाशमें लय होजाता है ऐसे ही अन्य सब तत्ववालोंकी दशा समझो। इन सिद्धान्तोंसे इस सृष्टिका स्थूलस्वरूप होनेसे नश्वर होना और सूक्ष्मस्वरूपहोनेसे नित्य होना सिद्ध है। तहां श्रुति भी ऐसा ही कहती है— " ऊर्द्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन एतद्वै तत " (कठ० अ० २ वल्ली ३ श्रु० १)

अर्थ— इस संसाररूप अश्वत्थवृक्षका मूल ऊपर और इसकी शाखाएं नीचेकी ओर हैं सो यह वृक्ष प्रवाहरूपसे सनातन है यह पहले दिखला आये हैं। इसका मूल जो ऊपरको है सो क्या है

तो कहते हैं, कि " तदेव शुक्रम् " वही ब्रह्म इसका मूल है जो शुद्ध है तथा पराक्रम है वही ब्रह्म है वही अमृत कहाजाता है फिर जो श्रुतिने नीचे मुख शाखा कही सो उसे स्पष्टकर कहती है, कि उसीमें नीचे मुंह जितने लोकलोकान्तर हैं सब उत्पत्ति, स्थिति और लयं करके उसीके आश्रय हैं अर्थात् उसीमें नीचे मुंह लटके हुऐ हैं ऐसा कोई भी नहीं जो उससे ऊपर होकर वर्तमान हो।

भगवान्ने संसारको पर्वत, सागर, नदी, बन इत्यादिसे उपमा न देकर वृक्षसे ही क्यों उपमादी? तिसका कारण कहते हैं— वृक्षशब्दका अर्थ है " ओव्रश्चू छेदने इत्यस्य धातोः सप्रत्ययान्तस्य रूपं वृक्ष इति " (गोपालयतीन्द्रः) अर्थात् जो छेदन योग्य है अथवा जो सदा छेदन होता रहता है। तात्पर्य यह यह है, कि आत्मज्ञानके तीक्ष्ण कुठारसे यह संसाररूप अश्वत्थ छेदन होजाता है जरा, मृत्यु और अन्य तापत्रय त्रिशूलसे जिसका छेदन होता रहता है इस कारण इसको वृक्ष कहते हैं।

श्रुतियोंने इस शरीरको भी अश्वत्थवृक्ष कहा है क्योंकि यह शरीर भी एक उलटा ही वृक्ष है जिसका मस्तक जो मूलरूप है वह ऊपरकी ओर है और अन्य सब शाखाएं हाथ, पांव इत्यादि नीचे मुंह हैं। इसी कारण इसको भी उलटा अश्वत्थ समझना चाहिये श्रुतियोंने इसी कारण इस शरीरको क्षुद्र ब्रह्माण्ड कहकर पुकारा है।

स्मृतियां भी इसी प्रकार कथन करती हैं— " अव्यक्तमूलप्रभवस्तस्यैवानुग्रहोत्थितः। बुद्धिस्कन्धमयश्चैव इन्द्रियान्तरकोटरः

महीभूतविशाखश्च विषयैः पत्रवांस्तथा ॥ १ ॥ धर्माधर्मसुपुष्पश्च सुखदुःखफलोदयः ॥ २ ॥ आजीव्यः सर्वभूतनां ब्रह्मवृक्षः सनातनः । एतद्ब्रह्मवनञ्चैव ब्रह्मा चरति साक्षिवत् ॥ ३ ॥ एतच्छित्वा च भित्वा च ज्ञानेन परमासिना । ततश्चात्मगतिं प्राप्य तस्मान्नावर्त्तते पुनः ॥ ४ ॥

अर्थ— अव्यक्त जो मायाविशिष्ट ब्रह्म सो है मूल जिसका ऐसे मूलसे जो उत्पन्न हुआ है इसी कारण इसको अव्यक्तमूलप्रभव कहते हैं सो अव्यक्त मूल सबोंसे ऊपरकी ओर है अतएव ऊर्द्ध्वमूल कहागया है तिसी अव्यक्तब्रह्मके अनुग्रहसे इसका उत्थान हुआ है तहां बुद्धि जो महत्तत्त्व सो ही इस वृक्षका स्कन्ध है क्योंकि इसी बुद्धिरूप महत्तत्वसे सृष्टिकी सब डालियां निकलती हैं फिर इन्द्रियोंके जो द्वारे हैं वे ही इस वृक्षके छिद्र हैं ॥ १ ॥

अब इसको महाभूतविशाखाके नामसे पुकारते हैं क्योंकि जो पांचों महाभूत हैं वे ही इस वृक्षकी मुख्य शाखाएं हैं फिर नाना प्रकारके जो विषय हैं उनही विषयोंसे असंख्य पत्रवाला कहाजाता है । फिर धर्म और अधर्म ये दो विलक्षण पुष्प हैं जिसमें फिर इन ही पुष्पों से सुख और दुःख दो प्रकारके फलोंकी उत्पत्ति होती है ॥ २ ॥

जितने जीवमात्र हैं उनकी जीविका इसी वृक्षसे है ऐसा यह ब्रह्मवृक्ष सनातन है क्योंकि यह वृक्ष ब्रह्मके आश्रय है और बिना ब्रह्मभावके किसी अन्य प्रकार छेदन नहीं होसकता । यह संसारवृक्ष ब्रह्मके नामसे पुकाराजाता है जिसमें यह ब्रह्म साक्षीके समान सदा स्थिर रहता है ॥ ३ ॥

ऐसे संसारको प्राणी ब्रह्मज्ञानके परम खड्गसे छेदन और भेदन करके अर्थात् समूल नाश करके निज आत्मस्वरूपको प्राप्त होता है जहांसे फिर उसे लौटकरे संसारसागरमें नहीं आना पडता ॥४॥

शंका— यह स्मृति भी इस वृक्षको छेदन करनेके विषय कहरही है तथा कठोपनिषद्‌की श्रुतिका भाष्य करतेहुए अन्य शंकर इत्यादि महात्माओंने भी इसके छेदन करने ही का अभिप्राय कथनकिया। अब यहां शंका यह होती है,कि जब इस वृक्षका मूल उस ब्रह्मको कहा है तब इसके छेदनके लिये उसी ब्रह्मज्ञानका कुठार क्यों बनाते हैं ? यह कैसे होसकता है, कि ब्रह्महीसे ब्रह्मका छेदन किया जावे ?

समाधान—जैसे लोहसे लोहका छेदन करना संसारमें प्रसिद्ध है अर्थात तीक्ष्ण लोहके कुठारसे मोटे (स्थूल) लोहके बल्लोंको टुकडे-टुकडे करडालते हैं ऐसे ब्रह्मज्ञानसे ब्रह्मकी माया (संसार) का छेदन होजाता है क्योंकि ब्रह्मज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म धारवाला कुठार है और ब्रह्ममाया अत्यन्त स्थूल बल्ली है इसलिये हे वादी ! मैंने तुझको लौकिकदृष्टान्त देकर ज्ञानसे मायाका छेदन बतलाया। लो और सुनो !

बाजीगर जो नाना प्रकारके इन्द्रजालसे लोगोंको मोहता है उसके इन्द्रजालकी पिटारीका पूरा भेद किसी दूसरे विद्वान्को ज्ञात नहीं होता पर उस बाजीगरका जो छोटासा छोकरा सेवक होता है जो बाजीगरकी पिटारी अपने कन्धोंपर ढोता है वह उस पिटारीके संपूर्ण गुप्तभेदोंको जानता है। इसी प्रकार बाजीगरकी छुरी अपने पेटमें प्रवेश करालेता है, शिर कटवालेता है पर उसे किसी प्रकारका

क्लेश नहीं होता क्योंकि उस खेलका भेद वह सब जानलेता है। अतएव उस महाप्रभु महेश्वरकी मायाका भेद केवल उसके निज सेवकको ज्ञात रहता है इसलिये उसको संसारका क्लेश नहीं होता वह संसारको छेदनकर भगवत्पादमें लीन होजाता है। इसी कारण माहेश्वरी मायाका छेदन ब्रह्मज्ञानसे होता है। शंका मत करो!

अब भगवान् कहते हैं, कि [**छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्**] छन्द जो चारों वेदोंके एक लक्ष मन्त्र वे ही इस संसाररूप अश्वत्थ वृक्षके पत्ते हैं जो इनको जानता है वही यथार्थ वेदका जाननेवाला है। अर्थात् जैसे वृक्षकी रक्षा पत्तोंसे होती है ऐसे इस संसारकी रक्षा वेदमन्त्रोंसे ही होती है। यदि वेदमन्त्र न होते तो प्राणियोंके शरीरकी रक्षा लौकिक वा पारलौकिक किसी उपायसे भी नहीं होती।

देखो! इन ही वेदोंके उपवेदमें एक आयुर्वेद है जिसके द्वारा सर्वसंसारमात्रकी जडी बूंटियोंका बोध प्राप्त होता है। जिनके प्रयोग करनेसे ज्वर, प्लीहा, खांसी, काश, श्वास इत्यादि रोगोंके कठिन दुःख से प्राणियोंकी रक्षा होती है। किस समय भोजन, स्नान इत्यादि करना? किस समय न करना? सब बातोंका बोध इन ही वेदमन्त्रोंसे होता है जिसके अनुसार शरीरयात्रा सम्पादन करनेमें प्राणियोंको किसी प्रकारका क्लेश नहीं होता पूर्ण रक्षाके साथ निर्वाह करलेता है।

देखो! कृषिकारवृन्द आकाशकी ओर देख मेघमालाके आवाहननिमित्त याज्ञिक-पुरुषोंके सम्मुख यज्ञ सम्पादन करनेकी प्रार्थना कररहे हैं। कहं ये याज्ञिक, ऋत्विज इत्यादि विद्वान् यज्ञका

आरम्भ करेंगे जिस यज्ञकी पूर्ति करते ही आकाशमण्डलमें मेघमालाओंकी स्थिति होजावेगी और वर्षासे इन किसानोंके क्षेत्रोंमें नाज उत्पन्न होंगे जिससे सम्पूर्ण संसारकी रक्षा होगी। इससे सिद्ध होता है, कि संसारकी रक्षा वेदमन्त्रों ही से होती है । इसलिये भगवान्ने छन्दोंको इस वृक्षके पत्ते कहे।

एवम्प्रकार मानसिक तापोंका भी नाश इन ही वेदमन्त्रोंसे होता है देखो! काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार इत्यादि जो प्राणियोंके लिये अत्यन्त दुःखदायक हैं इनकी निवृत्ति मनके निरोधसे होती है सो मनका निरोध प्राणायाम इत्यादि अनेक प्रकारकी क्रियाओंसे होता है तिस प्राणायामकी शिक्षा वेदमन्त्रों ही से होती है। इससे सिद्ध होता है, कि वेद मन्त्रों ही के द्वारा मानसिक दुःखोंसे भी रक्षा होती है।

परलोकमें भी इन ही वेदमन्त्रों द्वारा रक्षा होती है अर्थात् वेदकी आज्ञानुसार यज्ञोंको उत्तम रीतिसे सम्पादन करनेसे प्राणी पारलौकिक सुखोंको प्राप्त होता है। इन ही कारणोंसे भगवान्ने वेदमन्त्रोंको इस वृक्षके पत्र कहे।

अब भगवान् कहते हैं, कि " यस्तं वेद स वेदवित् " जो इस वृक्षका जाननेवाला है वही वेदोंका जाननेवाला है अर्थात् इस संसाररूप वृक्षको जो यथार्थरूपसे जानता है वही वेदोंके यथार्थ अर्थका जाननेवाला " वेदवित् " कहाजाता है।

वेदार्थ क्या है ? यहां वर्णन करदिया जाता है—

" संसारवृक्षस्य हि मूलं ब्रह्म हिरण्यगर्भादयश्च जीवाः शाखास्थानीयाः स च संसारवृक्षः स्वरूपेण विनश्वरः प्रवाहरूपेण

चाव्ययः स च वेदोक्तैः कर्मभिः सिच्यते ब्रह्मज्ञानेन छिद्यत इत्येतावान् हि वेदार्थः ”

अर्थ— इस संसारवृक्षका मूल ब्रह्म है हिरण्यगर्भादि जितने जीव हैं ये सब शाखा हैं सो जो ऐसा संसारवृक्ष है यह स्वरूप करके नाशमान है पर प्रवाहरूपसे अविनाशी है सो वेदोक्त कर्मोंके द्वारा रक्षा भी पाता है और ब्रह्मज्ञानसे कटकर गिर भी जाता है तात्पर्य यह है, कि ब्रह्मज्ञानसंयुक्तभगवद्भक्त इस संसारसे विलग हो भगवत्स्वरूपमें मिलजाते हैं इतना ही वेदार्थ है ॥ १ ॥

अब भगवान् इस वृक्षके अवान्तर अवयवोंकी कल्पना दूसरे प्रकारसे करते हैं और ऊर्द्ध्वमूल होनेके कारण इसमें क्या विलक्षणता है सो भी दिखलाते हैं—

मू०— अधश्चोर्द्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा,
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि,
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

पदच्छेदः— तस्य (संसारवृक्षस्य) गुणप्रवृद्धाः (सत्वरजस्तमोभिः स्थूलीकृताः । प्रकर्षेण वृद्धिं गता वा) विषय प्रवालाः (विषयाः शब्दादयः प्रवाला नवपल्लवा यासां ताः) शाखाः, अधः (मनुष्यलोकमारभ्य वीचिपर्यन्तम्) च, ऊर्द्ध्वम् (मनुष्यलोकमा-

रभ्य सत्यलोकपर्यन्तम्) प्रसृता: (विस्तारं गता:) मनुष्यलोके (भूलोके) कर्मानुबन्धीनि (धर्माधर्मलक्षणमनुबन्ध: पश्चाद्भावी येषां तानि) मूलानि, अध:, च [ऊर्द्ध्वम्] अनुसंततानि (विरूढानि । अनुस्यूतानि । अनुप्रविष्टानि) ॥ २ ॥

पदार्थ:— (तस्य) तिस संसारवृक्षकी (गुणप्रवृद्धा:) सत्व, रज और तम तीनों गुणोंसे पुष्ट होतीहुई (विषयप्रवाला:) शब्दादि विषयरूप कोमल पल्लवोंसे शोभित जो (शाखा:) बहुतसी अवान्तर अर्थात् शाखाप्रशाखाएं (अध:) नीचेकी ओर (च) और (ऊर्द्ध्वम्) ऊपरकी ओर (प्रसृता:) फैलीहुई तथा (मनुष्यलोके) इस मनुष्यलोकमें (कर्मानुबन्धीनि) धर्म, अधर्म, पाप, पुण्य कर्मोंसे अनुबन्ध कियेहुए जो उसके (मूलानि) छोटे-छोटे मूल हैं सो भी (अध:) नीचे मुंह (च) और (ऊर्द्ध्वम्) ऊपर मुंह (अनुसंततानि) एक दूसरेके साथ बडी दृढतासे जकडे हुए हैं ॥ २ ॥

भावार्थ:— पहले भगवान् इस संसाररूप वृहत् वृक्षका विस्तार तथा इसके मूलको ऊर्द्ध्वमुख दिखलातेहुए संक्षेपसे इसका परिचय देचुके हैं अब फिर उसी वृक्षके दूसरे अंगोंका और उसके अवान्तर मूलोंका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**अधश्चोर्द्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवाला:**] यह जो संसाररूप अश्वत्थ वृक्ष है तिसकी बहुतसी शाखाएं नीचे और ऊपरको फैलीहुई हैं तथा ये शाखाएं कैसी हैं ? तो सत्व, रज और तम इन

तीनों गुणोंसे वृद्धि पायीहुई हैं और जिनमें विषयरूपी पल्लव लगे हुए हैं अर्थात् जैसे बरगद इत्यादिके वृक्षोंमें प्रायः देखाजाता है, कि बहुतसी छोटी २ शाखाएं इधर-उधर चारों ओर फैलती चली जाती हैं इसी प्रकार इस वृक्षकी भी शाखाएं ऐसी फैलीहुई हैं, कि जिन शाखाओंकी गणना गणितसे बाहर होजाती है। सो ये सब कैसी हैं, कि "गुणप्रवृद्धाः" सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों करके वृद्धिको प्राप्त होरही हैं। जैसे वृक्षकी शाखाएं जलके सींचनेसे बढती हैं और शाखोपशाखा देतीहुई चलीजाती हैं इसी प्रकार इस वृक्षकी शाखाएं तीनों गुणरूप जलके पटायेजानेसे वृद्धिको प्राप्त होती हैं।

सबसे प्रथम तो यह विचारने योग्य है, कि जो प्राणी जिस लोकमें निवास करता है उसी लोकसे अर्थात् अपने लोक और अपने शरीर की उपाधिसे अधः और ऊर्द्ध्वका विचार करता है। जैसे मृत्युलोक वाले इन्द्रलोकको ऊर्द्ध्व और पाताललोकको अपनेसे अधोभागमें बताते हैं पर पाताल लोकवाले इस मृत्युलोकको ऊर्द्ध्व और स्वर्ग लोकवाले इस मृत्यु लोकको अधः बतावेंगे। इसी प्रकार बृहस्पति-लोकवाले इन्द्रलोकको नीचे और प्रजापति लोकको ऊपर बतावेंगे फिर प्रजापति लोकवाले इन सब लोकोंको अपनेसे नीचे बतावेंगे।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जो जहां रहता है वह अपने ही स्थानसे अध और ऊर्द्ध्वका विचार करता है सो भगवान् इस समय इस मर्त्यलोकमें रथपर आरूढ अर्जुनसे बातें कररहे हैं इसलिये यहां अध और ऊर्द्ध्वका विचार इसी भूलोकसे समझना चाहिये।

ईसलिये इस पृथ्वीसे नीचे पाताललोक पर्य्यन्तकी शाखाएं अधोमुख कहीजावेंगी और अन्तरिक्षलोकसे ब्रह्मलोक पर्य्यन्तकी शाखाएं ऊर्द्ध्व कही जावेंगी।

अब यहां सर्वसाधारणके बोधनिमित्त उन शाखाओंका वर्णन किया जाता है जो अधोमुख हैं। सुनो! इस भूलोकमें सबसे श्रेष्ठ और प्रथमशाखाएं मनुष्य योनि है तिसकी और भी कई प्रकारकी शाखाप्रशाखाएं रजोगुणरूप जलसे सींचीजाकर पुष्ट होरही हैं। कैसे सींची जाती हैं? सो दिखलाते हैं— जब रजोगुणकी वृद्धि होती है तो काम जो इस गुणका सबसे श्रेष्ठ और बलवान् पुत्र है प्रबल होता है उसकी प्रबलता पुरुषको स्त्रीसे मिलादेती है तिससे रेतसिंचन होकर फिर दूसरी स्त्री वा पुरुषका जन्म होता है फिर वह बढता है फिर उसी प्रकार रेतसिंचन करता हुआ वृद्धिको प्राप्त होता है तथा अनगिनत शरीरोंको उत्पन्न करडालता है इससे प्रत्यक्ष देखनेमें आता है, कि इस एक योनिकी न जाने कितनी शाखाउपशाखाएं होजाती हैं। लो और सुनो!

इसी मनुष्यशरीरमें तमोगुणकी जब वृद्धि होती है तब निकृष्ट आचरणोंके करनेसे वह मनुष्य पतन होकर 'अधः' इससे नीचेवाली शाखामें जन्म लेता है अर्थात् पशु, पक्षी, कीट, पतंग इत्यादिकी योनियोंको प्राप्त होता है। सो श्रुति भी कहती है– "ॐ अथ य इह कपूयचरणाभ्यासो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्‌ श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा" (छां० उत्त० प्रपा० ५ श्रु० ७)

अर्थ— जो मनुष्य इस लोकमें अशुभ और निकृष्ट आचरण वाले हैं वे निकृष्ट कूकर, शूकर तथा चाण्डालादि योनियोंमें उत्पन्न होते हैं। इस श्रुतिका मुख्य अभिप्राय यही है, कि तमोगुणके जलसे सींची हुई ये डालियां कूकर, शूकर योनियोंसे विस्तारको प्राप्त होती हुई अनगिनत अशुभ योनियोंको प्राप्त होती हैं ये ही नीचेवाली शाखाएं हैं जो एवम्प्रकार तमोगुणके जलसे वृद्धिको पारही हैं। इसी रीतिसे चौरासी लक्ष योनियोंकी अधोमुख शाखाएं विस्तारको प्राप्त हो रही हैं।

फिर जब सत्वगुणकी वृद्धि होती है तब वही मनुष्यरूप शाखा सत्वगुणके जलसे पुष्ट होतीहुई विस्तारको प्राप्त होती है। अर्थात् प्राणी अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम इत्यादि यज्ञोंके सम्पादनसे देव, पितर इत्यादि ऊपरवाली शुभ योनियोंको प्राप्त होता है तहां नाना प्रकारके सुखोंको भोगता हुआ देवलोकसे भी ऊपरके लोकोंकी ओर चढता है।

यहांतक तो " गुणप्रवृद्धाः " अर्थात ये डालियां सत्व, रज और तम तीनों गुणरूप जलसे कैसे नीचे ऊपर विस्तारको प्राप्त होती हैं? दिखलादीगयीं। अब भगवान् कहते हैं, कि ' विषयप्रवालाः ' इन डालियोंमें विषयरूप नवीन पल्लव अंकुरित होकर बडे सुहावने और सुन्दर देख पडते हैं।

तात्पर्य यह है, कि जैसे २ विषयोंकी चाह बढती जाती है तैसे २ शाखाओंकी वृद्धि होती जाती है सो ये विषयरूप प्रवाल इस संसाररूप अश्वत्थवृक्षकी जीवरूप शाखासे बारम्बार उत्पन्न होते

रहते हैं इसी कारण इनकी रुकावट नहीं होसकती क्योंकि अज्ञानी जीवको तो ये प्राणसे भी अधिक प्रिय हैं इसी कारण विषयी बार २ जन्म लेते और मरते रहते हैं।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके**] इस मनुष्यलोकमें इस वृक्षके बहुतसे मूल अधोमुख होकर एक दूसरेके साथ गुंथे हुए हैं और कर्मानुबन्धी भी हैं अर्थात् धर्म अधर्मरूप कर्मोंके करनेके पश्चात् जो फल वृद्धिको प्राप्त हों उन ही को कर्मानुबन्धी कहते हैं। अतएव भगवान्ने इस मनुष्य लोकको कर्मानुबन्धी कहा क्योंकि कर्मोंहीके द्वारा इसके मूलोंका एक दूसरेसे लिपटजाना प्रत्यक्ष देखाजाता है। जैसे साधारण वृक्षोंके नीचे अनेक छोटे-छोटे वृक्ष थल्ले बांधकर फैल जाते हैं इसी प्रकार यह मनुष्यलोक भी कर्मोंसे बंधा हुआ प्रथम कुछ कर्म आरम्भ करता है फिर रागद्वेषके सम्बन्धसे इसमें शुभाशुभ वासनाएं उत्पन्न होती हैं वे ही वासनाएं इसके अनेक मूल हैं जो अधोमुख हैं।

शंका— पहले तो भगवान्ने इस संसाररूप वृक्षका मूल ऊपर कहा अब नीचे क्यों कहते हैं ?

समाधान— पहले भगवान्ने इस सम्पूर्ण संसारको एक वृक्ष मानकर इसका मूल मायाविशिष्ट ब्रह्म कथन किया सो मुख्य मूल है अब इसके अवान्तर मूलोंका वर्णन करते हैं जो वासनारूप हैं।

तात्पर्य यह है, कि वासना ही नाना प्रकारकी योनियोंमें फिरानेका मूलकारण है सो नीचे इस मनुष्यलोकमें है इसी कारण भगवान्ने इन अनेक प्रकारके वासनारूप मूलोंको अधोमुख कहा।

साधारण बरगदके वृक्षोंके नीचे देखाजाता है, कि बहुतेरी शाखाएं बढते २ नीचे मुंह जब अधिक फैलती हैं तो वे पृथ्वीसे लगकर फिर एक दूसरा मूल बना लेती हैं तहांसे फिर दूसरे वृक्षका मूल बंधता है। इसी प्रकार इन प्राणियोंके शरीररूप वृक्षके मूल अनगिनत एक दूसेरसे गुंथे हुए हैं क्योंकि ये सब मूल कर्मानुबन्धी हैं अर्थात् कर्महो है अनुबन्ध जिसका, अनुबन्ध कहिये लगातारके सम्बन्धको अर्थात् जैसे बटसे बीज फिर बीजसे बट एवम्प्रकार बटबीजका सम्बन्ध अनुबन्धी कहा जाता है क्योंकि एकेक पश्चात् दूसरा वृक्ष होता चला जाता है, ऐसे यह मनुष्यशरीरकर्मानुबन्धी है अर्थात् एक शरीरमें कर्म करता है फिर उससे दूसरे शरीरमें उत्पन्न होकर कर्महीका सम्पादन करता है एवम्प्रकार एक कर्मसे दूसरा, दूसरेसे तीसरा और तीसरेसे चौथा कर्म विस्तारको पाता हुआ इस जीवको बांधता ही चला जाता है इसी कारण इसके मूलको भगवान्ने कर्मानुबन्धी कहा। सो कर्मानुबन्धी कहां है? तिसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं, कि "मनुष्यलोके" इसी मनुष्यलोकमें है क्योंकि इस पृथ्वीपर तो कर्म करनेका अधिकार केवल मनुष्य ही के शरीरमें देखाजाता है सम्भव है, कि अन्य शरीरोंमें भी अर्थात् लोकलोकान्तरोंमें जो नाना प्रकारके शरीर हैं जिनको हमलोग नहीं देखते हैं उनमें भी कर्म करनेका अधिकार हो तो हो। इसलिये हमलोग यों नहीं कहसकते, कि केवल मनुष्य लोक ही कर्मानुबन्धी है। अन्य लोकोंका कर्मानुबन्धी होना अपरोक्ष नहीं, परोक्ष है ॥ २ ॥

अब भगवान् इस संसाररूप वृक्षके यथार्थ तत्वोंको तथा इसके यथार्थ रूप और गुणोंको अनिर्वचनीय कहकर इसके छेदनका उपाय कथन करते हैं—

मू०— न रूपमस्येह तथोपलभ्यते,
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा ॥ ३ ॥

ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं,
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये,
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

पदच्छेद— इह (संसारे) अस्य (संसारवृक्षस्य) रूपम् (सम्यग्दृशा वक्ष्यमाणमाकारम्) तथा (तेनैव प्रकारेण) न, उपलभ्यते (गम्यते । दृश्यते) अन्तः (नाशः) न, च, आदिः (आरम्भः । उत्पत्तिः) न, च, सम्प्रतिष्ठा (संस्थितिः) न, सुविरूढमूलम् (सुष्ठु विरूढानि सुदृढानि मूलानि यस्य तम् । बद्धमूलम् । दृढतरमूलम्) एनम् (यथोक्तम्) अश्वत्थम् (संसाररूपपिप्पलतरुम्) दृढेन (गुरुशास्त्रवाक्येषु दृढविश्वासेन । परमात्माभिमुखनिश्चयदृढीकृतेन) असंगशस्त्रेण (संगविरोधिवैराग्यं पुत्रवित्तलोकैषणात्यागरूपं तदेव शस्त्रं तेन) छित्वा (समूलमुच्छिद्य)

ततः (संसारवृक्षाच्छेदनात् पश्चात्) तत, पदम् (श्रुतिप्रसिद्धं कैवल्यम्) परिमार्गितव्यम (अन्वेष्टव्यम्) यस्मिन, गताः (प्रविष्टाः) भूयः (पुनः) न निवर्तन्ति (नावर्तन्ते) च यतः (यस्मात् पुरुषात्) [एषा] पुराणी (चिरन्तनी) प्रवृत्तिः (मायामयेन्द्र-जालरूपा सृष्टिपरम्परा) प्रसृता (निःसृता । विस्तारं गता) तम्, आद्यम् (सर्वशरीरस्थितम पूर्णसच्चिदानन्दस्वरूपम् । सर्वस्मात् कार्यकारणात पुरा आस इति पुरुषः तम) एव (निश्चयेन) प्रपद्ये (शरणं व्रजामि) ॥ ३, ४ ॥

पदार्थः— (इह) इस देहमें (अस्य) इस संसाररूप वृक्षके (रूपम) रूपको (तथा) जिस प्रकार कथन कियागया है वैसे (न उपलभ्यते) कोई भी नहीं जान सकता (न अन्तः) न तो इसके अन्तको (च) फिर (आदिः न) न इसकी उत्पत्तिको (च) तथा (सम्प्रतिष्ठा न) न इसकी स्थितिको कोई जानसकता है (सुविरूढमूलम) अत्यन्त दृढ मूलवाले (एनम, अश्वत्थम्) सो इस अश्वत्थवृक्षको (दृढेन) अत्यन्त दृढ (असंगशस्त्रेण) वैराग्यरूप शस्त्रसे (छित्वा) छेदन करके (ततः) पश्चात (तत पदम) वह वैष्णव परमपद (परिमार्गितव्यम) ढूंढने योग्य है (यस्मिन्) जिसमें (गताः) प्रवेश करनेवाले (भूयः) फिर (न निवर्त्तन्ति) इस संसारमें लौटकर नहीं आते (च) फिर वह पद कैसा है, कि (यतः) जहांसे (पुराणी) प्राचीन (प्रवृत्तिः) सृष्टिपरम्परा (प्रसृता) फैलकर विस्तारको प्राप्त हुई है इसलिये (तम) तिस (आद्यम)

सृष्टिके मूल कारण (पुरुषम्) परमपुरुषकी (एव) निश्चय करके (प्रपद्ये) मैं शरण होता हूं ॥ ३, ४ ॥

भावार्थः— श्रीआनन्दकन्द कृष्णचन्द्रने जो इस संसारको अश्वत्थ वृक्षसे उपमा देकर इसकी शाखाओंका ऊपर नीचे फैलजाना वर्णन किया तिसे यथार्थरूपसे जानना यहांके लोकनिवासियोंको दुर्लभ है इसी वार्त्ताको स्पष्टरूपसे कहते हुए तथा इसके छेदनका उपाय बताते हुए कहते हैं, कि **[न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा]** अर्थात् पूर्वकथनानुसार न इसका रूप पाया जाता है, न इसका अन्त, न आदि और न स्थिति पायी जाती है। अर्थात् इस संसारमें रहनेवाले जो आत्मज्ञानरहित हैं वे यद्यपि देखने में मनुष्यशरीर धारण किये हुए अपने संसारी व्यवहारोंमें बडे चतुर देखे जाते हैं और अपनी बुद्धि, चतुराई, साहस, वीरता तथा पूर्वजन्मार्जित संस्कारके प्रभावसे सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डलका नरेश बनकर सहस्रों मनुष्योंको भृकुटिविलाससे दायें बायें करसकते हैं, इतना ही नहीं वरु व्योमयान बनाकर आकाशमें उड सकते हैं, जलयान बनाकर सात समुद्र पार जासकते हैं और चौसठ कलाओंसे पूर्ण हो परम पूज्य कहेजासकते हैं परन्तु एक आत्मज्ञानसे रहित होनेके कारण इस संसाररूप वृक्षकी शाखा उपशाखाओंका तथा इसके यथार्थ मूलका जैसा रूप है वैसा ठीक-ठीक नहीं जान सकते हैं। सो भगवानका कहना यथार्थ ही है क्योंकि इस पृथ्वीपर रेहनेवालोंको सूर्यलोक, चन्द्रलोक, इन्द्रलोक, ब्रह्मलोक इत्यादि लोकोंका कुछ भी बोध नहीं होसकता क्योंकि ये ही

लोकलोकान्तर इस वृक्षकी शाखा कहेगये हैं। सो साधारण संसारी पुरुष विषयके झकोडोंसे मारा हुआ इनके यथार्थ रूपको नहीं जान-सकता वह तो केवल इतना ही समझता है, कि सूर्य्य और चन्द्र एक गोलमोल चक्रके समान आकाशमें चिपटे हुए पूर्वसे पश्चिम दिशाको दौड रहे हैं तथा ये तारागण छोटे २ हीरे मोतियोंके सदृश आकाशकी चादरमें जडे हुए हैं, पर वे यह नहीं जानते, कि इनका यथार्थ स्वरूप कैसा है? इनमें कैसे २ जीव निवास करते हैं? वे क्या खाते हैं? क्या पीते हैं? कैसे चलते हैं? कैसे बैठते हैं और कैसे सोते हैं? इन अब विचा-रने योग्य है, कि जब प्रत्यक्ष रचनाओंका बोध इन मनुष्योंको नहीं है तो इन्द्रलोक, ब्रह्मलोक इत्यादि लोकलोकान्तर जो दृष्टिसे बाहर हैं उनका जानना तो ऐसे प्राणियोंके लिये सर्वप्रकार दुर्लभ ही है। इसी प्रकार इस पृथ्वीके नीचे जो अतल, वितल इत्यादि सात लोक हैं वे भी दृष्टिगोचर न होनेके कारण नहीं जाने जासकते। इसी कारण भग-वान्ने अर्जुनके प्रति कहा, कि इस संसाररूप वृक्षकी शाखा उपशाखा-ओंका वृत्तान्त पूर्णप्रकार किसीको ज्ञात नहीं होता अतएव इसके यथार्थ रूपको कोई नहीं जान सकता क्योंकि जब इसकी शाखा उप-शाखाओंका ही बोध नहीं होता तो इसके मूलतक पहुंचना अत्यन्त ही कठिन है इसी कारण इसके जाननेके लिये पूर्ण पुरुषार्थकी आवश्य-कता है नहीं तो एक डालको पकडे हुए उलटा लटका हुआ शुक जैसे परम क्लेशको पाता है ऐसे इस पृथ्वीलोकमें उलटा लटका हुआ प्राणी परम क्लेशको पाता है जब किसी कृपामय गुरुद्वारा इस वृक्षके यथार्थ रूपका बोध होजाता है तब ही प्राणी सुखी होता है।

यदि ऐसा कहो, कि वेदोंके द्वारा विज्ञानशास्त्र इत्यादिके जाननेसे प्राणीको सातों लोक ऊपर और सातों लोक नीचेका यथार्थ बोध होसकता है तथा योगबलकी सिद्धिद्वारा सब लोकलोकान्तरोंको देख सकता है, इन्द्रलोककी अप्सराओंसे वार्त्तालाप कर सकता है तो फिर भगवान्ने ऐसा क्यों कहा, कि " न रूपमस्येह " इस संसारमें इसके रूपको कोई नहीं जान सकता तो उत्तर यह है, कि इसके प्रसृतरूपको जानना साधारण बोध है हां ! इतना तो अवश्य कह सकते हैं, कि साधारण अज्ञानियोंसे योगीने सिद्धिद्वारा कुछ विशेष जाना पर यह जानना बहिर्मुख है यथार्थ जानना नहीं है यथार्थ बोध बिना आत्मज्ञानके नहीं होसकता क्योंकि जिस संसारवृक्षके जानने की प्राणी चेष्टा करेगा। उसका रूप तो अलग रहे वह " नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा " न तो इसका कहीं अन्त है, न आदि, है और न कहीं स्थिति है इसी कारण बडे २ बुद्धिमान् इसके जाननेमें असमर्थ हैं यदि जानने चलते हैं तो केवल आकार मात्र देख पडता है पर यथार्थमें कुछ हाथ नहीं आता। क्योंकि यह संसार कोई सचमुच वृक्षके समान आकारवाला नहीं है भगवान्ने जो इसका वर्णन किया है सो केवल मायाका वर्णन किया है जैसे स्वप्नमें जो प्राणी गन्धर्वनगरको देखता है वह देखते २ नष्ट होजाता है ऐसे यह संसार दृष्टनष्ट है अर्थात् देखते २ नष्ट होजाता है फिर जो वस्तु देखते-देखते नष्ट होजाया करे उसका आदि, वा अन्त वा मध्य कैसे कहा जावे ? जैसे मृगतृष्णाके जलकी कुछ भी स्थिति नहीं है, इसी प्रकार इस मायामय संसारवृक्षके आदि

अन्तका कुछ भी पता नहीं है। हां! मध्यमें जब तक यह शरीर है तबतक कुछ बनाबनाया देखा जाता है सो भी केवल भ्रम है यथार्थमें कुछ भी कहीं नहीं है।

यदि थोडी देरकेलिये इस मायामय संसारवृक्षके आधारको कोई सत्य मान भी लेवें तथापि कोई ऐसा नहीं कहसकता, कि इस सृष्टिके आदिको उसने देखा है अथवा अन्तको देखा है हां! एक क्षणमात्र के लिये जो वर्त्तमानकालमें नाना प्रकारकी वस्तु जैसे सूर्य, चन्द्र इत्यादि को देखरहा है सो भ्रम करके देखरहा है और इसी भ्रमात्मकज्ञानसे ऐसा कहनेमें आता है, कि [**अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल- मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा**] इस परम दृढमूलवाले अश्वत्थको असंगरूप कुठारसे काटकर अर्थात् यह जो संसाररूप पीपलका वृक्ष है सो बहुत दृढमूलवाला है और जबतक अज्ञान बनाहुआ है तब तक चाहे सहस्रों कुठारोंका प्रहार इस वृक्षकी मूलपर करो इसका नाश नहीं होसकता जैसे स्वप्नमें किसी वृक्षकी जडमें कुठार मारा करो पर बिना जागे उस वृक्षका छेदन नहीं होसकता।

इसी प्रकार जबतक अज्ञानता है तबतक यह वृक्ष न कट सकता है, न जल सकता है वरु जैसे-जैसे अज्ञानता बढती जाती है और संसारी प्राणी इसमें लिपटता जाता है तैसे २ इस वृक्षका मूल और भी दृढ होता चलाजाता है इसी कारण भगवान्ने इसको " **सुवि- रूढमूलम्** " कहकर पुकारा है।

अब कहते हैं, कि जो झूठमूठ इतना दृढ होरहा है, कि जैसे स्वप्नका प्रेत झूठमूठ निद्रित प्राणीके गलेको टीप जाता है और

प्राणी झूठमूठ बिना किसी प्रेतके दुखी होजाता है सो बिना जागे दुःख दूर नहीं होता ।

इसी प्रकार अज्ञानरूप प्रेतने मायारूप निद्रामें सोयेहुए जीवोंके गलोंको टीप रखा है ।

प्रमाण श्रु०— " **न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदः सृजते न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान् पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते स हि कर्त्ता** " (बृह० अ० ४ ब्रा० ३ श्रु० १०)

अर्थ— जैसे स्वप्नमें न तो कहीं रथ है, न रथयोग (अश्व) है, न मार्ग है पर यह प्राणी रथ, घोडे, मार्ग सब बनालेता है तथा न वहां कोई आनन्द है, न पुत्र, धन इत्यादि हर्षके पदार्थ हैं पर ये सब आनन्द, मोद-प्रमोदके पदार्थोंको भी बनालेता है । इसी प्रकार न वहां छोटी–छोटी सरिताएं हैं, न तडाग हैं, न नदियां हैं पर यह प्राणी इन सब सरिता, तडाग और बडी-बडी नदियोंको सृजलेता है। तिन सबका कर्त्ता स्वयं यह जीवात्मा है ।

ऐसी अज्ञानतासे अत्यन्त दृढ मूलवाले संसारवृक्षको " **असंगशस्त्रेण दृढेन छित्वा** " अत्यन्त दृढ असंगरूप शस्त्रसे छेदन करके अर्थात् संसारकी सब कामनाओंको परित्याग कर वित्तैषणा, लोकैषणा और पुत्रैषणा इन एषणाओंको छोड अत्यन्त दृढ वैराग्यरूप जो शस्त्र है उसे विवेकके अभ्यासरूप विशेष पत्थरपर तीक्ष्ण कर इस वृक्षका छेदनकर

[**ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्त्तन्ति**

भूयः] उस पदको खोजना चाहिये जिसमें जानेवाले फिर लौटकर इस संसारमें नहीं आते ।

अतएव भगवान कहते हैं, कि हे अर्जुन ! प्राणियोंको सदा एवम्प्रकार वह परम वैष्णवपद ढूंढने योग्य है। सो ढूंढते हुए उस महाप्रभुकी कैसे स्तुति करनी चाहिये, सो सुनो [**तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी**] मैं उस आदि परमपुरुषकी शरण होता हूं जहांसे यह अत्यन्त पुरानी सृष्टिकी परम्परा फैली हुई है क्योंकि आदिपुरुषकी शरण लेना ही उस वैष्णव परमपदके मिलनेका सहज उपाय है। इस साधारण प्राणीसे अन्य किसी प्रकारका पुरुषार्थ होना असम्भव है जो कोई ऐसा अहंकार करे, कि मैं अपने नये ज्ञान-बलसे उसे प्राप्त करलूंगा तो जानो, कि वह प्राणी दल-दलमें फंस गया। क्योंकि जबतक प्राणी उस महाप्रभुकी शरण न हो तबतक सारा पुरुषार्थ ऐसा है जैसे स्वादरहित भोजन । क्योंकि अपने पुरुषार्थसे प्राणी ब्रह्मलोक तक पहुंच जानेपर भी जबतक भगवत् शरण नहीं ग्रहण करेगा उसे ब्रह्मलोकसे नीचे पतन होनेका भय है इसलिये अनन्यभक्तियुक्त होकर केवल भगवत्–शरण होना सर्व-प्रकारके उपायोंमें श्रेष्ठ उपाय है बिना शरणागत हुए ज्ञानमात्रके लिये परिश्रम करना निरर्थक है। सो व्यासदेव श्रीमद्भागवतमें भी कहते हैं, कि– "श्रेयः सृतिं भक्तिमुदस्यते विभो ! क्लिश्यन्ति ये केवल-बोधलब्धये । तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषा-ऽवघातिनाम् ” (श्रीमद्भागवत स्कं० १० अ० १४ श्लो० ४) अर्थ--ब्रह्मा गोकुलमें आकर श्रीकृष्णभगवानकी स्तुति करते हुए कहते हैं,

अर्थ— हे भगवन् ! आपकी भक्ति जो अर्थ, धर्म, काम, मोक्षादि रूप नाना प्रकारके कल्याणकारक जलकी बहानेवाली सरिता रूप है उसे त्यागकर जो प्राणी केवल ज्ञानकेलिये परिश्रम कर नाना प्रकारके क्लेशोंको उठाते हैं वे मानों खोखले धानोंको कूटनेवाले हैं।

इस वचनसे सिद्ध होता है, कि उस परम पदकी प्राप्ति निमित्त केवल पुरुषार्थ नहीं कुछ करसकता है वरु भगवत्-शरण लेना ही श्रेष्ठ है।

यदि कहो, कि भगवत्-शरण होनेसे और मिथ्यासृष्टिसे कौनसा सम्बन्ध है ? जिस कारण इस सृष्टिको छेदन करनेके लिये प्राणियोंको भगवत्-शरण लेना आवश्यक है तो इसका उत्तर भगवान् यों देते हैं, कि " यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी " जहांसे यह अत्यन्त पुरानी सृष्टिके प्रवाहकी परम्परा अनादिकालसे फैलीहुई है अर्थात् जिस मायापति महेश्वरके निमेषमात्र अवलोकन करनेसे तथा केवल 'एकोऽहं बहुस्याम' इतना वचनमात्र उच्चारण करनेसे यह सारी मायामय सृष्टि निकलचली है।

यहां 'पुराणी' कहनेका तात्पर्य यह है, कि यह सृष्टि नवीन नहीं है जबसे ब्रह्म है तब ही से यह सृष्टि है। क्योंकि जबसे आग तब ही से उसकी दाहिका शक्ति कही जावेगी जबसे जल तब ही से उसकी शीतलता है इसी प्रकार जबसे महेश्वर तब ही से उसकी शक्ति माया कहीजावेगी जहांसे सारी सृष्टि अनादिकालसे फैलती और सिकुडती रहती है।

इसलिये भगवत्-शरण और सृष्टिमें " स्वामिभृत्यन्याय " सम्बन्ध है अर्थात् भगवत्शरण स्वामिनी है सृष्टि उसकी चेरी है जो स्वामिनीका होजाता है उसे चेरी कुछ नहीं करसकती इसी प्रकार भगवत्-शरण आयेहुएको सृष्टि नहीं बांधती । शंका मत करो ॥ ३, ४ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें यह दिखलावेंगे, कि उस महेश्वरकी शरण हो संसारछेदनकरनेवाले अधिकारियोंमें कौन २ से विशेष गुण होते हैं—

मू०— निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा,
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

पदच्छेदः— निर्मानमोहाः (अहंकाराविवेकाभ्यां रहिताः) जितसंगदोषाः (प्रियाप्रियसन्निधावपि रागद्वेषवर्जिताः) अध्यात्मनित्याः (परमात्मस्वरूपालोचनतत्पराः) विनिवृत्तकामाः (विशेषतो निर्लेपतया निवृत्ता विषयाभिलाषा येषां ते । त्यक्तसर्वपरिग्रहाः) सुखदुःखसंज्ञैः (सुखदुःखहेतुत्वात् सुखदुःखनामकैः) द्वन्द्वैः (शीतोष्णक्षुत्पिपासादिभिः) विमुक्ताः (स्वयमनायासेनैव रहिताः) अमूढाः (मोहवर्जिताः) तत् (यथोक्तम्) अव्ययम् (विनाशरहितम्) पदम् (वैष्णवपदम्) गच्छन्ति (प्राप्नुवन्ति) ॥ ५ ॥

पदार्थः— (निर्मानमोहाः) जो सज्जन पुरुष मान जो अहंकार तथा मोह जो अविवेक इन दोनों विकारोंसे मुक्त हैं (जित-

संगदोषाः) जो प्रिय अप्रिय अर्थात् शत्रुमित्रके साथ रहतेहुए भी राग द्वेषको जीतेहुए हैं (अध्यात्मनित्याः) जो नित्य आत्मज्ञान तथा परमात्माके ध्यानमें तत्पर हैं (विनिवृत्तकामाः) जिनके हृदय की सारी कामनाएं निवृत्त होगयी हैं (सुखदुखसंज्ञैर्द्वन्द्वैः) सुख-दुःख नाम करके जो ' द्वन्द्व ' अर्थात्, शीत, उष्ण, भूख, प्यास, प्रिय अप्रिय तिनसे (विमुक्ताः) रहित होगये हैं ऐसे जो (अमूढाः) मोहसे वर्जित होकर विद्या द्वारा अविद्याको नाश करचुके हैं वे (तत्) पूर्व कथन कियेहुए (अव्ययम्) विनाश रहित (पदम्) वैष्णव परमपदको (गच्छन्ति) प्राप्त होजाते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थः— पिछले तीसरे और चौथे श्लोकोंमें जो श्रीजगद्गुरुने अर्जुनके प्रति यों उपदेश किया, कि अज्ञानताके कारण यह जो संसाररूप आश्चर्यमय पीपलका अत्यन्त दृढ वृक्ष विस्तारको प्राप्त होरहा है उसे छेदन करनेके लिये असंग अर्थात् वैराग्यरूप शस्त्रको ग्रहण कर भगवतकी शरण लेनी चाहिये सो वे कौनसे प्राणी हैं ? जो एवम्प्रकार इसे छेदन करसकते हैं उनके विशेष गुणोंको वर्णन करतेहुए भगवान् कहते हैं, कि [**निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः**] जो पुरुष मान और मोहसे रहित हैं, संगदोषको जीतरखा है, आत्मध्यायी हैं, जिनके चित्तसे कामनाएं दूर होगयी हैं वे ही इसके यथार्थ अधिकारी हैं अर्थात् जिनमें विद्या, धन, बल, रूप, साहस, धीरता, परोपकार इत्यादि शुभगुणोंके उपस्थित रहतेहुए भी अपने किसी गुणका तनकभी अहंकार नहीं है वे ही जैसे पुष्कल फलोंसे लदेहुए वृक्ष नीचेको झुकजाते हैं ऐसे जो परम नम्रताको प्राप्त

होरहे हैं, जिनके हृदयमें गर्वका तनक भी अंकुर नहीं देखा जाता, पूर्णगुणज्ञ होनेपरे भी जो सब छोटे बडोंसे बडी मधुरताके साथ भाषण करते हैं, सबोंके सम्मुख हाथ जोडे शिर नवाये नेत्रोंको नीचें किये परम बिनीत होरहे हैं ऐसे जो सदा विद्या और विनयसे संपन्न हैं अथवा जिनका हृदय शारदी आकाशके समान निर्मल होरहा है तथा जो 'जितसंगदोष' हैं अर्थात् इन प्रिय, अप्रिय वस्तु तथा मित्रशत्रुके संग होनेपर भी रागद्वेषसे रहित हैं जिनके विषय भगवान् पहले भी कह आये हैं, कि " **समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः** " (अ० १२ श्लोक १८) जिन्हें शत्रु मित्र, मान, अपमान बराबर हैं वे ही इस संसारवृक्षको छेदन करसकते हैं और भगवत्शरणके अधिकारी हैं।

फिर वे कैसे हैं, कि "**अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः**" आत्मज्ञानके साधनमें नित्य तत्पर हैं अर्थात् अहर्निश जो भगवत्स्वरूपके विचारमें लगे रहते हैं और आत्माहीमें जिनकी निष्ठा सदा बनी रहती है अथवा यों कहलीजिये, कि जो सब कीट पतंगोंमें आत्माही आत्मा अवलोकन करते हैं वे ही इसके अधिकारी हैं।

प्रमाण श्रु०— " **ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति** " इस श्रुतिके वचनानुसार जो अहर्निश ब्रह्ममें स्थित रहनेसे अमृतत्व अर्थात् परम पदको प्राप्त होजाते हैं। यथा— " **अजे साम्ये तु ये केचिद्भविष्यन्ति सुनिश्चिताः। ते हि लोके महाज्ञातास्तच्च लोके न गाहते** " (गौडपादीयमाण्डूक्योपनिषत्कारिका २२२)

अर्थ— जो प्राणी तीनों गुणोंमें समभाव वाले जन्मरहित परमात्मामें सम्यक् प्रकारसे निश्चित होते हैं वे इस लोकमें महाज्ञाता कहलाकर फिर इस संसारसागरमें नहीं डूबते।

फिर ब्रह्मसूत्रका प्रमाण है, कि "**तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात**" (ब्रह्मसू० अ० १ पा० १ सू० ७) अर्थात् जो प्राणी उस ब्रह्ममें निष्ठ है उसीको मोक्षका उपदेश होनेसे यह सिद्ध होता है, कि "**अध्यात्मनित्य**" होनाचाहिये सो एवम्प्रकार जो अध्यात्मनित्य हैं वे ही मोक्षके अधिकारी हैं और वे ही इस संसारवृक्षका छेदन कर परमपदको प्राप्त होजाते हैं। प्रमाण श्रु०— "**ॐ यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिश्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते**" (कठो० अ० २ बल्ली ३ श्रु० १४)

अर्थ— जब इस प्राणीके हृदयसे सारी कामनाएं छूटजाती हैं तब यह मनुष्य अमृतस्वरूप होजाता है और उस ब्रह्मको प्राप्त करलेता है। जब एवम्प्रकार प्राणी उक्त शुभ गुणोंसे सम्पन्न होता है तब भगवान् कहते हैं, कि [**द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययन्तत्**] सुख-दुःख नाम करके जो द्वन्द्व हैं इनसे छुटकारा पाकर सर्वप्रकारके मोहोंसे वर्जित विद्यासे अविद्याको नाशकर मूढता रहित हो उस अविनाशी पदको जिसे वैष्णवपरमपद कहते हैं प्राप्त होजाता है ॥ ५ ॥

अब भगवान् इस अपने वैष्णवपरमपदकी स्तुति करते हुए कहते हैं।

साकार— वही प्रकाश जब किसी आधारको पाकर एकठौर सिमट, घन होजाता है तब साकार होजानेके कारण इन चक्षुओंसे देखा जाता है। जैसे निराकार अग्नि और साकार अग्नि। निराकार अग्नि तो काष्ठादि पदार्थोंमें उष्णतारूपसे व्याप्त है और साकार अग्नि किसी आधारद्वारा प्रत्यक्ष इन नेत्रोंसे प्रज्वलित देखी जाती है। अथवा जैसे सामान्य चेतन और विशेष चेतन। सामान्य चेतन वह है जो सर्वत्र सबठौर फैला हुआ है और विशेष चेतन वह है जो किसी योनिको पाकर प्रत्यक्ष बोलता, हंसता, खेलता और कूदताहुआ देख पडता है। इसी प्रकार ब्रह्मप्रकाशके दो भेद जानो। शंका मत करो!

अब विचारना चाहिये, कि विश्वमें जिसका इतना प्रभाव है, कि तीनों लोक प्रकाशित होरहे हैं उसके मुख्यस्वरूपमें कितना अधिक प्रकाश होगा। उस प्रकाशके देखनेमें ये नेत्र कदापि समर्थ नहीं होसकते यदि वह परम प्रकाश नेत्रोंके सामने प्रत्यक्ष होवे तो ये मानुषी नेत्र झट फटकर सहस्रों टुकडे होजावेंगे इसी कारण उस महाप्रभुने अपने परमप्रकाशस्वरूपको इन नेत्रोंसे गुप्त रखा।

प्रत्यक्ष देखाजाता है, कि वायुमें जो प्रकाश निराकार वा सामान्यरूपसे व्याप रहा है वह वर्षाऋतुमें जब विद्युत् होकर चमक उठता है तो इन नेत्रोंकी शक्ति इतना काम नहीं करती, कि उस विद्युतकी दमकको सहन कर सकें। दमकते ही आंखें मिच जाती हैं। फिर बुद्धिमान् विचारे करसकते हैं, कि जब इस साधारण विद्युत्की दमकके सम्मुख आंखें मिच जाती हैं तो उस परम प्रकाशकी दमक जो करोडों गुण इस विद्युतसे अधिक है कब सही जासकती है?

अतएव उस महाप्रभुने हम जीवोंपर दयाकर अपनी यथार्थ चमक दमकको सदा गुप्त ही रखा। भगवान‍्ने पहले ही अर्जुनसे कहा है, कि " न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा " (अ० ११ श्लोक ८) अर्थात हे अर्जुन! तू मुझे इन नेत्रोंसे नहीं देखसकता।

हां! जो ऋषि, महर्षि, भगवद्भक्त हैं उनपर दयाकर जब वह महाप्रभु दिव्य-चक्षु प्रदान करे जैसा, कि अर्जुनको प्रदान किया तो उस दिव्यचक्षुसे कुछ देरके लिये उस परम प्रकाशकी दमक देखी जासकती है पर इतना कहनेमें भी वाणीको संकोच होता है। क्योंकि जब अर्जुनने उस तेजको दिव्यचक्षुसे देखा और कहा, कि " स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् " हे भगवन्! तुम्हारे इस प्रकाशसे सम्पूर्ण विश्वको जाज्वल्यमान देखता हूं। उस समय उस तेजको अर्जुन अधिक देखनेको समर्थ न हुआ और अन्तमें उसे कहना पड़ा, कि हे भगवन! " तेजोभिरापूर्य जगत् समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो! " (अ० ११ श्लोक ३०) तुम्हारी उग्र प्रभा अपने तेजसे इस समग्र जगत‍्को तपातीहुई देखपड़ती है। एवम्प्रकार उस तेजको क्षणमात्र भी अर्जुन सहन न करसका और उसे कहना पड़ा, कि " तदेव मे दर्शय देव रूपम् " (अ० ११ श्लो० ४५) हे देव! मैं तुम्हारे इस तेजोमयरूपको देखनेमें समर्थ नहीं हूं इसलिये वही पहला रूप दिखादो!

इससे सिद्ध होता है, कि भगवत‍्के यथार्थ तेजोमयस्वरूपके देखनेको कोई समर्थ नहीं होसकता

मुख्य अभिप्राय यह है, कि उस ब्रह्मप्रकाशके सम्मुख अन्य सब प्रकाश मलीन हैं। इसी कारण भगवान्ने पहले ही अर्जुनसे कहा है, कि तहां सूर्य, चन्द्र वा अग्नि किसीका प्रकाश काम नहीं करसकता। शंका मत करो!

अब आनन्दसागर नटनागरे श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं, कि [**यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम**] जिस मेरे परम प्रकाशस्वरूप पदको योगीजन पहुंचकर फिर इस घोर संसारसागरमें नहीं पडते। जहां पहुंचकर सदाके लिये स्थिर होजाते हैं वही मेरा परमधाम है अर्थात् परम प्रकाशस्वरूप पद है।

प्रश्न— भगवान् जिस पदके विषय एवम्प्रकार स्तुति कररहे हैं वह कोई विशेष स्थान ब्रह्मलोकादि स्थानोंसे उच्च किसी ठौरमें बनाहुआ है? अथवा केवल स्तुति करने योग्य अर्थवाद मात्र है।

उत्तर— नहीं ऐसी शंका मत करो भगवान्का कहना अर्थवाद नहीं है सर्वप्रकारसे उचित है। भगवान्के जितने वचन हैं वे ऐसी चतुराईसे कथन कियेहुए हैं, कि जो जिस प्रकारका अधिकारी है उसको अपने अधिकारानुसार अर्थ समझमें आजावे और तदनुसार आचरण करे। इसलिये जो कुछ मैं कहता हूं सुनो! शंका मत करो!

शास्त्रोंमें यह वार्त्ता प्रसिद्ध है, कि प्रत्येक शास्त्रीय वचनोंके तीन प्रकारसे अर्थ होते हैं आधियज्ञिक, आधिदैविक, और आध्यात्मिक।

प्रमाण—"अधियज्ञं ब्रह्म जपेदाधिदैविकमेव च। आध्यात्मिकं च सततं वेदान्ताभिहितञ्च यत् " (मनुः अ० ६ श्लो० ८३) अर्थ— अधियज्ञ करके, अधिदैव करके तथा अध्यात्म करके अथवा वेदान्तके वचनोंसे विहित जो ब्रह्मप्राप्तिके साधन करनेवाले वेदवचन हैं उनको जपे तथा निरन्तर ध्यानयुक्त अभ्यास करे । क्योंकि " तज्जपस्तदर्थभावनम् " इस सूत्रके अनुसार मन्त्रोंके अर्थकी भावना करना ही जप है । सो कर्म, उपासना और ज्ञान तीनोंका अवलम्ब लेकर करे । तहां अधियज्ञसे कर्म, अधिदैवसे उपासना और आध्यात्मिकसे ज्ञानसाधनका तात्पर्य रखा है ।

जो हो इस प्रमाणसे सर्वशास्त्रोंके वचनोंके तीन प्रकारके ये अर्थ होते हैं इसलिये " **तद्धाम परमं मम** " इस वचनका भी अर्थ तीन प्रकारसे करना चाहिये।

१. **आधियाज्ञिक**— इस अर्थका कर्मोंसे सम्बन्ध है इसलिये कर्म करनेवालोंको यज्ञ इत्यादि कर्मोंका सम्पादन करतेहुए जो कर्मों की अत्यन्त उत्कृष्ट सिद्धि अन्तःकरणकी शुद्धि है तिस शुद्धि ही को परमधाम समझना चाहिये । अर्थात् प्राणी पहले इस संसारमायामें पड जब तक अपनी हानि और लाभकी चिन्तामें मग्न रहता है तब तक उसे आर्त वा अर्थार्थीके नामसे पुकारते हैं और जब तक वह इन दोनों नामोंमें किसी भी एक नामका अधिकारी रहेगा तबतक वह काम्य कर्मोंके फन्देमें पडाहुआ वेद शास्त्रके वचनोंके अनुसार आधियाज्ञिक अर्थके समझनेका अधिकारी रहेगा और इसी कारण पहले उसे कर्मों के फलकी पूर्तिमें रुचि बनी रहेगी। एवम्प्रकार सकामकर्म करते २ किसी

समय गुरूपदेशद्वारा उसे निष्कामकर्म करनेकी श्रद्धा उत्पन्न होगी पश्चात् निष्काम कर्मोंके सम्पादन करते २ उसे अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त होगी यही अन्तःकरणकी शुद्धि संसारी पुरुषोंके लिये 'परमधाम' है जहांसे फिर नहीं लौटता। परमधाम शब्दका यह आधियाज्ञिक अर्थ हुआ।

अब इस पदका आधिदैविक अर्थ सुनो! जो मनुष्य अच्छे पुरुषोंकी संगतिसे संसारसुखसे श्रेष्ठ, स्वर्ग इत्यादि देवलोकोंके सुखोंको मानलेता है वह अपने इष्टदेवकी उपासना कर अपने इष्टके लोकमें पहुँचजाता है। उसके लिये अपना इष्टलोक ही **परमधाम** है। सो भगवान् पहले सातवें अध्यायमें श्लोक २७ पर्यन्त कहचुके हैं देखलो।

अब विचार करना चाहिये, कि इन भिन्न-भिन्न लोकोंपर चढते-चढते अन्तमें गोलोक तक पहुँचजाना ही परमधाम पदका आधिदैविक अर्थ है।

क्योंकि गोलोक शब्दका अर्थ है "**गोज्योंती रूपंज्योतिर्मयः पुरुष इत्यर्थस्तस्य लोकः स्थानम्**" अर्थात् गो कहिये ज्योतिःस्वरूप तथा ज्योतिर्मयपुरुषको तिसका जो विशेषस्थान उसे कहिये गोलोक अथवा दूसरा अर्थ यों भी करलो, कि "**गोभिः किरणैः ब्रह्मज्ञानतेजोभिरित्यर्थः लोक्यत इति**" अर्थात 'गो' जो ब्रह्मज्ञानरूप किरण तिनसे जो भरा हो उसे कहिये गोलोक। इसलिये गोलोक और परमधाम दोनों पदोंका समान अर्थ होता है। तिस गोलोकका वर्णन ब्रह्मवैवर्तपुराणमें यों किया है—

"निराधारश्च वैकुण्ठो ब्रह्माण्डानां परोवरः ।
तत्परश्चापि गोलोकः पञ्चाशत्कोटियोजनात् ॥
ऊर्द्ध्वे निराश्रयश्चापि रत्नसारविनिर्मितः ।
सप्तद्वारः सप्तसारः परिखासप्तसंयुतः ॥
लक्षप्रकारयुक्तश्च नद्या विरजया युतः ।
वेष्टितो रत्नशैलेन शतशृंगेण चारुणा ॥
योजनायुतमानञ्च यस्यैकं शृंगमुज्ज्वलम् ।
शतकोटियोजनश्च शैल उच्छ्रित एव च ॥
दैर्घ्यं तस्य शतगुणं प्रस्थे च लक्षयोजनम् ।
योजनायुतविस्तीर्णस्तत्रैव रासमण्डलः ॥
अमूल्यरत्ननिर्माणो वर्तुलश्चन्द्रबिम्बवत् ।
पारिजातवनेनैव पुष्पितेन च वेष्टितः ॥
कल्पवृक्षसहस्रेण पुष्पोद्यानशतेन च ।
नानाविधैः पुष्पवृक्षैः पुष्पितेन च चारुणा ॥"

(अर्थ स्पष्ट है)

ब्रह्मवैवर्त्तपुराणके इन श्लोकोंसे सिद्ध होता है, कि गोलोक जो गोलोकविहारीका नित्यस्थान है वह सब लोकोंसे ऊपर जो वैकुण्ठ धाम जिससे भी पचास करोड योजन ऊपर यह गोलोक है, अत्यन्त ऊंचे स्थानमें निराधार है जहां विरजा नामकी नदी बह रही है, रत्नोंके बडे ऊंचे २ पर्वत खडे हैं तहां ही भगवान्‌का रासमण्डल है, चन्द्रमाके समान गोलाकार अत्यन्त प्रकाशमान मानों एक तेजका पिण्ड है जो सूर्यके पिण्डसे अत्यन्त विस्तृत और अधिक प्रकाशमान है

ब्रह्म हूं अथवा " रामोऽहम " मैं राम हूं, " कृष्णोऽहम " मैं कृष्ण हूं, " शिवोऽहम् " मैं शिव हूं इत्यादि । अर्थात् जब श्रवण, मनन, निदिध्यासन इत्यादि साधनोंका सम्पादन करते २ भगवत्स्वरूपमें एकताको प्राप्त करता है तो जानो, कि वह भगवान्के परमधामको पहुंच गया । जैसे समुद्रमें मिलती हुई छोटी २ सोतियां फिर लौटकर पृथ्वीपर नहीं बहतीं ऐसे भगवत्स्वरूपकी प्राप्ति अर्थात पूर्ण ब्रह्मज्ञानपर पहुंचा हुआ मस्तिष्क फिर लौटकर संसारी नहीं बनसकता।

पहले जैसे अपने मन द्वारा इस मायामय संसारजालमें पडा हुआ वार्ताओंको कहरहा था तिस वाणीसे भी चुप होजाता है अर्थात् देखना, विचरना, बोलना इत्यादि उपाधियोंसे रहित होजाता है । इसी कारण प्राणी फिर लौटकर अपने पिछले मायामय स्वरूपमें नहीं फँसता । इसी तात्पर्यको जनाते हुए भगवान् कहते हैं, कि आंख इत्यादि इन्द्रियां वहां नहीं प्रकाश करतीं अथवा यों कहलीजिये, कि प्राणी फिर लौटकर इन इन्द्रियोंके संघातरूप शरीरमें नहीं आता ।

" **अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् । यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम** " (अ० ८ श्लो० २१) अर्थात् वह अव्यक्त जो अक्षर पुरुष अव्यक्तका भी अव्यक्त है जिसको परमगति कहते हैं तिसे प्राप्तकर जीव फिर लौटकर जीवत्वको नहीं प्राप्त होता है वही मेरा परमधाम है । इसी विषयको अगली श्रुति पूर्णरीतिसे व्याख्यान करती है । प्रमाण श्रु०—" **ॐ यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयं गतो भवति** " ।

अर्थ— जब कोई मोक्षाभिलाषी इस अदृश्य (चक्षुसे नहीं अवलोकन करने योग्य) अनात्म्य (आत्मा जो मन तिससे नहीं मनन करने योग्य) अनिरुक्त (वचनसे नहीं कथन करनेके योग्य) तथा अनिलयन (जगत्का कारणरूप) जो निलयन (त्रिगुणात्मिका प्रकृति तिसको भी अगम्य अर्थात् ज्ञात नहीं होने योग्य जो ब्रह्मप्रकाश है वह किसी प्रकार ग्रहण करने योग्य नहीं है ऐसे ब्रह्म प्रकाशमें प्रतिष्ठा लाभ करके प्राणी निर्भय होजाता है अर्थात् संसारमें लौटनेके भयसे रहित होजाता है ।

इस श्रुतिसे भी सूर्य, चन्द्र और अग्निका उस परम प्रकाश के समीप नहीं प्रकाश करना सिद्ध होजाता है। क्योंकि यहां जो अदृश्य, अनात्म्य, अनिरुक्त और अनिलयन इन चार विशेषणों से उस परब्रह्मको विभूषित किया है तहां 'अदृश्य' कहनेसे नेत्रके प्रकाश अर्थात् सूर्यका और 'अनात्म्य' कहनेसे मन अर्थात् चन्द्रमा का और 'अनिरुक्त' कहनेसे वचन अर्थात् अग्निके प्रकाशका निषेध किया इससे भगवान्का वचन सिद्ध हुआ, कि जो ब्रह्म चक्षु, मन, वाणी इत्यादिसे अगम्य है तिसको पहुंचकर फिर यह प्राणी जीवत्वको नहीं प्राप्त होता ।

प्रिय पाठको ! मैंने आपको इस श्लोकमें कथन किये हुए "तद्धाम परमं मम" का आधियज्ञिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों प्रकारके अर्थोंको दिखला दिया तहां अन्य किसी मतमतान्तरवालोंको अपने पक्षपातके कारण दो प्रकारके अर्थोंमें किञ्चित् शंका उदय हो तो हो पर तीसरा जो आध्यात्मिक अर्थ है इसे तो सब मतवाले स्वीकार करेंगे ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि यह जीव ब्रह्मका अंश होनेसे ब्रह्म ही है इस कारण जब अज्ञानके मिट जानेसे अपने रूपको पहचान ब्रह्मस्वरूप होजाता है तो फिर लौटकर जीवत्वको प्राप्त नहीं होता। जैसे अग्निकी ज्वाला जब आकाशमें उडकर प्रवेशकरजाती है तो फिर लौटकर पृथ्वीकी ओर नहीं आती ॥ ६ ॥

इतना सुन अर्जुनके चित्तमें इस बातके जाननेकी अभिलाषा उत्पन्न हो आयी, कि किस प्रकार यह जीव मायाके प्रवाहसे जीवत्वको प्राप्त हो भिन्नभिन्न शरीरोंमें फंसता है ? और फिर कैसे उस मायाके दूर होनेसे अपने स्वरूपको पहचान परमानन्द लाभ करताहुआ परमधाम को पहुँचजाता है ? अन्तर्यामी भगवान अर्जुनके हृदयकी गति जान इस रहस्यको अगले श्लोकमें यों कहने लगे।

मू— ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

पदच्छेदः— **मम** (अवयवरहितस्य निरंशस्य। परमात्मनः) **एव** (निश्चयेन) **अंशः** (भागः) **सनातनः** (सर्वदैकरूपः। नित्यः। पुरातनः) **जीवभूतः** (प्राणी भोक्ता कर्त्तेति प्रसिद्धः) **मनः,** **षष्ठानि** (मनः षष्ठं येषां तानि) **प्रकृतिस्थानि** (अज्ञाने सूक्ष्मरूपेण स्थितानि। स्वस्वप्रकृतौ कर्णशष्कुल्यादौ स्थाने स्थितानि) **इन्द्रियाणि** (श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि) **जीवलोके** (जीवानां लोके संसारे) **कर्षति** (आकर्षति) ॥ ७ ॥

पदार्थः— (**मम एव**) निश्चय करके मुझ अवयव रहित परमात्माका (**अंशः**) अंश (**सनातनः**) नित्य और पुरातन

(**जीवभूतः**) जो यह जीवरूप है सो (**मनः षष्ठानि**) मन है छठवां जिनमें ऐसी (**प्रकृतिस्थानि**) प्रकृतिमें स्थित (**इन्द्रियाणि**) श्रवण इत्यादि इन्द्रियोंको (**जीवलोके**) इस संसारमें (**कर्षति**) खैंच लेता है ॥ ७ ॥

भावार्थः— पीतपटधारी श्रीकृष्णविहारी भगवान सच्चिदानन्द अर्जुनके हृदयकी गति जान मायाजनित जीवत्व और तिस मायाके दूर होनेपर अपने परमप्रकाशस्वरूप ब्रह्मत्वके होनेका भेद यहांसे लेकर अगले कई श्लोकों द्वारा अर्जुनके प्रति कहने लगे, कि [**ममैवांशो जीवलोके जीव भूतः सनातनः**] हे अर्जुन ! देख यह जीव जो सनातन है अर्थात् सदासे इस जीवलोकमें वर्तमान है सो मुझ पूर्णब्रह्म ही का अंश है परन्तु मैं तो सदा अवयवोंसे रहित निरवयव हूं अर्थात् अंशांशीभावसे रहित सदा एकरस परिपूर्ण हूं । इसलिये मैं जो इस जीवको अपना अंश कहरहा हूं इसका यह तात्पर्य नहीं है, कि जैसे किसी वस्त्रके थानको काटकर धोती, टोपी, चादर इत्यादि बनालेते हैं । यदि इस प्रकार अंशांशीभाव मानाजावें तो ये असंख्य जीव अनादिकालसे बनते ही चले आते हैं फिर तो कटते-कटते मैं किसी दिन धज्जी होजाऊंगा और मेरा कहीं कुछ पता भी नहीं रहेगा । यदि कहो, कि तुम्हारे रूपका विस्तार बहुत है इसलिये कटते-कटते लुप्त नहीं होसकते ! तो जाने दो, परन्तु इतना तो अवश्य कहना पडेगा, कि यद्यपि मैं एकवारगी लुप्त नहीं होसकता तथापि कटते-कटते बडेसे छोटा तो अवश्य होजाऊंगा इस- लिये विभाग करके इस जीवको अंश मानना मुझे अभिमत नहीं है पर

अंशमात्र देखपड़ता है पर यथार्थमें आकाशका कोई अंश आकाश से भिन्न नहीं होता केवल घटकी उपाधिद्वारा परिच्छिन्न देखपड़ता है। जैसे किसी कतरनीको हाथमें लेकर आकाशको टुकडे-टुकडे करते चलेजाइये तो कतरनीकी चालमात्र हीसे बुद्धिमें आकाश के खण्डोंका बोध होगा पर यथार्थमें कहीं कुछ भी विभागको प्राप्त नहीं होता इसी प्रकार जितने व्यापार इस संसारमें बुद्धिद्वारा होरहे हैं वे ही जीवलोकके नामसे प्रसिद्ध हैं यथार्थमें कोई जीवलोक किसी विशेषस्थानमें नियत नहीं है जहां, सब जीव अर्थात् उस परब्रह्मके टुकडें काट-काट कर इकट्ठे करदियेगये हों और उसका जीवलोक बनगया हो। हां! द्वैतवादी जो जीव और ब्रह्मको बिलग-बिलग माननेवाले हैं वे साधनकालपर्यन्त ब्रह्म जीवका भेद मानते हैं पर वे भी अन्तमें सायुज्यमुक्तिके माननेवाले हैं। क्योंकि सिद्धान्तकालमें कुछ भेद नहीं है। जैसे तरंग समुद्रका अंश कहा जाता है पर समुद्रसे भिन्न नहीं यदि भिन्न होजावे तो उस तरंगमें जो लहरानेकी शक्ति है वह कदापि न रहे साधारण जलरूप होजावे। इसी प्रकार, यदि जीव ब्रह्मसे बिलग होजावे तो उसमें भोगनेकी शक्ति एकबारगी न रहे। इस विषयको अध्याय १३ में पूर्णप्रकार दिखला आये हैं।

भगवान‌के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि केवल कथनमात्र जो यह जीव मेरा अंश है वह अपने सत्स्वरूपको पहुंचजाता है यही इसका परमधामको पहुंचजाना है तथा एक बार जो इसने अपना स्वरूप जानलिया तो फिर अज्ञानके वश नहीं होता यही इसका लौटकर नहीं आना है अर्थात् "अहं ब्रह्मास्मि" "तत्त्वमसि" "प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म"

"अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादि महावाक्योंसे इस जीवका ब्रह्मरूप होना सिद्ध ही है। पर इतना अवश्य कहना पडेगा, कि शरीरकी उपाधिसे यह जीव अपनी इंद्रियोंको साथ लिये चौरासी लक्ष योनियों में प्रवेश करता और निकलता जान पडता है यद्यपि इन योनियोंमें इसका प्रवेश करना और निकलना मायाके सम्बन्धसे अनुमान कियाजाता है और उन योनियोंमें इसका प्रवेश करना और भोगना सिद्ध होता है पर ये सब भ्रान्तिमात्र हैं। ब्रह्मज्ञान प्राप्त होते ही ये सारी बातें नष्ट होजाती हैं। जैसे कोई राजा स्वप्नमें ऊंटवाला बनकर ऊंटोंकी पंक्ति खैंचे लिये जाता हो ऐसे यह स्वयं प्रकाशस्वरूप चैतन्य मायाकी निद्रामें मनके सहित इन्द्रियोंकी पंक्तिको खैंच एक स्थानसे दूसरे स्थानको लेजाने वालेके समान देखनेमें आता है ॥ ७ ॥

अब किस समय तथा किस प्रकार यह जीव मन सहित इन्द्रियोंको अपने साथ२ खैंच लेजाता है? सो कहते हैं—

मू०— शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८

पदच्छेदः— ईश्वरः (देहादिसंघातस्वामी जीवः) यत् (यदा) उत्क्रामति (शरीराद्बहिर्निर्गच्छति) च, यत, शरीरम् (देहान्तरम्) अवाप्नोति (प्राप्नोति) एतानि (मनः षष्ठेन्द्रियाणि) गृहीत्वा (आदाय) अपि, संयाति (विषयप्रदेशं प्रति गच्छति) वायुः (पवनः) आशयात् (कुसुमाकरात् । पुष्पादेः स्थानात्) गन्धान् (गन्धात्मकान् सूक्ष्मकान् अंशान्) इव ॥८॥

पदार्थः— (ईश्वरः) इस देहका स्वामी जीव (यत्) जिस कालमें (उत्क्रामति) एक शरीरसे निकलता है (च) और (यत) जब (शरीरम) दूसरे शरीरको (अवाप्नोति) प्राप्त होता है तब (एतानि) मनके सहित पांचों ज्ञानेन्द्रियोंको (गृहीत्वा) अपने साथलेकर (संयाति) चलाजाता है कैसे ? सो कहते हैं (वायुः) जैसे पवन (आशयात्) पुष्पोंकी कलियों से (गन्धान्) गन्धोंको लेकर दूसरे स्थानमें चलाजाता है (इव) तैसे ही ॥ ८ ॥

भावार्थः— अपूर्वसुखधाम नयनाभिराम श्रीघनश्याम भगवान् कृष्णचन्द्र जो अर्जुनसे पहले कहचुके हैं, कि यह जीव मन सहित पाचों इन्द्रियोंको खैंचलेता है उसी विषयको स्पष्ट करतेहुए अब कहते हैं, कि [**शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः**] दशों इन्द्रियों और चारों अन्तःकरण तथा पांचों प्राणोंके साथ मिलकर जो इस शरीरका एक संघातरूप भण्डार बनाहुआ है और जिसमें अन्नमय, प्राणमय इत्यादि पांचों कोश विद्यमान हैं तिनका स्वामी जो जीव है उसको भगवानने इस श्लोकमें उस ईश्वरके नामसे पुकारा है ।

दूसरी बात यह है, कि " **पाठक्रमादर्थक्रमो वलीयान्** " पाठक्रमसे अर्थक्रम सदा बलवान् होता है इस न्यायसे यहां ईश्वर शब्दका अर्थ देहादि संघातका स्वामी जीव ही कियागया है अर्थात जगत्का जो ईश्वर तिससे यहां तात्पर्य नहीं रखा वरु इस देहके संघातका जो स्वामी यह जीव उसीको ईश्वरकी उपाधि दीगयी है । इसी कारण श्रीआनन्दकन्द ब्रजचन्द कहते हैं, कि इस देहका ईश्वर जो यह जीव

जिस समय एक शरीरसे निकलता है और दूसरे शरीरमें प्रवेश करता है तब [गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्] उस समय यह अपने साथ २ मन और श्रवण इत्यादि पांचों ज्ञानेन्द्रियोंको इस प्रकार खैंचे हुए लिये जाता है जैसे वायु पुष्पादिकी गंधको ग्रहणकर एक स्थानसे दूसरे स्थानमें लेजाती है। यहां जो भगवान्ने 'एतानि' शब्द का प्रयोग किया है सो श्रीमुखसे कहनेका तात्पर्य केवल ज्ञानेन्द्रियोंहीसे नहीं है वरु कर्मेन्द्रिय, पांचों प्राण तथा अन्य भी जो कुछ इस शरीर में शक्तिमान् तत्त्व हैं उन सबोंसे भी प्रयोजन है। जैसे 'मनः षष्ठानि' पद ज्ञानेन्द्रियोंके अतिरिक्त अन्य इन्द्रियोंका भी उपलक्षण है।

एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जानेका मार्ग कौनसा है? सो इस गीताके अ० २ श्लोक २२ में छान्दोग्य उपनिषत्की पञ्चाग्निविद्या कथन करनेवाली श्रुतियों द्वारा पूर्णप्रकार वर्णन करदियागया है देख लेना।

इस जीवके एक शरीरसे उत्क्रमण करके दूसरे शरीरमें जानेके विषय अनेकानेक श्रुतियां और स्मृतियां प्रमाण रूपमें हैं।

अब यह जीव किस प्रकार अपने साथ मन सहित इन्द्रियोंको एक शरीरसे दूसरे शरीरमें खैंच लेजाता है? इसके विषय एक दृष्टान्त देकर श्रीआनन्दकन्द अर्जुनके प्रति कहते हैं कि "वायुर्गन्धानिवाशयात्" जैसे वायु कुसुमकलियोंकी कर्णिकाके मध्यसे अत्यन्त सूक्ष्म परागोंको लेकर दूसरे स्थानको उड जाती है ऐसे यह जीव अन्तःकरण सहित इन्द्रियोंको लेकर उड़जाता है। पहले आकाशकी ओर जाकर फिर नीचे

लौटकर इस लोकमें अपने कर्मानुसार शुभाशुभ योनियोंको पाता है अर्थात् जिस प्रकारकी गन्ध लेकर प्राणी उडता है उसी प्रकारका शरीर पाता है। यदि शुद्धान्तःकरणसे बिना किसी प्रकार रागद्वेषके उत्तम और श्रेष्ठ वासनाओंको लेकर उडता है तो फिर उत्तम और श्रेष्ठ योनियोंमें प्रवेश करता है नहीं तो इसके प्रतिकूल नीच और निकृष्ट वासनाओंको लेकर उडता है तो फिर लौटकर नीच योनियोंमें अर्थात् शूकर, कूकर और चाण्डालादि योनियोंमें उत्पन्न होता है सो यह नियम अनादिकालसे चला आरहा है।

शंका— पिछले श्लोकका अर्थ करते हुए यों कहागया है, कि यह जहां रहता है वहां ही साक्षान्मुक्ति प्राप्त करलेता है और अब कहते हैं, कि एक स्थानसे दूसरे स्थानमें चलाजाता है। इन दोनों बातोंमें परस्पर विरोध पाया जाता है ऐसा क्यों ?

समाधान— यह शंका निरर्थक है कारण यह है, कि ज्योंकेत्यों अपनी ठौरपर रहते हुए साक्षान्मुक्ति उन प्राणियोंके लिये है जो गुरु-चरणसेवा द्वारा जीवन्मुक्ति लाभ करचुके हैं। मायाके विस्तृत इन्द्र-जालसे निकल गये हैं और यह जो आना, जाना, निकलना, पैठना, चढना, गिरना, बंधजाना, खुलजाना, सुखीदुःखी होजाना इत्यादि कहागया सो सब उन जीवोंके लिये हैं जिन्होंने जीवन्मुक्ति नहीं प्राप्त की है क्योंकि वे मायाकी निद्रामें स्वप्नवत् नाना प्रकारकी चेष्टाओंको कररहे हैं इसलिये उक्त वचनोंमें विरोध नहीं है। शंका मत करो ॥ ८ ॥

माहेश्वरी मायाके सम्बन्धसे यह जीव किस प्रयोजनकेलिये मन-सहित इन्द्रियोंको खैंचे हुए बेलका माराहुआ बबूलतले और बबूलका मारा हुआ बेलतले फिरा करता है सो भगवान् अगले श्लोकमें स्पष्टरूपसे दिखलाते हैं।

मू०— श्रोत्रञ्चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

पदच्छेदः— अयम् (देहस्थो जीवः) श्रोत्रम् (शब्दोपलब्धिकरणमिन्द्रियम्) चक्षुः (रूपोपलब्धिकरणमिन्द्रियम्) स्पर्शनम् (त्वगिंद्रियम्) च, रसनम् (जिह्वेंद्रियम्) घ्राणम् (गन्धोपलब्धिकरणमिन्द्रियम्) च (तथा) मनः (अन्तःकरणम्) अधिष्ठाय (आश्रित्य) एव (निश्चयेन) विषयान् (शब्दादीन्) उपसेवते (तत्तदिन्द्रियद्वारा मनोरथेन आगत्य उपभुंक्ते) ॥ ९ ॥

पदार्थः— (अयम्) यह जो शरीरस्थित जीव है वह (श्रोत्रम्) कानको (चक्षुः) आंखको (स्पर्शनम्) त्वगिन्द्रियको (च) फिर (रसनम्) जिह्वाको (घ्राणम्) नासिकाको (मनः) मनको (च) भी (अधिष्ठाय) आश्रय करके (एव) निश्चित रूपसे (विषयान्) शब्द, रूप, रस इत्यादि विषयोंको (उपसेवते) भोगता है ॥ ९ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो पूछा है, कि यह जीव किस तात्पर्यसे अपने अर्थके साधन निमित्त एकसे निकल दूसरे शरीरमें जाता

है। इसके उत्तरमें नटवर गिरिधारी श्रीरसिकविहारी भगवान् आनन्द-कन्द वृजचन्द कहते हैं, कि [**श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च । अधिष्ठाय मनश्चायम्**] कान, आंख, त्वचा, जिह्वा, नासिका तथा इनके साथ मनको भी अपने साथ लेकर यह शरीरधारी जीव इनका अधिष्ठाता बनाहुआ सबको अपने-अपने व्यापारमें लगायेहुए एक शरीरसे निकलकर दूसरे शरीरमें जा [**विषयानुपसेवते**] शब्द, रस, रूप, स्पर्श, गन्ध इत्यादि विषयोंको सेवन करता है अर्थात् मायाके वशीभूत होकर विषयोंको भोगने लग-जाता है।

भगवान्के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि यथार्थदृष्टिसे देखनेमें तो न मेरा कोई अंश है, न कहीं जाता है और न कहीं आता है पर भ्रमात्मकदृष्टिमें मेरा अंश बनकर जीव भी कहलाता है और एक शरीरसे निकल दूसरे शरीरमें जाताहुआ भी देख पडता है तहां अपने संग इन्द्रियोंको तथा पांचों प्राणोंको अन्तःकरणके साथ लिये-हुए सबका अधिष्ठाता अर्थात् स्वामी बनाहुआ सबोंको अपने-अपने व्यापारमें लगा सबोंसे विषयोंको भोगता है अर्थात् कानोंके द्वारा नाना प्रकारके बाजाओंकी सुरीली ध्वनिसे उन्मत्त हो परम आनन्दको प्राप्त होता है। इसी प्रकार नेत्रोंसे सुन्दर २ रूपवती वारांगनाओंकी भड़कीली सुन्दरताके वशीभूत हो हृदयमें विषयानन्दकी अनगिनत हिलोर लेताहुआ अपनेको धन्य मानता है। ऐसे ही त्वचासे शरद्की शीतल इन्दुप्रभापूर्णयामिनीमें अपनी रम-णीके चिकने अंगोंसे आलिंगन, चुम्बन, संघर्षण इत्यादि द्वारा परम

सुखको प्राप्त करता है । फिर रसना इंद्रिय द्वारा सुस्वादु अन्न, दही मक्खनका स्वाद लेताहुआ अमृतपानके समान सुख अनुभव करता है तथा घ्राण द्वारा नाना प्रकारके वेली, चमेली, जूही, गुलाब, मालती इत्यादि सुगन्धित पुष्पोंको सूंघताहुआ आनन्द लाभ करता है, पर यह जीव केवल इन इंद्रियों द्वारा भोगनेको समर्थ नहीं होसकता जब तक अन्तःकरणका साथ न हो। इसी कारण यह चतुर जीव इनके राजा मनको भी अपने साथ करलेता है तथा प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान इन पांचों प्राणोंको भी संगी बनालेता है क्योंकि इन मन और प्राणोंके संग बिना केवल इंद्रियोंके द्वारा विषयोंके भोगनेमें समर्थ नहीं होसकता।

भगवान्ने जो पिछले ७ वें श्लोकमें केवल "**मनः षष्ठानीन्द्रियाणि**" कहा है वह १९ प्रकारके मुखोंका अर्थात शरीरके १९ अवयवोंका उपलक्षण है। अर्थात् दशों इन्द्रियां, चारों अन्तःकरण और पांचों प्राण ये सब मिलकर १९ मुख कहेगये हैं उन्हीं १९ मुखोंसे यह जीव सब स्थूल पदार्थोंको जाग्रत अवस्थामें भोगता है। और स्वप्नमें इंद्रियों सहित बाहरकी स्थूल वस्तुओंको खैंचकर सूक्ष्म अवस्थाकी ओर लेजाता है तो इस उदाहरणसे सिद्ध होता है, कि इस जीवको इस बातकी ऐसी शक्ति मिलीहुई है, कि जाग्रतकी अवस्थासे इंद्रियों सहित वस्तुतस्तुओंको खैंचकर स्वप्नमें लेजावे और फिर स्वप्नसे इनको खैंचकर जाग्रतमें लेआवे। इसी प्रकार इन सबोंको यह एक शरीरसे खींचकर दूसरे शरीरमें भी

लेजाता है। भगवान्के कहनेका तात्पर्य यह है, कि जब तक इस जीवमें बासना बनी रहती है तब तक यह बेलका मारा बबूल तले और बबूलका मारा बेल तले फिरता है अर्थात् वासनानुसार दुःख, सुखादि भोगनेके निमित्त दौडा फिरता है।

अभिप्राय यह है, कि जब यह जीव इन्द्रियोंको लियेहुए पहले शरीरसे निकल दूसरे शरीरकी ओर चलनिकला तो जानना चाहिये, कि पहला शरीर इसकेलिये स्वप्नतुल्य होगया और पिछला शरीर जागृतके तुल्य हुआ एवम्प्रकार एकके पीछे दूसरा शरीर धारण करता हुआ आगे बढता जाता है मानों एकके पश्चात् दूसरा स्वप्न देखताहुआ तथा जागताहुआ चलाजाता है पर जब तक यह जीव इस दशामें पडारहता है उसे भ्रमात्मक समझना चाहिये।

भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! यह मेरी माहेश्वरी माया जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको नचा रही है ऐसी दुर्जया है, कि इसके कारण सारा ब्रह्माण्ड भ्रमताहुआ देखपडता है। जैसे लडके आप खेलमें चक्कर खातेहुए सारा ब्रह्माण्डको फिरते देखते हैं ऐसे यह जीव माया के चक्करसे स्वयं भ्रमताहुआ सारे ब्रह्माण्डको चक्कर खाताहुआ देखता है। पर सच पूछो तो कहीं कुछ भ्रमता नहीं पर देखनेवाला आप भ्रम रहाहै इसलिये पृथ्वीसे आकाश तक भ्रमताहुआ देखता है। जैसे एक ही घरमें एक ही खाटपर शयन कियेहुआ प्राणी जागृत और स्वप्न दोनों अवस्थाओंको प्राप्त होता है अर्थात् उसी खाटपर जाग भी जाता है और स्वप्न भी देखता है पर यथार्थमें कहीं आता

जाता नहीं । परन्तु खाट हीपर पडाहुआ काशी प्रयाग इत्यादि नगरों को जाकर फिर लौट आयाहुआ जानपडता है । इसी प्रकार विषय-भोगके प्रयोजनसे एक शरीरसे दूसरे शरीरमें इसका आनाजाना सिद्ध होता है ।

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि यह जीव केवल विषयके भोग उपभोग निमित्त श्रोत्र चक्षु इत्यादि इंद्रियोंको मनके आश्रय कर इधर-उधर शरीरोंमें स्वप्नवत् उत्क्रमण और प्रवेश करता रहता है ॥ ९ ॥

इन कठिन और गूढ वार्ताओंको साधारण नहीं समझ सकते केवल आत्मदर्शी ही समझसकते हैं । इसीको भगवान् अगले श्लोकमें दरसाते हैं ।

मू०—उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुंजानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यंति पश्यंति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

पदच्छेदः— उत्क्रामन्तम् (परित्यजन्तम् । पूर्वशरीरं विहाय शरीरान्तरं गच्छन्तम्) वा, स्थितम् (तिष्ठन्तम्) वा (अथवा) भुञ्जानम् (शब्दादींश्चोपलभमानान् । विषयान् सेवमानान्) गुणान्वितम् (सुखदुःखमोहाख्यै गुणै : संयुक्तम्) अपि, विमूढाः (दृष्टादृष्टविषयभोगवासनाकृष्टचेतस्तयात्मानात्मविवेकायोग्याः । बहिर्दृष्टयः । पामराः) न, अनुपश्यन्ति (अवलोकयन्ति) ज्ञानचक्षुषः (न्यायानुगृहीतशास्त्रजन्यमात्मदर्शनसाधनं चक्षुर्येषां ते । विवेकिनः) पश्यन्ति (साक्षात्कुर्वन्ति) ॥ १० ॥

पदार्थः— (उत्क्रामन्तम्) एक शरीरसे निकलकर दूसरे शरीरकी ओर जाते हुए (वा) अथवा (स्थितम्) उसी शरीरमें ठहरे हुए (वा) अथवा (भुंजानम्) विषयोंको भोगते हुए तथा (गुणान्वितम्) तीनों गुणोंके फल सुख दुःख मोह इत्यादिसे युक्त होतेहुए (अपि) भी (विमूढाः) अज्ञानी मूढ (नानुपश्यन्ति) इसके गुप्तभेदको नहीं देखसकते किन्तु (ज्ञानचक्षुषः) जो ज्ञानके नेत्रवाले विवेकी हैं वे ही (अनुपश्यन्ति) इस आत्माके यथार्थ तत्वको देख सकते हैं ॥ १० ॥

भावार्थः— पापतापनिकन्दन भक्तजनमनरंजन श्रीनँदनन्दन भगवान् कृष्णचन्द्र जो पहले कह आये हैं, कि इस जीवका निकलना वा प्रवेश करना मायाकृत है यथार्थ नहीं है इस विषयको कौन प्राणी यथार्थरूपसे जान सकता है और कौन नहीं जान सकता है ? सो स्पष्ट करते हुए कहते हैं, कि [**उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् । विमूढा नानुपश्यन्ति**] इस जीवका एक देहसे उत्क्रमण करना, दूसरेमें जाकर स्थित होजाना, शरीरोंके दुःखसुखको भोगना और तीनों गुणोंसे युक्त होजाना इत्यादि सूक्ष्म वार्त्ताओंको मूढ पुरुष नहीं देखसकते हैं अर्थात् पहले जो १६ मुख कथन कर आये हैं उन इन्द्रियादिक उन्नीसों मुखोंको साथ २ खैंचे हुए एक शरीरसे निकलकर दूसरेमें स्थित होकर इन्द्रियोंका और अन्तःकरणका अधिष्ठाता बनकर उनके विषयोंका भोगना फिर तीनों गुणोंकी वृद्धिके कारण सुखदुःखमें प्राप्त होना जो मायाकृत विस्तार है तिसको सत्संगरहित और विवेकहीन नहीं

अनुभव करसकते । क्योंकि वे यों नहीं समझ सकते हैं, कि इस जीवका उत्क्रमण करना वा स्थित होना मायाकृत है सत्य नहीं है। यह मायाकृत सृष्टि जो मिथ्यारूपसे वर्त्तमान है उसमें यह जीव कैसे इस मनुष्य शरीरसे निकलकर दूसरे शरीरमें जाता है ? तिसका भी बोध नहीं है ।

पूर्व अ० २ श्लो० २२ में जो पञ्चाग्निविद्या दिखला आये हैं जिससे इस जीवका उत्क्रमण, गति, प्रतिष्ठा, तृप्ति, पुनरागमन इत्यादिका पता चलता है उसको भी समझना मूढोंकेलिये दुस्तर है तो भला कब ऐसा होसकता है, कि इस आत्माके यथार्थ रूपको वे समझ सकें। इसी कारण भगवान् उनके विषय कहते हैं, कि मूढ पुरुष इस विषयको नहीं समझ सकते। तब वे कौन हैं जो इसे साक्षात्कार करते हैं ? तो कहते हैं, कि [**पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः**] जो ज्ञानके नेत्रवाले हैं वे इस भेदको समझ सकते हैं अर्थात् जिनकी बुद्धि गुरुकृपाद्वारा तथा गूढ सत्संगद्वारा परम कुशाग्र होरही है वे ही इस वार्त्ताको समझसकते हैं, कि भगवत‍्का कोई अंश नहीं होता और न कहीं किसी इन्द्रियको लेकर जाता आता है वरु एक आत्मा परिपूर्ण सर्वत्र एकरस ज्योंका त्यों व्यापरहा है और जीवोंका आना जाना विषय भोगना सब मायाकृत भ्रमात्मक बोध है। प्रमाण श्रुतिः— "ॐ सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्य्येण नित्यम्"

(मुण्ड० ३ खं० १ श्रुति ५)

अर्थ— यह आत्मा केवल सत्य बोलनेसे, तपसे (मन और इन्द्रियोंके एकाग्र करनेसे) ज्ञानसे, तथा ब्रह्मचर्य्यसे लब्ध होता

है। सो ये गुण भी कैसे होने चाहियें? तो नित्य अर्थात् सर्वदा जीवन पर्य्यन्त एकरस होना चाहिये तब वह आत्मज्ञानका जिसके प्रकाशसे मायाकृत अन्धकार नष्ट होता है इस जीवको साक्षात्कार होता है और ब्रह्मरूप ही देखपडता है। तात्पर्य्य यह है, कि तब ही यह अपने परमधामको पहुंचता है। इसी कारण भगवान् इस गीतामें बार-बार कहते चले आते हैं, कि इस तत्वको वे ही जानते हैं जिनके विवेक और वैराग्यके नेत्र खुले हैं तथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य इत्यादि साधनोंमें नित्य तत्पर हैं॥ १० ॥

इसी विषयको अगले श्लोकमें और भी स्पष्ट कर कहते हैं—

मु०— यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥ ११

पदच्छेदः— यतन्तः (ध्यानादिभिः प्रयत्नं कुर्वन्तः) योगिनः (समाहितचित्ताः) च, आत्मनि (स्वबुद्धौ । ब्रह्मणि) अवस्थितम् (महाकाशे घटाकाशमिवैक्येन वर्तमानम्) एनम् (विभुमुत्क्रामन्त्यादिहीनमसंगं स्वात्मानम्) पश्यन्ति (साक्षात्कुर्वन्ति) अकृतात्मनः (असंस्कृतात्मनः । अविशुद्धचित्ताः) अचेतसः (अविवेकिनः । मन्दमतयः । पाषाणतुल्याः) यतन्तः (शास्त्राभ्यासादिभिः प्रयत्नं कुर्वाणाः) अपि, एनम (आत्मानम्) न पश्यन्ति (न साक्षात्कुर्वन्ति) ॥ ११ ॥

पदार्थः— (यतन्तः) ध्यानादि द्वारा यत्न करनेवाले (योगिनः) योगी जन (च) भी (आत्मनि) अपने अन्तःक-

रणमें (अवस्थितम्) वर्तमान (एनम्) उत्क्रमादिसे रहित असंग इस आत्माको (पश्यन्ति) साक्षात् करते हैं पर (अकृतात्मानः) जो अशुद्ध अन्तःकरणवाले हैं तथा (अचेतसः) अविवेकी हैं और मन्दमति हैं वे (यतन्तः) शास्त्राभ्यासादि द्वारा नाना प्रकारे यत्न करतेहुए (अपि) भी (एनम्) उक्त प्रकार संगरहित इस आत्माको (न पश्यन्ति) नहीं देखते अर्थात् नहीं जानसकते ॥ ११ ॥

भावार्थः— अलख अविनाशी सर्व घटवासी श्रीआनन्दकन्द कृष्णचन्द्र पूर्वश्लोकमें कथनकियेहुए विषयको अधिक स्पष्टरूपसे दिखलानेके तात्पर्यसे कहते हैं, कि [**यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्**] जो योगी लोग ध्यानयोग इत्यादिके निमित्त तथा आत्मज्ञानकी प्राप्ति निमित्त गुरूपदेश द्वारा श्रवण, मनन, निदिध्यासन इत्यादि साधनोंका अभ्यास विधिपूर्वक करतेहुए आस्तिक्यबुद्धि तथा शुद्ध अन्तःकरणसे भगवत्परायण होकर केवल भागवतकर्मोंके साधनमें तत्पर रहते हैं वे ही यों समझ सकते हैं, कि यह आत्मा (जीव) उस ब्रह्ममें सदा अवस्थित है उससे विलग क्षणमात्र भी नहीं होता केवल अन्तःकरणकी उपाधि द्वारा थोडी देरके लिये यह विलग हुआसा देख पडता है पर यथार्थमें कभी विलग न हुआ, न होता है और न होगा। यह सदा आप अपनेमें वर्तमान है अथवा यों कहलीजिये, कि सदा अपने स्वरूप ब्रह्मत्वमें वर्तमान है। इस प्रकार यत्नशील प्राणी इसको उत्क्रमण इत्यादि उपाधियोंसे रहित देखते हैं।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि संयमितचित्तवाले योगीजन आप को अपनेमें स्थित देखते हैं पर [यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः] ऐसे यत्न करनेवालोंमें भी जो अकृतात्मा हैं अर्थात् अविशुद्धचित्त हैं, जिनका अन्तःकरण मल, विक्षेप और आवरणोंसे शुद्ध नहीं हुआ है तथा जो अचेतस हैं, पाषाणके समान हैं तत्वोंको नहीं समझ सकते उनको इस विषयका यथार्थ बोध नहीं होता। इसीलिये भगवान् पहले भी अ० ७ श्लोक १९में कह-आये हैं, कि " बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते " ज्ञानवान् भी कई जन्मोंके यत्न करनेके पश्चात् मेरेको प्राप्त होता है अर्थात् यह मेरा आत्मज्ञान इतना सुलभ नहीं है, कि झट आज ही शास्त्रोंको हाथमें लिया और यथार्थ तत्वको जानगये ऐसा नहीं वरु कई जन्म परिश्रम करते-करते जब अनेक जन्मोंकी सिद्धि एकत्र होती है तब परमतत्त्वकी पहचान होती है।

अतएव भगवान्का ऐसा कहना, कि अकृतात्मा यत्न करतेहुए भी इस आत्माके यथार्थ रूपको नहीं देखते असंगत नहीं है सांगोपांग सत्य है ॥ ११ ॥

भगवानने जो यह अध्याय आरम्भ करतेहुए इस संसाररूप अश्वत्थ वृक्षकी पहचान करनेवालोंके विषय ऐसा कहा, कि इस वृक्ष को छेदनकर उस मेरे परमधामको पहुंचना चाहिये जहां सूर्य, चन्द्र इत्यादि प्रकाश नहीं करसकते पर तिस परमधाममें पहुंचनेका यथार्थ अर्थ मध्यमें इस ११ वें श्लोक तक कथन करदिया। अब पुनः लौटकर अपने उसी विषयपर पहुंचकर कहते हैं।

मू०— यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥
॥ १२ ॥

पदच्छेदः— आदित्यगतम् (सूर्याश्रयम् । सूर्यमण्डलान्तर्वर्त्ति) यत्, तेजः (दीप्तिः । चैतन्यात्मकं ज्योतिर्वा । अवभासकम्) चन्द्रमसि (चन्द्रे) च, यत् (प्रकाशकरं तेजः) अग्नौ (हुतवहे) च, यत् (दाहकं सामर्थ्यम्) अखिलम् (स्थावरजंगमात्मकं समस्तं) जगत् (भुवनम्) भासयते (प्रकाशयति) तत्, तेजः (सर्वावभासकं ज्योतिः) मामकम् (मदीयम्) विद्धि (जानीहि)
॥ १२ ॥

पदार्थः— (आदित्यगतम्) सूर्य्यमण्डलमें स्थित (यत्) जो (तेजः) दीप्ति है वा चैतन्यात्मक ज्योति है तथा (चन्द्रमसि) चन्द्रमामें (च) भी (यत्) जो प्रकाशकरनेवाली वा चैतन्यात्मक ज्योति है फिर (अग्नौ) अग्निमें (च) भी (यत्) जो दाहिकाशक्ति वा चैतन्यात्मक ज्योति है जो (अखिलम्) सम्पूर्ण (जगत्) जगत्को (भासयते) प्रकाश करनेवाली है (तत्तेजः) तिस ज्योतिको हे अर्जुन ! (मामकम्) मेरा ही प्रकाश (विद्धि) जान ! अर्थात् ये सब मुझहीसे प्रकाशमान हैं ऐसा जान ! ॥ १२ ॥

भावार्थः— सभी विद्वान् जानते हैं, कि श्रीआनन्दकन्द कृष्णचन्द्रने जो यह गीताशास्त्र अर्जुनके प्रति प्रकट किया तिसमें

जितने सारतत्व हैं वे उपनिषदोंसे लियेगये हैं। तहां इस १५ वें अध्यायमें संसारसे बिरक्त होजानेके प्रयोजनसे इसको एक नश्वर वृत्त अर्थात् अश्वत्थवृत्त निरूपण करे इसे असंगरूप शस्त्रसे छेदनकर अपने परमधाम तक पहुंचनेका यत्न बताया अब फिर उसी अपने धामकी स्तुति जो शेष रहगयी थी उसे वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**यदादित्यगतं तेजो जगद्भासतेऽखिलम्**] जो इस सूर्यमें तेज है जिससे सारा जगत् प्रकाशित होरहा है तथा [**यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्**] जो दीप्ति चन्द्रमामें है फिर जो दाहक तेज अग्निमें है इन सबको हे अर्जुन! तू मेरा ही तेज जान ! अथवा इसका आध्यात्मिक अर्थ यों भी कर लीजिये, कि जो चैतन्यात्मक ज्योति इन सूर्य्य, चन्द्र और अग्निमें है जिससे सारे जगत्के जीव चैतन्य होरहे हैं उसको हे अर्जुन! तू मेरा ही तेज जान।

यहां तेज शब्दसे नाना प्रकारके अभिप्राय हैं प्रथम तो सामान्य अर्थ यही है, कि यह जो प्रकाश अन्धकारका नाश करनेवाला है जिससे सारा जगत् प्रकाशमान होरहा है जिसके उदय होनेसे हम लोग अपना सारा व्यवहार करते हैं जिसके लिये सूर्य्यदेवकी स्तुति वेदने भी यों की है, कि "ॐ उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः दृशे विश्वाय सूर्य्यम्" (शुक्लयजुर्वेद अ० ३१ मं० ३२) अर्थात् उस जगत्के जाननेवाले सर्वज्ञ प्रकाशमान सूर्य्यको उनकी किरणें सम्पूर्ण जगत्के पदार्थोंको, सर्वप्राणियोंके दिखानेके लिये निश्चय करके ऊपरको आकाशमें ले चलती हैं। इसी विषयको

भगवान्‌ने भी इस श्लोकमें कहा है, कि जिस तेजसे अखिल जगत् प्रकाशित होता है उस तेजोमय सूर्य्यको मेरा ही प्रकाश जानो।

फिर भगवान कहते हैं, कि चन्द्रमामें जो तेज है उसे भी मेरा ही तेज जानो। यद्यपि चन्द्रमाको अपना तेज नहीं है सूर्य्यसे तेज उसमें जाता है तथापि सूर्य्यकी किरणोंसे युक्त होकर जो चन्द्रमामें एक सुहावनी परम मनोहर चित्तको प्रसन्न करनेवाली शीतल-ज्योति उत्पन्न होती है जो चन्द्रमामें स्थित अमृतरसको किरणों द्वारा पृथ्वी पर पहुंचकर अन्नोंमें डाल देती है उस ज्योतिको भी मेरा ही प्रकाश जानो।

शंका— चन्द्रमामें जो प्रकाश है वह सूर्य्यसे आता है इसका क्या प्रमाण है?

समाधान— " तरणिकिरणसंगादेष पीयूषपिण्डो दिनकरदिशि चन्द्रश्चन्द्रिकाभिश्चकास्ति। तदितरदिशिवालाकुन्तलश्यामलश्रीर्घट इव निजमूर्त्तेश्छाययैवातपस्थः " (सूर्य्यसिद्धान्तका वचन है) अर्थ— यह चन्द्र जो अमृतका एक पिण्ड है वह सूर्य्यकी ओर सूर्य्यकी किरणोंसे प्रकाशित रहता है अर्थात् चन्द्रमाका जितना भाग सूर्य्यके सम्मुख पडता है उतना भाग तो चांदनीसे प्रकाशित रहता है पर जो भाग सूर्य्यके सम्मुख नहीं पडता उतने भागमें स्त्रियोंके श्यामकेशके समान श्यामता भासती है। जैसे किसी एक घडेको प्रातःकाल आंगनमें रखदो तो जितना भाग पूर्वकी ओर है उतनेमें सूर्य्यका प्रकाश पडेगा शेष भागमें प्रकाश नहीं पडेगा इसी प्रकार चन्द्रमाको भी समझो।

अब भगवान् कहते हैं, कि " यच्चाग्नौ " अग्निमें जो प्रकाश है उसे भी मेरा ही प्रकाश जानो इस प्रकाशसे भी जगत्‌का बहुत कुछ व्यवहार चलरहा है सो अग्नि भी सर्वत्र व्यापक है जहां जिस वस्तुमें चाहो घिसकर देखलो। अग्निदेव भी कई प्रकारसे इस जगत्‌का उपकार कररहा है। अग्निसे यज्ञ, तिस यज्ञसे धूम, धूमसे मेघमाला, तिससे वर्षा, तिससे अन्न और तिससे शरीरकी सब इंद्रियोंमें प्रकाश उत्पन्न होता है

फिर यही अग्नि है जो सारे शरीरमें जीवनका कारण है अग्नि-रहित शरीर हुआ और उसी क्षण मृतक होगया। इससे सिद्ध होता है, कि अग्नि भी भगवत्‌का प्रकाशस्वरूप है।

फिर जठराग्नि भी अग्नि है जो अन्नको अपनी दाहिकाशक्तिसे पचाकर शरीरमें रुधिर इत्यादि बनाकर शरीरकी रक्षा करती है। यदि अग्नि पाक न बनादे और पेटमें न पकादे तो शरीरमें जितनी इंद्रियां हैं सब व्यर्थ होजावें। इसी कारण भगवान्‌ने भी इस अग्निको अपना तेज ही कथन किया है।

अब इस श्लोकका आध्यात्मिक अर्थ सुनो! तेज कहनेसे भगवानका अभिप्राय चैतन्यात्मक-ज्योतिसे है अर्थात भगवत्‌के इस ज्ञानमय प्रकाश द्वारा सब जीवोंमें तथा अखिल जगत्‌के सब पदार्थोंमें चेतनता प्रवेश कियेहुई है और जिस चेतन तेजके द्वारा चक्षु इत्यादि इंद्रियोंमें अपनें-अपने विषयोंके ग्रहण करनेकी शक्ति उत्पन्न होरही है अर्थात् जब तक वह तेज इस शरीरके बाहर

भीतरे वर्त्तमान रहता है तबतक दशों इंद्रियां और चारों अन्तःकरण अपने-अपने कार्यमें प्रवृत्त रहते हैं। क्योंकि वह तेज चक्षुका भी चक्षु है श्रोत्रका भी श्रोत्र है। प्रमाण श्रु०—"**श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः**" (केन० श्रु० २)

अर्थ— जो चैतनात्मकज्योति कानका भी कान है, मनका भी मन है और जो वचनका भी वचन है वही प्राणका भी प्राण है अर्थात् उसी एक आत्मज्योतिसे इन सब इंद्रियोंको प्रकाश मिलरहा है।

केवल चेतन पदार्थों ही में नहीं वरु जड़ पदार्थोंमें भी जो प्रकाश है जैसे बेली, चमेली, जुही, गुलाब, मालती, रूपमंजरी, मौलसरी इत्यादि पुष्पोंमें जो नाना प्रकारके सौन्दर्य, विचित्रता तथा नाना प्रकारकी सौरभपूर्ण गन्ध है सो सब उसी चैतन्यात्मकज्योतिका प्रकाश है। हीरा, लाल, पन्ना, मुक्ता, पिरोजा, नीलम, पुखराज इत्यादि रत्नोंमें जो चमक-दमक और प्रकाश है सब उसी चैतन्यात्मकज्योतिका प्रकाश है। इसी प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके जड़ चेतन पदार्थोंमें उसी एकका प्रकाश फैलाहुआ है।

शंका— जब उसका तेज साधारण प्रकाशरूपमें हो चाहे चैतन्यात्मकरूपमें हो सर्वत्र सब पदार्थोंमें फैलाहुआ है तो क्या कारण है, कि उसका प्रकाश सूर्य चन्द्र अग्निमें, भिन्न-भिन्न धातुओंमें और हीरा, लाल, मोती इत्यादिमें अधिक भासरहा है और वही प्रकाश मिट्टी, पत्थर, काष्ठ इत्यादि अनेक पदार्थोंमें नहीं देखपड़ता? समझाकर कहो।

समाधान— इस विश्वमें चाहें जड हों वा चेतन जितनी वस्तुओंकी रचना हुई है सब रज, सत्वादि तीनों गुणोंके मेलसे हुई है पर भेद इतना ही रहा है, कि जिन पदार्थोंमें सत्वगुणकी अधिकता है उनमें प्रकाश तथा चैतन्य विशेषरूपसे निवास करताहुआ प्रकट देखपड़ता है पर जितनी वस्तुओंमें रजोगुण और तमोगुणकी अधिकता है उनमें प्रकाश मन्द देखपडता है। जैसे कोई किसी दीवाल, पर्वत वा काष्ठके सम्मुख जाकर खडा होजावे तो उसका मुख उनसे नहीं देखपड़ेगा पर यदि किसी काच, हीरा इत्यादि रत्न वा जलके समीप जाकर खडा होजावे तो उनमें उसका मुख स्वच्छ देखपडेगा।

इसी कारण भगवानने अपने तेजको सूर्य, चन्द्र और अग्निमें विशेषरूपसे दिखलादिया है। शंका मत करो!

इस श्लोकमें जो भगवान्‌ने कहा, कि आदित्यमें, चन्द्रमामें वा अग्निमें जो तेज है उसे हे अर्जुन! तू मेरा ही तेज जान! तिसका अर्थ सर्वसाधारणके कल्याणनिमित्त यहां एक दूसरे प्रकारसे करदिया जाता है।

सर्वशास्त्रवेत्ता बुद्धिमानोंपर तथा योगियोंपर प्रकट है, कि इस शरीरमें ईडा, पिंगला और सुषुम्णा तीन मुख्य नाडियां बनी हुई हैं जिनके द्वारा प्राणी श्वासोच्छ्वास करता हुआ जीवित रहता है। यदि इन नाडियोंमें चैतन्यात्मक ज्योतिका प्रकाश न होवे तो इनमें जो श्वासोच्छ्वासकी शक्ति है (जिससे यह जड़-शरीर चेतन हो भासता है) एक वारगी नष्ट होजावेगी।

ईडा, पिंगला और सुषुम्णा ये तीनों चन्द्र, सूर्य्य और अग्नि नाडीके नामसे प्रसिद्ध हैं तहां ईडा चन्द्राधिष्ठिता कही जाती है, पिंगला सूर्य्याधिष्ठिता और सुषुम्णा सूर्य्यचन्द्रअग्न्यधिष्ठिता कहीजाती है। तात्पर्य्य यह है, कि इन तीनों नाडियोंके सूर्य्य, चन्द्र और अग्नि ये ही तीनों अधिष्ठातृ देव हैं। प्रमाण— "**मेरौ वाह्यप्रदेशे शशिमिहिरशिरे सव्यदक्षे निषण्णे, मध्ये नाडी सुषुम्णा त्रितयगुणमयी चन्द्रसूर्य्याग्निरूपा। धुस्तूरस्मेरपुष्पग्रथिततमवपुः स्कन्धमध्याच्छिरस्था, वज्राख्या मेढ्रदेशाच्छिरसि परिगता मध्यमेऽस्या ज्वलन्ती**" (षट्चक्रनिरूपण नाडीवर्णन)

अर्थ—इस शरीरमें मेरुदण्ड जो पीठकी रीढ है (वाह्यप्रदेश) उसकी बांयी और दायीं ओर चन्द्र और सूर्य्यसे अधिष्ठित दो नाड़ियां ईडा और पिंगला नामकी बनी हुई हैं फिर इसी मेरुदण्डके बीचमें सुषुम्णा नामकी एक नाडी है जो सत्व, रज और तम तीनों गुणोंसे युक्त अथवा तीन गुणकी रज्जु ऐसी लिपटी हुई चन्द्र, सूर्य्य और अग्निकरके अधिष्ठित परम प्रकाशस्वरूप है। यह सुषुम्णा धतूरेके फूलके समान खिली हुई मूलद्वारसे निकलकर दोनों कन्धोंके बीच होतीहुई मस्तकमें सहस्रदलतक चली आयी है, इस सुषुम्णाके बीचमें भी एक और नाडी है जिसे वज्राके नामसे पुकारते हैं वह अत्यन्त प्रकाशमान लिंगदेशसे निकलकर चमकती हुई मस्तकतक लगरही है। ये तीनों नाडियां चौरासीलक्ष योनियोंमें वर्त्तमान हैं। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि यह जो मेरी चैतन्यात्मकज्योति है सो चन्द्र, सूर्य्य और अग्नि अर्थात ईडा, पिंगला और सुषुम्णा तीनोंमें व्याप रही है अतएव हे अर्जुन! इन तीनोंके तेजको मेरा ही तेज जान!।

फिर यह भगवानका तेज रूपवानोंमें सुन्दरताका भी मुख्य कारण है अर्थात इस जड पञ्चभूतके शरीरपर जो छबि है जिस छबिको देख सहस्रों प्राणी मोहित होजाते हैं वह उसी आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रको तेज है ॥ १२ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें इसी अपने तेजकी व्यापकताका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—

मू०— गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥

पदच्छेदः— च (तथा) अहम् (वासुदेवः) ओजसा (बलेन । धारणाशक्त्या) गाम् (पृथ्वीम्) आविश्य (प्रविश्य) भूतानि (चराचराणि) धारयामि (धरामि) च (पुनः) रसात्मकः (जलात्मकः । अमृतमयः) सोमः (ओषधिपतिश्चन्द्रः) भूत्वा, सर्वाः (समस्ताः) ओषधीः (व्रीहियवाद्याः) पुष्णामि (अमृतस्राविकिरणैः संवर्द्धयामि) ॥ १३ ॥

पदार्थः— (च) तथा (अहम्) मैं जो चैतन्यात्मक ज्योतिःस्वरूप वासुदेव सो (ओजसा) अपने बलसे (गाम्) इस पृथ्वीमें (आविश्य) प्रवेश करके (भूतानि) सब चराचरको (धारयामि) धारण करता हूं अर्थात् अपने २ ठौरपर यथायोग्य स्थिर रखता हूं (च) पुनः (रसात्मकः) जलात्मक (सोमः) अमृतरस (भूत्वा) होकर (सर्वाः) सम्पूर्ण जगत्की (औषधीः) भिन्न-भिन्न वनस्पति इत्यादिको (पुष्णामि) पुष्ट करता हूं ॥ १३ ॥

भावार्थः— अगम अखिलेश भगवान् ब्रजेशने जो पहले यों कहा है, कि मेरा ही चैतन्यात्मक प्रकाश सूर्य्यादिकों तथा अखिल जगत्को प्रकाशमान कररहा है इसी विषयको पूर्णप्रकार विलग २ समझानेके लिये भगवान् अपनी विशेष शक्तियोंका वर्णन करते हुए कहतेहैं, कि [**गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा**] मैं उसी अपने चैतन्यात्मक प्रकाशके बलसे इस पृथ्वीमें प्रवेशकर जितने जड चैतन पदार्थ हैं सबोंको धारण करता हूं अर्थात् जो वस्तु जिस प्रकार रूपात्मक वा गुणात्मक है तदाकार होकर मैं उसमें प्रवेश कर उसकी स्थितिपर्य्यन्त उसमें निवास करता हूं भगवान्का यह वचन सांगोपांग योग्य और यथार्थ देख पडता है। मूर्खोंके लिये तो इस वचनका मर्म समझना कठिन है पर विद्वानोंकी दृष्टिमें यह वचन याथातथ्य देख पडता है। क्योंकि यदि स्वयं वह महाप्रभु सर्वशक्तिमान् जगदाधार अपने तेजसे इस पृथ्वीमें प्रवेशकर अपनी शक्ति द्वारा इसे धारण न करे तो इस एक मूठी रेतीका क्या कहीं पता लगसकता है ? किसी सागरके किनारे जा देखो तो प्रत्यक्ष देखनेमें आवेगा, कि समुद्रका जल पर्वतके समान पृथ्वीके ऊपर चढाहुआ देखपडता है और यह पृथ्वी समुद्रके किनारे ऐसी देख पडती है, कि एक अत्यन्त नीचे गडहेमें पडी हो। यूरोपमें एक मुल्कका नाम होलैण्ड है जिसकी चारों ओर समुद्रका जल ऐसा उठा हुआ देखपडता है, कि मानों उसकी पृथ्वी जलके भीतर है। वहांके रहनेवाले प्रतिवर्ष एक लकडीकी दीवाल बना नगरकी चारों ओर लगादेते हैं जिससे पानी भीतर न आने पावे पर जिस समय भगवान् अपना तेज उस पृथ्वीसे

बाहर निकाल लेवेंगे सारा देश जलके भीतर चला जावेगा कहीं कुछ भी पता नहीं लगेगा। यदि क्षणमात्रके लिये समुद्र चारों ओरसे बढ जावे तो पृथ्वी उसके पेटमें जाकर ऐसे गलजावेगी जैसे एक मुट्ठी रेती एक घंडे जलमें गलजाती है पर वाहरे तेरी कारीगरी! वाहरे तेरी परम विचित्र महिमा! जिसने एक मूठी रेतीको इतने गंभीर जलके ऊपर ऐसी दृढतासे धारण कररखा है, कि यदि लाखोंबारे भाठाज्वार लग-जावे तो भी पृथ्वी ज्योंकी त्यों वर्त्तमान रहती है। फिर जब उसी महाप्रभुकी इच्छा होगी तो अपने बलको खैंच प्रलय करदेगा और इस एक मूठी रेतीका कहीं कुछ भी पता नहीं लगेगा। इतना ही नहीं वरु भगवान कहते हैं कि इस सम्पूर्ण पृथ्वीको सागरोंके सहित जिसे भूमण्डलके नामसे पुकारते हैं मैं अपने वलसे धारण किये हुए हूं यदि ऐसा न करूं तो सारा भूमण्डल न जाने नीचे गिरते २ कहां चला जावे वा टुकडे टुकडे होकर आकाशमें फैल जावे इसके परमाणु सब बिखर जावें और सारा खेल ही बिगड जावे।

फिर भगवान कहते हैं, कि [**पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः**] मैं केवल इस भूमण्डलको धारणमात्र ही नहीं करता हूं वरु इस पृथ्वीमें जितनी औषधियां हैं अर्थात शालि, गोधूम, यव इत्यादि अन्न पनस, रसाल, आम्रादि नाना प्रकारके फल बेली, चमेली, जुही इत्यादि नाना प्रकारके पुष्प अनन्तमूल, एला, कचनार, खस, ग्वारपाठा, घिया, चीता, छतौना, जटामांसी, झाड, टेसू, डाभ, ढाक, ताम्बूल, थूहर, दालचीनी, धनियां, नकुल-कन्द, परवल, फलप्रियंगु, ब्राह्मी, भांग, महावर, यष्टिमधु, रतनजोत,

लताकस्तूरी, शंखपुष्पी, सम्हालु, हरड, क्षीरविदारी इत्यादि रोग नाशक औषधियोंको मैं (रसात्मक) अमृतस्वरूप होकर पुष्ट करता हूं तथा उनकी वृद्धि करता हूं ।

इनके देखनेसे यही श्रुति स्मरण होआती है— " ॐ तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् " । अर्थात् वह परब्रह्म जगदीश्वर वस्तुओंकी रचना कर तदाकार हो प्रवेश करगया है । सो भगवान् पहले ही अर्जुनके प्रति कहआये हैं, कि " मूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः " इस वचनका प्रयोग यहां भी करना चाहिये ।

शंका— यव, गोधूम, आम, लीची, नींबू, सेव, अंगूर, नाशपाती, छोहारा इत्यादि औषधियोंमें तो भगवान स्वयं स्वादस्वरूप होकर निवास करता है जिनके आहार करनेसे जीवोंको शारीरिक पुष्टि प्राप्त होती है इसलिये भगवान्का इनमें रसात्मक होकर प्रवेश करना तो सार्थक है पर महाकारी, कुचला, जमालगोटा भिलावा, खपड़िया, धतूरा, कनेर, अफीम इत्यादि जो विषैली औषधियां हैं जिनके ग्रहणमात्रसे प्राणी मृत्युको प्राप्त होजाता है तिनमें भगवान्का रसात्मक होकर प्रवेश करना अयोग्य समझा जाता है ऐसा क्यों ?

समाधान— परमात्माने जितनी औषधियोंकी तथा फलफूलोंकी रचना इस पृथ्वीपर की है सब हानि लाभ दोनोंसे मिश्रित हैं । यदि उनका व्यवहार उचित रीतिसे किया जावे तो वे सब अमृततुल्य हैं और यदि अनुचित रीतिसे कियाजावे तो वे विषके तुल्य होजाते हैं । क्योंकि अनुचित व्यवहारसे अमृत विष होजाता है और उचित व्यवहारसे विष अमृत होजाता है । जैसे वे ही आम और लीची ज्वरग्रस्त प्राणि-

योंको दियेजावें तो विषके तुल्य कार्य्य करेंगे और वेही जमालगोटा वा संखिया उत्तम औषधियोंके साथ मिलाकर किसी रोगग्रस्त पुरुषको दियेजावें तो अमृतके तुल्य कार्य्य करेंगे। इसलिये भगवान्का सब औषधियोंमें "सोमो भूत्वा रसात्मकः" कहना उचित है। शंका मत करो!

यहां यों भी अर्थ करलेना चाहिये, कि सोम जो चन्द्रमा है वह अमृतका एक पिण्ड है जिसमें अमृत भरा हुआ है सो अमृतस्वरूप साक्षात् वह महाप्रभु स्वयं है जो सोमसे जलधाराके समान स्रवता हुआ नीचे सब औषधियोंमें पडता है जिससे सब औषधियां वृद्धिको प्राप्त होती हैं और सबोंमें स्वाद प्रवेश करजाता है इस कारण भगवान् कहते हैं, कि हे धनुर्धर पार्थ! सोममें जो अमृत है सो मैं ही हूं ॥ १३॥

भगवान्ने इस श्लोकमें जिन औषधियोंका वर्णन किया उनके पचा डालनेकी भी शक्ति अपनेहीको वर्णन करते हुए कहते हैं—

मू०— अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥
॥ १४ ॥

पदच्छेदः— अहम् (वासुदेवः) वैश्वानरः (उदरस्थोऽग्निः। जठराग्निः) भूत्वा, प्राणिनाम् (सर्वेषां प्राणवताम्) देहम् (कार्य्यकारणसंघातशरीरम्) आश्रितः (प्रविष्टः) [सन्] प्राणापानसमायुक्तः (प्राणापानाभ्यां समुद्दीपितः। श्वासोच्छ्वासक्रमेण प्रज्वलितः) चतुर्विधम् (भोज्यभक्ष्यचोष्यलेह्यभेदेन चतुःप्रकारकम्) अन्नम् (भोजनार्हपदार्थम्) पचामि (पक्वं करोमि) ॥ १४ ॥

पदार्थः— (अहम) मैं वासुदेव (वैश्वानरः) जठराग्निरूप (भूत्वा) होकर (प्राणिनाम) सब प्राणियोंके (देहम) शरीरका (आश्रितः) आश्रय करके (प्राणापानसमायुक्तः) प्राण और अपान वायु द्वारा श्वासोच्छ्वास करता हुआ उस जठराग्निको प्रज्वलित कर (चतुर्विधम) *भोज्य, भक्ष्य, चोष्य और लेह्य इन चारों प्रकारके (अन्नम) अन्नोंको (पचामि) पकादेता हूं अर्थात् उदरस्थ अन्नको मैं ही पचादेता हूं ॥ १४ ॥

भावार्थः—श्रीगोलोकबिहारी जगतहितकारीने जो इस अध्यायके १२ वें श्लोकमें **"यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम"** ऐसा वचन अर्जुनके प्रति कहा, कि अग्निमें जो तेज है उसे तू मेरा ही जान ! इस अर्थको और भी स्पष्टकर अग्नियोंके विभागद्वारा अपने तेज का आध्यात्मिक बल दिखलाते हुए कहते हैं, कि [**अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः**] जितने देहधारी मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, इत्यादि प्राणवाले हैं उन सबोंके शरीरके भीतर उनकी

* १. **भोज्य**— जिसको केवल बांधकर मुंहमें डाल जिह्वा द्वारा चबाकर बड़ी सुगमतासे निगलजावे जैसे खिचड़ी ।

२. **भक्ष्य**— जिसे दांतोंके द्वारा टुकड़े २ करना पड़े जैसे रोटी ।

३. **चोष्य**— जिसे दांतोंसे और होठोंसे दबाकर चूसलिया जावे जैसे आम वा नारंगी ।

४. **लेह्य**— उसे कहते हैं जो केवल जिह्वासे चाटा जावे जैसे चटनी ।

देहका आश्रय करके तथा [प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्] प्राण और अपानद्वारा सांस लेते हुए अर्थात् भोजनके पश्चात् शयनकर प्राण और अपानके बारंबार संघर्षणसे उस अपने जठराग्नि रूप तेजको भड़काकर भोज्य, भक्ष्य, लेह्य और चोष्य चारों प्रकारके अन्नोंको पचाडालता हूं।

अर्थात् इन अन्नोंके सारांशको रुधिर बनाकर सम्पूर्ण शरीरमें फैला देता हूं जिससे रोम, चर्मादि सातों धातु पुष्ट होकर शरीरको दृढ और बली बनादेते हैं। ऐसे मैं सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके प्राणीमात्रका वैश्वानर होकर कल्याण कररहा हूं। प्रमाण श्रुतिः— "ॐ अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते" ॥

अर्थ— यह जो अग्नि जठराग्निरूपसे इस पुरुषके शरीरके भीतर निवास कर इन अन्नोंको पचाता है उसे वैश्वानर कहते हैं।

कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि यही महाप्रभु वैश्वानर रूपसे सब प्राणियोंके नाभिस्थानको मानो अँगीठी बनाकर प्राण और अपानके संयोगसे उस अँगीठीमें स्थित अग्निको इस प्रकार प्रज्वलित करता है जैसे लोहार अपनी भाथीसे अहर्निश धोंक-धोंककर मनों लोहेको गला डालता है अथवा सुनार अपनी बांसकी नली द्वारा श्वासोच्छ्वास करताहुआ सेरों स्वर्णको गलाकर पानी करडालता है। ऐसे ही भगवान् वैश्वानर होकर प्राण अपानकी भाथीसे सब प्राणियों के शरीरमें आप प्रज्वलित होकर दिन रात उनके अन्नोंको पचादिया करता है ॥ १४ ॥

अब भगवान् अपनी व्यापकता विस्ताररूपसे अगले श्लोकमें वर्णन करते हैं—

मू०— सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो,
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो,
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

पदच्छेदः— च (पुनः) अहम् (वासुदेवः) सर्वस्य (निखिलस्य प्राणिजातस्य) हृदि (बुद्धौ) सन्निविष्टः (चिदाभासरूपेण स्थितः । सम्यगन्तर्यामिरूपेण प्रविष्टः) मत्तः (सर्वकर्माध्यक्षाज्जगद्यन्त्रसूत्राधारात्) स्मृतिः (जन्मान्तरादावनुभूतस्य परामर्शः) ज्ञानम् (विषयेन्द्रियसंयोगजम् । कर्त्तव्याकर्तव्यविषयालोचनम्) च, अपोहनम् (अपायनम् । विस्मरणम् । अज्ञानम्) च, सर्वैः (समस्तैः कर्मकाण्डोपासनाकाण्डज्ञानकाण्डात्मकैः) वेदैः (निगमैः) अहम् (परमात्मा) एवम्, वेद्यः (वेदितव्यः । ज्ञातुं योग्यः) वेदान्तकृत् (वेदान्तार्थसम्प्रदायप्रवर्त्तकः) च, अहम् (परमात्मा) एव (निश्चयेन) वेदवित् (वेदार्थवित् । सर्वज्ञः) ॥ १५ ॥

पदार्थः— (च) पुनः (अहम्) मैं जो तुम्हारा साथी सो (सर्वस्य) सब प्राणियोंके (हृदि) हृदयमें (सन्निविष्टः) सम्यक् प्रकारसे प्रवेश कियेहुआ हूं (मत्तः) मुझसे ही (स्मृतिः) बुद्धिमानोंको स्मृतिशक्ति प्राप्त होती है (च) और (ज्ञानम्) ज्ञान होता है

(च) तथा (अपोहनम) स्मृति और ज्ञान दोनोंका नाश भी होता है अर्थात विस्मृति भी होती है (च) फिर (सर्वैः) समग्र (वेदैः) वेदोंसे (अहम्) मैं ही (एव) निश्चय करके (वेद्यः) जानने योग्य हूं (च) और (वेदान्तकृत्) वेदान्तअर्थका प्रवर्तक भी मैं ही हूं तथा (अहम्) मैं ही (एव) निश्चय करके (वेद-वित) वेदोंके यथार्थ अर्थका जाननेवाला सर्वज्ञ हूं ॥ १५ ॥

भावार्थः— पूर्व श्लोकमें भगवानने संकोचके साथ अपनी विभूतियोंका वर्णन किया। अब इस श्लोकमें विस्तारपूर्वक अपनी विभूतियोंका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तःस्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च**] मैं ही सब प्राणियोंके हृदय में प्रवेश कियेहुआ हूं, मुझहीसे स्मृति होती है, ज्ञान होता है तथा इन दोनोंकी विस्मृति भी होती है अर्थात् ब्रह्मलोकसे पाताल पर्यन्त जितने देव, पितर, गन्धर्व, नर, नाग, राक्षस, पशु, पक्षी, कीट, पतंग इत्यादि हैं सबोंकेहृदयके भीतर तथा उनकी बुद्धिके अन्तर्गत मैं अन्तर्यामीरूपसे निवास करता हूं।

पहले जो भगवानने यह कहा, कि मैं वैश्वानर होकर सबके उदरमें अन्नोंको पचाता हूं यह मानो अपनी स्थूल शक्तिका वर्णन किया पर अब इस श्लोकमें भगवान अपनी अत्यन्त सूक्ष्म शक्ति का वर्णन करतेहुए सबके हृदयमें अर्थात द्वादशदलान्तर्गत अष्टदल कमलमें अन्तर्यामीरूपसे निवास कियेहुआ है। प्रमाण श्रुतिः " ॐ स य एषां त हृदय आकाशस्तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः अमृतो हिरण्मयः।" (तैतिरी० बल्ली ० १ श्रु० १२)

अर्थ— सब प्राणियोंके हृदयप्रदेशमें जो आकाश है तिसमें यह पुरुष निवास करता है जो मनोमय है अर्थात् ज्ञानरूप क्रियावाला होनेके कारण मन जो अन्तःकरण तिसपर अपनी चैतन्यात्मक ज्योति को इस प्रकार फैला रखा है जैसे लोहके पिण्डपर अग्निका तेज भासताहुआ देखपडता है। इसी कारण यहां '**मनोमय पद**' बुद्धि आदि का भी उपलक्षण है। फिर यह पुरुष कैसा है, कि अमृतरूप है और प्रकाशमय है।

यहां जो हृदयमें आकाश कथन किया उसीका नाम **दहराकाश** भी है अर्थात् द्वादशदल कमलके अन्तर्गत बांयीं ओर एक अष्टदल कमल है तिसके भीतर जो आकाश है उसीका नाम दहराकाश है तिस दहराकाशको ब्रह्मसूत्रमें व्यासदेवने ब्रह्माकार परमात्मस्वरूप ही वर्णन किया है। यथा—"**दहर उत्तरेभ्यः**" (ब्रह्मसू० अ० १ पा० ३ सू० १४) अर्थात् पीछे जो सूत्र कहेंगे उस वाक्यसे सिद्ध होता है, कि दहराकाश जीव नहीं है किन्तु परमात्मा है।

अब यहां श्रुतिद्वारा दहराकाशका वर्णन करदिया जाता है। प्रमाण श्रु०— "**ॐ अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति**" (छां० अ० ८ ख० १ श्रु० १)

अर्थ— इस ब्रह्मपुरी अर्थात् शरीरमें जो यह सूक्ष्म कमलाकार महल है और इसमें जो अन्तर्वर्ती आकाश है तिसके भीतर जो ब्रह्म स्थित है वही अन्वेषण करने योग्य है अर्थात् ढूंढने योग्य है।

अब यदि कोई पूछे, कि इस दहराकाशनामक हृदयकमलमें कौन२ सी वस्तु हैं ? तो श्रुति कहती है, कि " ॐ स ब्रूयाद्यावान्वाऽयमाकाशस्तावानेषोन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्य्याचन्द्रमसावुभौ विधुन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितमिति " (छां० अ० ८ खं० १ श्रु० ३)

अर्थ— जितना यह वाह्य आकाश है अर्थात् शरीरके बाहर इन नेत्रोंसे देखाजाता है उतना ही आकाश इस हृदयके भीतर भी है, उसीके भीतर देवलोक और मृत्युलोक निश्चयकरके स्थित हैं, अग्नि, वायु, सूर्य्य, चन्द्र, एवं बिजली और नक्षत्रगण भी इस हृदयाकाशमें स्थित हैं और जो कुछ इस लोकमें है तथा जो कुछ नहीं है अर्थात् आगे होनेवाला है सब इस दहराकाशमें स्थित है। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि मैं सब प्राणियोंके हृदयके भीतर स्थित हूँ। जब वही वहां स्थित है तो सारे ब्रह्माण्डकी भी स्थिति सिद्ध होगयी क्योंकि वह स्वयं हृदयमें है और सारा ब्रह्माण्ड उसमें है तो फिर इस हृदयाकाशका कहां अन्त लग सकता है। इसी कारण इस शरीरको क्षुद्रब्रह्माण्ड भी कहतेहैं एवंप्रकार सब प्राणियोंके हृदयकमलमें भगवान्का स्थित रहना सिद्ध है। हृदयकमल (दहराकाश) की सीधमें अन्तःकरणतक एक लेन्स आलोक्य यन्त्रका काच (Lens) अत्यन्त प्रकाशयुक्त लगा हुआ है उसी होकर सारे ब्रह्माण्डका बिम्ब (Focus) हृदयकमलमें खिंचजाता है। इसलिये हृदयसे अन्तःकरण पर्य्यन्त संपूर्ण विराट्का बिम्ब फैला हुआ समझना चाहिये इसी कारण भगवान्ने

यहां " सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः" कहकर अपनेको प्राणीमात्रके हृदयमें स्थित दिखलाया।

अब भगवान् कहते हैं, कि " मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च " प्राणियोंमें स्मृति और ज्ञान भी होते हैं तथा अपोहन अर्थात् दोनोंका अभाव भी होता है।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि बडे २ बुद्धिमानों और योगियोंमें जो स्मृतिकी पूर्णता देखा जाती है और जिसके द्वारा बडे २ विद्वान् वेद, वेदान्त, स्मृति, पुराण इत्यादिके वचनोंको बाल्यावस्थासे वृद्धावस्थातक स्मरण रखते हैं तथा योगीलोग जिस स्मृतिद्वारा जन्म-जन्मान्तरोंकी वार्त्ता स्मरण रखते हैं जैसे जडभरतने मृगके शरीरमें अपने पूर्वशरीरकी स्मृति रखी थी। सो भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! यह स्मृतिसत्ता मुझ ही से है। इसी स्मृतिको यों भी कह सकते हैं, कि सब जीवोंके हृदयमें जो यह वार्त्ता फुरती रहती है, कि मैं अमुक हूं, अमुकका पुत्र हूं, अमुक स्थानमें मेरा निवास है इत्यादि २ सो इसी स्मृतिका कारण है अतएव कहना पडेगा, कि सो स्मृति मुझसे ही है वरु इस प्रकारकी स्मृति स्वयं मैं ही हूं।

इन्द्रियोंके सम्मुख जो विषयोंका आगमन है उसके विषय जो कुछ भला बुरा समझमें आता है और उसके गुणदोषको जानकर जो संग्रहत्यागकी बुद्धि है वह साधारण ज्ञान है और जो इन विषयोंसे विमुख केवल परमार्थदृष्टिसे भगवत्प्राप्तिका ज्ञान है सो विशेषज्ञान है एवम्प्रकार ये दोनों प्रकारके ज्ञान मुझ ही से प्रतिष्ठित हैं।

फिर इन स्मृति और ज्ञानका नष्ट होजाना अर्थात् कभी-कभी काम, क्रोध, शोक इत्यादिकी प्रबलतासे अपोहन होजाना अर्थात् स्मृति और ज्ञानपर आवरण कर विस्मृति और अज्ञानताका उदय होजाना भी मुझहीसे है अर्थात् जब प्राणी मुझे भूलजाता है वा मुझसे विमुख होजाता है तो उसकी बुद्धि भ्रष्ट होजानेसे सब स्मृति और ज्ञान उसके हृदयसे जाते रहते हैं इसका कारण भी मैं ही हूं क्योंकि मेरा ही भूलजाना इस महारोषका कारण है । जैसे निद्रा और जागृतका कारण आत्मा ही है इसी प्रकार स्मृति, विस्मृति, ज्ञान और अज्ञानका कारण भी मैं ही हूं ।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदांतकृद्वेदविदेव चाहम्**] समस्त वेदोंके द्वारा मैं ही जानने योग्य हूं, वेदान्तकृत भी मैं ही हूं तथा वेदविद् भी मैं ही हूं अर्थात् वेदाध्ययन करनेवाले चारों वेदोंमें कर्म, उपासना और ज्ञान काण्डको पढकर तथा वेदमन्त्रोंका मनन इत्यादि करके अन्तमें मुझ हीको जानते हैं इसलिये मैं ही वेदोंके द्वारा 'वेद्य' अर्थात् जानने योग्य हूं तथा वेदान्तकृत् वेदान्तके यथार्थ अर्थोंके सम्प्रदायका प्रवर्त्तक भी मैं ही हूं अर्थात् मैं ही स्वयं व्यासादि महर्षियोंका अवतार लेकर इस संसारमें वेदान्तशास्त्रका प्रचार जीवोंके कल्याण निमित्त करजाता हूं । अथवा यहां यों अर्थ करलीजिये, कि मैं ही वेदोंको अपने श्वाससे उत्पन्नकर ब्रह्मादि देवोंको प्रदान करता हूं । प्रमाण श्रुतिः— " **ॐ यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै** " अर्थात् उस महाप्रभुने पहले ब्रह्माको उत्पन्न किया फिर

उस ब्रह्माको सब वेद प्रदान करदिये। फिर भगवान् कहते हैं, कि "वेदवित्" भी मैं ही हूं अर्थात् जो कुछ वेदोंमें कथन है सो सब मैं ही जानता हूं अन्य किसीको उन सब अर्थोंका बोध पूर्णप्रकार नहीं है।

प्रिय पाठको! भगवानका यह वचन; कि 'वेदवित्' भी मैं ही हूं याथातथ्य है इस वचनमें तनक भी सन्देह नहीं। ऐसा देखा भी जाता है, कि यद्यपि सायण, महीधर तथा रावण इत्यादि वेदके जाननेवालोंने वेदोंमें मन्त्रोंके अर्थ किये हैं पर बहुतसे स्थानों में ये उछल कूदकर अपनी २ बुद्धि और विद्याका बल लगाते हुए भी यथार्थ तत्त्वको नहीं पहुंचसके हैं इस कारण इनको 'वेदवित्' कहनेमें शंका होती है ऐसी शंकाके दूर करनेके तात्पर्यसे भगवान् कहते हैं, कि मुझसे इतर कोई भी यथार्थ 'वेदवित्' नहीं है ॥ १५ ॥

अब भगवान् अपनी उपर्युक्त सारी विभूतियोंको जो इस संसार-रूपी पुरमें शयन किये हुई हैं अर्थात् वर्त्तमान हैं उन्हें पुरुष नाम करके तीन राशियोंमें विभक्त करते हुए तीनोंका वर्णन अगले तीन श्लोकोंमें स्पष्टरूपसे करते हैं—

मू०— द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥

पदच्छेदः— लोके (संसारे। व्यवहारभूमौ) इमौ (वक्ष्यमाणौ) द्वौ (द्विसंख्यकौ) पुरुषौ, क्षरः (विनाशशीलः) च (तथा) अक्षरः (विनाशरहितः) च, एव [तत्र] सर्वाणि (समस्तानि) भूतानि (ब्रह्मलोकादारभ्य पातालपर्य्यन्तानि प्रकृति-जन्यपंचभूतोत्पादितशरीराणि प्राणिजातानि वा) क्षरः (परिच्छिन्नो-

पाधित्वात् त्तरतीति यः) कूटस्थः (मायाप्रपंचे तिष्ठतीति यः । पर्वतइव देहेषु नश्यत्स्वपि निर्विकारतया तिष्ठतीति यः । पूर्णनिरामयः । यथार्थवस्त्वाच्छादनेनायथार्थवस्तुप्रकाशनं वञ्चनं मायेत्यनर्थान्तरं तेनावरणविक्षेपशक्तिद्वयरूपेण स्थितो भगवान् मायाशक्तिरूपः) अक्षरः (विनाशरहितः । अव्ययः) उच्यते (कथ्यते) ॥ १६ ॥

पदार्थः— (लोके) इस संसारमें (इमौ द्वौ) ये दोनों (पुरुषौ) पुरुष (क्षरः) एक नाशमान (च) और (अक्षरः) दूसरा नाशरहित (च) भी (एव) निश्चयकरके हैं जिनमें (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्रकृतिजन्य पंचभूतोंसे उत्पन्न ब्रह्मलोकसे पाताल पर्य्यन्त जितने पदार्थ वा प्राणिसमूह हैं सब (क्षरः) क्षर कहलाते हैं और (कूटस्थः) जो मायामें स्थित मायापति ईश्वर है वह (अक्षरः) अविनाशी (उच्यते) कहाजाता है ॥ १६ ॥

भावार्थः— यहां भगवान् अपनी विभूतियोंको तीन राशियोंमें विभक्त करतेहुए दो राशियोंको इस श्लोकमें और तीसरीको अगले श्लोकमें वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च**] इस संसारमें दो पुरुष हैं एक क्षर और दूसरा 'अक्षर'। क्षर उसे कहते हैं जो नाशमान हो और 'अक्षर' उसे कहते हैं जो नाशरहित हो अर्थात् अविनाशी हो। यहां विचारने योग्य है, कि नाशमान और अविनाशी किन-किनको कहना चाहिये? तथा इन दोनोंके लक्षण क्या हैं? तहां दूसरे शब्दोंमें क्षरको 'असत्' और अक्षरको 'सत्' कहते हैं। क्योंकि भगवान् स्वयं अपने

मुखारविन्दसे कहचुके हैं, कि " नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः " (अ० २ श्लोक १६) अर्थात् अनित्य वस्तुका कभी भी अस्तित्व नहीं है और नित्य वस्तुका कभी अभाव अर्थात् नाश नहीं है । तात्पर्य यह है, कि जिसकी स्थिति कभी देखपडे, कभी न देखपडे अर्थात् जो तीनों कालमें एक रस न रहकर केवल एक या दो कालमें देखा जावे वही क्षर अर्थात् असत्, अनित्य और नाशमान कहा जाता है और जो तीनों कालमें एक रस रहे उसे अक्षर अर्थात् सत्य, नित्य और अविनाशी कहते हैं ।

भगवान् कहचुके हैं, कि " अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्व-मिदं ततम् " (अ० २ श्लोक १७) अर्थात् जो इन सब चराचर में व्याप्त है उसे अविनाशी जानो । फिर यह भी कह आये हैं, कि 'अन्तवन्त इमे देहाः' (अ० २ श्लोक १८) यह देह अन्तवान् है इसलिये इसे अनित्य समझना चाहिये । तात्पर्य्य यह है, कि आत्मा जो सर्वत्र सबोंमें एक रस व्याप रहा है उसे ' अक्षर ' और यह शरीर जो अस्थिर है उसे ' क्षर ' जानना चाहिये ।

१३ वें अध्यायके श्लो० ६ में जो भगवानने क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका वर्णन किया है तहां पाचों महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त दशों इन्द्रियां, एक मन, पाचों इन्द्रिय गोचर फिर इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना और धृति इन सबोंका क्षेत्रके नामसे पुकारा है जो क्षर हैं और क्षेत्रज्ञ कहकर इस अविनाशी चैतन्यात्माको पुकारा है जो अक्षर है । यहां क्षेत्रसे क्षरपुरुष और क्षेत्रज्ञसे अक्षर पुरुषका तात्पर्य्य रखा गया है ।

अब इस चैतन्यात्मा क्षेत्रज्ञके दो भेद हैं 'जीव' और 'ईश्वर' अर्थात् वही एक आत्मा जो तमोगुणविशिष्ट है वह जीव और जो सत्व-गुण विशिष्ट है उसे ईश्वर कहते हैं । यद्यपि इस जीव और ईश्वर का संग अनादिकालसे है पर तमोगुणविशिष्ट जीवको बारंबार मत्युके वशीभूत होनेके कारण इसे क्षर मानना पडता है और सत्व-गुणविशिष्ट ईश्वर विषय क्या कहना है ? वह तो अक्षर ही है।

अब कहते हैं, कि **[क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते]** ये जितने भूतमात्र हैं वे सब क्षर हैं। अभी जो पंचभूतोंसे लेकर धृति पर्यन्त ३६ अंग क्षेत्रके दिखलायेगये हैं वे सब एक ठौर मिलकर क्षर-पुरुष कहेजाते हैं और कूटस्थ (ईश्वर) जो इस मायाके स्थित रखनेका कारण है उसे अक्षर कहते हैं।

तहां कोई तो यों अर्थ करता है, कि प्रकृतिके कार्य जो देहादिक हैं इनहीं विकारसमुदायको क्षर कहते हैं और इन भूतसमुदायकी उत्पत्तिका बीज और संसारी प्राणीके काम्य कर्मादि संस्कारका आश्रय जो कूटस्थ उसे अक्षरपुरुषके नामसे पुकारते हैं।

फिर कोई यों अर्थ करता है, कि जितने पदार्थ पंचमहाभूतोंके सम्बन्धसे इस जगत्में वर्त्तमान हैं वे क्षर हैं और इन पंचभूतोंके अन्तर्गत जो एक विचित्र प्रकाश है जो तीनों कालमें एकरस रहकर पांचभौतिक पादर्थोंके नाश होनेपर भी सर्वत्र व्याप रहा है वही अक्षर है।

कोई यों अर्थ करता है, कि यह जो 'तत्त्वमसि' महावाक्य है तिसमें 'तत्' और 'त्वम्' दो पद हैं। इनमें 'तत्' अक्षर पुरुष है और 'त्वम्' क्षरपुरुष है अर्थात् ब्रह्मासे लेकर कीट पर्यन्त जितने चेतनवर्ग जीवात्मा करके प्रसिद्ध हैं वे क्षर हैं। क्योंकि ज्ञान उत्पन्न होते ही जीवत्वका नाश होता है इसलिये यह जीव क्षरपुरुष है और कूटस्थ मायामें स्थित निर्लेप रह प्राणियोंको प्रेरणा करताहुआ सबोंसे संसृतिव्यवहारका सिद्ध करानेवाला जो ईश्वर वही अक्षरपुरुष है।

फिर कोई यों कहता है कि "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" इस श्रुतिके वचनानुसार इस शरीररूप वृक्षपर जो दो पक्षी ये जीव और ईश्वर हैं इनमें जीव क्षर और ईश्वर अक्षर कहाजाता है। क्योंकि ईश्वर जो निर्विकार है वह तो साक्षीमात्र होकर जीवके विभिन्न कर्मोंको देखता रहता है और जीव अपने कर्मानुसार नीचे ऊपर होते रहते हैं।

फिर कूटस्थका अर्थ किसीने ब्रह्म किया है और किसीने जीव भी किया है। जैसे महर्षि विद्यारण्यने पञ्चदशी ग्रन्थमें परमात्माकी चार दशाओंमें एक दशाका नाम कूटस्थ कथन कियाहै "कूटस्थो ब्रह्म जीवेशावित्येवं चिच्चतुर्विधा। घटाकाशमहाकाशो जलाकाशाभ्रखे यथा" (पं० प्र०६ श्लो० १८) अर्थात् परमात्मा व्यवहारकी दशामें कूटस्थ, ब्रह्म, जीव और ईश्वर इन चार स्वरूपोंको इस प्रकार प्राप्त होता है। जैसे एक ही आकाश घटाकाश, महदाकाश, जलाकाश और मेघाकाश चार स्वरूपोंमें देखाजाता है। तहां जो घटके भीतर आकाश है सो 'घटाकाश' है और जो घटके बाहर भीतर सर्वत्र फैलाहुआ है वह

'महदाकाश' है, फिर उस घटमें जो जल है तिस जलके भीतर जो आकाश का बिम्ब तारागण इत्यादि सहित देखाजाता है सो 'जलाकाश' है और बादलोंमें जो जल है तिस जलके भीतर जो आकाशका प्रतिबिम्ब है वह 'मेघाकाश' है।

इसी प्रकार कूटस्थ ब्रह्म, जीव और ईश्वरका विचार जानना चाहिये तहां प्रथम कूटस्थका विचार कियाजाता है— "**अधिष्ठानतया देहद्वयावच्छिन्नचेतनः । कूटवन्निर्विकारेण स्थितः कूटस्थ उच्यते**" (वेदान्तपञ्चदशी चित्रदीपप्रकरण श्लो० २२)

अर्थ— पञ्चभूतोंके पञ्चीकरणसे जो यह स्थूल शरीर तथा अपञ्चीकृत पञ्चभूतोंसे जो ये सूक्ष्म शरीर हैं इनकी अधिष्ठानता करके इन दोनों शरीरोंसे अविच्छिन्न चैतन्य जो सदा निर्विकाररूपसे स्थित है उसे कूटस्थ कहते हैं । अभी कह आये हैं, कि कूटस्थकी उपमा घटाकाशसे है सो घटाकाश जैसे महदाकाशके अन्तर्गत है इसी प्रकार यह कूटस्थ उस ब्रह्मके अन्तर्गत है क्योंकि ब्रह्मकी उपमा महदाकाशसे है। जैसे महदाकाश सर्वत्र सब वस्तुवस्तुओंको घेरेहुआ है इसी प्रकार वह ब्रह्म सर्वत्र सब कूटस्थ जीव और ईश्वर इत्यादिको घेरे हुआ है जिसके विषय भगवान् अगले श्लोकमें कहेंगे, कि "**उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः**" अतएव वही उत्तम पुरुष है जिसमें सब पदार्थ स्थित हैं।

अब जीवका विचार कहते हैं—"**कूटस्थे कल्पिता बुद्धिस्तत्र चित्प्रतिबिम्बकः । प्राणानां धारणाज्जीवः संसारेण स युज्यते ॥**" (वे० पञ्चद० प्र० ६ श्लो० २०)

पहले जो कूटस्थ कहआये हैं तिस कूटस्थमें बुद्धिकी कल्पनासे अर्थात् कल्पित बुद्धिसे जो चैतन्यका प्रतिबिम्ब है सो ही जीव कहा जाता है सो जीव प्राणसे बँधाहुआ जन्म, मरण, राग, द्वेष, हानि, लाभ, सुख, दुःख इत्यादिसे युक्त संसारमें फंसाहुआ इधर-उधर भटकता फिरता है इसकी उपमा जलाकाशसे है ।

अब ईश्वरका विचार करते हैं, कि " **क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः** " अर्थात् क्लेश, कर्म, विपाक और आशय इन चारोंकी झंझटोंसे रहित जो पुरुष विशेष है उसे ईश्वर कहते हैं ।

यद्यपि इन चारों आकाशोंको लिखकरे सर्वसाधारणको समझाना कठिन है तथापि पाठकोंके कल्याणार्थ यहां संक्षिप्त करके लिख दिया जाता है ।

जैसे महदाकाशमें घटाकाश, घटाकाशमें जलाकाश, जलाकाशमें मेघाकाश और मेघाकाशमें जल फिर तिस जलाकाशमें सूर्य्यकी किरणोंके बिम्बसे इन्द्रधनुष इत्यादिका बनजाना

टिप्पणी—क्लेशः— अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पांचों क्लेश कहेजाते हैं ।

कर्मः— धर्म और अधर्म ।

विपाकः— शुभाशुभकर्म जो परिपक्व होकर फल देनेको तयार होगये हैं ।

आशयः— शुभाशुभकर्म जो परिपक्व नहीं हुए कच्चे रहगये इसलिये जिनके फल भोगनेके लिये सम्मुख नहीं आये ।

जो प्रत्यक्ष होता है सो सब अविद्याका कारण है । यदि यथार्थमें विचारदृष्टिसे देखाजावे तो सबोंका अभाव होकर केवल एक महदाकाश ही सर्वत्र व्यापक देखाजाता है । इसी प्रकार अविद्याके नष्ट हुए सर्वत्र एकरस व्यापक ब्रह्म ही ब्रह्म देखाजाता है कूटस्थ, जीव, ईश्वर इन तीनोंका एक वारगी अभाव होजाता है ।

इसी विषयको पूर्णप्रकार जनानेके लिये भगवान्ने अपनी सारी शक्तिको तीन राशियोंमें विभक्त करदी । क्षर, अक्षर और परमपुरुष "परमात्मा" । तहां क्षरमें ब्रह्मलोकसे पाताल पर्यन्तके शरीर और तिस शरीरमें जीवोंको और जीवोंमें कूटस्थ अर्थात् ईश्वरको रखा और अगले श्लोकमें परमपुरुष कहकर उस निर्विकार निर्लेप ब्रह्मका स्वरूप दिखलादिया ।

यद्यपि इस श्लोकके अर्थ कई प्रकारसे होचुके हैं पर मेरे विचार में जैसे आकाशमें सूर्य और चन्द्र दिनरात निवास करते हैं इसी प्रकार इस सृष्टिरूप आकाशमें क्षर और अक्षर ये दोनों पुरुष निवास करते हैं । अथवा जैसे किसी नदी वा नद के दो तट होते हैं जिनके बीचमें जल प्रवाह करता रहता है इसी प्रकार सृष्टिरूप नदीके क्षर अक्षर मानों दोनों किनारे हैं जिनके बीच प्रपंचरूप जल अत्यन्त वेगसे लहराता रहता है केवल भेद इतना ही है कि अज्ञानता ही के कारण इनके स्वरूपका भान होता है पहले ही कथन करआये हैं, कि आकाशमें घट, घटमें घटाकाश, घटाकाशमें जल, जलमें जलाकाश, जलाकाशमें मेघाकाश, मेघाकाशमें इन्द्र-

धनु, विद्युत इत्यादि मायाकृत हैं और क्षणिक हैं विचारकी दृष्टिसे सब नष्ट होकर आकाश ही आकाश रहजाता है इसी प्रकार ब्रह्ममें कूटस्थ, कूटस्थमें ईश्वर, ईश्वरमें जीव, जीवमें सृष्टि, सृष्टिमें जीव, जीवमें ईश्वर, ईश्वर में कूटस्थ और कूटस्थमें ब्रह्म। इन चारोंका अनुलोम विलोम करनेसे अन्ततोगत्वा इस सृष्टिमें केवल क्षर और अक्षर दो ही पुरुष रहजाते हैं । तहां सारी रचनाको समेटकर क्षरका अर्थ प्रकृति और जीवका अर्थ कूटस्थ वा ईश्वर समझना चाहिये ।

अब यदि हम प्रकृतिको पुरुष कहें तो इसमें इतना ही दोष निकलता है, कि प्रकृति स्त्रीलिंग शब्द है इसको पुरुषके नामसे पुकारनेमें किंचित् शंका उत्पन्न होजाती है । क्योंकि पुरुष शब्दका अर्थ है, कि " पूरयति वलं यः, पूर्षु शेते " अर्थात् जो वलको पूरा करे अथवा पुर (नगर) में जो शयन करजावे। सो यह प्रकृति संपूर्ण सृष्टिको वल देरही है और सृष्टिमात्रमें शयन कररही है अर्थात फैलीहुई है इसलिये जब पुरुष शब्दके यथार्थ अर्थको देखते हैं तो प्रकृतिको भी पुरुष कहनेमें शंका नहीं होती । पर सांख्य-शास्त्रमें जो प्रकृति और पुरुष शब्दका अर्थ कियागया है उससे यहां तात्पर्य नहीं रखागया है । क्योंकि उस पुरुषसे यदि यहां तात्पर्य रखाजावे तो दूसरे प्रकारका अर्थ करना होगा जो अर्थ मेरा अभीष्ट नहीं है इसलिये भगवान्के " द्वाविमौ पुरुषौ लोके " संकेत करनेके अनुसार ही प्रकृतिको पुरुष कहना पडेगा और यहां अक्षर अर्थात कूटस्थका अर्थ जीव वा ईश्वर करना पडेगा क्योंकि इस शरीरमें जीव वा ईश्वरका संमिश्रण अनादिसे चला आरहा है ।

यहां भगवान्के "क्षरः सर्वाणि भूतानि" कहनेसे सब जीवोंसे तात्पर्य है क्योंकि 'भूत' पदका अर्थ जन्तु भी है। तब क्षर कहनेसे यों अर्थ होता है, कि जबतक अज्ञानताकी अन्धकाररात्रि सामने पडी हुई है तब ही तक जीव अक्षर भास रहा है ज्ञानके उदय होते ही जीवका एकदम अभाव होजाता है इसलिये उस जीवको क्षरपुरुष कहसकते हैं।

अब कूटस्थको अक्षर कहते हैं अर्थात् कूटस्थ जो ईश्वर है वह अक्षर है जो अविनाशी है।

शंका— इन अर्थोंके पढनेसे चित्तमें एक प्रकारकी चञ्चलता उदय होआती है और गडबडझालासा देखपडता है। क्योंकि एक ही जीवकी कहीं क्षरपुरुषमें और कहीं अक्षरपुरुषमें गणना कीगयी है ऐसा क्यों?

समाधान— जीवको क्षर तो इसलिये दिखलाचुके हैं, कि जबतक अज्ञानता है तभी तक जीवत्वका भान होता है ज्ञानकी प्राप्ति होते ही जीवत्वका एकबारगी नाश होजाता है अर्थात् "अहं ब्रह्मास्मि" "तत्त्वमसि" "अयं ब्रह्मात्मा" इन महावाक्योंसे सिद्ध होता है, कि यह जीव ब्रह्म है अन्य कुछ नहीं इसलिये ब्रह्मसे इतर जो कुछ जीवत्वका भ्रम होरहा था वह इन महावाक्योंके यथार्थ अर्थके जाननेवालोंके हृदयोंसे मिटजाता है अतएव इस जीवकी क्षरपुरुषमें गणना करदी है। पर जब इसको पंचभूतकृत जड पदार्थोंकी ओर लेजाते हैं तो सब जड पदार्थोंमें यही चैतन्यका कारण होजाता है सो चैतन्य अविनाशी है इसीलिये इसको भगवान्ने भी इसी अध्यायके

७ वें श्लोकमें "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" कहकर पुकारा है इसलिये अक्षरपुरुषमें भी इसकी गणना की है अर्थात् देहलीदीपकन्यायसे जितने काल तक इसका मुख दोनों ओर है तब तक क्षर और अक्षर दोनों प्रकारके पुरुषोंमें इसकी गणना कीजाती है। शंका मत करो! और उक्त कई प्रकारसे चंचलताका अनुमान भी मत करो! इसीलिये विज्ञानियोंको इन अर्थोंसे किसी प्रकारकी चंचलता नहीं प्राप्त होगी अज्ञानियोंको हो तो हो।

केवल भेद इतना ही है, कि सत्वगुणकी प्रधानताको लेकर जब वह परमज्योति सृष्टिकी ओर प्रकाश करता है तब ही तक यह उपाधियुक्त होनेसे ईश्वर वा अक्षरपुरुष कहा जाता है इन उपाधियों के दूर होजानेसे वही निर्मल निर्विकार सच्चिदानन्द परमपुरुष परमात्माके नामसे पुकारा जाता है जिसको आगे कहते हैं ॥ १६ ॥

अब भगवान् क्षर और अक्षर दोनोंसे विलक्षण नित्य शुद्ध सच्चिदानन्द परमपुरुषका वर्णन करते हुए कहते हैं—

मू०— उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७

पदच्छेदः— उत्तमः (उत्कृष्टतमः) पुरुषः, तु, अन्यः (क्षराक्षराभ्यां विलक्षणः) परमात्मा (अविद्यातमोभ्यो देहादिभ्यः परश्चासौ सर्वभूतात्मा च) इति (एवम्) उदाहृतः (प्रतिपादितः) यः, अव्ययः (सर्वविकारशून्यः) ईश्वरः (सर्वस्य नियन्ता) लोकत्रयम् (स्वर्गमर्त्यपातालाख्यं समस्तं जगत् भूर्भुवःस्वराख्यं वा)

आविश्य (स्वकीयया मायाशक्त्या अधिष्ठाय) बिभर्ति (सत्ता-स्फूर्तिप्रदानेन धारयति पोषयति प्रकाशयति वा) ॥ १७ ॥

पदार्थः— (उत्तमः) सबसे श्रेष्ठ (पुरुषः) पुरुष (तु) तो (अन्यः) क्षर और अक्षर दोनोंसे विलक्षण कोई दूसरा (परमात्मा) परमात्मा (इति) ऐसा नाम करके (उदाहृतः) वेद शास्त्रोंमें कथन कियागया है (यः) जो (अव्ययः) सर्वप्रकारके विकारोंसे रहित (ईश्वरः) सबोंका नियन्ता सबोंपर आज्ञा चलाने वाला होकर (लोकत्रयम्) तीनों लोकोंमें (आविश्य) प्रवेश कर समस्त जगत्का (बिभर्ति) धारण, पालन और पोषण करता है ॥
॥ १७ ॥

भावार्थः— श्रीगोलोकविहारी जगतहितकारीने क्षर और अक्षर दो पुरुषोंका वर्णन करके अब तीसरे उत्तम पुरुषका वर्णन करते हुए कहते हैं, कि [**उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः**] क्षर और अक्षर इन दोनों प्रकारके पुरुषोंसे विलक्षण शुद्ध बुद्ध नित्यमुक्त स्वभाववाला सबोंसे श्रेष्ठ कोई तीसरा पुरुष है जो वेदशास्त्रमें बडेबडे विद्वानों द्वारा परमात्मा नामकरके कथन किया गया है। क्योंकि जो सबोंसे श्रेष्ठ आत्मा हो उसे कहिये परमात्मा अर्थात् आत्मवादमें जो अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय इन पांचों कोशोंको आत्माके नामसे पुकारा है तिनसे अतीत होकर जो पुरुष इनको प्रकाश करनेवाला है उसे परमात्माके नामसे पुकारते हैं। जहां न पांचों कोशोंमें किसी

कोशका न जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंमें किसी अवस्थाका और न भूः भुवः स्वर्लोकादि सप्त लोकोंमें किसी लोकका पता लगता है। जहां जाकर 'अहं त्वम्' दोनों लय होजाते हैं, जहां जाकर " **यतो वाचो निवर्त्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह** " इस श्रुतिके वचनानुसारे मन वचन किसीका भी बल नहीं चलता तथा " **न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति न मनः** " इस श्रुतिके वचनानुसार जहां न आंख जाती हैं न वचन जाता है न मनका प्रवेश होसकता है सो ही साक्षात् परमानन्द पद है उसीको वेद शास्त्रोंने उत्तम पुरुष कहा है। प्रमाण श्रु०—
" **ॐ सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति** " (केन० अ० १ बल्ली २ श्रु० १५) अर्थ— सब वेद जिस परमात्मतत्वको प्रतिपादन करते हैं सब प्रकारके तप करनेवाले जिसे कथन करते हैं सो ही साक्षात् परमतत्व है और परमपुरुष है।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि उसीकी सत्तासे सबकी स्थिति है जो इन चर्मचक्षुओंसे देखा नहीं जाता पर है अवश्य। जैसे चुम्बकके आकर्षणको कोई बुद्धिमान् इन नेत्रोंसे नहीं देख सकता पर इतना तो अवश्य जानता है, कि इसके आकर्षणकी शक्ति तीनों कालमें वर्त्तमान है।

इसी प्रकार वह परमपुरुष इन नेत्रोंसे देखा नहीं जाता पर वह है अवश्य जिसकी ओर सम्पूर्ण सृष्टिके जड चेतन सब खिंचे पडे हैं। इसी कारण स्वयं भगवान् अपने मुखारविन्दसे कहते हैं, कि [**यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः**] जो

तीनों लोकोंमें प्रवेश करके तीनों लोकोंका पालन पोषण करता है तथा अपने प्रकाशसे प्रकाशित करता है ।

तात्पर्य यह है; कि वही अव्यय ईश्वर सबोंका धारण, पोषण और पालन करता है जैसे चन्द्रमा अपनी शीतल अमृतधाराकी वर्षासे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी औषधियोंको पोषणकरता है इसी प्रकार जो परमात्मा अव्यय है वह अपनी परम विभूतिरूप अमृतधारासे सम्पूर्ण संसारको जीवित रखता है जो अपनी मायाको अंगीकार कर विश्वमात्रका प्रतिपालन कररहा है जिसे विश्वम्भरके नामसे पुकारते हैं वही उत्तम पुरुष है ।

शंका— दो पुरुषोंके अन्तर्गत ईश्वरकी गणना करआये हो तो फिर उसी ईश्वरको इस श्लोकमें '**य ईश्वरः**' कहकर उत्तम पुरुषमें क्यों गणना करते हो ?

समाधान— वही उत्तम पुरुष जब सत्वगुणविशिष्ट होकर अपनी मायासहित इस सृष्टिके व्यवहार करनेमें अर्थात् इसके भरणपोषणमें लग जाता है तब उसे ईश्वरके नामसे भी पुकारते हैं और जब वह शुद्ध बुद्ध सर्वउपाधिरहित शान्तरूपसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें शयन किये रहता है तब उसे उत्तम पुरुषके नामसे पुकारते हैं । इसी उत्तमपुरुषकी तीन राशियां हैं ये तीनों राशि इस उत्तम पुरुषसे भिन्न नहीं है । जैसे वस्तुतः किसी तीन पदार्थोंको तीन भिन्न-भिन्न स्थानोंमें देखते हैं ऐसे **क्षरपुरुष, अक्षरपुरुष** और **उत्तमपुरुष** ये तीनों पुरुष यथार्थमें तीन नहीं हैं केवल जिज्ञासुओंके समझनेमात्र इन तीन राशियोंका विभाग है । यदि सच पूछो तो न कहीं क्षर है और न अक्षर

है सबोंमें एक ही अद्वितीय परब्रह्म एकरस व्यापरहा है जिसे उत्तम पुरुष कहते हैं। उसीको अधिक पहचानलेनेके तात्पर्यसे भगवान्ने इस श्लोकके अन्तमें उसे अव्यय और ईश्वर कहा अर्थात् वही उत्तम पुरुष अव्यय और ईश्वरके नामसे भी पुकारा जाता है।

यदि कोई विद्वान् ईश्वरका "विशुद्धसत्वप्रधानअज्ञानोपहितचैतन्य" अर्थ करे तो इसमें कोई हानि नहीं पर ऐसा करनेसे परमात्माके सोपाधिक रूपका ही वर्णन समझा जावेगा शुद्ध बुद्ध नित्यमुक्तस्वभावका अर्थ नहीं स्वीकार होसकेगा।

मैं पहले कहचुका हूं, कि यहां पुरुषोंके अर्थ करनेमें परस्पर विद्वानों और मतमतान्तरवालोंकी खैंचातानी मात्र है। संस्कृतमें एक शब्दके अनेक अर्थ होते हैं इसी कारण जिस विद्वान्की जैसी रुचि होती है अपनी ओर खैंचलेता है यदि ऐसा न होता और संस्कृतविद्यामें शब्दोंके अनेकार्थ न होते तो स्वामी दयानन्दको वेदोंके अर्थ पलद देनेमें सुगमता न होती। शंका मत करो ॥ १७ ॥

इतना सुन अर्जुनके चित्तमें यह लालसा उत्पन्न हुई, कि श्यामसुन्दर जो मेरे रथवान् होकर रथपर खडे हैं और जिनकी विभूतियोंको मैं अपने नेत्रोंसे देख चुका हूं सो यथार्थमें कौन हैं ? इन तीनों राशियोंके भीतर किस राशिमें इनकी गणना करनी चाहिये ? अर्जुनके हृदयकी गति जान श्रीआनन्दकन्द अर्जुनको सन्तोष देने तथा प्रसन्न करनेके तात्पर्यसे स्वयं अगले श्लोकमें अपना पुरुषोत्तम होना वर्णन करते हैं।

मू०— यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८॥

पदच्छेदः— यस्मात् (यस्मात् कारणात्) अहम् (वासुदेवः । नित्ययुक्तः) क्षरम् (नाशमानम् । जडकार्यवर्गम्) अतीतः (अतिक्रान्तः) च, अक्षरात् (अव्याकृतात् मायाख्यात् । कारणरूपेण व्यापकतया विद्यमानात् ईश्वरभावात् वा) उत्तमः (श्रेष्ठः) अतः (अस्मात् कारणात्) लोके (लौकिककाव्यादौ) वेदे (सर्वस्मिन् वेदराशौ) च, पुरुषोत्तमः (क्षराक्षराभ्यां विलक्षणत्वेन सर्वोत्कृष्टः पुरुषः) प्रथितः (प्रख्यातः । प्रसिद्धः) अस्मि ॥ १८ ॥

पदार्थः— (यस्मात्) जिस कारण (अहम्) मैं वासुदेव नित्यमुक्तस्वरूप (क्षरः) जो नाशमान सृष्टि अथवा जीव तिसे (अतीतः) अतिक्रमण कियेहुआ हूं (च) और (अक्षरात्) विनाशरहित माहेश्वरी माया तथा सत्वगुणविशिष्ट आत्मा जो ईश्वरभाव (अपि) उससे भी (उत्तमः) श्रेष्ठ हूं (अतः) इस कारण (लोके) लोकमें और (वेदे) वेदमें (च) भी (पुरुषोत्तमः) पुरुषोत्तम नाम करके (प्रथितः) प्रख्यात (अस्मि) हूं ॥ १८ ॥

भावार्थः— श्रीब्रजचन्द सच्चिदानन्दने जो पहले क्षर और अक्षर दोनों पुरुषोंका वर्णन कर तीसरे पुरुषको इन दोनोंसे उत्तम पुरुष कहा सो उत्तम पुरुष अपने ही को बतलातेहुए कहते हैं, कि [यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः] हे अर्जुन !

क्षर जो नाशमान पदार्थ और अक्षर जो नाशरहित पदार्थ इन दोनों से मैं अतीत हूं अर्थात् न्यारा हूं। तात्पर्य यह है, कि जैसे साधारण पुरुषोंको ये क्षरपदार्थ अपनेमें फँसाकर और अपनी चिकनी चुलबुली सुहावनी मनकी मोहनेवाली छबि दिखलाकर अपनी ओर खैंचलेते हैं। ऐसे ये मुझे खैंचनेमें समर्थ नहीं हैं। क्योंकि जो प्राणी काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकारे इत्यादि विकारोंके वशीभूत होनेके कारण मूढ हैं वे ही इन पदार्थोंसे आकर्षित हो इनसे बद्ध रहते हैं। क्योंकि इन जड चेतनकी परस्पर ग्रन्थि पडजानेसे इन दोनोंका विलग होना दुर्लभ है सो हे पार्थ! मैं इस प्रकार इनसे ग्रसित नहीं हूं। इसलिये [अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः] लोक और वेद दोनोंमें मैं पुरुषोत्तम नामसे विख्यात हूं अर्थात् इस सृष्टिमें जितने लौकिक कवि हैं वे सब अपने अपने ग्रन्थोंमें मुझे पुरुषोत्तम कहकर पुकारते हैं और वेदोंमें भी मैं पुरुषोत्तम ही कहकर पुकारा जाता हूं।

भगवान् अपनी उत्तमताको पहले भी कहआये हैं, कि "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्" ब्रह्मकी प्रतिष्ठाका स्वरूप मैं ही हूं। जैसे सब किरणें सिमटकर एक ठौर सूर्यमण्डलमें निवास करती हैं ऐसे ही ब्रह्मत्वकी सारी शक्तियां सिमटकर एक ठौर मुझमें निवास करती हैं अर्थात् मैं साक्षात् परब्रह्मकी प्रतिमारूप ही हूं।

उक्त वचनसे भी भगवानका पुरुषोत्तम होना सिद्ध है।

कविकुलकुमुदकलाधर कालिदासने भी रघुवंशमें लिखा है, कि "हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतो महेश्वरस्त्र्यम्बक एव नापरः"

दिलीपके यज्ञका अश्व रघुकी रखवालीसे चुराकर जिस समय इन्द्र लेगया है और रघुने फिर उससे लौटानेकी चेष्टा की है उस समय इन्द्रने रघुसे कहा है, कि हे राजकुमार ! जैसे केवल एक हरि ही पुरुषोत्तमके नामसे पुकारे जाते हैं और एक महादेव ही महेश्वरके नामसे पुकारे जाते हैं ऐसे केवल एक मैं ही शतक्रतुके नामसे विख्यात हूं।

ऐसे-ऐसे अनेक ग्रन्थोंमें पुरुषोत्तम शब्द केवल श्यामसुन्दर कृष्ण-चन्द्रके ही प्रति विख्यात है फिर वेदोंमें भी पुरुषोत्तम ही करके इनकी प्रसिद्धि है। प्रमाण श्रुतिः— "ॐ अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिताः। तं वेद्यं पुरुषं वेद" तथा "तान् होवाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद नातः परमस्तीति" (प्रश्नो० प्रश्न० ६ श्रु० ६, ७)

अर्थ— जैसे सारा रथ केवल धुरी हीके आश्रय चलता है ऐसे यह सारा ब्रह्माण्डरूप रथ अथवा प्राणरूप रथ उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके समय जिस पुरुषके आश्रय है उसी जानने योग्य पुरुषको जानो।

पिप्पलाद मुनि अपने शिष्योंसे कहते हैं, कि हे शिष्यो ! मैं तो उसी पुरुषको परब्रह्म जानता हूं क्योंकि उससे (परम्) दूसरा कोई नहीं है इसी कारण मैं उसे परमपुरुषके नामसे पुकारता हूं। लो और सुनो!

प्रमाण श्रुतिः— "ॐ मुनयो ह वै ब्राह्मणमूचुः कः परमो देवः कुतो मृत्युर्बिभेति कस्य विज्ञानेनाखिलं विज्ञातं भवति केनेदं

विश्वं संसरतीति तदुहोवाच ब्राह्मणः कृष्णो वै परमं दैवतं गोविन्दान्मृत्युर्बिभेति गोपीजनवल्लभज्ञानेनैतद्विज्ञातं भवति स्वाहेदं संसरतीति ॥ " (गोपालपूर्वता० उप० श्रु० १)

अर्थ— मुनियोंने स्वायम्भुव मनुसे पूछा, कि कौन परम देव है ? किससे मृत्यु डरती है ? किसके जाननेसे सब कुछ जाना जासकता है ? और किसकी शक्तिसे सारा विश्व चलरहा है ? इतना सुन स्वायम्भुव मनुने उत्तर दिया, कि श्रीकृष्ण ही परमदेव हैं और उसी गोविन्द नामसे मृत्यु डरती है गोपीजनवल्लभ जो श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र हैं तिनके जाननेसे प्राणी सर्ववित् वा ब्रह्मवित् होजाता है और स्वाहा जो उसी श्रीकृष्णकी माहेश्वरी माया उसीसे यह विश्व चलता है । इस श्रुतिसे भी भगवान श्रीकृष्णका पुरुषोत्तम होना सिद्ध है ।

यह तो सबोंपर विदित ही है, कि वही जगन्नियन्ता जगदधिपति सबोंके ऊपर है, सबोंसे उत्तम है, सबोंसे श्रेष्ठ है, सबोंका गुरु है, स्वामी है, सबोंका माता, पिता, भ्राता, सखा मित्र इत्यादि जो कुछ है वही है । क्योंकि यह श्रेष्ठता और विशेषता उसी महाप्रभुमें है अतएव वही आदिगुरु सब लौकिक वैदिक ग्रन्थोंमें पुरुषोत्तमके नामसे विख्यात है ।

यहांतक भगवानने अक्षरपुरुष, क्षरपुरुष और परमपुरुष अपनी तीन राशियोंका वर्णन किया और इनमें सबोंसे श्रेष्ठ परमपुरुष अपनेको बतलाया पर इसे यहां ऐसा नहीं समझना चाहिये, कि भगवान क्षर और अक्षरसे न्यारे हैं । वे तो प्रथम ही इस अध्यायके १५ वें श्लोकमें कहचुके हैं, कि " सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः

स्मृतिर्ज्ञानमपोहनंच " अर्थात् मैं सब जडचेतन पदार्थोंके अन्तर्गत हूं तथा स्मृति, विस्मृति, ज्ञान, अज्ञान सब मुझसे ही हैं । फिर भगवान् अध्याय ६ श्लोक ३० में कहचुके हैं, कि " **यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वञ्च मयि पश्यति** " जो प्राणी सर्वत्र सर्वभूतमात्रमें मुझको देखता है और सबोंको मुझमें देखता है मैं उससे अदृश्य नहीं होता ।

ऐसे २ अनेक वचनोंसे सिद्ध होरहा है, कि भगवान् क्षरपुरुष, अक्षर-पुरुष और परमपुरुष सब रूप हैं, सबमें हैं और सब उनमें हैं। श्रुति द्वारा भी बार २ कथन होचुका है, कि " **तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्** " तिस सृष्टिकी रचना करके तिसीके समान होकर तिसमें प्रवेश करगया ।

इसलिये यहां भगवान्‌के कहनेका मुख्य अभिप्राय यही है, कि इस सृष्टिमें क्षर वा अक्षर जो कुछ पदार्थ हैं सब मेरे अधीन हैं इसी-लिये लोक और वेदमें मैं पुरुषोत्तम करके प्रसिद्ध हूं ॥ १८ ॥

जो प्राणी एवम्प्रकार भगवत्‌को पुरुषोत्तम जानता है वह किस गतिको प्राप्त होता है ? सो भगवान् आगे वर्णन करते हैं—

मू०— यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ! ॥
॥ १९ ॥

पदच्छेदः— [हे] भारत ! (भरतकुलतिलक अर्जुन !) यः, असम्मूढः (मम पुरुषोत्तमत्वे संशयविपर्य्यासादिहीनः) माम् (वासुदेवम्) एवम् (अनेन प्रकारेण) पुरुषोत्तमम्, जानाति (वेत्ति) सः (मद्भक्तः) सर्ववित् (सर्वात्मब्रह्मज्ञानात् सर्वज्ञः) सर्वभावेन (सर्वैः प्रकारैः) माम् (महेश्वरम्) भजति (सेवते) ॥ १९ ॥

पदार्थः---- (भारत!) हे भरतकुलशिरोमणि अर्जुन! (यः) जो प्राणी (असंमूढः) मूढता अर्थात् संशय इत्यादिसे रहित होकर (माम्) मुझहीको (एवम्) निश्चय करके (पुरुषोत्तमम्) पुरुषोत्तम (जानाति) जानता है (सः) वह मेरा भक्त (सर्ववित्) सर्वज्ञ होकर (सर्वभावेन) अनन्य भक्तियोग द्वारा स्वामी, सखा इत्यादि सर्वप्रकारके भावोंसे (माम्) मुझ ही को (भजति) भजता है अर्थात् मेरी शरण हो मेरा ही सेवन करता है ॥ १९ ॥

भावार्थः— भगवान् कहते हैं, कि मुझ पुरुषोत्तमको याथातथ्य जानने वालेकी क्या गति होती है! सो सुनो, [यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्] जो प्राणी असंमूढ होकर मुझे पुरुषोत्तम समझता है अर्थात् संशय, विपर्यय इत्यादि विकारोंसे रहित शुद्ध अन्तःकरण युक्त है तात्पर्य यह है, कि जिसके मनमें ऐसी शंका कदापि नहीं होती। श्रीकृष्ण मनुष्य हैं परमेश्वर नहीं हैं जैसा, कि श्रीमद्भागवतग्रन्थसे भी सिद्ध होता है कि श्यामसुन्दरका शरीर मानुषी नहीं था। क्योंकि जिस समय भगवान् इस संसारमें प्रकट हो नाना प्रकार लीला करनेके अभिप्रायसे देवकी और वसुदेवका पुत्र होना स्वीकार कर इनके गृहमें अवतरे हैं उस समय वहां मानुषी वार्त्ता कुछ भी नहीं देखनेमें आयी न तो आप गर्भसे प्रकट हुए और न मानुषी बच्चोंके समान रुदन किया वरु आपने तो साक्षात् किशोर अवस्थामें सुन्दरशृंगारयुक्त मूर्त्तिसे वसुदेव देवकीके सम्मुख खड़े हो यह आज्ञा देदी, कि हे वसुदेव! यदि तुमको कंसका भय है तो मुझे इसी समय अपने कन्धेपर चढाकर यमुना पार गोकुलमें नन्द यशोदाके

घरमें पहुंचा दो और वहां मेरी मायाने स्वयं कन्या रूप होकर अवतार लिया है उसे मेरे बदले यहां लाकर रख दो ।

प्रमाण— " तमद्भुतंबालकमम्बुजेक्षणं चतुर्भुजं शंखगदाद्युदायुधम् । श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं पीताम्बरंसान्द्रपयोदसौभगम् । महार्हवैदूर्यकिरीटकुण्डलत्विषापरिष्वक्त सहस्रकुन्तलम् । उद्दामकाञ्च्यंगदकंकणादिभिर्विरोचमानं वसुदेवऐक्षत—"

(श्रीमद्भागवत स्कं० १० अ० ३ श्लो० १०)

अर्थ— जिनके नलिनीके सदृश अत्यन्त सुन्दर नेत्र सुशोभित थे जिनके चारों हाथोंमें शंख, चक्र, गदा और पद्म शोभायमान थे जिनकी छातीमें भृगुलताका चिन्ह और गलेमें कौस्तुभमणि चमक रहा था, जिनके जलभरे श्यामघनके समान सुन्दर शरीरमें पीताम्बर लहलहा रहा था, जिनके लटोंके बीच२ किरीट और कर्णकुण्डलोंमें लगेहुए रत्नोंकी चमक ऐसी छिटक रही थी, कि जैसे श्यामघनके बीच२ दामिनी दमकती हुई देख पडती है और जिनकी कलाइयोंमें पहुंची, और बाहुओंमें बाजूबन्द विचित्र शोभाको पारहे थे ऐसे अद्भुत बालकको वसुदेवने सूतिकागृहके बीच अपने सामने शोभायमान देखा ।

इतना ही नहीं, कि वसुदेवने ऐसे बालकको केवल देखा ही वरु नारायणका साक्षात्स्वरूप समझ कर अन्तर्यामी जगत्कर्त्ता पूर्ण परब्रह्म जगदीश्वरकी स्तुति करतेहुए कहनेलगे, कि " विदितोऽसि भवान साक्षात पुरुषः प्रकृतेः परः । केवलानुभवानन्दस्वरूपःसर्वबुद्धिदृक् ॥ एवं भवान बुद्ध्यनुमेयलक्षणैर्ग्राह्यैर्गुणैः

सन्नपि तद्गुणाग्रहः । अनावृतत्वाद्बहिरन्तरं न ते सर्वस्य सर्वात्मन! आत्मवस्तुनः॥ " (श्रीमद्भागवत स्कन्ध० १० अ० ३ श्लो० १३,१७)

वसुदेवकी स्तुतिसे सिद्ध होगा, कि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र मनुष्य नहीं थे और न गर्भमें प्रवेश किया था। इसलिये सर्वसाधारणके बोध निमित्त इन श्लोकोंका अर्थ करदियाजाता है।

अर्थ— वसुदेवजी ऐसे सुन्दर बालकको जिसकी शोभाका अभी वर्णन करआये हैं देखतेहुए बोले, कि हे भगवन! तुम साक्षात प्रकृतिसे परे परमपुरुष करके प्रसिद्ध हो और केवल अनुभव करने योग्य आनन्द-स्वरूप हो, सब प्राणियोंके हृदयमें रहकर उनकी बुद्धिको देखनेवाले हो अथवा सब प्राणियोंकी कुशाग्रबुद्धिद्वारा दृश्य हो इन नेत्रोंसे नहीं देखे जाते हो, इस प्रकार तुम इन्द्रियोंके साथ तथा उन इन्द्रियोंसे ग्रहण किये जाने योग्य विषयोंके साथ वर्त्तमान रहते हुए भी इन इन्द्रियोंसे ग्रहण कियेजाने योग्य नहीं हो। क्योंकि ऐसा नियम नहीं है, कि किसी वस्तु-वस्तुमें जितने गुण हैं उन सबोंको एक इन्द्रिय ग्रहण करसके वह नियम तो ऐसा है, कि जिस इन्द्रियमें जो शक्ति विशेष है वह अपनी शक्ति अनुसार पदार्थोंके उसी गुणको ग्रहण करेगी जो उससे सम्बन्ध रखता है। जैसे रसालका फल नेत्रने देखा तो केवल उस फलके रंग रूपको ग्रहण किया पर उसके रस वा मिठासको ग्रहण नहीं करसका। इसी प्रकार जिह्वाको केवल उस फलके रस और स्वादके ग्रहण करनेकी शक्ति है पर रंग और रूपके

ग्रहण करनेकी शक्ति नहीं। इसी प्रकार हे प्रभो ! तुम विषयोंके साथ वर्त्तमान रहते हो पर इन विषयोंके ज्ञानसे तुम्हारे यथार्थ स्वरूपका ज्ञान नहीं होसकता क्योंकि तुम प्रकृतिसे परे हो। यदि कोई ऐसा कहें, कि तुम देवकीके गर्भमें प्रवेश किये हुए थे तो कहना नहीं बनता क्योंकि जो वस्तु किसी ठौरमें पहलेसे वर्त्तमान नहीं रहती उसीका प्रवेश करना कहा जासकता है और जो पहले ही से वर्त्तमान है उसका प्रवेश नहीं कहा जासकता। जैसे किसी घोंसलेमें पक्षी प्रवेश करते हैं तो यह सिद्ध है, कि वह उस घोंसलेके परिमाणसे छोटे हैं और वहां पहलेसे नहीं हैं इसलिये उनका उस घोंसलेमें प्रवेश कहा जासकता है पर हे भगवन् ! आपके स्वरूपका प्रमाण नहीं है क्योंकि तुम " **महतो महीयान्** " बडेसे भी बडे हो फिर तुम गर्भमें प्रवेश कैसे करसकते हो ? वरु ऐसा कहना चाहिये कि गर्भ ही तुममें प्रवेश कियेहुआ है।

अब बुद्धिमान् विचार सकते हैं, कि वसुदेव (जिनके घरमें भगवान् प्रकट हुए) वे साक्षात् परब्रह्म जगदीश्वर कहके स्तुति कररहे हैं तो दूसरोंको मनुष्य कहनेका क्या मुंह है ?

आज कलके कालिजोंसे निकलेहुए हमारे नवयुवकवृन्द जिनका मुख देखनेसे ऐसा अनुमान होता है, कि वे साठ सालके बूढे हैं ब्रह्मचर्यके अभावसे जिनकी आंखें एक अंगुल भीतर धँसकर कच्चकी खारी बनगयी हैं और दोनों गाल धँसकर हाता बंगाल बनगये हैं और जिनको धार्मिक विषयोंका तनक भी बोध नहीं है वे ही झट कहपडते हैं, कि श्रीकृष्णचन्द्र हमारे आपके ऐसे मनुष्य थे। अस्तु !

क्यों न हो जिस भगवत्की लीला देखकर ब्रह्मा और इन्द्र ऐसे देवताओंको मोह हुआ तहां इन बिचारे छोटे-छोटे मुखवाले बच्चोंको मोह होजावे तो आश्चर्य ही क्या है ! श्रीकृष्णचन्द्रकी परीक्षानिमित्त उनके बछडोंको ब्रह्मा चुरालेगया और इन्द्रने बृजको वर्षाद्वारा पानीमें बोरदेना चाहा पर आनन्दकन्दने अपने महत्वसे नवीन बछडे बना और गोवर्द्धन पर्वतको कानी अँगुलीपर उठा इन दोनों देवताओंके मोहको तोड डाला पश्चात् दोनों लज्जित हो आपके चरणोंपर आ गिरे और क्षमा मांगी । श्रीमद्भागवतके स्कन्ध १० अ० १३ में ब्रह्माका मोह और अध्याय २५ में इन्द्रका मोह तोडागया है। भगवान पहले कहआये हैं, कि "अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम" (अ० ९ श्लो० ११) अर्थात् मूढ मुझको मानुषी शरीरवाले जानकर मेरा अनादर करते हैं ।

इसी कारण श्रीआनन्दकन्द कहरहे हैं, कि "यो मामेवमसंमूढः" जो मोहरहित प्राणी मुझको पुरुषोत्तम जानता है [स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत !] वही सर्वज्ञ सर्वभावसे मुझको भजता है। यहां सर्वभावसे कहनेका अभिप्राय यह है, कि माता, पिता, बन्धु, सखा, गुरु, स्वामी इत्यादि जितने भाव सेवा करनेके और प्रेम करनेके हैं उन सब भावोंसे मुझे मेरा भक्त भजता है ।

सर्वभावका यह भी अर्थ है, कि इस ब्रह्माण्डमें ब्रह्मासे लेकर कीट पर्यन्त जितने जड-चेतन हैं सबोंमें आत्मत्वभाव करके जो मुझ ही को देखता है मुझसे अन्य किसी देवता देवीको नहीं देखता है। अथवा इसका अर्थ यों भी करलो, कि ब्रह्मदेव (पितामह) से लेकर जितने देव और देवी हैं जिनकी उपासना प्राणियोंको अनेक कामनाओंकी सिद्धिके निमित्त

करनी पडती है उन सब देव देवियोंका भाव जिसने मुझ ही में रखा है अर्थात जो मुझ ही को विष्णु, रुद्र, दुर्गा, गणेश, सुरेश इत्यादि समझता है उसीको सर्वभावसे मेरा भजन करनेवाला कहना चाहिये।

भगवान्‌का मुख्य अभिप्राय यह है, कि जो मुझ वासुदेवको पुरुषोत्तम करके जानता है यही मुझको सर्वभावसे भजता है तथा मुझको भजते-भजते मेरा स्वरूप ही होजाता है ॥ १९ ॥

भगवानने इस पन्द्रहवें अध्यायमें जिन विषयोंका वर्णन नहीं किया है उन्हींकी स्तुति करतेहुए अब इस अध्यायकी समाप्ति करते हैं --

मू०—इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ! ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ! ॥ २०

पदच्छेदः— [हे] अनघ ! (निष्पाप !) भारत ! (भरतवंशावतंस अर्जुन !) मया (वासुदेवेन) इति (अनेन प्रकारेण) गुह्यतमम् (अतिरहस्यम् । गुह्यादपि गुह्यम्) इदम्, शास्त्रम्, उक्तम् (कथितम्) एतत् (शास्त्ररहस्यम) बुद्ध्वा (ज्ञात्वा) बुद्धिमान् (ज्ञानवान) स्यात् (भवेत्) च (पुनः) कृतकृत्यः (कृतकार्यः । न पुनः कृत्यान्तरं यस्यास्ति सः) [स्यात्] ॥ २० ॥

पदार्थः—(अनघ !) हे पापरहित ! (भारत !) भरतवंशभूषण अर्जुन ! (मया) मुझ पुरुषोत्तम द्वारा (इति) इस प्रकार (गुह्यतमम) अत्यन्त गुप्त (इदम) यह (शास्त्रम) गीता शास्त्र (उक्तम) कहागया है (एतत्) इस शास्त्रके रहस्यको (बुद्ध्वा) जानकर प्राणी (बुद्धिमान) ज्ञानवान (स्यात्) होजाता है (च) तथा

(कृतकृत्यः) कृतकृत्य अर्थात् धन्य-धन्य भी होजाता है। फिर उसे कुछ करनेको शेष नहीं रहता उसके कर्मकी समाप्ति होजाती है ॥२०॥

भावार्थः— श्रीजगन्मंगलस्वरूप जगतहितकारी यशोदा-अजिरविहारीने जो इस गीताशास्त्रके अठारहों अध्यायोंमें कर्म, उपासना तथा ज्ञानकी वार्त्ता अर्जुनके प्रति विलग २ समझाकर कथन की हैं उन सबोंका संक्षिप्त सारांश इस पन्द्रहवें अध्यायमें कथनकर उनकी स्तुति करतेहुए कहते हैं, कि [**इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ !**] हे पापरहित शुद्धान्तःकरण अर्जुन ! यह जो अत्यन्त गुप्त शास्त्र मेरे द्वारा कथन कियागया यह ऐसा श्रेष्ठ और उपकारक है तथा सर्वसाधारण प्राणियोंको कल्याणदायक है, कि [**एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत !**] हे अर्जुन ! इस गुप्त शास्त्रको श्रवणकर कैसा भी प्राणी क्यों न हो ज्ञानवान् होजाता है और कृतकृत्य होजाता है अर्थात् जो कुछ उसे जानना चाहिये सो जानजाता है और जो कुछ करना चाहिये सो सब समाप्त करडालता है।

यहां जो भगवान्ने अर्जुनसे यों कहा है, कि हे अर्जुन ! मैंने तुझे गीताका सारांश इस पन्द्रहवें अध्यायमें कथन कर सुनाया जिसके जाननेसे प्राणी ज्ञानी और कृतकृत्य होजाता है उसे संक्षिप्तरूपसे पाठकोंकेलिये पुनः स्मरण करादिया।

प्रथम तो यह जानना चाहिये, कि मनुष्यमात्रको अपने उद्धारके निमित्त क्या २ जानना उचित है ? फिर कौन २ से कर्म करने चाहियें ? तहां पहले मनुष्यको यह जानना चाहिये, कि मैं कौन हूं ? कहांसे आरहा हूं ? कहां मेरी स्थिति है अर्थात् कहां ठहरा हुआ हूं ? फिर मुझे

कहीं जाना है ? अथवा जहां हूं तहां ही रहना है ? आंख, कान इत्यादि इन्द्रियां तथा मन, बुद्धि इत्यादि अन्तःकरण ये मुझको क्यों दिये गये ? किसने दिये ? किस कार्यके लिये दिये ? जब एवम्प्रकार प्राणियोंके चित्तमें अपने जानने और करनेकी चिन्ता होगी तो सबसे पहले किसी गुरुकी शरण जा इन बातोंका जिज्ञासु होगा ।

तहां भगवान भी इस गीताके अ० ४ श्लो० ३४ में कह आये हैं, कि "तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया" अर्थात् तू गुरुजनोंके समीप जा, उनको साष्टांग प्रणाम कर तथा उनकी सेवा कर और उनसे इस विषयमें प्रश्न इत्यादि करके इसको जानले । यह गूढ तत्व जो भगवानने इस पन्द्रहवें अध्यायमें कथन किया है उसे आचार्यगण भली भांति एक दूसरेके द्वारा पूर्वसे जानते चले आये हैं इसी कारण श्रीआनन्द-कन्दने इस अध्यायमें उन ही विषयोंका संक्षेपसे संकेत किया है तिनके जानने और करनेकी आवश्यकता है अब उनको विलग २ दिखलाते हैं ।

सबसे पहले प्राणीको यह जानना चाहिये, कि मैं कौन हूं ? तिसके जाननेके लिये भगवानने संक्षिप्तकरके इस गुप्त तत्वको इस अध्यायमें कहदिया, कि " ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः " यह सनातन जीव मेरा ही अंश है केवल इतना ही संकेत करदेनेसे मनुष्य अवश्य निश्चय करलेगा, कि मैं उसी ब्रह्मका अंश हूं । अंश कैसे हूं ? सो इस श्लोककी टीकामें पूर्णप्रकारे दिखलाया जाचुका है । फिर उसी ब्रह्मसे आया हुआ हूं क्योंकि जब उसने " एकोऽहं बहुस्याम् " वचनको उच्चारण किया तब मैं उसीसे निकल पडा इस कारण मैं जीव हूं ब्रह्मका अंश हूं ब्रह्महीसे आया

हुआ हूं। फिर प्राणीको यह जानना चाहिये, कि मेरी स्थिति कहां है अर्थात कहां ठहराहुआ हूं ? तो इस विषयको भगवानने इस अध्यायके श्लो॰ १३ में संक्षेपसे जनादिया है, कि " **गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा** " हे अर्जुन ! मैं अपने पराक्रमसे इस पृथ्वीको दृढतापूर्वक धारण कर इसके रहनेवाले सब जड चेतन स्थावर जंगमरूप भूतोंको धारण करता हूं। इस वचनसे सिद्ध होता है, कि इस जीवकी स्थिति भी उसी परब्रह्म जगदीश्वरमें है जो इस सृष्टिरूप वृक्षका मूल है।

अब यह जानना चाहिये, कि हम जीवोंको जहां ठहरे हुए हैं तहां ही रहना है वा कहीं किसी स्थानको जाना भी है ? तिसके विषय भगवानने इस अध्यायके श्लोक ६ में कह दिया, कि " **यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम** " जहां जाकर फिर कभी लौटना नहीं पडता वही मेरा परमधाम है तहां इसके अर्थमें भी भली भांति जनादिया है, कि जिस मायाके कारण यह जीव अपनेको उस ब्रह्मसे विलग समझ रहा है तिस मायाभ्रमके नष्ट होनेसे जब यह प्राणी अपने स्वरूपको पूर्ण रूपसे जानलेता है, कि "**अहं ब्रह्मास्मि** " तब मानों यह ऐसे स्थानमें पहुंच जाता है, कि जहांसे फिर लौटकर इसे जीव नहीं होना पडता ॥

शंका— जब यह उसी ब्रह्मसे आता है और उसीमें स्थित रहता है तब फिर जाना आना कैसा ? यदि जाने आनेसे तात्पर्य ब्रह्मरूप होजाना है और उसीको भगवानने " **तद्धाम परमम्मम** " कहा है तो पहले जो कहआये हैं, कि " **एकोऽहं बहुस्याम्** " एक मैं हूं बहुत होजाऊं तोइससे अनुमान होता है, कि फिर दूसरी सृष्टिके आदिमें भगवान् इसी प्रकार संकल्प करे और यह जीव फिर उससे निकल आवे

तब यह वचन, कि " यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते " जहां जाकर फिरे नहीं लौटते निरर्थक होजावेगा और इन दोनों वचनोंमें विरोध होगा इस शंकाका समाधान समझाकर कहो ।

समाधान— देखो मैं तुम्हें समझाता हूं ध्यान देकर सुनो इन दोनों वचनोंमें विरोध नहीं है। देखो ! किसी घरमें वा आंगनमें अथवा किसी ऐसे स्थानमें जिसकी आकृतिका कुछ प्रमाण है अर्थात् एक गज, दो गज, एक योजन, दो योजन, इत्यादि तहां उस स्थानमें आनेवालोंकी संख्या भी नियमित है और उस स्थानमें प्रवेश करने और निकलनेका एकही द्वार है जानेवाला उसीद्वारसे जावेगा और उसीसे लौटेगा अर्थात् नियमित प्राणीका निकलना और पैठना सिद्ध है इससे तो पुनरावृत्तिकी सिद्धि होती है परन्तु "यत्र गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम" पर जहां न तो स्थानकी सीमा है और न जाने आनेवालोंकी संख्या है अनन्त असंख्य प्रवेश करनेवाले और निकलनेवाले हैं और उनके प्रवेशका द्वार तथा निकलनेका द्वार विलग-विलग दो हैं तब तो ऐसा हो ही नहीं सकता, कि वही नियमित प्राणी प्रवेश किया करे वा निकला करे सो यह वार्त्ता ज्ञानियोंने सर्वशास्त्रों द्वारा सिद्ध करली है, कि उस ब्रह्मसे निकलनेका द्वार उसकी दुर्जेया माया है और उसमें प्रवेश करनेका द्वार उसका परमधाम अर्थात् चैतन्यात्मक ज्योति जो साक्षात् ब्रह्मज्ञान है सो ही नियत है ।

तात्पर्य यह है, कि मायाके द्वार होकर जीव इस ब्रह्मसे निकलते हैं और ज्ञानके द्वार होकर उसमें लय होते चले जाते हैं । जैसे गंगाके जलमें गंगोत्तरीसे जो बुद्बुद बनकर आगे निकलते और समुद्रमें

घुसते चले जाते हैं सो यदि वे ही समुद्रवाले बुद्बुद लौटकर गंगोत्तरीमें जावें और बुद्बुद् बनकर गंगामें आवें ऐसा नहीं होसकता। वरु बुद्धिमान बिचारेंगे, कि जबसे गंगोत्तरी है तबसे गंगोत्तरीके अथाह जलमें अनन्त बुद्बुदोंके बननेकी शक्ति है। अनगिनत बुद्बुद बनते चले आरहे हैं और समुद्रमें टूटते चलेजारहे हैं न बुद्बुदके बननेकी कहीं गिनती है न समुद्रसे फिर लौटनेकी आशा है ऐसे विचारकी दृष्टिसे देखनेसे "एकोऽहं बहुस्याम्" और 'यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते' दोनों वचनोंमें तनक भी विरोध नहीं पाया जाता। इसीलिये इस गूढ तत्वको भगवानने इस अध्यायमें "**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**" और "**यद्गत्वा निवर्त्तन्ते**" कहकर पूर्ण बोध करा दिया। शंका मतकरो!

लो और कौनसी गुप्त बातें भगवानने कथन की हैं? सो भी सुनलो—

जो लोग विज्ञानतत्वके जाननेवाले हैं वे तो ऐसा ही समझते हैं, कि मैं ब्रह्मका अंश हूं ब्रह्मसे आया हूं ब्रह्महीमें स्थित हूं और फिर ब्रह्महीमें प्रवेश करजाऊंगा न किसी दूसरे स्थानसे आना है और न कहीं जाना है पर जिन साधारण प्राणियोंने अपने अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं प्राप्त की है वे भ्रमात्मकबुद्धिसे ऐसा समझते हैं, कि यह संसार उस ब्रह्मसे कोई विलग वस्तु है जहां मेरी स्थिति है अर्थात् मायामय संसारमें मैं ऊबडूब कररहा हूं; जीव हूं, दुःखी हूं, सुखी हूं, राजा हूं, रंक हूं, विद्वान हूं वा मूर्ख हूं नाना प्रकारके कर्मोंमें फँसा हुआ क्लेश पारहा हूं। न जाने मेरा उद्धार कैसे होगा? ऐसे पुरुषके कल्याणनिमित्त भी भगवानने प्रथम श्लोकमें संसारको अश्वत्थ वृक्षसे उपमा देकर तिसके काटनेका अर्थात संसार दुःखसे छूटनेका उपाय

इसी अध्यायके श्लो० ५ में " असंगशस्त्रेण दृढेन छित्वा " कहकरे बतलादिया, कि संपूर्ण विश्वके मयामय पदार्थोंको असंगके शस्त्रसे छेदनकर अर्थात् उनसे संग रहित होकरे वह मार्ग खोजना चाहिये जिधर होकर फिर लौटना नहीं पडता। इतना कहकर भगवान्ने कर्म, उपासना और ज्ञानका संकेत करेदिया।

अभी जो अनेक प्रश्नोंके साथ यह प्रश्न करआये हैं, कि ये आंख, कान इत्यादि इन्द्रियां तथा मन, बुद्धि इत्यादि अन्तःकरण मुझको क्यों दिये गये? किसने दिये? किस कार्य्यके लिये दिये? इसके उत्तरमें यह कहना पडेगा, कि जब इस जीवको भगवान् " ममैवांशः " कहकर अपना अंश बता चुके हैं तो इस जीवको दूसरे शब्दोंमें जीवात्मा कहना पडेगा उसी आत्मा शब्दमें परमके लगानेसे परमात्मा और जीवके लगानेसे जीवात्मा शब्द बनते हैं। यदि परम और जीव शब्दको उठालो तो दोनोंमें आत्मा शब्द रहजावेगा अर्थात् आत्मा जो भगवान् तिसका अंश यह जीव भी आत्मा है। कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि जब यह आत्मा है तो इसमें ये इन्द्रियां और अन्तःकरण प्रथम से ही वर्त्तमान हैं कहींसे न आये और न किसीने दिये। केवल भेद इतना है, कि जबतक ये इंद्रियां अन्तर्मुख होकर तुरीयावस्थामें लय रहती हैं तबतक ब्रह्मानन्दको भोगती रहती हैं, जब वहिर्मुख होती हैं तो विषयानंदको भोगने लगती हैं। क्योंकि ये जीव जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय इन चारों अवस्थाओंमें ब्रह्मके साथ हैं। सो भगवान्ने इसी अध्याके श्लोक ९ में स्पष्टकर कह दिया है, कि " श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च " इससे सिद्ध होता है, कि ये इन्द्रियां इन

आत्माओंमें पहलेसे हैं अर्थात् जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय अवस्थाओंमें किसी अवस्थाके अन्तर्गत तो विषयोंको भोगती हैं और किसी अवस्थामें मुक्त होकर परमानन्दको भोगती हैं अर्थात् बन्ध और मोक्ष इन्हींके द्वारा होता रहता है। इसीलिये वे इस आत्मामें सदासे स्थित हैं। तिनका वर्णन यहां सर्वसाधारणके कल्याणनिमित्त करदियाजाता है। प्रमाण श्रु०— " ॐ सर्वꣳ ह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् " (माण्डू० श्रु० २)

अर्थ—यह जो कुछ है सब ब्रह्म ही है यह आत्मा भी ब्रह्म ही है सो आत्मा चार अवस्थावाला है अर्थात् जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय ये ही इसकी चार अवस्थाएँ हैं।

अब इन चारोंका वर्णन विलग २ करदिया जाता है प्रमाण श्रु०— " ॐ जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्तांगः एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः " (माण्डू० श्रु० ३)

अर्थ— जागृतस्थान अर्थात् जाग्रत अवस्था वह है जिस समय प्रज्ञा (वस्तु-तत्वकी ग्रहण करनेवाली बुद्धि) बाहरकी ओर रहती है और बाहरकी स्थूल वस्तुओंको ग्रहण करती है इसके सात अंग हैं और १९ मुख हैं स्थूल वस्तुओंको भोगनेवाली है इसीको वैश्वानर भी कहते हैं। यही इस आत्माका प्रथम पाद अर्थात् पहली अवस्था है।

अब जानना चाहिये, कि वे सात अंग कौन हैं ? तहां कहते हैं, कि स्वर्गलोक जिसका मस्तक है, सूर्य्य जिसका नेत्र है, चन्द्रमा जिसका मन है, वायु जिसका प्राण है, समुद्र जिसकी गंभीर नाभि है, पृथ्वी जिसकी कटि है और पाताल जिसका पैर है। जागृत

अवस्थामें इन सब वस्तुओंका अनुभव प्रत्यक्ष होता है इसलिये इसे सप्तांग कहते हैं ।

अब कहते हैं, कि " **एकोनविंशतिमुखः** " अर्थात् उन्नीस जिसके मुख हैं । पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय, चार अन्तःकरण और पांचों प्राण (प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान) ये ही इसके मुख हैं जिनसे यह बाहरकी स्थूल वस्तुओंका भोजन करता है अर्थात् ग्रहण करता है इसीलिये इसको 'स्थूलभुक्' कहते हैं ।

अब इसकी दूसरी अवस्थाका वर्णन सुनो प्रमाण श्रुतिः—

" **ॐ स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्तांग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्त-भुक् तैजसो द्वितीयः पादः** " (माण्डू० श्रु० ४)

अर्थ— स्वप्नस्थान अर्थात् स्वप्नकी अवस्था वह है जिस समय प्राणीकी प्रज्ञा (वस्तु-तत्त्वकी ग्रहण करनेवाली बुद्धि) शरीरके भीतरकी ओर रहती है यह भी सप्तांग है और १९ मुखवाला है । क्योंकि इस अवस्थामें भी इसी संसारके समान दूसरा संसार देखता है । इसी लिये यह भी सप्तांग है अर्थात् सात अंग वाला है और १९ मुखवाला है केवल जागृतमें और इसमें इतना ही अन्तर है, कि जागृतमें स्थूल इन्द्रियों द्वारा स्थूल वस्तुओंका ग्रहण करता है और स्थूलभुक् कहलाता है पर स्वप्नमें उन्हीं इन्द्रियोंकी सूक्ष्मशक्तिद्वारा (प्रविविक्तभुक्) सूक्ष्म संस्कारोंका भोगनेवाला है यही इसका द्वितीय पाद है ।

तात्पर्य यह है, कि जैसे आलोक्ययंत्र (Photograph) के काच (Lens) द्वारा बाहरके सब स्थूल पदार्थ सूक्ष्म होकर एक छोटे

पत्रपर खिंचजाते हैं अर्थात कलकत्ता, देहली, फ्रांस, जर्मन, जापान इत्यादि नगरोंको देखनेवालोंने जिस प्रकारे जागृत अवस्थामें देखा था उसी प्रकार ठीक-ठीक स्वप्नमें भी देखते हैं तात्पर्य यह है कि स्वप्नमें भी आकाश, सूर्य, चन्द्र, समुद्र, पृथ्वी इत्यादिको ज्योंके त्यों देखते हैं। हाथ, पांव, आंख, नाक, कान, जिह्वा इत्यादि इन्द्रियोंसे सूक्ष्म वस्तु-तस्तुओंको पकडते हैं, देखते हैं, सूक्ष्म गंधोंको सूंघते हैं, सूक्ष्म वचनोंको सुनते हैं और सूक्ष्म अन्नोंका स्वाद लेते हैं अर्थात सारी क्रीडा जैसी जागृतमें करते थे वैसी स्वप्नमें भी करते हैं।

इसका कारण केवल आत्माकी अत्यन्त स्वच्छता और सूक्ष्मता है। जैसे फोटोग्राफरके प्लेटपर संपूर्ण विश्वके पदार्थ सिमटकर छोटी-छोटी लकीरों और बिन्दुओंमें बनजाते हैं इसी प्रकार संपूर्ण विश्वके पदार्थ जो पहले नेत्रोंके (lens) होकर अन्तःकरणके (plate) पर खिंचेहुए रहते हैं उनहीको स्वप्नावस्थामें प्राणी वैसा ही विशाल देखता है जैसा, कि जागृतमें देखता था अर्थात आलोकयंत्रके काचकी स्वच्छता अंगीकार कर बाहरके पदार्थोंको खींचलेता है फिर वृंहणयंत्र (Magnifier) के काचकी स्वच्छताको स्वीकार कर जागृतके समान देखने लगजाता है। जैसे छोटे-छोटे बच्चे नगरोंमें तमाशा दिखानेवालेके बक्सके भीतर कलकत्ता इत्यादि नगरोंकी छोटी-छोटी मूर्तियोंको काच द्वारा ज्योंका त्यों देखते हैं। इससे सिद्ध होता है, कि जैसे प्लेट पर छोटे २ संस्कारोंके खिंचजानेका कारण काच (Lens) की अत्यन्त स्वच्छता है और फिर उनको बडा देखनेका कारण वृंहण यंत्र (Magnifier) की स्वच्छता है इसी प्रकार स्वप्न और जागृत

का कारण आत्माकी अत्यन्त स्वच्छता है जो उक्त यंत्रोंके काचसे भी करोड गुणा अधिक स्वच्छ कहाजाता है।

इन उदाहरणोंसे सिद्ध होता है, कि इन्द्रियोंकी ये विचित्र शक्तियां आत्मा ही में हैं कहीं दूसरे स्थानसे नहीं आतीं।

अब तीसरी अवस्था सुषुप्तिका वृत्तान्त सुनो! प्रमाण श्रुतिः—

" ॐ यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानंदमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः " (माण्डूक्य० श्रु० ५)

अर्थ— सोजानेपर जब यह प्राणी न कोई कामना करता है और न कुछ स्वप्न देखता है वही सुषुप्ति है। तिस सुषुप्तिमें सब इन्द्रियां एकीभूत होजाती हैं, प्रज्ञा सिमटकर घन होजाती है तथा आत्मा आनन्दमय और आनन्दका भोगनेवाला होजाता है और चेतनाशक्तिके मुख पर रहजाता है जैसे किसी मकानके द्वारपर दोहरे किवाड लगे हैं और तहां एक दीपक जलरहा है तो दोनों ओरके कपाटोंको बन्द करदेनेसे न बाहर प्रकाश होगा और न भीतर प्रकाश होगा इसी प्रकार सुषुप्ति अवस्थामें प्रज्ञा चेतोमुख होकर न बाहर प्रकाश करती है और न भीतर प्रकाश करती है अर्थात् न जाग्रतमें क्रीडा करती है और न स्वप्नमें क्रीडा करती है शांत होजाती है और उस समयमें प्राज्ञ कहलाती है यही इसका तीसरा पाद है।

यदि शंका हो, कि जो इसके १९ मुख अर्थात् १९ शक्तियां जागृत और स्वप्नमें विलग-विलग काम कररही थीं वे सब क्या

होगयीं तो इसीके उत्तरमें श्रुति कहती है, कि वे सब एकीमुख और प्रज्ञानघन होगयीं अर्थात् सब सिमटकर आत्मामें एक ठौर स्थिर होगयीं और बुद्धि घन होगयी तात्पर्य यह है, कि जैसे " अहितुण्डिक " (मदारी) नाना प्रकारका खेल करताहुआ हाथमें एक सुपारी लेकर तमाशा देखने वालोंको यों दिखलाता है, कि देखो मैं एक सुपारीसे १६ सुपारियां निकाल देता हूं फिर वह अपने हाथोंकी कलासे एक सुपारीसे १६ सुपारियां निकालकर यों कहताहुआ, कि आओ १, आओ २, आओ ३, आओ ४ आओ एवम्प्रकार एक ही से उन्नीसोंको निकालकर विलग२ दिखलादेता है और फिर यों कहकर जा १, जा २, जा ३, उन उन्नीसोंको एक ही सुपारीमें लय करदेता है फिर एककी एक सुपारी रहजाती है। इसी प्रकार ये उन्नीसों शक्तियां जागृत और स्वप्न अवस्थामें एक आत्मारूप सुपारीसे निकल आती हैं और फिर सुषुप्तिमें सब सिमटकर एक होकर आत्मामें लय होजाती हैं अर्थात् आत्माका आत्मा रहजाता है। यही एक आश्चर्य इस आत्मामें है इसलिये इस आत्माको भगवान्‌ने आश्चर्यमय कहतेहुए कहा है, कि " आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः " (अ० २ श्लो० २९) इसीलिये इस श्रुतिमें प्रज्ञानघन शब्दका भी प्रयोग किया। जैसे प्रकाशके सिमटते समय अर्थात् सायंकालमें अन्धकार फैलते समय दूरके सब वृक्ष घन होजाते हैं अर्थात् एक रंग होजाते हैं उनमें पीपल, पाकर, आम, लीची, जामुन इत्यादि वृक्षोंका भेद नहीं देखपडता ऐसे ही सुषुप्तिमें प्रज्ञा घन होजाती है आत्मा आनन्दमय और आनन्दभुक् होजाता है।

शंका— यदि सुषुप्ति अवस्था बीतते समय प्राणी आनन्दमय और आनन्दका भोगनेवाला होजाता है तो इसे कर्म, उपासना, ज्ञान इत्यादि अनेक यत्न करनेकी क्या आवश्यकता है ? मथुराके चौबेजी के समान एक पावभरके भंगका गोला संध्याकालमें चढालिया और रात्रिभर सुषुप्तिमें आनन्दमय और आनन्दके भोगनेवाले होरहे ।

समाधान— इसमें तो सन्देह ही नहीं है, कि जागृत और स्वप्नमें जो नाना प्रकारके दुःख सुख होरहे थे सुषुप्तिमें उन सबोंका अभाव होगया और आत्मा निर्द्वन्द्व होकर शान्त और आनन्दमय होगया पर कठिनता तो यह रही, कि इस अवस्थामें अविद्या व्यापती रहती है इसलिये इसका आनन्द इसको स्वयं बोध नहीं होता जैसे तुमको जर्मन बादशाहके कोशमेंसे १८००००००० द्रव्य पुरष्कार में मिलजावे और उससे तुम्हारे नामपर हिन्दुस्थानसे लंका जानेके लिये समुद्रमें सेतु (पुल) बनादिया जावे और तुम्हें उसकी सुधि पत्रद्वारा वा अन्य प्रकारसे न दीजावे तो तुमको उस द्रव्यके मिलने और पुल बननेके आनन्दका कुछ भी बोध नहीं होगा । इसी प्रकार इस सुषुप्ति अवस्थामें अविद्या व्यापती है । वरु श्रुतियोंने तो यों कहा है, कि जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंमें अविद्या व्यापती है इसी अविद्याके कारण यथार्थ ब्रह्मानन्दका बोध नहीं होता इस आनन्दका कब बोध होता है ? सो सुनो शंका मत करो ।

अब चौथी अवस्था जिसे तुरीय अवस्था कहते हैं वही यथार्थ आनन्दका स्वरूप है । तहां प्रमाण श्रु०— " ॐ नान्तःप्रज्ञं न वहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यम-

ग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः" (माण्डू० श्रु० ७) अर्थ— जिस समय प्रज्ञा (बुद्धि) न भीतरकी ओर हो और न बाहरकी ओर हो अर्थात् न स्वप्न हो न जागृत हो न उभयतःप्रज्ञ हो अर्थात् कुछ स्वप्न और कुछ जागरित दोनों मिलीहुई अवस्था भी न हो और न ' प्रज्ञानघन ' सुषुप्ति (घोर निद्रा) हो, प्रज्ञ भी न हो अर्थात् जागृत भी न हो और ' अप्रज्ञ ' (एकबारगी जडके समान बोध रहित) भी न हो ' अदृष्ट' अर्थात् नेत्रोंका विषय न हो ' अग्राह्य ' हो अर्थात् हाथ, पांव इत्यादि किसी भी इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने योग्य भी न हो। फिरे 'अलक्षणम ' अर्थात् अनुमानके भीतर भी नहीं आसकता हो 'अचिन्त्यम' चिन्ताकरने योग्य भी न हो अर्थात् अन्तःकरण भी जिसको नहीं स्पर्श करसकता हो 'अव्यपदेश्यम' उपदेश करने अर्थात् कहने योग्य भी न हो पर 'एकात्म प्रत्यसारम् ' हो अर्थात् जागृतादि तीनों अवस्थाओंकी एकता होजानेपर जो आत्मज्ञानका सार-भाग परमानन्दस्वरूप है सो ही हो फिर 'प्रपंचोपशम' हो अर्थात् जिस अवस्थामें प्रपंचका नाश होजावे फिर कैसा हो, कि ' शिवम् ' परम कल्याणमय हो 'अद्वैतम' जिसके समान कोई दूसरा न हो। ऐसी अवस्थाको ' चतुर्थं मन्यन्ते ' चौथी अवस्था अर्थात् तुरीया मानते हैं वही शुद्ध निर्मल आत्मा है और ' विज्ञेय ' है अर्थात् जानने योग्य है। इसलिये पूर्वमें जो प्रश्न हुआ था, कि ये इन्द्रियां और अन्तःकरण क्यों दिये? किसने दिये ? किस कार्य्यके लिये दिये ? इन तीनों प्रश्नोंका उत्तर यहां पूर्णरूपसे समाप्त करदिया गया।

अब भगवान् इस अध्यायके श्लो० ८ " शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः" से श्लो० ११ "नैनं पश्यन्त्यचेतसः" तक पुनर्जन्मके सिद्धान्तको भी दिखला चुके पश्चात् १२ वें श्लोकसे पन्द्रहवें श्लोक तक अपनी सर्वप्रकारकी व्यापकता भी दिखलादी फिर १६ वेंसे १६ वें तक जीव, ब्रह्म और प्रकृति तीनोंको क्षरपुरुष, अक्षरपुरुष और परमपुरुष कहकर अपने स्वरूपको पुरुषोत्तम बताकर सब विषयोंसे और संसृतिबखेडोंसे निवृत्ति प्राप्त कर अहर्निश अपनी सेवा पूजामें मग्न रहनेकी मानों आज्ञा देकर जीवोंको सुखी कर दिया। ॥ २० ॥

सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम् ,
द्विभुजं ज्ञानमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम् ।
गोपगोपांगनावीतं सुरद्रुमलताश्रितम्,
दिव्यालंकरणोपेतं रत्नपंकजमध्यगम् ॥
कालिन्दीजलकल्लोलासंगिमारुतसेवितम् ।
चिन्तयंश्चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेः ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्येण श्रीस्वामिहंसस्वरूपेण विरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतायां हंसनादिन्याख्यटीकायां पुराणपुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ।

॥ महाभारते भीष्मपर्वणि तु एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

इति पञ्चदशोऽध्यायः ।

शुद्धाशुद्धपत्रम् ।



पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
३१६३	१६	त्वा	त्त्वा
३१६३	२०	रहितया	रहिततया
३१६४	२	त्कम्	यम्
३१३४	७	का	की
३१८८	८	इन	इनमें
३२२६	१५	त्कामन्त्या	त्कान्त्या
३२५६	७	दी	दिया
३२६१	६	आंख	आंखें
३२६४	४	मानम्	वन्तम्
३२७०	४	युं	यु
३२७१	२	नं	न्

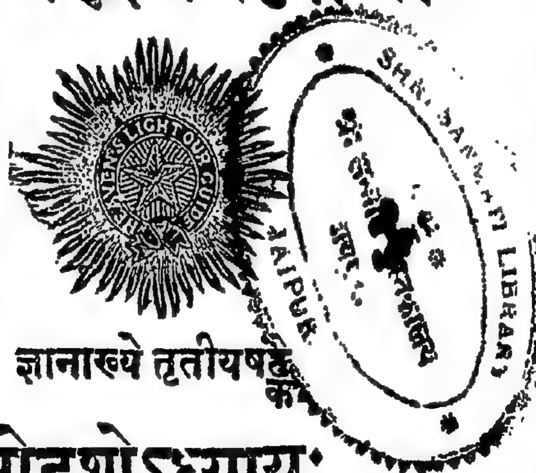


श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्य

श्री १०८ स्वामिहंसस्वरूपकृत

हंसनादिन्याख्यटीकया समेता

श्रीमद्भगवद्गीता



ज्ञानाख्ये तृतीयषट्के

षोडशोऽध्यायः

अलवरराजधान्याम्

प्रथम वार १०००	श्रीहंसाश्रमयन्त्रालये मुद्रितः	सम्वत् १९८५ विक्रमी। सन १९२९ ई०



❀ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ❀

श्रीभक्तजनजीवातवे नमः ।

श्रीभवाम्बुधिसमुत्तरणसेतवे नमः ।

अथ

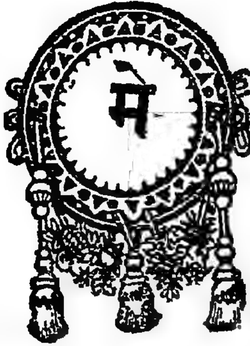


ज्ञानाख्ये तृतीयषट्के

* षोडशोऽध्यायः *

ॐ ऋत्वामहाँ अनुष्वधं भीम आवावृते शवः । श्रियं
ऋष्व उपाकयोर्निशिप्री हरि वाँ दधे हस्तयोर्वज्रमायसम् ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!



घश्यामं पीतकौशेयवासं, श्रीवत्सांकं कौस्तुभोद्भा-
सिताङ्गम । पुण्योपेतं पुण्डरीकायताक्षं, विष्णुं
वन्दे सर्वलोकैकनाथम् ॥ १ ॥

जलौघमग्ना सचराचराधरा,
विषाणकोटयाखिलविश्वमूर्त्तिना ।
समुद्धृता येन वराहरूपिणा,
स मे स्वयम्भूर्भगवान् प्रसीदताम ॥ २ ॥

अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तमव्ययं,
विभुं प्रभुं भावितविश्वभावनम ।
त्रैलोक्यविस्तारविचारकारकं,
हरिं प्रपन्नोऽस्मि गतिं महात्मनाम ॥ ३ ॥

यदि गमनमधस्तात् कालपाशानुबद्धो,
यदि च कुलविहीने जायते पक्षिकीटे ।
कृमिशतमपि गत्वा जायते चान्तरात्मा,
मम भवतु हृदिस्थे केशवे भक्तिरेका ॥ ४ ॥

नान्यं वदामि न शृणोमि न चिन्तयामि,
नान्यं स्मरामि न भजामि न चाश्रयामि ।
भक्त्या त्वदीयचरणाम्बुजमन्तरेण,
श्रीश्रीनिवास पुरुषोत्तम देहि दास्यम ॥ ५ ॥

अहा! देखो तो सही आज आकाशमण्डलमें पूर्व और पश्चिम दोनों दिशाओंसे श्वेत और कृष्णवर्णके दो विचित्र बादलोंके जमघट घनघोर शब्द करते हुए विद्युतोंकी चमकसे चकाचौंध भरते हुए क्यों उमडे चले आरहे हैं ? इस समय न तो वर्षा ऋतु है, न वायुमें वर्षाका तनक भी लक्षण पायाजाता है फिर आकाशकी दशा ऐसी क्यों होगयी है ? थोडा विचारकर देखनेसे, अहा ! ये दोनों बादलोंके जमघट नहीं हैं । ये तो दो विचित्र सेनाएं युद्धकी आकांक्षासे आगे बढती चली आरही हैं जिनके पणवोंके शब्द बादलोंकी धमकके सदृश सुननेमें आरहे हैं और वीरोंके बाणोंकी चमक विद्युतके समान आंखोंमें चकाचौंध भर रही है । आशा है, कि थोडी देरमें ये दोनों सेनाएं युद्धनिमित्त परस्पर भिडजावें और कठिन काटमारके कोलाहलसे दशों दिशाओंको भरदेवें । अजी! तुम कहसकते हो, कि ये दोनों सेनाएं जो आकाशमें धूल उडाती चली आरही हैं कैसी हैं ? किन राजाओं तथा किन वीरोंकी हैं ? हां ! मुझे ऐसा बोध होरहा है, कि ये दोनों सेनाएं आसुरी और दैवी सम्पदावाले नरेशोंकी हैं जिनमें श्वेतवर्ण-वाली सेना दैवी सम्पदावाले वीरोंसे रची हुई और कृष्णवर्णवाली सेना आसुरी सम्पदावाले वीरोंसे रची हुई आगे बढती चली आरही है । इन्द्रियसंयम, सत्य, अनभिमान, दान और आत्मज्ञान ये तो दैवीसम्पदावाले वीरोंके पांच मुख्य सेनापति हैं जो निर्भय होकर युद्धकलाके सम्पादन करनेमें कैसे उत्साह और वेगके साथ परस्पर गठे हुए अपने शत्रुओंको ललकारते हुए आगे बढते चले आरहे हैं । और इसीके प्रतिकूल दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध और अज्ञान ये

पांचो आसुरी सम्पदावाले वीरोंके पांच मुख्य सेनापति हैं जो बडे कुढंगे परस्परमें बिखरेहुए धीमीर चालसे थोडार आगे बढरहे हैं।

अहा ! सच है जब ये दोनों सेनायें युद्धके निमित्त परस्पर भिडजावेंगी तो इसमें तनक भी सन्देह नहीं, कि दैवी सम्पदावाले वीरोंको विजय प्राप्त होगी।

चलो अब हमलोग इनको देखतेहुए महाभारत युद्ध तक पहुंच पाण्डव और कौरवोंकी सेनाकी युद्धकला देखें जहां स्वयं श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र रथवान बनेहुए अर्जुनका रथ हांकरहे हैं और इन ही आसुरी तथा दैवी सम्पदावालोंकी कुछ चर्चा अर्जुनके प्रति कररहे हैं।

मू०— अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ! ॥ ३ ॥

पदच्छेदः— भारत ! (पवित्र भरतवंशशिरोमणे अर्जुन !) अभयम् (अभीरुता। आत्मचिन्तनाय गिरिदर्य्यादिनिवासेऽपि भयाभावः। लौकिके वैदिके कर्मणि यथावत् यथाशास्त्रं क्रियमाणे सति भयाभावः) सत्वसंशुद्धिः (चित्तनैर्मल्यम्। शुद्धभावेन व्यवहारः। अन्तःकरणस्य प्रपञ्चादिराहित्यम्) ज्ञानयोगव्यवस्थितिः (शास्त्राद्दाचार्य्याच्चात्मतत्वस्यावगमः ज्ञानम्। चित्तैकाग्रतया स्वात्मसंवेद्यता-

पादनम् तन्निष्ठता) दानम् (यथाशक्तिअन्नादीनां संविभागः) दमः (बाह्येन्द्रियसंयमः) च, यज्ञः (श्रौतोऽग्निहोत्रम् । दर्शपौर्णमासादिः स्मार्त्तो देवयज्ञः पितृयज्ञः भूतयज्ञः, मनुष्ययज्ञ इति चतुर्विधः । यथाधिकारं प्राप्तं स्वधर्मानुष्ठानम्) च, स्वाध्यायः (अदृष्टार्थे ऋग्वेदाद्यध्ययनं तदध्यापनं च । सुष्टु आवृत्त-वेदाध्ययनं जपः) तपः (कृच्छ्रचान्द्रायणमौनादिः) आर्जवम (सर्वदा ऋजुत्वम । सरलता । अवक्रत्वम । अन्तर्वहिः कापटयव्यवहाराभावः) अहिंसा (प्राणिनां पीडाया वर्जनम) सत्यम (अप्रियानृताहितवर्जितं यथाभूतार्थभाषणम्) अक्रोधः (परैः कृतेनाक्रोशेन ताडनेन वा प्राप्तस्य क्रोधस्योपशमनम । क्षोभानुत्पत्तिः) त्यागः (सर्वकर्मफलविसर्जनम) शान्तिः (अन्तःकरणस्योपशमः) अपैशुनम (परोक्षे परदोषप्रकटीकरणं पैशुनं तदभावः) भूतेषु (दुःखितेषु जीवेषु) दया (कृपा । कारुण्यम्) अलोलुप्त्वम (विषयसन्निधानेऽपीन्द्रियाणामविक्रियत्वम्) मार्दवम (मृदुत्वम, अक्रूरत्वम, मनोवाक्कायव्यापारेषु संकल्पवचनकर्मसु काठिन्याभावः) ह्रीः (लज्जा । अकार्य्यप्रवृत्यारम्भे तत्प्रतिबन्धिकालोक लज्जा । शास्त्रलज्जा च) अचापलम (असति प्रयोजने वाक्पाणिपादानामव्यापारयितृत्वम । अचाञ्चल्यम) तेजः (प्रागल्भ्यम) क्षमा (सत्यपि सामर्थ्ये परिभवहेतुं प्रति क्रोधस्यानुत्पत्तिः । सहिष्णुता) धृतिः (देहेन्द्रियेष्ववसादं प्राप्तेषु तस्य प्रतिषेधकोऽन्तःकरणवृत्तिविशेषो येनोत्तम्भितानि करणानि शरीरञ्च नावसीदन्ति । दुःखादिभिः अवसन्नचित्तस्य स्थिरीकरणम) शौचम् बाह्याभ्यन्तरशुद्धिः । तत्र मृज्जलाभ्यां कृतं बाह्यम । मायारागादिकालुष्या-

भावेन मनोबुद्धयोर्नैर्मल्यमाभ्यन्तरम्) अद्रोहः (परजिघांसाया अभावः । परानिष्टकारिमानसवृत्तिविशेषत्यागः) नातिमानिता (अत्यन्तं मानराहित्यम् । आत्मनः पूज्यतातिशयभावनाभावः) [एतानि षड्विंशतिप्रकाराणि] दैवीम् (सत्वप्रधानां शुद्धसत्वमयीम्) सम्पदम् (सम्पादनहेतुभूतां वृत्तिम्) अभिजातस्य (अभिलक्ष्योत्पन्नस्य) भवन्ति (आविर्भवन्ति) ॥ १, २, ३ ॥

पदार्थः— (भारत!) हे पवित्र भरतवंशमें उत्पन्न अर्जुन! (अभयम्) सर्वप्रकारके उचित व्यवहारोंमें निर्भय रहना (सत्वसंशुद्धिः) अन्तःकरणकी निर्मलता (ज्ञानयोगव्यवस्थितिः) ज्ञान और योगमें सदा निष्ठता (दानम्) देश, काल, पात्रादिका विचार करके कुछ द्रव्य तथा अन्न वस्त्र बांटदेना (दमः) बाहरकी इन्द्रियोंका दमन करना (च) और (यज्ञः) श्रौत और स्मार्त यज्ञोंका सम्पादन करना अथवा यथाधिकार अपने वर्णाश्रमधर्मका अनुष्ठान करते रहना (च) और (स्वाध्यायः) बारे-बारे ऋग्वेदादिका अध्ययन करना अथवा प्रणवादिका जप करना (तपः) कृच्छ्रचान्द्रायण मौन इत्यादि व्रतोंका साधन करना अथवा मन और इन्द्रियोंको एकाग्र कर ब्रह्मका विचार करना (आर्जवम्) सबके साथ सीधा स्वभाव रहना अर्थात् कपट रहित व्यवहार करना (अहिंसा) किसी जीवका बध न करना वा किसी प्रकार दुःख न देना (सत्यम्) सच बोलना (अक्रोधः) क्रोध न करना (त्यागः) सर्व कर्मके फलोंको छोडदेना (शान्तिः) अन्तःकरणका स्थिर होजाना (अपैशुनम्) किसी परायेके छिद्रको उसके पीठपीछे प्रकट

न करना (भूतेषु दया) सब दुःखी जीवोंपर कृपा रखना (अलोलुप्त्वम) विषयके सम्मुख होनेपर भी इन्द्रियोंमें विकारका प्रवेश न होना (मार्दवम्) सबके साथ कोमल व्यवहार रखना कोमल भाषण करना (ह्रीः) दुष्ट कार्य करते समय लोक तथा शास्त्रकी लज्जा होना (अचापलम्) वचन तथा शरीरका चञ्चलता रहित होना (तेजः) तेजस्वी देखपडना (क्षमा) सामर्थ्य होनेपर भी किसी अपराधीपर क्रोधकर उसकी हानि पहुंचानेकी चेष्टा नहीं करना (धृतिः) अत्यन्त घोर क्लेश प्राप्त होनेपर भी चित्तको व्यग्र न होनेदेना स्थिर रखना (शौचम) बाहर और अन्तर अर्थात शारीरिक और मानसिक पवित्रता (अद्रोहः) किसी भी प्राणीसे द्रोह न करना (नातिमानिता) अपना अधिक मान नहीं चाहना ये जो २६ गुण हैं (दैवीं सम्पदम) दैवी सम्पदामें (अभिजातस्य) उत्पन्न होनेवालेको (भवन्ति) प्राप्त होते हैं ॥ १, २, ३ ॥

भावार्थः— श्रीवृन्दावनान्तःसंचारी नवनीतनवाहारी नरनारायणात्मक परमपुरुष श्रीकृष्णचन्द्रने जो इससे पूर्व पन्द्रहवें अध्यायके श्लो॰ २०में अर्जुनके प्रति यों कहा, कि " एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत " हेभरतवंशोद्भव अर्जुन ! मैंने जो सर्व वेदशास्त्रोंका तथा सम्पूर्ण गीताका सार अर्थात भगवत्स्वरूपके ज्ञानका गुप्त भेद जो तुझसे कह सुनाया है इसको जानकर प्राणी ज्ञानवान होजाता है और कृतकृत्य होजाता है सो भगवानके इतना कहनेसे ऐसा बोध होता है, कि जो इस रहस्यको जाने वही ज्ञानवान और कृतकृत्य होता है पर यहां इतना तो कहना अवश्य रहगया, कि

इस सारे रहस्यके जाननेका कौन अधिकारी है ? और कौन नहीं है ? इसलिये अधिकारीके जनानेके तात्पर्यसे यह सोलहवां अध्याय आरम्भ करते हैं इस १६ वें अध्यायमें जिस विषयका वर्णन करेंगे उसका संकेतमात्र नवें अध्यायमें भगवान् संक्षिप्तरीतिसे यों कहआये हैं, कि **" मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः । राक्षसीमासुरीञ्चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥** (अ० ६ श्लो० १२, १३)

अर्थ— जो वृथा आशा करनेवाले, वृथा कर्मोंके करनेवाले, वृथा ज्ञानसे ज्ञानी बननेवाले विक्षिप्तचित्त हैं वे ही मानों बुद्धिको मोहमें डालकर भ्रष्ट करनेवाली राक्षसी और आसुरी प्रकृतिके आश्रित हो नष्ट होरहे हैं उनका जो कुछ करना धरना है सब राक्षस और असुरके समान परम दुःखदायी घोर नरकमें लेजानेवाला है और इसीके प्रतिकूल जो दैवी प्रकृतिके आश्रय महात्मा पुरुष हैं वे ही मुझको सब भूतोंका आदि और अव्यय जानकर अनन्य मनसे मेरा भजन करते हैं । इन दोनों श्लोकोंसे भगवान्ने यों जनादिया, कि संसारमें राक्षसी, आसुरी और दैवी तीन प्रकारकी प्रकृतियोंसे युक्त प्राणीमात्र हैं जिनमें दैवी प्रकृतिवाले मेरे जाननेके अधिकारी इस गुप्त परम कल्याणकारक ज्ञानको प्राप्त हो सर्वज्ञ और कृतकृत्य होजाते हैं । इसी वार्त्ताको भगवान् इस अध्यायमें विस्तारपूर्वक कथन करेंगे और इन भिन्न प्रकृतियोंको सम्पदाके नामसे कहकर आसुरी और दैवी सम्पदाओंका पूर्ण प्रकार वर्णन कर संसारको शिक्षा देदेवेंगे, कि आसुरी सम्पदाका त्याग कर दैवी सम्पदाका ग्रहण करना चाहिये ।

भगवान १५ वें अध्यायके श्लोक २ में कहचुके हैं—
" अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके "
इस मनुष्यलोकमें इस संसाररूप पीपलके वृक्षके मूल (जड) अनगिनत शुभाशुभ कर्मरूप उपमूलोंसे एक दूसरेके साथ लिपटेहुए वृद्धिको प्राप्त होरहे हैं तिनका मूलकारण केवल शुद्ध और मलीन वासना ही हैं अर्थात वासना द्वारा ही यह जीव शुभाशुभमें फँसा रहता है। तिन वासनाओंको भी इस दैवी और आसुरी सम्पत्तिसे दृढ सम्बन्ध है। तात्पर्य यह है, कि कर्मानुसार जैसी वासनाका उदय होआता है तदनुसार ही भिन्न सम्पदाओंका आश्रय लियेहुए प्राणीका जन्म होता है। तहां भगवान प्रथम दैवी संपदाका स्वरूप तथा दैवी संपत्तिका सारा भण्डार खोल, अर्जुनके सम्मुख रख कहते हैं, कि हे परम पवित्र भरतकुलमें उत्पन्न अर्जुन! सुन— इस भण्डारमें कैसे-कैसे अमूल्य रत्न भरेहुए हैं जिनके श्रवण करनेसे तेरे शरीररूप सरोवरके हृदयरूप कमलमें जो जीव रूप भ्रमर लुब्ध हो फँसरहा है वह एकबारगी छूटकर आनन्दके आकाशमें विहार करने लगजावेगा तथा अन्तःकरणरूप अँगीठीमें ज्ञानकी आग इस प्रकार भडक उठेगी, कि जिससे तेरा सारा मोहरूप वन जलकर भस्म होजावेगा फिर तो तू महाभारतका युद्ध सम्पादन करनेकेलिये उछलताहुआ वीरोंको वह ललकारा देगा जिसेस उनके हृदय दहल जावेंगे। जैसे प्रलयकालके समुद्रके उमडनेसे सारी पृथ्वी जलमयी देख पडती है ऐसे तेरे शरीरमें इस दैवी सम्पत्तिके उमडनेसे तेरी सारी व्यथारूप पृथ्वी डूबकर ऐसे गलजावेगी, कि जैसे

लवणका पर्वत सागरमें गलकर पानी२ होजाता है । जैसे मध्यान्हके सूर्य्यका प्रकाश शिरेपर पड़नेसे शरीरकी सारी छाया सिमटकर पैरोंके नीचे आजाती है ऐसे तेरे मस्तकपर इस आत्मज्ञानरूप सूर्य्यके प्रकाशित होनेसे तेरा सारा देहाभिमान तेरे तलवोंके नीचे सिमट जावेगा फिर तो तू परमानन्दको प्राप्त हो एकके स्थानमें सैकडों बाण प्रसन्नतापूर्वक छोडने लगजावेगा इसलिये हे वीर ! तू इस दैवी सम्पदा-रूप गृहमें गडेहुए रत्नोंके नाम श्रवण कर। तू तो ऐसे पवित्र भरतकुलमें उत्पन्न है जिसकी वंशावली इस दैवी सम्पत्ति द्वारा चिरकालसे आभूषित होती चली आरही है इस कारण यह दैवी सम्पत्ति तो कुलक्रमागत तेरी पैतृकसम्पत्ति (Herdetannight) है इसलिये तेरे शरीररूप भण्डारमें पहलेसे इसके सारे रत्न पडेहुए हैं मैं तो केवल निमित्तमात्र होकर तुझे इस सम्पत्तिका स्मरणमात्र करादेता हूं ले इसकी ओर देख और परमानन्दको प्राप्त होजा सुन ! [अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः] अभय, अन्तःकरणकी शुद्धि तथा ज्ञान और योगमें स्थिति ये भी दैवी सम्पदाके अन्तर्गत हैं ।

१. अभयम— निर्भय होना अर्थात् किसी अवस्थामें किसी प्रकार डरको हृदयमें प्रवेश न करनेदेना कहां२ कैसे निडर होना चाहिये? सो दिखलायाजाता है— जिस समय घोर बनमें जाकर भगवत्प्राप्ति निमित्त एकान्तसेवी हो, उस समय कन्दरानिवासी व्याघ्रादि क्रूर जीवोंका कुछ भी भय न करना। क्योंकि जो प्राणी सच्चे मनसे अपना सारा सर्वस्व त्याग भगवत्की प्राप्तिनिमित्त एकान्तसेवी होते हैं, उन्हें व्याघ्रादि क्रूर जीव नहीं सताते ।

जो कार्य वेदशास्त्रोंसे विहित और उचित है उसके करडालनेमें किसी भी संसारी उपद्रवोंका डर न करना उसे निर्भय होकर कर ही डालना। यह अभय इस दैवी सम्पदाका प्रथम और सबसे उत्तम रत्न है मानों २६ दैवी मणिकाओंकी मालाका यह सुमेरु है।

भगवान्ने जो सबसे पहले इस अभय पदका वर्णन किया इसका अभिप्राय यह है, कि यद्यपि अर्जुन दैवी सम्पत्तियोंका भण्डार है पर महाभारतके भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य इत्यादि वीरोंको युद्धमें उद्यत देख भयभीत होरहा है इसलिये उसे निर्भय करनेके तात्पर्यसे भगवान्ने सबसे पहले अभय पदका प्रयोग कर अर्जुनके हृदयमें युद्धका उत्साह बढादिया।

२. सत्वसंशुद्धिः— अन्तःकरणकी निर्मलताको कहते हैं। अर्थात् प्रपंच, कपट, छल, धूर्तता इत्यादि विकारोंसे रहित होकर व्यवहार करना। जैसे आश्विन मासमें आकाशके निर्मल होजानेसे चांदनीकी अनुपम छटा स्वच्छरूपसे देखनेमें आती है इसी प्रकार अन्तःकरणका मल, विक्षेप और आवरण हटजानेसे भगवत्स्वरूपकी सारी शोभा स्वच्छ देखनेमें आजाती है।

यदि शंका हो, कि अन्तःकरणपर केवल इस लघु मायाके आवरणसे सर्वव्यापक अत्यन्त महान् उस महाप्रभुका प्रकाशमान स्वरूप कैसे ढका जासकता है ? तो उत्तर यह है, कि आवरण शक्ति एक विशेष शक्ति है जो अन्तःकरणपर आपडनेसे निज विस्तीर्ण स्वरूपको इसी प्रकार आच्छादन करलेती है जैसे नेत्रके सम्मुख

एक तृणका ओट होजानेसे सारा पर्वत छिपजाता है । तहां वेदान्तका भी वचन यों है, कि " स्वल्पोऽपि मेघो बहुयोजनविस्तीर्णमादित्यमण्डलमवलोकयितृजननयनपथपिधायकतयाच्छादयतीव तथैवाज्ञानं परिच्छिन्नमपि आत्मानमपरिच्छिन्नमसंसारिणमवलोकयितृबुद्धिपिधायकतयाच्छादयतीव यादृशं सामर्थ्यम । "

अर्थ— जैसे छोटासा मेघ देखनेवालोंके नेत्रोंके मार्गको रोक कर बहुत विस्तृत * सूर्यमण्डलको ढकलेता है ऐसे यह परिच्छिन्न छोटीसी माया प्राणियोंके ज्ञानरूप नेत्रके मार्गको रोककर इस विस्तीर्ण निरवच्छिन्न आत्माको ढकलेती है यही आवरणकी सामर्थ्य है जो अन्तःकरणपर पडरही है इसी आवरणको ज्ञानद्वारा हटादेनेका नाम सत्वसंशुद्धि है। इसके हटजाने ही से अन्तःकरण निर्मल होजाता है ।

३. ज्ञानयोगव्यवस्थितिः— आत्मस्वरूपके पहचाननेको ज्ञान कहते हैं अथवा जिन २ विशेष उपायोंसे वा साधनोंसे आत्मसाक्षात्कार होता है उसे ज्ञान कहते हैं । तिन साधनोंके स्वरूपको अर्थात् ज्ञानके अंगोंको भगवान् तेरहवें अध्यायके श्लोक ७ से ११ तक अमानित्वसे तत्वज्ञानार्थदर्शन पर्य्यन्त कथन कर आये हैं सो ज्ञानका ही स्वरूप जानना । इस ज्ञानके प्राप्त होनेके पश्चात् जो चित्तवृत्तियोंको निरोध कर उस ज्ञानमें एकाग्रकरना है उसका नाम योग है एव-

* सूर्यमण्डल करोडों योजन लम्बा और चौडा है पर देखनेमें वितस्तमात्र अति लघु देखपडता है ।

प्रकार ज्ञान और योगमें जो निरन्तर निवास करना है अर्थात् तैल-धारावत् निरवच्छिन्न लगा रहना है उसी दशाको "ज्ञानयोगव्यव-स्थिति" कहते हैं। इस प्रकार ज्ञान और योगमें स्थित हो रहनेसे प्राणीको क्या लाभ होता है? सो श्रुति कहती है, कि "ॐ यस्तु विज्ञा-नवान् भवति युक्तेन मनसा सदा तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः" (कठो० अ०१ वल्ली ३ श्रु० ६)

अर्थ— जो सदा युक्त मनसे अर्थात् योगबल द्वारा मनको एकाग्रकर ज्ञानवान् होता है उसकी इन्द्रियां उसके वशमें ऐसे होजाती हैं जैसे रथ चलानेकी विद्यामें परम प्रवीण सारथीके सधे हुए घोडे उसके वशमें रहते हैं जिधर चाहता है लेजाता है और जहां चाहता है रोकलेता है। इसी प्रकार ज्ञानयोगव्यवस्थित चतुर आत्मज्ञानीकी इन्द्रियां उसके वशमें ऐसे रहती हैं, कि जिस कार्य्यमें चाहे उनको प्रवृत्त करे और जहांसे जब चाहे रोकलेवे। फिर तो कहना ही क्या है? जिसकी इन्द्रियां वशीभूत हैं वही सच्चा ज्ञानी सदा जीवन्मुक्त है इसी कारण भगवान‌ने इस ज्ञानयोगव्यवस्थितिको दैवी सम्पदामें वर्णन किया।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्याय-स्तप आर्जवम्**] दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, जप और आर्जव ये पांचों भी दैवी सम्पदाके ही अंग हैं। यहां इनका भी वर्णन विलग २ करदिया जाता है।

४. दानम्— अध्याय १० श्लोक ५ में वर्णन कर आये हैं देखलेना।

५. दम;— अध्याय १० श्लोक ५ में वर्णन होचुका है देख-लेना ।

६. यज्ञः— अध्याय १० श्लोक ५ में देखलेना ।

७. स्वाध्यायः— सुष्टु आवृत्य अध्यायः वेदाध्ययनमिति। सुकृतायावृत्य अध्यायोऽधीति स्वाध्यायः ।" ऋग्वेदादिका पठन आवृत्तिके साथ करना तथा ॐकारादि मन्त्रोंका जपना भी स्वाध्याय कहलाता है। फिर अपने २ इष्टदेवके मन्त्रोंको बार-बार स्मरण करनेको भी स्वाध्याय कहते हैं दूसरे शब्दमें इसीको जप भी कहते हैं । यह जप स्वाध्याय शब्दका पर्य्यायवाचक है (देखो अमरकोष २ । ७ । ४७)

तहां जप तीन प्रकारका है । प्रमाण—"त्रिविधो जपयज्ञः स्यात् तस्य भेदं निबोधत । वाचिकश्च उपांशुश्च मानसस्त्रिविधः स्मृतः" वाचिक, उपांशु और मानस ये तीन प्रकारके जप हैं तिनका भेद यों समझना— तहां विश्वामित्र कहते हैं, कि " यदुच्चनीचस्वरितैः शब्दैः स्पष्टपदाक्षरैः। मन्त्रमुच्चारयेद्वाचा वाचिकोऽयं जपः स्मृतः । शनै-रुच्चारयेन्मन्त्रमीषदोष्ठौ च चालयेत् । अपरैर्न श्रुतं किंचित्स उपांशुर्जपः स्मृतः ॥ धिया यदक्षरश्रेण्या वर्णाद्वर्णं पदात्पदम् । शब्दार्थचिन्तनाभ्यासः स उक्तो मानसो जपः ॥ "

अर्थ— विश्वामित्र कहते हैं, कि जो उच्च (उदात्त) नीच (अनुदात्त) और समानस्वर (स्वरित) इन तीनों स्वरोंके साथ

उच्चस्वरसे ऐसा उच्चारण किया जावे, कि दूसरेके कानतक शब्द पहुंचे ऐसे जपको वाचिकजप कहते हैं।

जो हौले२ होठोंको हिलातेहुए धीरे २ ऐसा उच्चारण कियाजावे, कि दूसरा न सुन सके उसे उपांशु कहते हैं और जो अक्षरसे अक्षर और पदसे पदको ध्यान करतेहुए अर्थात् जिस देवका जप हो उसकी मूर्त्तिका मनसे ध्यान करतेहुए अर्थकी चिन्ता कीजावे होठ और जिह्वा कुछ भी न हिले उसे मानसजप कहते हैं। फिर मनु कहते हैं, कि "विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः। उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः" (मनुः) विधियज्ञसे जपयज्ञ श्रेष्ठ हैं तहां वाचिकका दशगुण उपांशुका शतगुण और मानस जपका सहस्रगुण अधिक फल है।

फिर धर्मप्रवृत्तिनामक ग्रन्थमें लिखा है, कि "प्रातर्नाभौ करं कृत्वा मध्याह्ने हृदि संस्थितम्। सायं जपति नासाग्रे जपस्तु त्रिविधः स्मृतः"

अर्थ— प्रातःकाल नाभिके समीप, मध्यान्हकाल हृदयके समीप और सायंकाल नासाके आगे हाथ करके जप कियाजाता है। जपके ये ही तीन भेद हैं।

यदि मालापर जपना हो तो मालाके सुमेरु तक आकर लौट जाया करे और मणिकापर ध्यान रखे, कि मालाकी मणिकाओंमें अँगुलियोंके नख न लगने पावें। "अंगुल्यग्रेण यज्जप्तं यज्जप्तं

मेरुलंघनम् । उन्मनस्केन यज्जप्तं तत्सर्वं निष्फलं भवेत् " अर्थात् अंगुलीके अग्रभागसे जो जप कियाजाता है, मालाके सुमेरुको लांघकर जो जप कियाजाता है और चंचल मन रहते जो जप कियाजाता है सब निष्फल होता है।

यदि किसी मन्त्रका मालाके अभावमें केवल अंगुलियों ही पर जप करना होवे तो इस विधिसे करे—" आरभ्यानामिकामध्यं पर्वाण्युक्तान्यनुक्रमात् । तर्ज्जनीमूलपर्य्यन्तं जपेद्दशसु पर्वसु " (गायत्रीकल्पे) गायत्री कल्पमें लिखा है, कि यदि दश ही बार गायत्री जप करनेकी इच्छा हो तो अनामिकाके बिचले गांठसे आरम्भ करे उसी अनामिकाकी जडकी ओरसे एक दो गिनता हुआ कनिष्ठिकाकी जडसे होता हुआ ऊपरकी ओर कनिष्ठिकाके ऊपरवाले पोरसे ऊपर ही ऊपरवाले पोरों पर होताहुआ मध्यमाके पोरपर जब आवे तो मध्यमाके नीचले दोनों गांठों तक होताहुआ तर्जनीकी जड तक दश बार जपकर समाप्त करदेवे तत्पश्चात् मूंठी बांध अंगूठा आगे निकाल एकबारे गायत्री दक्षिणाके हेतु जपे । एवम्प्रकार नित्य ११ मन्त्र जप लेनेसे जपकी सिद्धि होजाती है।

८. तपः— देखो अध्या० १० श्लो० ५में ।

९. आर्जवम्— (देखो अ० १३ श्लो० ७ में) उक्त नव प्रकारकी दैवी सम्पत्तियोंको कहकर अब भगवान् कहते हैं, कि

[अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्] अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति और अपैशुन ये भी दैवी सम्पदाके अन्तर्गत हैं।

१०. अहिंसा*— इसका वर्णन अ० १३ श्लो० ८ में देखो।

११. सत्यम्— जो कुछ अपनी आंखोंसे देखा हो, कानोंसे सुना हो, गुरु वा शास्त्रद्वारा जाना हो उसे ज्योंका त्यों कहदेना और किसी अभियोगमें साक्षी होनेपर न्यायकर्त्ताके सम्मुख याथातथ्य कहदेना सत्य कहाजाता है पर सत्य बोलनेवालोंको इतना तो अवश्य ध्यान रखना चाहिये, कि वह सत्यवचन कठोर और अप्रिय न हो, ऐसा सत्य भी न बोले जिससे परायेकी हिंसा होती हो वा उसका सर्वनाश होता हो पर यह भी ध्यान रखे, कि मिथ्या न बोले प्रमाण— " सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्। प्रियञ्च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥ भद्रं भद्रमितिब्रूयाद्भद्रमित्येव वा वदेत। शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात् केनचित्सह " (मनु० अ० ४ श्लो० १३८, १३९).

अर्थ— सच बोलो, पर प्रिय बोलो जो सच अप्रिय हो सुननेसे किसी प्राणीको बुरा लगे ऐसा मत बोलो। जैसे किसी अधिक भोजन करनेवालेको दो प्रकारसे बोलसकते हैं एक तो यों कहा, कि भाईसाहब! आपकी जठराग्नि अधिक प्रबल है इस कारण साधारण पुरुषोंसे आपको कुछ अधिक भोजन करनेमें आजाता है पर जहां तक संभव हो कम भोजन करना चाहिये जिससे किसी प्रकारका रोग उत्पन्न न हो यह तो सच भी कहना हुआ और प्रिय भी हुआ पर यदि इतनी ही बातको यों बोले, कि भाई! तुम तो बडे पेटू हो डेढ सेर भसक लिया करते

* इसका पूर्ण व्याख्यान हंसनाद २ भागमें देखो।

हो ऐसा करोगे तो मर जाओगे। यह बात सच तो हुई पर कठोरता लिये हुई और अप्रिय हुई। इसी कारण मनु कहते हैं, कि अप्रिय एवं कठोर सच मत बोलो। पर प्रिय बोलनेवालेको भी यह ध्यान रखना चाहिये, कि प्रिय तो हो पर मिथ्या न हो जैसे बहुतेरे प्राणी किसी धनवानको उससे धन प्राप्त करनेकी आशासे कह बैठते हैं, कि आप तो साक्षात ईश्वर हैं पृथ्वीमण्डलमें आपसा दाता कोई नहीं हुआ यह वचन प्रिय तो अवश्य है पर झूठा वचन है इसी कारण मनु कहते हैं, कि "**प्रियञ्च नानृतम्**" प्रिय तो हो पर झूठा न हो।

अब कहते हैं, कि जब बोले तब 'भद्र' अर्थात् कल्याण-कारक वचन बोले। यदि कोई अमंगल भी हो तो उसे मंगल करके बोले जैसे कोई पुरुष मृत्युको प्राप्त होगया तो कहे, कि अमुक प्राणीका स्वर्गवास होगया वा परमपद होगया ऐसा कदापि न कहे, कि अच्छा हुआ उसका सर्वनाश होगया मर गया आगमें फूंकदिया गया। फिर बिना प्रयोजन वैर विरोध बढानेवाला रूखा कठोर जिसीतिसीके साथ न बोलाकरे चाहे कैसा भी सच बोलनेवाला हो तो वार्त्ता भी सच्ची बोले पर रूखा सूखा कठोर, अप्रिय एवं दुःखदायी वचन कभी न बोले जब बोले तब प्रिय बोले। चतुर विद्वान मृदुलस्वभाव-वालेका सच बोलना कभी कठोर नहीं होगा जब होगा तब प्रिय होगा।

सच बोलनेका क्या फल है? सो पतञ्जलि कहते हैं— "**सत्य-प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्**" (पाद २ सू० ३६) अर्थात्

सदा सत्य बोलनेमें क्रियाके फलका आश्रयत्व है तात्पर्य यह है, कि जो प्राणी सदा सच बोलनेवाला है वह जो कुछ क्रिया किसी कामनासे करेगा उसकी कामनाकी सफलता अवश्य होगी चाहे वह कामना लौकिक हो वा पारलौकिक। इसी कारण श्रीआनन्दकन्द कृष्णचन्द्रने इस सत्यकी गणना दैवी सम्पदामें की है।

१२. अक्रोधः— जो कोई अन्य अपने साथ किसी प्रकारकी बुराई करे चाहे सहस्रों गालियां क्यों न देदेवे पर प्राणी इतना कष्ट पानेपर भी क्रोध न करे तथा आंख और मुखका लाल होआना, शरीरका कांपने लगना ऐसे जो क्रोधके चिन्ह हैं इनमें एक भी जिसमें न पाया जावे उसे ' अक्रोध ' कहते हैं। भृगुने विष्णु भगवानकी छातीमें लात मारी पर विष्णुको तनक भी क्षोभ न हुआ इसी कारण भगवान इस अक्रोधकी सात्विक सम्पदामें गणना करते हैं।

१३. त्यागः— सर्वप्रकारके कर्मोंके फलोंका विसर्जन करदेना अर्थात् सहस्रों अश्वमेध कर इन्द्रलोकके सुखोंकी प्राप्तिका अधिकार क्यों न हुआ हो, सब देवगण मिल सम्मुख खडे हो दोनों हाथ जोडे इन्द्रकी गद्दीपर बिठानेकी प्रार्थना क्यों न कररहे हों तथापि जो प्राणी एक क्षणमात्र भी उसपर बैठनेकी इच्छा न करे इनकी ओर तनक भी न देखे वही सच्चा त्यागी है और इसीको सच्चा त्याग कहते हैं। जैसे स्वप्नके टूटजानेसे सारे स्वप्नके गन्धर्वनगरका त्याग होजाता है, जैसे चित्रपटके जलादेनेसे उस चित्रके नीले पीले रंग तथा टेढी सीधी लकीरें अथवा उसके पशु पक्षी सब भस्म होजाते हैं इसी

प्रकार देहाभिमानको त्यागदेनेसे सारी सृष्टिका त्याग होजाता है इस कारण देहाभिमानका त्याग ही यथार्थ त्याग है ।

१४. शान्तिः— अन्तःकरणका उपशम होना अर्थात् नाना प्रकारके विकारोंसे राग, द्वेष, हानि, लाभ, मान, अपमान, सुख, दुःख इत्यादि मायाकृत झंझटोंके कारण जो मन बुद्धि इत्यादि अन्तःकरणमें डावांडोलकी दुर्दशा बनी रहती है मारे चञ्चलताके अन्तःकरण सदा चिन्तित रहता है इस चिन्तासे वा हर्ष तथा शोकसे अन्तःकरणको इस प्रकारे शान्त रखना जैसे दीपककी लौ निर्वातस्थानमें कंपसे रहित हो स्थिर रहती है । इसी कारण विषयोंसे इन्द्रियोंके उपराम, चित्तवृत्तियोंके शमन, कामक्रोधादि विकारोंके एक बारगी मिटजाने तथा तृष्णादिके क्षय होजानेका नाम शान्ति है । "**यत्किञ्चिद्वस्तु संप्राप्य स्वल्पं वा यदि वा बहु। या तुष्टिर्जायते चित्ते शान्तिः सा गद्यते बुधैः**" (ब्रह्मपुराणे क्रियायोगसारे १५ अध्याये)

अर्थ— जो कुछ थोडा वा बहुत प्राप्त होनेसे चित्तमें सन्तुष्टता उत्पन्न होजाती है उसे भी शान्ति कहते हैं । यह तो सामान्य शान्तिका वर्णन कियागया पर यथार्थ शान्ति उसे कहते हैं, कि जब ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय ध्यान, ध्याता और ध्येय, कर्त्ता, क्रिया और कर्म इस त्रिपुटीका नाश होकर अन्तःकरणमात्र स्थिर रहजावे तनक भी किसी प्रकारके संकल्पके धक्केसे कम्पायमान न हो तो उसे सच्ची शान्ति कहते हैं ।

१५. अपैशुनम्— किसी पुरुषके पीठपीछे उसके दोषोंका प्रकट करना अपैशुन कहाजाता है। जो प्राणी क्रूर तथा निन्दकस्वभाव

वाले हैं वे परायेके दोषोंको बिना पूछेताछे सर्वसाधारणकी मण्डलीमें प्रकट कियाकरते हैं जबतक वे ऐसा न करें तबतक उनका पेट ऐसे फूलता रहता है जैसे जलोदररोगवालेका पेट अथवा वर्षाकाल का मेंडक। ऐसे प्राणीको बिना परायेके दोषोंके प्रकट किये रात्रिको नींद नहीं आती उन ही को क्रूर, दुष्ट और निन्दक कहना चाहिये और जो प्राणी उत्तम श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न हैं सदा सज्जनोंके संग निवास करते चले आये हैं जिन्होंने गुरुद्वारा अच्छी विद्या प्राप्त की है उनमें यह पिशुनता नहीं होती वरु उनका हृदय और उदर सागरके समान इतना गम्भीर होता है, कि यदि कोई उनके मुखसे परायेका दोष प्रकट कराना भी चाहै तथापि वे ऐसा नहीं करते।

अब भगवान कहते हैं, कि [**दयाभूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्**] अर्थात जीवोंपर दया, अलोलुप्त्व, मार्दव, ह्री और अचापल ये सब भी दैवी भण्डारकी ही सम्पत्तियां हैं। पाठकोंके कल्याण निमित्त विलग-विलग करे इनका वर्णन करदिया जाता है।

१६. दया— जीवोंपरे करुणा कर उनकी आवश्यकतानुसार उनकी सहायत्ता करनेके लिये अन्तःकरणसे चेष्टा करना। "**यत्नादपि परक्लेशहर्तुर्या हृदि जायते। इच्छा भूमिसुरश्रेष्ठ सा दया परिकीर्तिता**" (क्रियायोगसारे)

अर्थ— नाना प्रकारके यत्नोंको करके भी परायेके क्लेश हरनेकी जो इच्छा हृदयमें उत्पन्न होती है उसीको हे सुरश्रेष्ठ!

दयाके नामसे पुकारते हैं। फिर पद्मपुराणका वचन है, कि " आत्मवत्सर्वभूतेषु यो हिताय शुभाय च। वर्तते सततं हृष्टः क्रिया ह्येषा दया स्मृता " सदा आनन्दपूर्वक प्रसन्न-मनसे अपने आत्माके समान जो सब भूतोंके हित और शुभ करनेके लिये सदा वर्त्तमान रहता है ऐसी क्रियाको दया कहते हैं। दया करनेवालोंको चाहिये, कि जाति, गुण, सम्बन्ध इत्यादिके बिना विचारे दया करें।

१७. **अलोलुप्त्वम्**— विषयोंके सम्मुख होनेपर भी जिसकी इन्द्रियां चंचल न हों चाहे इन्द्रकी अप्सरा भी सम्मुख क्यों न आजावे पर उसे भी देखकरे शुकदेवके समान जो अपनी इन्द्रियोंको वशीभूत रखेहुए तिरस्कार करदेवे इन्द्रियोंपर जिसका प्रभाव तनक भी न पडे उसीको **अलोलुप्त्व** कहते हैं।

१८. **मार्दवम्**— कोमलताको कहते हैं मनसे, वचनसे, कर्मसे, स्वभावसे और व्यवहारेसे सदा कोमल रेहना मार्दव कहलाता है। बाल, युवा, वृद्ध, पुरुष, स्त्री, शत्रु, मित्र इत्यादिके साथ जो सर्वप्रकार क्रूरताको त्याग मधुरवाणी बोलकर उनको प्रसन्न करलेता है और परुष-वचनको त्याग देता है फिरे यदि कोई उसके साथ शास्त्रार्थ इत्यादिमें व्यर्थ जल्प वितंडावादोंको कर उसे दबाना चाहेता है तो भी वह कठोर वचन उच्चारण न करके कोमल वचनोंसे उचित उत्तरे देदेता है ऐसे प्राणीको मृदुल स्वभाववाला कहना चाहिये। यही प्राणी इस दैवी भांडारकी इस मार्दवरूप उत्तम संपत्तिका भोगनेवाला है। जैसे मक्खन कोमल होता है ऐसे जिनके वचन कोमल हों तथा जैसे मखमल रुई छूनेमें कोमल है ऐसे जिसकी समीपतारूप स्पर्श अत्यन्त कोमल हो,

जैसे माता पिता अपने लडकोंके साथ, पुरुष अपनी स्त्रीके साथ और मित्र मित्रके साथ कोमल व्यवहार रखते हैं ऐसे संपूर्ण जगत्के प्राणियोंके साथ जो कोमलताका व्यवहार रख मार्दवका मोती बनाकर अपने हृदयरूप नासिकाको भूषित करता है, चारों ओर हाथ फिरानेसे जैसे आकाश तनक भी नहीं रोकता मारे कोमलताके अवकाश देदेता है इसी प्रकार जिसके व्यवहाररूप आकाशमें चारों ओर फिरनेसे किसी प्राणीको किसी प्रकारकी रुकावट नहीं होती इसीको मार्दव संपत्तिवाला कहते हैं ।

१६. ह्रीः— लज्जाको कहते हैं । जैसे किसी महापुरुषमें किसी प्रकारेका कलंक लगादेनेसे इतनी लज्जा होती है, कि उसे शरीर त्याग देनेकी इच्छा होजाती है ऐसे बुरे कर्मोंसे लज्जा करना ह्री कहलाती है । जैसे लजौनीकी पत्ती तनक अंगुलीके स्पर्श होते ही लज्जित हो सिकुड जाती है, जैसे अज्ञात चांडालके हाथका पानी पी लेनेसे पीछे ब्राह्मणको लज्जा आती है, जैसे नग्न स्त्री किसी पुरुषको देख लजा जाती है, जैसे कोई वीर युद्धमें वा पंडित शास्त्रार्थमें हार जानेसे लज्जित होता है, जैसे पुत्र पिताको दुर्वचन कहकर लज्जित होजाता है, जैसे कुलबधू अपने श्वशुरादि गुरुजनोंको देख लज्जित हो घूँघट करलेती है और जैसे संन्यासी मद्य पीताहुआ देखाजानेपर लज्जित होजाता है ऐसे अपने कुल, अपनी मर्य्यादा, अपना यश और अपने पुरुषार्थके खोजानेसे कुलीन पुरुष लज्जित होजाता है इसी प्रकार बुरे कामोंसे तथा विषयभोगादि नीचव्यवहारोंसे और शास्त्रविरुद्धकर्मोंके करनेसे लज्जित होनेका नाम ह्री है ।

२०. अचापलम्— चञ्चल नहीं होना । विना प्रयोजन वचन नहीं बोलना तथा हाथ पांव न हिलाना वा किसी अन्य प्रकार से चंचलताको न प्राप्त होना। किसी प्रकारके व्यवहारमें चंचलता को न आनेदेना क्योंकि जिस प्राणीका स्वभाव चपल होता है उससे किसी कार्यकी पूर्ति नहीं होसकती । चंचल स्वभाववाले मार्गमें चलकर फिसलकर गिरजाते हैं इनका लक्ष्य कभी भी स्थिर नहीं रहसकता। पारद जैसे चपलताके कारण किसी स्थानपर स्थिर नहीं रहसकता ऐसे चपल मनुष्य कहीं भी स्थिर न रहकर बेलसे बबूलके नीचे और बबूलसे बेलके नीचे मारा २ फिरता है कोई भी उसका विश्वास नहीं करता । संसृतिकार्योंको तो चपलता नाश कर ही देती है पर यही परलोकके बिगाडडालनेका भी कारण है। क्योंकि चंचलस्वभाव वाला किसी धर्मपर आरूढ न रहकर कभी दयानन्दी, कभी नानकशाही, कभी कबीरशाही, कभी दादूपन्थी, कभी दरियादासी इत्यादि धर्मोंमें मारा २ फिरता है इसी कारण कहीं उसका ठिकाना नहीं लगता। ऐसा प्राणी भगवत्स्वरूपको कदापि प्राप्त नहीं होसकता । एवम्प्रकार जब वह किसी भी धर्मके अनुकूल स्थिर न रहा तो उसका कौन होवे ?।

अब भगवान कहते हैं, कि इन बीस अंगोंके अतिरिक्त ६ और हैं जिनकी गणना भी दैवी भण्डारकी सम्पत्तिमें है वे कौन हैं ? सो सुन ! [**तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता**] तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह और नातिमानिता ये ६

भी दैवी सम्पदामें गिनेजाते हैं अब इनका बिलग-बिलग वर्णन कियाजाता है ।

२१. तेजः— इसको प्रगल्भताके नामसे भी पुकारते हैं जिस स्वरूपके देखने मात्रसे सब छोटे-बडोंपर ऐसा अद्भुत प्रभाव पडे, कि वह जिधर चाहें उधर अँगुलीके हिलानेसे सैकडोंको दायेंसे बायें करदेवे तथा धनवानसे दरिद्र और दरिद्रसे धनवान् करदेवे ऐसी विशेष शक्तिवालेका नाम तेजस्वी है । ऐसा तेजस्वी जिधर जाता है उधर ही बहुतेरे पुरुष उसके आगे-पीछे हाथ बांधे खडे उसकी आज्ञाके प्रतिपालनमें तत्पर रहते हैं । ऐसे पुरुषके देखने ही से यथार्थ तेजका अनुभव होता है । यह तेज तो आत्मिक बल है जिस प्राणीने आत्मज्ञान द्वारा अथवा योगसाधन द्वारा तथा भगवत्की अनन्य-भक्ति द्वारा आत्मिक बल प्राप्त कररखा है वह चाहे अष्टावक्रके समान आठ स्थानसे टेढा क्यों न हो पर आत्मिक बल द्वारा सारे संसारसे माननीय और पूज्य बनजाता है । इसीको तेज कहते हैं । तेजस्वीको लघु नहीं जानना चाहिये । जनकपुरकी सखियोंने श्रीरामचन्द्रजीको देखकर जनकपत्नीसे कहा है, कि " **तेजवन्त लघु गनिय न रानी** " हे रानी ! श्रीरामचन्द्रजी यद्यपि लघु बालक देखपडते हैं पर ये बडे तेजस्वी हैं अतः तेजके लिये मोटे पतले, छोटे बडे, गोरे कालेकी अपेक्षा नहीं है शरीर कैसा भी क्यों न हो पर तेज तो आत्मासे सम्बन्ध रखता है अतः ये अवश्य शिवधनुष को टुकडे २ करडालेंगे इनको छोटा करके नहीं गिनना चाहिये । " **मन्त्र परम लघु जासु वश विधि हरि हर सुर सर्व । महा**

मत्त गजराज कहँ वश करे अंकुश खर्व ॥ " गोस्वामी तुलसी-दासजी इस दोहासे यह प्रकट करते हैं, कि तेजस्वीको छोटा नहीं गिनना चाहिये देखो ! मन्त्र दो ही चार अक्षरका बहुत ही छोटा होता है पर ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा सब देवताओंको अपने वश कर रखता है जहां चाहता है इनको बुला लेता है। फिर देखो ! अंकुश देखनेमें छोटा है पर अपने तेज अर्थात् तीक्ष्ण धारके कारण बहुत विशाल हाथीको अपने वशमें रखता है।

मुख्य अभिप्राय इन दृष्टान्तोंसे यह है, कि तेज एक आत्मिक बल है जो छोटेसे छोटे शरीरमें भी होनेसे सब छोटे-बडोंपर अपना पूर्ण प्रभाव रखता है।

२२. **क्षमा**— इसका वर्णन अ० १३ श्लो० ७में होचुका है। क्योंकि इसी क्षमाको दूसरे शब्दमें शान्ति भी कहा है।

२३. **धृतिः**— इसका वर्णन अ० १३ श्लो० ६ में होचुका है।

२४. **शौचम्**— इसका वर्णन अ० १३ श्लो० ७ में होचुका है।

२५. **अद्रोहः**— परायेके अनिष्ट करनेकी इच्छा न रखना। यदि मायाके झकोडोंमें आकर कभी प्राणीके मनमें द्वेषके कारण कुछ बिगाडनेकी इच्छा भी होजावे तो उसे अपनी प्रबल सात्विक-बुद्धिसे त्याग कर देवे कभी अपकार न करे ऐसी चित्तवृत्तिको अद्रोह कहते हैं।

२६. नातिमानिता— प्राणी स्वयं चाहे कैसा भी अद्वितीय विद्वान् क्यों न हो अर्थात् गुरु द्वारा संपूर्ण वेद शास्त्रोंको समाप्त कर सर्वविद्यासंपन्न क्यों न होगया हो, विपुलबलशाली युद्धमें क्यों न होगया हो, धनमें कुवेरके समान क्यों न होगया हो और महात्माओंमें शंकरके समान क्यों न होगया हो पर इतने गुणसंपन्न होनेपर भी तनक अपने मान तथा पूज्य होनेकी इच्छा न करे सदा सबके साथ नम्रभावसे रहे अपनेको तृणके समान समझता रहे ऐसी दशाको **नातिमानिता** कहते हैं।

अब उक्त प्रकार २६ तत्वोंकी गणना कर भगवान् कहते हैं, कि [**भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत !**] हे भरतवंशोत्पन्न अर्जुन ! ये जो अभयसे लेकर नातिमानता तक २६ विशेष गुण कहे गये ये सब दैवी संपदामें उत्पन्न होनेवालेके साथ होते हैं।

भगवानके कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि अभयसे लेकर नातिमानता तककी गणना दैवी संपदामें है और यह उन ही पुरुषोंमें होती है जो पूर्वजन्मार्जित पुण्यके उदयसे पवित्र कुलमें उत्पन्न होते हैं। सो भगवान् पहले कह आये हैं, कि " **तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम्** " (अ० ६ श्लो० ४३) पूर्वजन्मके संस्कारानुसार प्राणी दैवी सम्पदावाली बुद्धिको प्राप्त होता है।

प्रमाण श्रुतिः— " **ॐ तद्य इह रमणीयाचरणा अभ्यासो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्** " (छां० प्रपा० ५ खं० १० श्रु० ७)

अर्थ— तहां जो इस लोकमें पूर्वजन्मकी शरीरयात्रामें शुभ आचरणोंका अभ्यास करनेवाला है सो प्रसिद्ध उत्तम योनियोंको प्राप्त होता है अर्थात् दैवी सम्पदासे विभूषित शरीरको पाता है ॥ १, २, ३

पूर्वोक्त तीन श्लोकोंमें भगवानने सर्वविवेकी विद्वान पुरुषोंके ग्रहण करने योग्य दैवी संपदाका वर्णन कर अब अगले श्लोकमें संक्षिप्त कर आसुरी संपदाका वर्णन करते हैं—

मू०— दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानञ्चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥ ४

पदच्छेदः— [हे] **पार्थ !** (पृथापुत्रार्जुन !) **दम्भः** (धर्मध्वजित्वम् । धार्मिकतयात्मनः ख्यापनम्) **दर्पः** (धनविद्यादिनिमित्तेन परावमानहेतुगर्वविशेषः) **अभिमानः** (आत्मनि पूज्यताबुद्धिः । अहमेव ज्ञानी धार्मिकः अहमेव दानशूरः इत्यभिनिवेशः) **च, क्रोधः** (परापकारप्रवृत्तिहेतुर्नेत्रादिविकारलिंगोऽन्तःकरणस्य वृत्तिविशेषः) **पारुष्यम्** (परुषो निष्ठुरः प्रत्यक्षरूक्षवाक् तस्य भावः । निष्ठुरभाषणम्) **च, एव, अज्ञानम्** (अविवेकजनितो मिथ्याप्रत्ययः । कर्तव्याकर्तव्यादिविषयविवेकाभावः) [एते] **आसुरीम्** (राक्षसीम् । असुररमणहेतुभूतां रजस्तमोमयीम्) **सम्पदम्** (सम्पत्तिम्) **अभिजातस्य** (अभिलक्ष्योत्पन्नस्य) [भवन्ति] ॥ ४ ॥

पदार्थः— (**पार्थ !**) हे पृथाका पुत्र अर्जुन ! (**दम्भः**) धर्मध्वजी होना अर्थात् मिथ्या धर्मकी पताका उडाकर अपनेको प्रसिद्ध करनेकी अभिलाषा रखना (**दर्पः**) धन, कुल, विद्या इत्यादिका गर्व

करना (अभिमानः) अपने समान बुद्धिमान, गुणवान् तथा धनवान् किसी दूसरेको न जानना (च) और (क्रोधः) दूसरेके अपकार करनेके तात्पर्यसे आंख, भौं चढा अन्तःकरणको तथा मुखको विकृत करडालना (पारुष्यम्) कठोर वचन बोलना (च) और (एव) निश्चय करके (अज्ञानम्) कर्त्तव्य अकर्तव्यका विचार नहीं करना ये सब (आसुरीम्) राक्षसी (सम्पदम्) सम्पत्तिमें (अभिजातस्य) उत्पन्नहुए पुरुषको प्राप्त होते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ:— अब श्रीजगद्गुरु आनन्दकन्द कृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति आसुरी सम्पदाका वर्णन करते हुए कहते हैं, कि [**दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुषमेव च । अज्ञानञ्च**] दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य और अज्ञान ये छै विकार हैं जिनके द्वारा इस जगतकी अत्यन्त हानि होती है इनहीके कारण प्राणी नाना प्रकारके क्लेशोंको भोगता है, इनहीका संग होनेसे नरककी आगमें जलता है ये छओं राक्षसी सम्पदा हैं। तहां जैसे दैवी सम्पत्तिमें सबसे प्रथम अभय कह आये हैं ऐसे इस आसुरी सम्पत्तिमें सबसे पहला सब विकारोंमें अग्रसर यह दंभ एकबारगी धोखेकी टट्टी है यह टट्टी प्राणियोंको धोखेमें डाल अत्यन्त हानि पहुंचाती है क्योंकि इस दम्भका स्वरूप बाहरसे महाकारीके फलके समान देखनेमें अत्यन्त चिकना चुलबुला परम मनोहर अरुण रंगका भासता है पर भीतर विष ही विष भरा है। जैसे किसी स्वर्णके घडेमें बिष भरा हो ऐसे यह दम्भ बाहरसे सुहावना और भीतरसे विषैले सर्पके समान मर्मस्थानोंको डसनेवाला है। क्योंकि दम्भ जिस पुरुषमें पाया जाता है उसे धर्मध्वजके नामसे

पुकारते हैं जैसे कोई प्राणी किसी वार्त्ताके प्रकाश निमित्त एक ध्वजा लगादेता है, जैसे महाजाधिराजोंके महलोंके शृंगपर महाराजके होनेका चिन्ह (ध्वजा) लगादेते हैं ऐसे अपनेको परम धार्मिक, महात्मा, सिद्ध प्रसिद्ध करनेके लिये अपने द्वारपर धर्मकी ध्वजा लगा रखते हैं अर्थात् सारे शरीरमें चन्दन लपेट ललाटको बडे चौडे ऊर्ध्वपुण्ड्रसे भरदेते हैं और हजारा माला झोलीमें लेकर गलेमें बांध बडे निर्मल महापुरुष बनकर संसारको ठगनेमें तत्पर रहते हैं। अथवा एक पैसा नापितको देकर शिर मुंडा धेलेके गेरुआ रंगकरे निर्मल संन्यासी बन संसारको अपने वाग्जालके फन्देमें डाल अपनी पूजा करवाते फिरते हैं।

तात्पर्य यह है, कि बारहसे तो धर्मकी ध्वजा फहरावे और भीतरसे छल, कपट, प्रपञ्च और चतुराई कर कुमार्गमें तत्पर रहे ऐसे पुरुषको दम्भी वा धर्मध्वजी कहते हैं।

२. दर्पः— यह दर्प आसुरी सम्पदाका दूसरा अंग है अपने धन, विद्या, वल और रूप करके परायेका अपमान करनेका नाम दर्प है। जो मूर्ख है वह मारे दर्पके मोछोंपर ताव देता अपने धन, वल, रूप, यौवन इत्यादिसे उन्मत्त मतंगके समान वेदोंकी तथा ऋषि महर्षियोंकी निन्दा करता फिरता है वही दर्पवाला कहा जाता है इसका वर्णन पहले करआये हैं।

३. अभिमानः— अपनेमें पूज्य-बुद्धि होना और ऐसा समझना, कि मेरे समान ज्ञानी, धार्मिक और दानी अन्य कोई नहीं है

" मदग्रे कोऽपि नास्ति " यह वचन जिसका आभूषण है जैसे सुरापानकर मद्यपीको ऊंचा, नीचा कुछ भी नहीं सूझता ऐसे अभिमान रूप मद्यसे उन्मत्तको पिता, माता, गुरु, साधु, वेद वेदान्त इत्यादिकी कुछ भी परवा नहीं रहती मारे अहंकारके ऊंचा मस्तक किये दुःखी निरपराध जीवोंको पैरोंके तले कुचलता और दीनोंको खटमल और जूँके समान चुटकियोंसे मसलता और पीसता चलता है।

४. क्रोधः— इसका वर्णन इस ग्रन्थमें ठौर २ पर पहले होचुका है इसलिये यहां नहीं वर्णन किया गया यह तत्व सकल साधारणपर विख्यात है थोडा बहुत सब शरीरोंमें घर भी किये हुआ है इसलिये यहां अधिक वर्णनकी आवश्यकता नहीं है।

५. पारुष्यम्— परम कठोर एवं निठुर भाषण करनेको पारुष्य कहते हैं जैसे काकका वचन परम कठोर होता है कोई उसके वचनको नहीं सुनाना चाहता अपने समीपसे पत्थर फेंककर उडा ही देना चाहता है ऐसे कठोर भाषण करनेवालेके समीप कोई नहीं बैठता उससे दूरही रहना चाहता है।

वाङ्मयपाप अर्थात् वचनद्वारा जो पाप होता है उसके चार भेद तिथ्यादितत्वग्रन्थमें लिखे हैं— " पारुष्यमनृतञ्चैव पैशुन्यञ्चापि सर्वशः। असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् "

अर्थ— परुष (कठोरवचन) मिथ्याभाषण, पैशुन्य (परायेके दोषोंका प्रकट करना) और प्रलाप अर्थात् बिना सम्बन्धके प्रकरण विरुद्ध निरर्थक बकना ये चारों वाङ्मय दोष कहेजाते हैं।

जैसे विच्छुओंके डंक मारनेसे प्राणी व्याकुल होजाता है ऐसे दुष्टोंके कठोर वचनके डकोंके मारे हुएको परमक्लेश प्राप्त होता है इसकी औषधि केवल चुप रहकर सहलेना है गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं " बूँदअघात सहैं गिरि कैसे । खलके वचन सन्त सह जैसे " किसीने कहा है—" मुरखके मुख वामि है निकसत वचन भुअग । ताको औषध मौन है डसै न एकौ अंग " इस कारण बुद्धिमान और विवेकी पुरुषोंको उचित है, कि परुष वचनको त्याग मीठा वचन बोलें । किसी माहात्माने उपदेश किया है, कि " मीठो सबसे बोलिये सुख उपजे चहुँओर । वशीकरण यह मन्त्र है त्यागो वचन कठोर । "

आरासे चीरेहुएके दुःखसे अधिक दुःख वचनसे चीरेहूएको सहना पडता है। शस्त्रोंसे तो केवल स्थूल शरीरके ही टुकडे २ होते हैं पर वचनसे तो सूक्ष्म हृदय चूर २ होजाता है। कांजीकी खट्टापनसे तो दूध ही फटता है पर खट्टे वचनसे मन फट जाता है । कहांतक कहूं इन्द्रके वज्रसे तो केवल वृत्रासुर मारागयाथा पर इस वचनरूप वज्रसे सहस्रों प्रेमी मारेजाचुके हैं ।

६. अज्ञानम्— कर्तव्य अकर्तव्यका विचारे न रखना। जैसे अत्यन्त छोटे वालकको भले बुरेका बोध नहीं होता ऐसे जिस प्राणीको इस संसारके कार्य्योंमें तनक भी भले बुरेका विचार नहीं होता उसीको अज्ञानका भण्डार कहना चाहिये । यह अज्ञानता इस संसारमें बांधनेवाली अत्यन्त दृढ बेडी है। यह अज्ञानरूप कलन्दर (मदारी) जीवोंको वानरोंके समान द्वार २ नचाया करता है। यही अज्ञान है जो इस

संसारको नित्य और सत्य तथा उस परब्रह्म जगदीश्वरको अनित्य और मिथ्या समझता है । यही अज्ञान है जो माता पिता गुरुकी सेवासे वंचित कर लोलुप, लम्पट और भडुओंकी सेवा करवाता है । सागरका पार कोई करले तो करले पर अज्ञानताका कहीं भी वार-पार नहीं है ।

इसी अज्ञानने ज्ञानको ऐसे ढक लिया है जैसे सूर्य्यको मेघ । इसी अज्ञानके विषय भगवान् अ० ५ श्लो० १५ में कह आये हैं, कि "**अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः**" अज्ञानसे यह ज्ञान ढकाहुआ है इस कारण यह जीव मोहको प्राप्त होकर कर्तव्य और अकर्तव्यका विचार नहीं करता पुण्यको तिरस्कार कर पापाचरणमें मग्न रहता है । देखो यह अज्ञानी मूर्ख अपनी पतिव्रतधारणकरनेवाली सुन्दरीकी शय्याको शून्य रखकर महामलिन सहस्र पुरुषोंसे रमण करनेवाली पुँश्चलीके साथ विहार करता है परम स्वादु हवि तथा सुगन्धित पुष्प और फलोंको त्याग परम कुस्वादु, अखाद्य और दुर्गन्धयुक्त मद्य मांसका ग्रहण करता है ।

एवम्प्रकार दम्भसे लेकर अज्ञान पर्य्यन्त जो आसुरी सम्पदाके छै मुख्य अंग हैं ये किन प्राणियोंमें होते हैं ? उसे भगवान् कहते हैं, कि [**अभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्**] हे पृथापुत्र अर्जुन ! उक्त छै **दोष** आसुरी सम्पत्तिमें उत्पन्न होनेवालेके साथ होते हैं ।

मुख्य अभिप्राय भगवानके कहनेका यह है, कि गर्भमें प्रवेश करते समय पूर्वजन्मार्जित कर्मोंके अनुसार ही जन्म होनेवालोंको दैवी वा आसुरी संपदा प्राप्त होती है तदनुसार ही बुद्धिका भी लाभ

होता है। मूर्ख वा विद्वान् होनेका भी यही कारण है ॥ ४ ॥

अब भगवान् पिछले चार श्लोकोंमें वर्णन कीहुई दैवी और आसुरी दोनों संपत्तियोंके ग्रहण और त्यागका फल वर्णन करते हुए कहते हैं—

मू०— दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
माशुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पांडव ॥ ५ ॥

पदच्छेद:— दैवी संपत् (देवसम्बन्धिनी सात्विकी फलाभिसन्धिरहिता क्रिया। दिव्यसम्पत्तिः। सात्विकी विभूतिः) विमोक्षाय (संसारबन्धनविमोचनाय। कैवल्याय) आसुरी (असुरसम्बन्धिनी। शास्त्रनिषिद्धा। फलाभिसन्धिपूर्वा साहंकारा च राजसी तामसी क्रिया) निबन्धाय (नियतसंसारे बन्धनाय) मता (संमता। अभिप्रेता) [हे] पांडव ! (पांडुपुत्रार्जुन !) [त्वम्] दैवीम् (देवसम्बन्धिनीम्) सम्पदम् (सम्पत्तिम्। भूतिम्) अभिजातः (अभिलक्ष्योत्पन्नः) असि [तस्मात्] मा शुचः (अनुतापमाकार्षीः) ॥ ५ ॥

पदार्थ:— (दैवी सम्पत्) देवसम्बन्धिनी जो सात्विक सम्पत्ति है वह (विमोक्षाय) इस संसारबन्धनसे मोक्ष करदेनेके लिये है और (आसुरी) जो राक्षसी सम्पत्ति है वह (निबन्धाय) संसारबन्धनमें बांधदेनेकेलिये (मता) मानीगयी है (पांडव !) हे पांडुका पुत्र अर्जुन ! तू (दैवीसम्पदम्) देवसम्बन्धिनी सात्विक संपत्तिको (अभिजातः) लक्ष्यकर उत्पन्न (असि) है इस कारण

(मा शुचः) तू किसी प्रकारका शोच मत कर तेरा तो सर्वदा कल्याण ही होगा ॥ ५ ॥

भावार्थः— श्रीतमालश्यामलाकृतिकंजलोचन नरनारयणात्मक श्रीआनन्दकन्द कृष्णचन्द्रने पूर्वके चार श्लोकोंमें दैवी और आसुरी संपदाओंका वर्णन करे इस पांचवें श्लोकमें उन ही दोनों संपदाओंमें उत्पन्न हुए प्राणियोंकी क्या भिन्न२ गति होती हैं? उन्हें स्पष्टरूपसे अर्जुनके प्रति जनादेनेके तात्पर्यसे कहते हैं, कि [**दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता**] दैवी सम्पदा मोक्ष करदेनेकेलिये है और आसुरी सम्पत्ति संसारमें बांधदेनेवाली मानी गयी है । अर्थात जो प्राणी अपने पूर्वजन्मार्जित उत्तम कर्मोंके फलोंके उदय होनेसे सात्विक वासनाओंके प्रकट होते हुए इस संसारमें जन्म पाता है उसमें अर्थात अभय, सत्वसंशुद्धि, ज्ञानयोगव्यवस्थिति, दान, दम इत्यादि जो २६ दैवी सम्पत्तियां पूर्वमें वर्णन कीगयी हैं ये सबकी सब होती हैं और उस भाग्यवान पुरुषको ये सम्पत्तियां अवश्य संसारबन्धनसे छुडाकर कैवल्यपरमपदको लाभ करादेती हैं । क्योंकि इन सम्पत्तियोंमें यही विशेषताहै, कि बलात्कार प्राणीके अन्तःकरणको स्वच्छकर भगवत्स्वरूपकी ओर खैंचलेजाती हैं ये सम्पत्तियां सर्वसाधारण प्राणियोंको नहीं प्राप्त होतीं जिन्हें प्राप्त होती हैं उनके विषय भगवानने पहले ही कहा है, कि " शुचीनां श्रीमतां गेहे " " अथवा योगिनामेव " (अ० ६ श्लो० ४१, ४२) अर्थात दैवी सम्पत्तिवाले पवित्र धनवानोंके कुलमें अथवा योगियोंके कुलमें उत्पन्न होते हैं क्योंकि ऐसे स्थानोंमें जन्म लेना सुलभ नहीं है। भगवान स्वयं कह आये हैं, कि " एतद्धि

दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् " (अ० ६ श्लो० ४३) इस प्रकारका जन्म इस संसारमें निश्चय करके दुर्लभ है उन्हींको ऐसा जन्म प्राप्त होता है जिन्होंने पूर्व अनेक जन्मोंमें लोहेके चने चबाये हैं खड्गकी तीक्ष्ण धारपर चलचुके हैं, शीश काटकर गुरुदेवके चरणोंपर रखचुके हैं, सप्तजिह्वा अग्निकी ज्वालाओंसे धधकते हुए अग्निकुण्डमें आनन्दपूर्वक बिना क्लेश कूद पडे हैं, अपने हृदयको तीक्ष्ण बाणोंसे छिदवाते हुए तनक भी आह नहीं की है और हिमालयके हिममें जिन्होंने अपने शरीरको गलादेनेमें तनक भी आलस्य नहीं किया है ऐसे ही वीर इस दैवी सम्पदाको लिये हुए परम तपस्विनी माताओंके गर्भसे प्रकट सात पूर्व और सात पर पुरुषाओंको तार देते हैं ऐसे दिव्यसम्पत्तिवालोंका कहना ही क्या है ।

अब भगवान् कहते हैं, कि " निबन्धायासुरी मता " आसुरी सम्पदा संसारमें बांधदेनेके लिये मानी गयी है । अर्थात् चौथे श्लोकमें दम्भसे लेकर अज्ञान पर्य्यन्त जो विशेष अंग आसुरी सम्पदाके मानेगये हैं वे हठात् प्राणीको खैंचकर इस संसारमें इस प्रकार बांध-डालते हैं जैसे किसी अपराधीको मुश्कें बांध हाथ पांवमें बेडी डाल एक बहुत बडे दृढ खम्भेमें रस्सोंसे बांधडालते हैं जिसका स्वयं खोलना नहीं बन सकता । अथवा जैसे कोई नेत्रहीन किसी वनमें अकस्मात् जापडे तो इधर-उधर भटकता कांटोंमें फँसता गडहोंमें गिरता पत्थरोंकी चोट खाता चिल्लाता फिरता है इसी प्रकर इस आसुरी सम्पदाकी पट्टी जिस प्राणीकी आंखपर बांधीगयी वह संसाररूप निर्जन-वनमें भटकता हुआ दुःख पाता है ।

इतना सुन अर्जुनका मुख मारे चिन्ताके सूखगया और मन ही मन विचारने लगा, कि यदि कहीं आसुरी सम्पत्तियां मेरे सम्मुख आगयीं हों और मेरे हाथोंसे अपने सम्बन्धियोंका शीश कटवानेको उद्यत होगई हों तो भगवान्‌के वचनानुसार मेरा भी कहीं ठिकाना नहीं लगेगा मैं भी सहस्रों जन्मोंमें भटका-भटका फिरूंगा।

सबोंके हृदयकी जाननेवाले श्रीआनन्दकन्द अर्जुनके हृदयकी गति जान बड़ी गम्भीर दृष्टिसे मन्द-मन्द मुसकरातेहुए अर्जुनके मुखकी ओर देख बोले **[मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पांडव !]** हे पाण्डुपुत्र अर्जुन ! तू किसी प्रकारका शोच मत कर ! क्योंकि तू तो दैवी सम्पदामें उत्पन्न हुआ है तेरा तो सर्व-प्रकार कल्याण ही है और होगा।

इस श्लोकमें 'पाण्डव' कहकर पुकारनेका विशेष अभिप्राय यही है, कि महाराज पांडु साक्षात् राजर्षियोंमें गिनेजाते हैं तो इसमें तनक भी सन्देह नहीं रहा, कि महाराज पाण्डु पवित्र श्रीमान् और योगी भी हैं ऐसे पुरुषके घरमें जन्म लेनेसे प्राणी अवश्य दैवी सम्पदावाला कहा ही जावेगा। सो अर्जुन पाण्डु ऐसे पवित्र धनवान् और योगी का पुत्र है फिर इसका पूर्वजन्म में योगी होना सिद्ध है जब पूर्व-जन्मका योगी है तो अवश्य इस वर्त्तमान जन्मके समय उसकी पूर्व-जन्मार्जित शुभ वासनाएं सम्मुख आकर उसे दैवी सम्पदा प्रदान कर ही देवेंगी। इसी कारण भगवान् अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि हे पांडव ! तू दैवी सम्पत्तिवाला है किसी प्रकारका शोच मत कर ! तेरा तो सर्वप्रकार कल्याण ही होगा ॥ ५ ॥

शास्त्रोंमें दैवी, मानुषी और आसुरी तीन भिन्न-भिन्न सम्पत्तियां कहीगयी हैं पर भगवान्‌ने पूर्व श्लोकमें केवल दैवी और आसुरी दो ही सम्पत्तियोंका वर्णन किया तहां मानुषी सम्पत्तिकी गणना दैवी सम्पदामें कीजावेगी वा आसुरीमें ? इसी विषयको परिष्कार करनेके अर्थ श्रीसच्चिदानन्द कृष्णचन्द्र अगले श्लोकमें यों कहते हैं—

मू०—द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६॥

पदच्छेदः— [हे] पार्थ! (पृथापुत्रार्जुन !) **अस्मिन् लोके** (संसारे) **द्वौ** (द्विसंख्याकौ) **एव, भूतसर्गौ** (प्राणिमात्राणां जन्मप्रकारौ । भूतानां स्वभावौ) **दैवः** (देवसर्गः) **च** (तथा) **आसुरः** (असुरसर्गः) **दैवः, विस्तरशः** (अभयं सत्वसंशुद्धिः इत्यादिना विस्तरतया) **प्रोक्तः** (कथितः) **आसुरम्** (असुरसर्गम्) **मे** (मत्तः) **शृणु** (आकर्णय) ॥ ६ ॥

पदार्थः— (**पार्थ !**) हे पृथाका पुत्र अर्जुन ! (**अस्मिन् लोके**) इस संसारमें (**भूतसर्गौ**) भूतोंकी सृष्टि (**द्वौ एव**) निश्चय कर दो प्रकारकी हैं जो (**दैवः**) देवसृष्टि (**च**) और (**आसुरः**) असुरसृष्टिके नामसे प्रसिद्ध हैं इन दोनोंमें (**दैवः**) देवसृष्टि तो (**विस्तरशः**) अभय, सत्वसंशुद्धि इत्यादि २६ अंग करके विस्तार पूर्वक (**प्रोक्तः**) कथन कीगयीं पर (**आसुरम्**)

असुरसृष्टिको जिसे दम्भसे अज्ञान पर्यन्त केवल ६ अंगों करके मैंने संक्षेपसे कहा है उसे विस्तारपूर्वक (मे) मेरे द्वारा (शृणु) सुन ! ॥ ६ ॥

भावार्थः— पहले जो शंका उत्पन्न होआयी है, कि दैव, मानुष और आसुर तीन प्रकारकी सृष्टियां श्रुतियोंमें कथन कीगयी हैं जैसा, कि यह श्रुति कहती है– "ॐ त्रयः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्य्यमूषुर्देवा मनुष्या असुरा इति" अर्थ– प्रजापतिसे उत्पन्न जो देव, मनुष्य और असुर हैं वे तीनों प्रजापतिके समीप जाकर ब्रह्मचर्य्यका अनुष्ठान करने लगे । इस श्रुतिसे सिद्ध होता है, कि मानुषी और आसुरी जिसके अन्तर्गत राक्षसी प्रकृति भी है उत्पन्न कीगयीं और उक्त पांचवें श्लोकमें भगवान् केवल दैवी और आसुरी दो ही सम्पदाओंका वर्णन करते हैं तहां यह अवश्य जानना चाहिये, कि यह मानुषी प्रकृति भी कोई तीसरी संपत्ति है वा इन ही दैवी और आसुरीके अन्तर्गत है इसी विषयको स्पष्टरूपसे जनानेके लिये भगवान् अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि [द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च] इस संसारमें निश्चय करके दैव और आसुर दो ही प्रकारकी सृष्टि हैं तात्पर्य यह है, कि प्रजापतिने जो इस सृष्टि की रचना आरंभ की तो अपने दो हाथोंमें दैवी और दो हाथोंमें आसुरी संपत्तियोंकी मूठियां भर नाना प्रकारके भूतोंकी रचना आरंभ कर दी । प्रकृतियां तीन वा तीनसे अधिक क्यों न कही जावे पर सृष्टि दो ही प्रकारकी हुई है । प्रमा० श्रु० ॐ द्वया ह प्राजापत्या

* देवाश्चासुराश्च ततः कनीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्द्धन्त " (बृह० अ० १ ब्रा० ३ श्रु० १)

अर्थ— प्रजापतिसे उत्पन्न दो प्रकारके भूतोंकी सृष्टि है देवगण और असुर-गण इनमें देव छोटे हैं और असुर बड़े हैं ये दोनों इस लोकमें उत्पन्न होकर एक दूसरे पर विजय पानेकी इच्छा करने लगे।

इन दोनोंकी प्रकृतियां एक दूसरे से प्रतिकूल बनगयीं अर्थात ये एक दूसरे से विरुद्ध स्वभाववाले हुए तहां जिनमें शास्त्रसंबन्धी ज्ञान उत्पन्न हुआ और जो प्रकाशात्मक स्वरूप हुए वे तो देव कहलाये और जो केवल प्रत्यक्ष तथा अनुमानसे ही उत्पन्न दृष्टमात्र ही प्रयोजन रखनेवाले स्वाभाविक ज्ञान, कर्म और वासनासे युक्त हुए वे असुर कहलाये।

सृष्टिमात्रमें ब्रह्मासे लेकर कीट पर्य्यन्त जितनी रचनाएं हुई हैं चाहें जड हों वा चेतन, स्थूल हों वा सूक्ष्म सब इसी दो कोटिके भीतर हैं। विचारकी दृष्टिसे देखनेपर जितने जड वा चेतन इस जगत्में प्रतीत होरहे हैं सब देव वा असुर दो ही संपत्तियोंसे विभूषित हैं। अब यहां दो कोटि बनाकर पाठकोंके बोधार्थ अनेक वस्तु वस्तु दिखलादीजाती हैं जिनसे प्रत्यक्ष बोध होजावेगा, कि संपूर्ण सृष्टि इन ही दो प्रकारकी रचनाओंसे भरी हुई हैं।

* शास्त्रीयज्ञानकर्मवासनावासिता द्योतनात्मका देवाः। प्रत्यक्षानुमानजनितदृष्टप्रयोजनस्वाभाविकज्ञानकर्मवासनावासिता असुराः।

प्रजापति

देवसर्ग	असुरसर्ग
रसाल (आम)	महाकारी
जामुन	भिलावा
पाटल (गुलाब)	कनेर
अंगूर	निम्ब
मिसरी	संखिया
केतकी	करीर
वीरबहूटी	गंधकी
मयूर	गृद्ध
शुक	शिकरा
नीलकंठ	उलूक
हस्ती	सिंह
मृग	शूकर
गौ	व्याघ्र
सुख	दुःख
पुण्य	पाप
प्रकाश इत्यादि ।	अन्धकार

अब रहा मनुष्य सो मानुषी संपत्ति कोई तीसरी नहीं है। इन ही दैवी और आसुरी दोनोंसे मिश्रित है। अर्थात् जैसे मीठा और खट्टा मिलाकर खटमिट्ठी बनाते हैं जो खानेमें अत्यन्त स्वादिष्ट होती है इसी प्रकार मानुषी प्रकृति इन दोनों संपत्तियोंसे मिल परम सुहावनी देख पडती है इसी कारण मनुष्य शरीरको चौरासी लक्ष योनियोंमें श्रेष्ठ कहा है। यह शरीर ऐसा उत्तम है, कि इसके द्वारा भगवत्प्राप्तिके निमित्त नाना प्रकारके साधनोंका अनुष्ठान बनपडता है सहस्रों ऋषि मुनि योगी तपस्वीगण इसी शरीर द्वारा परमपदको प्राप्त होगये हैं। अनेक ग्रन्थोंमें ऐसा लेख पायाजाता है, कि यह मनुष्यशरीर देवताओंके शरीरसे भी अधिक लाभदायक है क्योंकि देवगण तो देवलोकके भोगोंमें फँसे रहते हैं उनको तो नन्दनवनकी शीतल, मन्द और सुगन्ध वायुकी लपट तथा सुन्दर२ अप्सराओंके मुख और नेत्रोंकी झपटसे इतना भी कभी अवकाश नहीं मिलता, कि भगवत्की ओर आंख उठाकर देखें भगवच्चर्चा तो उनकेलिये स्वप्न है।

इधर राक्षसोंकी ओर दृष्टि कीजिये जिनकी गणना आसुरी सम्पदामें है तो ज्ञात होजावेगा, कि इनको मद्यपान, हिंसा, लोलुपता तथा लूट खसोट इत्यादिसे छुट्टी नहीं है पर मनुष्य शरीर एवम्प्रकार देव और असुर दोनों संपत्तियोंके साथ सुशोभित होरहा है क्योंकि जब इस मानुषी शरीरमें सत्वगुणकी वृद्धि होने लगजाती है तब पूर्वोक्त दैवी संपत्तियां सम्मुख आ खडी होती हैं और जब रजोगुण और तमोगुणकी वृद्धि होती है तो आसुरी संपत्तियां प्रकट होआती हैं। जैसे शीतकी वृद्धि होनेसे शीतज्वर और पित्तकी वृद्धि होनेसे पित्तज्वर

इसी एक ही शरीरमें प्रकट होते हैं इसी प्रकार सत्वगुणकी वृद्धिसे दैवी सम्पदा और रजोगुण और तमोगुणकी वृद्धि होनेसे आसुरी सम्पदा मनुष्योंमें प्रकट होआती है।

श्रीकमलानाथ वासुदेव दैवी सर्गको तो विस्तारपूर्वक इस गीता के भिन्न-भिन्न अध्यायोंमें वर्णन करचुके अर्थात इस १६ वें अध्याय में श्लो० १ से तीन तक अभयसे लेकर नातिमानिता पर्यन्त २६ अंगोंको स्पष्ट कर अर्जुनके प्रति कहचुके हैं फिर १४ वें अध्यायमें श्लो० २२ से २६ पर्यन्त गुणातीत पुरुषोंके लक्षणोंका वर्णन करने के मिससे दैवी सम्पदाके बहुतेरे अंगोंको जनादिया है फिर १३ वें अध्यायमें श्लोक ८ से १२ पर्यन्त अमानित्वसे तत्वज्ञानानुदर्शन पर्यन्त ज्ञानके अंग कथन करदिये। फिर १२ वें अध्यायमें श्लोक १३ से १७ पर्यन्त भक्तोंके लक्षण बतातेहुए अद्वेष्टा से भक्तिमान् तक देवसर्गका उपदेश करदिया। फिर इसी गीताके दूसरे अध्यायमें श्लो० ५५से ५८ पर्यन्त स्थितप्रज्ञोंके लक्षण वर्णन करतेहुए भगवान्ने इस दैवी सर्गके अनेक अंगोंका कथन करदिया।

एवम्प्रकार दैवसर्गके अंगोंको तो विस्तारपूर्वक कथन कर ही दिया है अब असुर सर्गको विस्तारपूर्वक कहनेकी प्रतिज्ञा कर इस अगले सात श्लोकसे १८ श्लोकतक अर्थात् १२ श्लोकोंमें असुरसर्गको विस्तारपूर्वक वर्णन करनेकी इच्छा कर कहते हैं, कि हे अर्जुन! [**दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु**] दैवसर्ग तो मैंने विस्तारपूर्वक वर्णन करदिया अब तू हे पृथाका पुत्र अर्जुन! असुरसर्गको मेरे द्वारा श्रवण कर! ॥ ६ ॥

अब भगवान् असुरसर्गका वर्णन करना आरम्भ करते हैं जिसे ज़ानकर प्राणीमात्र त्याग करदेनेकी चेष्टा करेंगे ।

मू०— प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७॥

पदच्छेदः— आसुराः (असुरस्वभावाः) जनाः (मनुष्याः) प्रवृत्तिम् (विधिवाक्यम् । पुरुषार्थसाधनम् । धर्मप्रवर्त्तनम्) च (तथा) निवृत्तिम् (निषेधवाक्यम् । अधर्मात् निवर्त्तनम्) च, न विदुः (न जानन्ति) तेषु (असुरस्वभावेषु जनेषु) न, शौचम् (शुचिता) न, आचारः (शास्त्रप्रणीतः धर्मः) च, (तथा) न, सत्यम् (यथार्थभाषणम्) अपि, न, विद्यते ॥ ७ ॥

पदार्थः— (आसुराः) जो असुरोंके समान स्वभाववाले (जनाः) मनुष्य हैं वे (प्रवृत्तिम) प्रवृत्तिको अर्थात् विहित धर्मको (च) तथा (निवृत्तिम्) अधर्मसे बचनेको (च) भी (न विदुः) नहीं जानते हैं क्योंकि (तेषु) इन असुरस्वभाव वाले मनुष्योंमें (शौचं न) न तो पवित्रता होती है (आचारः न) न शास्त्र विहित कोई आचरण होता है (च) और (सत्यम्) सत्य भाषण (अपि) भी (न विद्यते) नहीं होता ॥ ७ ॥

भावार्थः— श्रीपार्थसारथि गीतामृतमहोदधि जो श्यामरूप श्रीआनन्दकन्द ब्रजचन्द हैं वे सर्वसाधारण प्राणियोंपर कृपाकर उनके कल्याणनिमित्त इस गीताकी भिन्न २ अध्यायरूप तरंगों द्वारा दैवी

सर्गके विविध सम्पत्तिरूप रत्नोंको पूर्णप्रकार विखेडचुके पांठकोंको उचित है, कि इन दैवी सर्गके रत्नोंका ग्रहण करें। अब इस श्लोकसे असुरसर्गका वर्णन आरम्भ कर १८ वें श्लोकतक सर्वसाधारण जिज्ञासुओंसे त्याग करवानेके तात्पर्यसे इस असुरसर्गका कथन करते हुए कहते हैं, कि [**प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च जना न विदुरासुराः**] जो मनुष्य आसुरीस्वभाववाले हैं तथा रजोगुण और तमोगुणकी वृद्धि होनेसे आसुरीस्वभावको प्राप्त होकर दंभ, दर्प, अभिमान इत्यादि विकारोंसे मत्त होजाते हैं वे न तो प्रवृत्ति जानते हैं और न निवृत्ति जानते हैं। अर्थात् वेद शास्त्रोंने लोक परलोकके सुधारनिमित्त जो नाना प्रकारसे धर्ममें प्रवृत्त होनेकेलिये विधिवाक्यों द्वारा आज्ञा दी है उन धर्मोंकी ओर कैसे प्रवृत्त होना चाहिये ? वे कुछ भी नहीं जानते हैं अर्थात धर्मको तो वे स्वप्नमें भी नहीं देखते करनेका तो कहना ही क्या है ? धर्मकी ओरसे तो उनके दोनों हाथ टूटे हुए हैं, धर्मके स्वरूपको देखनेमें वे दोनों आंखोंसे अन्धे होरहे हैं और धर्मके मार्गपर चलनेमें वे एक वारगी दोनों पैरोंसे पंगु होरहे हैं, धर्मकी बात बोलनेमें तो उनकी जिह्वामें सहस्र छिद्र होरहे हैं, धर्मका उपदेश सुननेमें उनके कानोंमें शीशे पिघलाकर पिलाये हुए हैं, धर्मके सम्मुख होतेही वे अपना नाक सिकोड मुंह फेर लेते हैं कहांतक कहूं ऐसे असुरस्वभाव वालोंको धर्ममें प्रवृत्त करनेकेलिये ब्रह्मा भी हार मानते हैं इसी कारण भगवान् अपने मुखारविन्दसे कहरहे हैं, कि इन असुर स्वभाव वाले मनुष्योंको प्रवृत्ति वा निवृत्ति अर्थात् धर्म अधर्म किसी भी कर्मका बोध नहीं है न तो ये किसी धर्मको पहचान उसमें

प्रवृत्त होते हैं और न किसी अधर्मको जान उसका त्याग ही करते हैं । तहां भगवान् कहते हैं, कि [**न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते**] न तो ऐसे मनुष्योंमें वाह्यशौच होता है न अन्तःशौच होता है क्योंकि ऐसे नीच स्वभाववाले स्नानतक भी नहीं करते सदा मलिन रहते हैं इनके समीप खडे होनेसे उसी प्रकार नाकको कपडेसे ढकना पडता है जैसे शौचस्थानके समीप जानेसे । यद्यपि विषयी होनेके कारण ये ऊपरसे स्वच्छ कपडोंको पहने सुगन्ध लगाकर अपने शरीरकी दुर्गन्धको छिपाया चाहते हैं पर नहीं छिपासकते ।

एवम्प्रकार इन असुरबुद्धिवालोंमें बाहरका शौच भी नहीं होता और अन्तरका शौच जो शुद्धरीतिसे द्रव्यादिका उपार्जन करना सो भी नहीं बनता इनका व्यवहार अत्यन्त मलिन होता है। झूठ, चोरी, डांका, कपट, द्यूत (जूआ) उत्कोच (रिश्वत) इत्यादिसे द्रव्य उपार्जन कर अर्थशौचको भी नष्ट करते हैं। जब शारीरिकशौच और आर्थिकशौच दोनों नष्ट होगये तो मानसिकशौच भी नहीं रह सकता इसी कारण सदा इनका अन्तःकरण रागद्वेषसे मलिन रहता है अपने हित चाहनेवालोंसे भी ये द्वेष रखते हैं ।

फिर भगवान कहते हैं, कि इनमें किसी प्रकारका आचार भी नहीं रहता । अर्थात शास्त्रोंने जो मनुष्योंके लिये विविध प्रकारके धर्मोका कथन किया है उनमें एक भी इन असुर स्वभाव वाले मनुष्योंमें नहीं पाया जाता इसी कारण सत्य भी इनमें विद्यमान नहीं रहता दिन रात मिथ्याभाषणमें बिताते हैं। धोनेसे काले कम्बलका

उजला होना, बार २ धोनेसे पत्थर—कोयलेका खल्लीमिट्टी होजाना, सूर्य्यका पश्चिमसे उदय होना, पर्वतपर कमलका खिलना और अग्निका शीतलस्वभाव होजाना जैसे दुस्तर और आश्चर्यजनक है ऐसे इन असुरसम्पदावालोंके स्वभावका परिवर्त्तन होना भी कठिन है। ये तो सदा कठोरके कठोर रहते हैं। भले पुरुषोंको इनसे त्राहि त्राहि करना पडता है ॥ ७ ॥

इतना सुन अर्जुनके मनमें यह शंका उत्पन्न होआयी, कि जिस महान प्रभाववालेकी आज्ञा सारा ब्रह्माण्ड मान रहा है तिसकी आज्ञा ये असुरस्वभाववाले क्यों नहीं मानते? दूसरी बात यह है, कि यदि ये पुरुष वेदशास्त्रकी आज्ञा नहीं मानते तो भगवान् इनको अपनी आज्ञाके उल्लंघन करनेका दण्ड क्यों नहीं देते?

इन ही शंकाओंका समाधान भगवान अगले श्लोकमें करते हैं—

मू०— असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

पदच्छेदः— ते (आसुरा जनाः) जगत् (विश्वम् । भुवनम् । प्राणिजातम्) असत्यम् (नास्ति सत्यं वेदपुराणादिप्रमाणं यस्मिन् तत्) अप्रतिष्ठम् (नास्ति धर्माधर्मरूपा व्यवस्था यस्य तत्) अनीश्वरम् (नास्तीश्वरः कर्त्ता व्यवस्थापकः यस्य तत्) अपरस्परसम्भूतम् (अपरश्च परश्च इति अपरपरम्, अपरस्परतः स्त्रीपुरुषमिथुनात् सम्भूतम् उत्पन्नम्) कामहैतुकम् (स्त्रीपुरुषयोर्मि-

थुनीभावः कामः स एव हेतुर्यस्य । कामातिरिक्तकारणशून्यम् । काम एव प्रवाहरूपेण कारणमस्य) आहुः (कथयन्ति) अन्यत् (कामादन्यत्) किम् ॥ ८ ॥

पदार्थः— (ते) जो असुरस्वभाववाले मनुष्य हैं वे (जगत्) इस संसारको (असत्यम्) झूठा और (अप्रतिष्ठम्) अप्रतिष्ठित अर्थात् धर्म अधर्मसे रहित फिर (अनीश्वरम्) किसी कर्ता वा व्यवस्थापकके बिना तथा (अपरस्परसम्भूतम्) स्त्री और पुरुषके संयोगमात्रसे उत्पन्न इसलिये (कामहैतुकम्) केवल काम ही को इसका कारण (आहुः) बताते हैं और बोलते हैं, कि (अन्यत् किम्) कामातिरिक्त दूसरा कौन कारण होसकता है ? कुछ भी नहीं ॥ ८ ॥

भावार्थः— असुर स्वभाववाले वेदशास्त्रकी आज्ञा क्यों नहीं मानते ? इस विषयको दिखलातेहुए अब श्रीपन्नगशयन कमलनयन श्रीश्यामसुन्दर कहते हैं, कि [**असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम्**] जो असुरस्वभाववाले मनुष्य हैं वे इस संसार को **असत्य, अप्रतिष्ठ** और **अनीश्वर** बताते हैं। अर्थात् इस संसार को मिथ्या बताते हैं उसीके साथ २ यों कहते हैं, कि वेदशास्त्र पुराणोंमें जो संसारी पुरुषोंको धर्म और अधर्मका उपदेश किया है सब मिथ्या हैं क्योंकि जब संसार स्वयं मिथ्या है तब इनके अन्तर्गत जितनी बातें हैं सब मिथ्या ही होनी चाहियें फिर इसमें अमुक कार्य मत करो अमुक करो ऐसा क्यों ? । और कहाकरते हैं, कि इसी

कारण पाप, पुण्य इत्यादिके नामोंसे धूर्तोंने कपोल-कल्पित बड़े-बड़े वेदादि ग्रन्थोंको बनाकर संसारको ठगा है और अपने पेट भरनेकी युक्तियां निकाली हैं उनका यही सिद्धान्त है, कि "त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः" वेदके तीन कर्त्ता हैं भण्ड, धूर्त और निशाचर। वेदोंमें जो जहां-तहां ऐसा लिखा है, कि यजमान की पत्नी अश्वमेधयज्ञमें अश्वके लिंगको लेकर शयन करजावे यह भाण्डोंके समान वचन है फिर जो ऐसा कहा है, कि "यज्ञीया हिंसा हिंसा न भवति" यह राक्षसोंका सिद्धान्त है फिर जहां-तहां यज्ञों में जो दानादि कियाका सम्पादन वा दक्षिणा इत्यादि शब्दोंका वर्णन किया है वह धूर्तोंका वचन केवल संसारसे द्रव्य ठगनेके लिये है फिर शास्त्र और पुराणोंमें अश्व, गौ, अज इत्यादिकी हिंसा करवाकर तिसकी हिंसाको ब्रह्महत्यादि हिंसाका प्रायश्चित्त कथन करदिया है। जैसे प्रायश्चित्ततत्वग्रन्थमें विष्णुका वचन है, कि "अनुपातकिनस्त्वेते महा-पातकिनो यथा। अश्वमेधेन शुद्ध्यन्ति तीर्थानुसरणेन वा।" अर्थात् ये जो नाना प्रकारके अनुपातक कहेगये तथा अन्य जो महा-पातक इत्यादि हैं वे सबके सब अश्वमेधसे शुद्ध होजाते हैं अथवा तीर्थाटन करनेसे शुद्ध होजाते हैं।

इन वचनोंसे प्रत्यक्ष देखाजाता है, कि वेदादि ग्रन्थोंके वाक्य निरर्थक हैं और इनमें सैकड़ों प्रकारके विरोध पायेजाते हैं जैसे "आत्मनानन्तत्वम् इति न्यायविदो वदन्ति" आत्मा अनेक हैं ऐसा न्याय-शास्त्र जाननेवाले कहते हैं। फिर "आत्मैक्यं वेदा-न्तिनः" वेदान्त जाननेवाले आत्माको एक ही बताते हैं

और देखो " प्रपंचस्य नित्यत्वं न्यायवैशेषिकप्रभृतयः " प्रपञ्च (संसार) नित्य है ऐसा न्याय, वैशेषिक और भट्ट इत्यादि शास्त्रवेत्ता बताते हैं और " मिथ्यात्वं चोपनिषदः " उपनिषद् जो वेदान्त है वह संसारको मिथ्या बताता हैं ।

फिर देखो " कर्मैव जगद्धेतुरिति मीमांसकाः " इस जगत् का कारण कर्म ही है ऐसा मीमांसाशास्त्रवाले बताते हैं पर " कर्म-सापेक्षत्वादीश्वरः कर्त्तेति तार्किकाः " तार्किकगण कर्मके सापेक्ष होनेके कारण ईश्वरको जगत्का कर्त्ता बताते हैं। " सदैव कार्य-मिति सांख्यकाः " सांख्यशास्त्रवाले सदा पुरुषार्थ ही को मुख्य बताते हैं । फिर " अनृतव्याघातपुनरुक्तिदोषकलंकितोऽपिवेदः " झूठ, व्याघात और पुनरुक्ति दोषोंसे वेद भी कलंकित है क्योंकि वेदमें कहागया है, कि हवन इत्यादिसे वृष्टि होती है सो मनुष्य बडे २ आचार्य्योंके साथ हवन इत्यादि कर्म करते हैं पर वृष्टि नहीं होती । यही वेदोंमें मिथ्यात्व है । फिर देखो वेद आज्ञा देता है, कि सूर्य्यके उदयमें भी हवन करो और अस्तमें भी हवन करो यह वेदमें व्याघात दोष है । फिर एक ही मन्त्रको बार २ चारों वेदों और शाखाओंमें कथन किया है यह पुनरुक्ति दोष है ।

एवम्प्रकार असुरसम्पदावाले वेद, शास्त्र, पुराण इत्यादिके वाक्यों को मिथ्या कपोलकल्पित, अनियमित तथा पक्षपात, पूर्वापरविरोध, अन्यान्य और प्रमादयुक्त बतलाकर यों कहते हैं, कि यह संसार मिथ्या है और इसमें इसके सुधारनिमित्त जितने वेदशास्त्र हैं सब

गप्प और मसखरीसे भरेहुए हैं अतएव यह संसार असत्य और अप्रतिष्ठित है ।

फिर ये असुरसम्पत्तिवाले मारे अभिमानके और अज्ञानके इस संसारको अनीश्वर अर्थात् बिना ईश्वरका बताते हैं और कहते हैं, कि यह सृष्टि आपसे आप है इसका कोई ईश्वर अर्थात् नियामक वा व्यवस्थापक नहीं है । इसी कारण आनन्दपूर्वक मद्यपान करो, परस्त्रीसे विहार करो, नाना प्रकारके विषयसुखोंको जहांतक प्राप्त हों भोगलो और 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' ऋण करके इच्छापूर्वक घी पीलो क्योंकि "भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः" जो शरीर यहां अग्निमें भस्म होगया उसका फिर आना कैसा ?

मुख्य तात्पर्य यह है, कि यह सृष्टि बिना शिरकी सेना है जिधर चाहे चलीजावे जो चाहे करे सब बातें अनियम हैं । भगवान् कहते हैं, कि यदि आसुरी सम्पदावालेसे पूछो, कि फिर यह सृष्टि चलती कैसे है ? और इसका कारण क्या है ? तो वे उत्तर देते हैं, कि [अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम्] स्त्रीपुरुषके परस्पर संभोगसे यह सृष्टि बनती है इसलिये काम ही इस सृष्टिका मुख्य कारण है इससे अतिरिक्त कुछ भी कारण नहीं है ।

फिर ये असुरसम्पदावाले मनुष्य तो यों भी कहा करते हैं, कि यदि संस्कार किये जावें और वेद मन्त्रोंसे विवाह किये जावें तो क्या स्त्रीपुरुषके एकसाथ संयोग होनेसे पुत्र नहीं होगा ? यदि यह कहो, कि पुत्र तो होगा पर अंधा वा लंगडा होगा सो ऐसा देखा नहीं जाता वेश्या-

ओंसे जो पुत्र उत्पन्न होते हैं वे तो बिना विवाह-संस्कारके ही उत्पन्न होते हैं पर बड़े सुन्दर, बुद्धिमान, बलिष्ठ इत्यादि होते हैं। पर वैदिकरीतिसे जो बच्चे होते हैं उनमें बहुतेरे कुरूप, बुद्धिहीन, लंगडे-लूले ही होते हैं। इससे प्रत्यक्ष देखा जाता है, कि वेद शास्त्र सब ढकोसले हैं केवल कामक्रीडाहीसे सृष्टिकी वृद्धि होती चली जाती है और होती रहेगी। यदि परस्त्री, वेश्या इत्यादिसे सन्तान उत्पन्न करनेमें कोई यथार्थ दोष होता तो इनसे भोग करनेके साथ ही मनुष्य जल भुन कर भस्म होजाते सो ऐसा कुछ भी देखा नहीं जाता इसलिये वेद, शास्त्र, पुराण इत्यादि सब गप्पें मारे हुए हैं ऐसी २ मनगढन्त बातें बनाकर असुरस्वभाववाले मूर्ख यों कहा करते हैं, कि इस सृष्टिका कोई कर्त्ता नहीं है क्योंकि जो कारण प्रत्यक्षरूपसे देखनेमें आता है उससे अतिरिक्त जो प्रमाण देखा नहीं जाता उसे मानना मूर्खता है। प्रिय पाठको ये हजरत झट दूसरेके घरसे एक प्रमाण लेकर धर भी देते हैं, कि " **दृष्टे सम्भवति अदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वात्** " अर्थ यह है, कि जो कारण दृष्ट है प्रत्यक्ष है तिसके सम्भव होते हुए किसी अदृष्ट-कारणकी कल्पना अयुक्त है।

प्यारे पाठको! इन असुरसम्पदावालोंकी अज्ञानताकी सीमा नहीं है ये तो सदा स्वेच्छाचारी निरंकुश रहते चले आये हैं यही कारण है, कि ये वेदशास्त्रकी कुछ भी आज्ञा नहीं मानते वरु इनका तो सिद्धान्त यह है, कि समर्थ होकर विषयोंकी प्राप्ति कर उनका भोगना ही पुण्य है और द्रव्य इत्यादि उपार्जन करनेमें असमर्थ रहकर विष-

योंका नहीं भोग करना ही पाप है। यदि वैदिक पाप पुण्य कुछ होता तो प्रत्यक्ष फल भी देखनेमें आता सो देखा जाता है, कि संसारमें जितने बलवान् जीव हैं सब निर्बलको पकड़कर नित्य खाया करते हैं उनका परिवार क्यों न भस्म होजाता ? अथवा उनकी वृद्धि क्यों नहीं कम होजाती है ?

ऐसे असुरस्वभाववालोंकी कैसी दुर्गति होती है ? सो भगवान् इसी अध्यायके श्लो० १८, १६ और २० में कहेंगे। ऐसा नहीं समझना चाहिये, कि ये मूर्ख एवम्प्रकार अभिमानवश होकर जो ईश्वरको भूल वेदशास्त्रोंका उल्लंघन करते हैं उनका दण्ड नहीं होता वरु भगवान् अन्तर्यामी जो सम्पूर्ण विश्वको नियममें रखने वाला पूर्ण व्यवस्थाके साथ संसारको चला रहा है वह इन मूर्खोंको ऐसा दण्ड देता है, कि इनका कहीं ठिकाना नहीं लगता। सो दण्डोंका पूर्ण वृत्तान्त इसी अध्यायमें भगवान् कहकर समाप्त करेंगे।

इनका सारा वृत्तान्त, पूर्णस्वभाव और समस्त आचरण भगवान् १५ वें श्लोकतक वर्णन करके १६ वें श्लोकमें इनकी गति वर्णन करें १६ और २० में कहेंगे, कि ये किस प्रकार दण्ड पाते हैं ? ॥ ८ ॥

इतना सुन अर्जुनके हृदयमें यह शंका उत्पन्न होआयी, कि कदाचित् इन देहात्मवाद और लोकायतिक पुरुषोंका प्रमाण जो अभी भगवान् देचुके हैं वह यदि सत्य हुआ तो इन असुरसम्पदावालोंको क्यों दण्ड दियाजावेगा ? क्योंकि दैव और आसुर ये दोनों सम्पदा तो

सृष्टिकी आदिमें स्वयं प्रजापतिने रचडाली हैं फिर अपने कियेका दण्ड दूसरेंको क्यों देना ? इसी शंकाके निवारणार्थ भगवान् अगले श्लोकोंमें इस दृष्ट-प्रमाण अर्थात् केवल प्रत्यक्ष-प्रमाणके माननेवालोंकी गति वर्णन करना आरम्भ करते हैं—

मू०— एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९

पदच्छेदः— **अल्पबुद्धयः** (दृष्टसुखे एव बुद्धिर्येषां ते । दृष्टमात्रोद्देश्यप्रवृत्तमतयः) **एताम्** (प्रागुक्तानां लोकायतिकाना-मभिप्रेताम् । मिथ्याभूताम्) **दृष्टिम्** (दर्शनम्) **अवष्टभ्य** (आलम्ब्य । आश्रित्य) **नष्टात्मानः** (मलिनचित्ताः । विभ्रष्टपरलोकसाधनाः । शून्यवादाभिनिवेशेन शून्यसाक्षिणमात्मानं नाशयन्ति ते) **उग्रक-र्माणः** (क्रूरकर्माणः । हिंसात्मकाः) **अहिताः** (शत्रवः । वैरिणः । न विद्यते हितं येषां ते) [भूत्वा] **जगतः** (प्राणिजातस्य) **क्षयाय** (नाशाय) **प्रभवन्ति** (उद्भवन्ति । उत्पद्यन्ते ॥ ९ ॥

पदार्थः— (**अल्पबुद्धयः**) ये छोटी वा मन्द बुद्धिवाले (**एताम्**) यह जो ऊपर कथन कीगयी लोकायतिकोंकी (**दृष्टिम्**) दृष्टि तिसका (**अवष्टभ्य**) अवलम्बन करके (**नष्टात्मानः**) नष्टात्मा अर्थात् परलोकसाधनबिना नष्ट होरहा है आत्मा जिनका ऐसे (**उग्रकर्माणः**) हिंसादि क्रूरकर्मवाले (**अहिताः**) जगत्के शत्रु होकर (**जगतः**) संसारके अथवा संसारी जीवोंके (**क्षयाय**) नाश करनेके लिये (**प्रभवन्ति**) उत्पन्न होते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थः— पूर्वश्लोकमें जो कथन कियागया, कि ये असुर-बुद्धिवाले लोकायतिकोंकी दृष्टिका सिद्धान्त लेकर यों कहा करते हैं, कि जो प्रमाण प्रत्यक्ष देखनेमें आरहा है उसका उल्लंघन करके अप्रत्यक्ष प्रमाणका स्वीकार करना न्यायविरुद्ध है और अयुक्त है अर्थात् इन पुरुषोंका यह भी कहना है, कि " **उपस्थितं परित्यज्या-नुपस्थितं याचयेदिति बाधितन्यायः** " अर्थात् जो वस्तु उपस्थित है उसे छोडकर अनुपस्थितकी याचना करना बाधितन्याय कहा जाता है यह महाभाष्यका वचन है तो क्या कारण है, कि जब सनातन-धर्मवाले सम्पूर्ण व्याकरणशास्त्रको मानते हैं तो इस वचनको क्यों नहीं मानेंगे ?

प्रिय पाठको ! इन लोकायतिकोंका सिद्धान्त सत्य है वा मिथ्या है माननीय है वा अमाननीय इसके विषय तो भगवान् पीछे कहेंगे पर इस श्लोकमें इन अल्पबुद्धिवालोंकी गति और उनका कर्म प्रकट करतेहुए कहते हैं, कि [**एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः**] जो लोग नष्टात्मा और अल्पबुद्धि हैं अर्थात् अज्ञानतावश जिन्होंने अपने कल्याणनिमित्त परलोककी कुछ भी परवा न करके परलोकसाधनसे भ्रष्ट होरहे हैं और शून्यवादकरके अर्थात् ईश्वरको सृष्टिका कर्त्ता वा व्यवस्थापक न मान संसारको ईश्वरसे शून्य मानते हैं वे मानो शून्यका साक्षी जो आत्मा उसे नष्ट करनेवाले हैं इसलिये वे नष्टात्मा कहलाते हैं एवम्प्रकार नष्टात्मा होनेके कारण उनकी बुद्धि भी मन्द होजाती है नष्टात्मा होने ही से अन्तः-करण मलीन होजाता है तब जैसे मलके छाजानेसे दर्पणमें कुछ देख

नहीं पडता अथवा दर्पण स्वयं प्रकाशको ग्रहण नहीं करसकता इसी प्रकार इन नष्टात्माओंकी बुद्धि मलीन होकर अत्यन्त अल्प होजाती है। अथवा यों अर्थ करलो, कि इनकी बुद्धि * विभु जो परमात्मा उसे न मानकर अल्प जो यह शरीर इसीको मुख्य मानती है और इसीको सुखीरखनेका यत्न करेना नाना प्रकारके विषयोंका भोगना, भोगाना जो इस अल्प शरीरका व्यवहार है उसे ही श्रेष्ठ मानती है। इन नष्टात्मा अल्प बुद्धियोंसे संसारकी कैसी हानि होती है सो भगवान् कहते हैं, कि [प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः] ये उग्रकर्मा अर्थात् अत्यन्त घोर हिंसादि कर्म करनेवाले इस संसारके परम अहित अर्थात् शत्रु बनकर संसारको तथा संसारके जीवोंको दुःख देने और नाश करनेके लिये उत्पन्न होते हैं। ये ऐसे दुष्ट होते हैं, कि इनका उदय होना सारे संसारके लिये ऐसा दुःखद है, जैसा प्रलयकालके सूर्यका उदय होना। अथवा यों कहलीजिये, कि " उदयकेतुसम हित सबहीके " (तुलसी) जैसे केतु ताराके उदय होनेसे सारे संसारका अहित होता है ऐसे इन असुरसम्पदावालोंके उदय होनेसे संसारकी हानि होती है। फिर गोस्वामी तुलसीदासजीने रामायणमें इनका स्वभाव पूर्ण रीतिसे वर्णन किया है— " परहित हानि लाभ जिनकेरे। उजरे हर्ष विषाद बसेरे ॥ १ ॥ हरिहरयश राकेश राहुसे। परअकाज भट सहस्र बाहुसे ॥ २ ॥ जे परदोष लखहिं सहसाखी। परहित घृत

* वेदशास्त्रोंके माननेवाले आत्माको विभु और शरीर जो यह देह इसको अल्प कहते हैं तथा संसारके जो विषयादि हैं इनको भी अल्प कहते हैं।

जिनके मन माखी ॥ ३ ॥ तेज कृशानु रोष महिषेशा । अघ अवगुणधनधनिकधनेशा । पर अकाज लगि तनु परिहरहीं जिमि हिमउपल कृषीदल गरहीं ॥ ५ ॥ वन्दौं खल जस शेष सरोषा । सहसवदन बरनहिं परदोषा ॥ ६ ॥ पुनि प्रणवौं पृथुराज समाना । परअघ सुने सहसदश काना ॥ ७ ॥ बहुरि शक्रसम विनवौं तेही । संतत सुरानीक हित जेही ॥ ८ ॥ वचन वज्र जेहि सदा पियारा । सहस नयन परदोष निहारा ॥ ९ ॥

दोहा— उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं खल रीति ।
जानु पाणियुग जोरिकर विनय करौं सप्रीति ॥ "
(तुलसी)

अर्थ— श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी इन असुरप्रकृतिवालोंका स्वभाव वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि परायेके हितकी यदि कुछ हानि होजावे तो मानों ये अपना बहुत बडा लाभ समझते हैं । यदि किसीका घर उजड़जावे तो उनको हर्ष हो और बसजावे तो इनको बहुत बडा विषाद हो ॥ १ ॥ हरियश रूप पौर्णमासीके चन्द्रमाको ढकलेनेके लिये ये असुरजन राहुके समान हैं अर्थात् जहां हरिकथा होती हो वा धर्मपर कोई उपदेश कररहा हो तो वहां जाकर ये नाना प्रकारके उपद्रव मचाते हैं और परायेके अकाज करनेमें सहस्रबाहु राक्षसके समान वीर बनजाते हैं अर्थात् परायेके अहित साधनमें इनको हजार भुजाके तुल्य बल होजाता है ॥ २ ॥

परायेके दोषको सिद्ध करनेके समय ये अकेले एक सहस्र साखी देनेवालोंके समान बनजाते हैं और परायेका हितरूप जो घृत है

उसके नष्ट करनेके लिये इनका मन मक्खीके समान है ॥ ३ ॥ अग्निके समान तो इनका तेज है अर्थात् अपने तापसे सहस्रों घरोंको फूंकदेते हैं और जिनका क्रोध महिषासुरके समान है तथा नाना प्रकारके अघ (पाप) और अवगुणरूप धनसे जो कुवेरके समान धनिक हैं ॥ ४ ॥ परायेके अकाजकेलिये ये दुष्ट अपने प्राणोंको छोड देते हैं जैसे पाला और ओले खेतोंमें गिरकर खेतीको नष्टकर आप भी नष्ट होजाते हैं ॥ ५ ॥ क्रोधसे फूत्कार छोडतेहुए शेषनागके समान इन खलोंको भी मैं दूरहीसे प्रणाम करता हूं जो परायेके दोषको हजारों मुखोंसे वर्णन करते हैं ॥ ६ ॥ फिर मैं राजा पृथुराजके समान इनकी स्तुति करता हूं, कि जैसे पृथुराजाको हरिहरयश श्रवण करनेमें दो ही कान सहस्र कानोंके समान सुख देते थे ऐसे इन असुरोंको परायेके दोष और पाप सुननेमें दो ही कान सहस्र कानके तुल्य होजाते हैं ॥ ७ ॥ फिर मैं इनको शक्र (इन्द्र) के समान विनय करता हूं जिनको सदा सुरा नीक लगती है और हित अर्थात् प्रिय है । यहां सुरा शब्दके दो अर्थ हैं इन्द्रकी पत्नी इन्द्राणी और मदिरा (शराब) सो सुरा कहनेसे यहां तात्पर्य यही है, कि जैसे इन्द्रको इन्द्राणी सदा प्रिय है ऐसे इन दुष्टोंकेलिये सुरा भी प्रिय है ॥ ८ ॥ फिर इन्द्रको जैसे अपना शस्त्र वज्र सदा प्रिय है ऐसे इन आसुरीसम्पत्तिवालोंको अपना वचनरूप वज्र सदा प्रिय है। फिर जैसे इन्द्रके सहस्र आंखें हैं ऐसे इन दुष्टोंको भी सहस्र आंखें हैं जिनसे ये सदा परायेके दोषको देखा करते हैं । इसी कारण मैं इनको इन्द्रके तुल्य मानकर इनकी वन्दना करता हूं ॥ ९ ॥

उदासीन जो किसीकी हानि वा लाभसे कुछ प्रयोजन नहीं रखता न किसीसे उसे शत्रुता है न मित्रता है फिर अरि जो शत्रु और मीत जो मित्र ये तीन प्रकारके जो मनुष्य हैं इन तीनोंके हितको सुनकर सदा जलते रहें यही खलोंकी रीति है। गोस्वामी तुलसीदास जीके कहनेका अभिप्राय यह है, कि सर्वसाधारण मनुष्य तो केवल अपने शत्रुकी बुराई सुनकर दुःखित होते हैं और मित्रकी भलाई सुनकर प्रसन्न होते हैं तथा उदासीन जो कुछ सम्बन्ध नहीं रखता उसकी भी भलाई सुनकर प्रसन्न होते हैं यदि न प्रसन्न हों तो दुःखित भी नहीं होते पर इन दुष्टोंका तो आसुरीस्वभाव ऐसा है, कि उदासीन, अरि, और मीत तीनोंकी भलाई सुनकर जल भुन जाते हैं। इस कारण दोनों जानु और दोनों हाथोंको जोडकर इन दुष्टोंको दूरहीसे प्रीतिके साथ बन्दना करता हूं।

अतएव भगवान् कहते हैं, कि इनका उदय होना मानों संसार भरके नाशका कारण है ॥ ६ ॥

ऐसे असुरजनोंकी इससे भी बढकर अधिक बुरी दशा क्या है? सो भगवान् अगले श्लोकमें वर्णन करते हैं।

टिप्पणी— किसी किसी हरिभक्तने इस दोहेका यों भी अर्थ किया है, कि उदासीन जो शिव तिनका अरि जो कामदेव तिसके मित्र जो भगवान् तिनकी परम हित कथा तिस कथाको सुनकर जलना खलोंकी रीति है।

मू०— काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रताः
॥ १० ॥

पदच्छेदः— दम्भमानमदान्विताः (अधार्मिकत्वेऽपि धार्मिकत्वख्यापनं दम्भः, अपूज्यत्वेऽपि पूज्यत्वाभिनिवेशो मानः, अहं महात्मा धनवान् मत्तुल्यः कोऽस्ति भूतले यज्जायते चित्ते स मदः तैर्युक्ताः) अशुचिव्रताः (मद्यमांसादिसापेक्षाणि अशुचीनि व्रतानि नियमविशेषा येषां ते) दुष्पूरम् (पूरयितुमशक्यम्) कामम् (इच्छाविशेषम् । तत्तद्दृष्टक्षुद्रविषयाभिलाषम्) आश्रित्य (अवलम्ब्य) मोहात् (अविवेकात्) असद्ग्राहान् (अशुभनिश्चयान् । अनेनासुरंमन्त्रेणेमां डाकिनीं वशीकृत्य कामिनीनामाकर्षणं शत्रुमारणञ्चावश्यं करिष्यामः महानिधीन् साधयिष्याम इत्यादिरूपान् दुराग्रहान्) गृहीत्वा (अवलम्ब्य) प्रवर्त्तन्ते ॥ १० ॥

पदार्थः— (दम्भमानमदान्विताः) दम्भ, मान और मद से युक्त जो (अशुचिव्रताः) अपवित्रव्रतके धारण करनेवाले असुरजन हैं वे (दुष्पूरम्) कभी नहीं पूर्ण होनेवाले (कामम्) कामसुखको वा विषयकी कामनाओंको (आश्रित्य) अवलम्बन करके (मोहात्) अज्ञानताके वश (असद्ग्राहान्) अशुभ निश्चयोंको (गृहीत्वा) ग्रहण करके (प्रवर्त्तन्ते) इस संसारमें वर्त्तमान रहते हैं ॥ १० ॥

भावार्थः— कोटिजन्माघनाशन यादवेन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र पूर्व श्लोकमें इन आसुरी सम्पत्तिवालोंका सामान्य लक्षण वर्णन कर अब

इस श्लोकमें उनके विशेष लक्षण तथा निषिद्ध आचरणोंका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विता:**] ये जो आसुरी प्रकृतिवाले हैं वे सदा दुष्पूरे कामका आश्रय करके अर्थात् जो कामनाएं कभी भी पूर्ण होनेवाली नहीं हैं तिनका अवलम्बन करके अहर्निश यही चाहते हैं, कि सुन्दर स्त्रियोंके संग भोग विलास करते ही रहें । जैसे अग्निमें घृत डालनेसे अग्निकी ज्वाला बढती ही जाती है ऐसे इन दुष्ट-कर्मवालोंकी इच्छा रमणियोंके साथ विलास करनेसे घटती नहीं वरु बढती ही चलीजाती है इसी कारण सदा शिष्णोदरपरायण रहना अर्थात् उपस्थ इन्द्रियके सुखको लूटते रहना और अभक्ष्य भक्षणसे पेट भरते रहना ही जिन्होंने अपनी आयुका सार-कर्म समझलिया है और इसीके आश्रय रहकर जो दंभ, मान और मदसे भरे रहते हैं अर्थात् कर्म तो जिनका इतना भ्रष्ट है, कि जिसे देख नरक भी नाक सिकोडे पर बाहर लोगोंमें जनानेकेलिये अपनेको बडा धार्मिकदिखलाया चाहते हैं ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि यथार्थमें लोकायतिकदृष्टिवाले तो धर्मादिको मानते ही नहीं मिथ्या बताते हैं तथापि वे अपनेको बडा बुद्धिमान् और बडा विचारवान् सृष्टिके यथार्थ मर्मोंके जाननेवाले प्रकट करनेकेलिये कभी२ दम्भमें वर्त्तमान होते हैं तथा लोगोंसे अपना मान भी कराया चाहते हैं । एवम्प्रकारे जो दम्भ, मान और मदसे भरे हैं वे किस प्रकार इस संसारमें निवास करते हैं ? सो भगवान् कहते हैं, कि [**मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्त्तन्ते-**

ऽशुचिव्रताः] ये आसुरी प्रकृतिवाले मोहवश असद्ग्राहोंका ग्रहण करके अपवित्रव्रतका पालन करतेहुए वर्त्तमान रहते हैं अर्थात् ये अत्यन्त अज्ञानी होते हैं इसी कारण असद्ग्रहोंका ग्रहण किया करते हैं। असद्ग्रह कहिये अशुभनिश्चयको अर्थात् किसी औघड बाबासे यह सुनकर, कि अमुक भूतका पूजन अमुक मन्त्र द्वारा करनेसे सुन्दरी कामिनी वशीभूत होजावेगी, अमुक भलेमानुषकी बेटी जो महल्लेमें बडी सुन्दरी है उसे वश करलूंगा तथा अमुक मन्त्रसे शत्रुको मार-डालूंगा अथवा अमुक डाकिनीके साधन करनेसे बहुतसा धन इकट्ठा करलूंगा ये सब बातें जो उनके हृदयमें अज्ञानतावश सच्ची भास रही हैं और इन बातोंका दृढ निश्चय होरहा है इसी कारण वे अशुचिव्रत होरहे हैं। अर्थात् पिशाचिनी, डाकिनी इत्यादिका साधन जूठे मुख रहकर मद्य मांस द्वारा करते हैं और औघडोंके जूठे मद्य को तथा मांसका भोजन करना अपना व्रत समझते हैं इसी कारण भगवान्‌ने इनको **अशुचिव्रत** कहकर पुकारा है। एवम्प्रकार ये असुरजन दुष्पूर कामका ही अवलम्बन कर दम्भ, मान और मद से युक्त अज्ञानवश असद्ग्रहोंको अर्थात् अशुभ निश्चयोंको ग्रहण कर परम अशुचि, अपवित्र, वाममार्ग इत्यादिका ग्रहण कर इस संसारमें वर्त्तमान रहते हैं।

यहां असद्ग्रह शब्दका यह भी अर्थ होसकता है, कि असत् जो यह संसार प्रत्यक्ष दृश्यमान है उसीको जो सत्य मानते हैं वे ही असुर जन हैं इसलिये इस असत् संसारके ग्रहण करनेवालोंको असद्ग्राहकोंके नामसे पुकाराजाता है दूसरे शब्दोंमें इन्हीको लोकायतिकभी कहतेहैं ॥ १०

अब भगवान् अगले दो श्लोकोंमें असुरजनोंके अन्य विशेष लक्षणोंका वर्णन करतेहुए कहते हैं—

मू०— चिन्तामपरिमेयाञ्च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥ १२

पदच्छेदः— च (पुनः) प्रलयान्ताम (मरणावधिम्) अपरिमेयाम् (परिज्ञातुमशक्याम्) चिन्ताम (इदं कृत्वा इदं करिष्यामि इदं कथं भविष्यतीत्यादिरूपाम् अन्तःकरणप्रवृत्तिम । दैहिकयोगक्षेमोपायालोचनात्मिकामन्तःकरणवृत्तिम) उपाश्रिताः (आश्रित्य स्थिताः) कामोपभोगपरमाः (शब्दादयो विषयास्तदुपभोगः प्रीत्या सेवनमेव परमः पुरुषार्थो येषां ते) एतावत (इष्टमेव सुखं नान्यदेतच्छरीरवियोगे सुखमस्ति किंचित्) इति (एवम्प्रकारेण) निश्चिताः (निश्चयवन्तः । निश्चयः सञ्जातो येषां ते) आशापाशशतैः (आशा अशक्योपायार्थविषयाः प्रार्थनास्ता एव बन्धनहेतुत्वात् पाशाः तेषां शतैः) बद्धाः (नियन्त्रिताः । सर्वतः आकृष्यमाणाः) कामक्रोधपरायणाः (कामक्रोधौ परमयनमाश्रयो येषां ते) कामभोगार्थम् (कामभोगप्रयोजनाय) अन्यायेन (न्यायरहितेनोपायेन । चौर्यादिना) अर्थसञ्चयान् (अर्थप्रचयान । धनराशीन) ईहन्ते (चेष्टन्ते) ॥ ११, १२॥

पदार्थः— (च) फिर ये असुरजन कैसे हैं, कि (प्रलयान्ताम) शरीर छूटजाने पर्यन्त अर्थात् अपनी आयुकी समाप्ति

तक ठहरनेवाली (अपरिमेयाम्) प्रमाण रहित अत्यन्त विस्तृत (चिन्ताम्) चिन्ताको (उपाश्रिताः) आश्रय करनेवाले हैं और (कामोपभोगपरमाः) विषयोंका भोग करना ही जिनका परम पुरुषार्थ है (एतावत्) विषयभोगजन्य इष्ट ही सुख है (इति) इस प्रकार (निश्चिताः) दृढ निश्चय करनेवाले (आशापाशशतैर्बद्धाः) सैकड़ों आशारूप पाशोंसे बँधेहुए (कामक्रोधपरायणाः) सदा काम और क्रोध ही को अपना परम आधार बनायेहुए (कामभोगार्थम्) विषय भोगके लिये (अन्यायेन) अन्यायसे अर्थात् चोरी डाका इत्यादि निन्दनीय कर्मोंसे (अर्थसञ्चयान्) द्रव्यराशियोंको (ईहन्ते) प्राप्त करनेकी चेष्टा करतेरहते हैं ॥

॥ ११, १२ ॥

भावार्थः— भगवान् असुरजनोंके लक्षण जो पहले कथन करचुके हैं उनसे अतिरिक्त अधिक निन्दित लक्षणोंका वर्णन इन ११ और १२ श्लोकोंमें करतेहुए कहते हैं, कि [**चिन्तामपरिमेयाञ्च प्रलयान्तामुपाश्रिताः**] ये जो असुरवृन्द हैं वे सदा दिन-रात जन्मसे मरण पर्यन्त अगाध चिन्ताके सागरमें डूबे रहते हैं, चिन्ता हीका सदा आश्रय कियेहुए अपनी अमूल्य आयुको बिता देते हैं, आज मैंने यह कार्य करलिया, यह भोग भोगलिया, कल्ह फिर यह कार्य करूंगा और यह विषय भोगूंगा तथा यह कार्य किस प्रकार होगा? इसका क्या विशेष उपाय है? आज शरीरको स्थूल बनाने के लिये किन-किन पुष्ट द्रव्योंका सेवन करना चाहिये? आज स्त्री पुत्रादिको प्रसन्न रखनेकेलिये कौन-कौनसा व्यवहार करना चाहिये?

सारी पृथ्वीका चक्रवर्त्ती राजा होकर किस प्रकार सुख भोगना चाहिये ? और आज अमुक शत्रुको किस प्रकारसे बध करना चाहिये ? एवम्प्रकार अपार चिन्तासे ग्रस्त रहनेवाले, जिनकी चिन्ता इतनी विशाल और ऐसी अप्रमेय है, कि आकाशसे पाताल पर्यन्तका एक खड्डा बनाकर भी भराजावे तो भी न अंटे उबलजावे जो चिन्ता सातों समुद्रोंकी गहराईमें भी न समासके, जिनकी चिन्तारूप सृष्टिके सम्मुख सातों लोक ऊपर और सातों लोक नीचेकी रचना तृणके समान समझीजाती है ऐसी चिन्ताको ये असुरजन प्रलयतक सेवन किये रहते हैं । यहां प्रलय कहनेसे दोनों अर्थोंका समावेश होसकता है अर्थात् प्रत्येक जीवकेलिये अपना २ मरजाना ही उसका प्रलय समझा जाता है इसिलिये इनकी आयुकी समाप्ति पर्य्यन्तको ही भगवान्ने प्रलयान्त कहा है तथा सहस्रचतुर्युगीकी समाप्तिमें जो प्रलय होगा वह भी समझाजासकता है क्योंकि इन असुरजनोंकी मुक्ति तो कभी हो नहीं सकती आदिरचनासे अन्त पर्य्यन्त इनकी आसुरीसम्पदा बनी रहती है इसलिये प्रलय पर्य्यन्त ये मरते और जन्मते नाना प्रकारके शरीर धारण करते चले ही जाते हैं और चिन्ता देवी सदा इनके पास रहती है । इसी कारण भगवान्ने चिन्ता शब्दके साथ प्रलयान्त शब्दका प्रयोग किया है ।

अब भगवान् कहते हैं, कि ये अमोघ चिन्तावाले असुरजन कैसे हैं, कि [**कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः**] नाना प्रकारके विषयोंका भोग करना ही परमपुरुषार्थ है जिनका, अर्थात् जैसे वीरोंका युद्धकलामें प्रवीण होना, नरेशवृन्दोंका राजनीतिमें चतुर होना, विद्वज्जनोंका वेदशास्त्रादिमें पारंगत होना और धार्मिकगणोंका दानी

कर्णके समान दानादिमें प्रवीण होना इन सत्पुरुषोंका परम पुरुषार्थ समझा जाता है। ऐसे ही स्त्रियोंसे भोग करना, स्त्रियोंके वशीभूत रहना, उनहीके मधुर शब्दोंसे अलंकृत गान सुनना, उनके रूप यौवनका अवलोकन करना तथा दिनरात गाढालिंगन करना, उनके शृंगारके लिये भिन्न २ वस्त्रोंकी सजावट तथा आभूषणोंकी बनावटमें लगे रहना और उनके हाव भाव कटाक्षमें मग्न रहना इत्यादि इन असुरजनोंका परम पुरुषार्थ समझाजाता है। बृहस्पतिसूत्र भी ऐसा ही कहता है, कि "चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः काम एवैकः पुरुषार्थः" अर्थ— चैतन्य धर्मसे विशेष करके स्थित जो यह पाञ्चभौतिक देह है वही आत्मा है और इस लोकमें नाना प्रकारके सुगन्ध, वस्त्र और अलंकरणादि शृंगारोंके साथ जो स्त्रियोंके संग कामक्रीडा है वही परम पुरुषार्थ है इससे इतर जो दानादि धर्म हैं वे पुरुषार्थ नहीं हैं।

यह बृहस्पतिका सूत्र केवल असुरोंको मोहमें डालनेके लिये है। बृहस्पति साक्षात् देवताओंके गुरु परम धार्मिक वैदिक पुरुष हैं पर केवल दानवोंको मोहमें डालनेकेलिये यह सूत्र बनाया इस कारण यह सूत्र धर्मात्मा, ज्ञानी और बुद्धिमानोंके मानने योग्य नहीं है। आज कलके नास्तिक भी ऐसा ही कहा करते हैं। आज कल भी अंग्रजीके विद्वानोंका सूत्र अंग्रेजी भाषामें यों बना हुआ है, कि (Eat drink and be merry thats all)।

इसी तात्पर्यको यहां भगवान अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि ये असुरजन कामभोगहीको अपना पुरुषार्थ जानकर कहाकरते हैं, कि

"एतावदिति" जो कुछ है यही स्त्रियोंके संग विहार करनेके निमित्त कामक्रीडाही है इससे इतर सृष्टिमें अन्य कुछ विशेषकार्य साधनीय नहीं है न कहीं ईश्वर है, न ब्रह्म है, न माया है और न जीव है जो कुछ है यह देह है।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः**] ये जो असुर जन हैं वे सैकडों आशाओंकी डोरीसे बंधेहुए रहते हैं और कामक्रोधपरायण रहते हैं आकाशके तारागणोंकी गणना होजावे तो होजावे पर इनकी आशाओंकी गणना करनेमें लीलावती देवी भी थक कर बैठजाती है। जैसे मछली वंशीमें फंस कर दुःख पाती है और जैसे मृग रागमें फंसकर बहेलियाका दंड सहन करता है इसी प्रकार ये दुर्बुद्धि भी आशाके बोरमें फंसकर दुःख झेलते हैं। आशाकी नदीमें ऊबडूब करते रहते हैं "**आशानाम नदी मनोरथजला तृष्णातरंगाकुला**" अर्थात् यह जो आशाकी नदी है इसमें मनोरथका जल भराहुआ है और इसके भीतर तृष्णारूप तरंगोंके समूह लहरें लेरहे हैं जो इसमें पडता है वह झकोडोंको खाताहुआ बहता ही चलाजाता है कहीं उसका पता नहीं लगता। फिर ये कैसे हैं, कि कामक्रोधपरायण हैं अर्थात् काम और क्रोध जो रजोगुणके धर्म हैं इनमें ये मूर्ख सदा तत्पर रहते हैं। अर्थात् पशुओंसे भी ये अधिक कामी होते हैं कपोत (कामी पक्षी) अनुक्षण कामक्रीडामें रत रहता है वह भी इन दुष्टोंकी कामक्रीडाको देख लज्जित होजाता है। सर्प बडा क्रोधी है पर वह भी इनके क्रोधसे लज्जित होजाता है क्योंकि सर्पके विषकी तो औषधि वा नाना प्रकारके मंत्र

और झाड फूंक हैं पर इन असुरोंके क्रोधरूप विषसे मारेहुएको कोई औषधि नहीं लगती और न किसी प्रकारका झाड फूंक काम करता है ।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्**] ये आसुरी सम्पत्वाले केवल कामभोगके निमित्त अन्यायसे द्रव्यराशियोंकी प्राप्ति करनेकी चेष्टा करते रहते हैं क्योंकि कामादि क्रीडामें रत रहनेवालोंको द्रव्यकी अधिक आवश्यकता होती है इसी कारण पहले अपने बाप दादाकी कमाई वेश्या देवीको अर्पण कर जब दरिद्र होजाते हैं तब अन्यायसे द्रव्य उपार्जन करनेकी चेष्टा करते हैं पर अन्यायसे द्रव्य कभी एकत्र नहीं होसकता अन्यायियोंके समीप लक्ष्मी टिकने नहीं चाहती यदि इन अन्यायियोंको पूर्वजन्मार्जित पुण्यसे लक्ष्मीकी प्राप्ति भी होजावे तो वह लक्ष्मी इनके घरमें अधिक नहीं ठहरती शीघ्र बिदा होजाती है । इसी कारण भगवान्ने ' ईहन्ते ' पदका प्रयोग किया अर्थात् न्यायसे तो इनके घरमें द्रव्य एकत्र होहीगा नहीं इसलिये केवल अन्यायसे द्रव्य एकत्र करनेकी चेष्टा करते-करते मरजाते हैं । इसी कारण भगवान्ने इनकी चिन्ताको प्रलयान्त तक अर्थात् मरणपर्य्यन्त स्थिर रहनेवाली कहा है ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जितने चोर, चाण्डाल, डाकू, फँसियारे, लुटेरे, व्यभिचारी, धूर्त्त, कसाई आदि इस संसारमें हैं सबोंका जन्म आसुरीसम्पदासे है इसमें तनक भी सन्देह नहीं ॥ ११, १२, ॥

अब भगवान् इन असुर पुरुषोंके अपार लोभ और तृष्णा तथा उनके मनोराज्यको अगले चार श्लोकोंमें स्पष्टरूपसे वर्णन करते हैं—

मू०— इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥ १४
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६

पदच्छेदः— अद्य (इदानीम्) मया, इदम् (गोहिरण्यादिधनम्) लब्धम् (प्राप्तम्) इदम्, मनोरथम् (अभिलाषम् । मनसः प्रियम् । मनस्तुष्टिकरम्) प्राप्स्ये (लप्स्ये) इदम् (वर्तमानं धनम् । पुरैव सञ्चितम्) मे (मम गृहे) अस्ति (वर्तते) पुनः [मे] इदम्, अपि, धनम् (वित्तम्) भविष्यति [अद्य] असौ, शत्रुः (वैरी) मया, हतः (नाशितः) अपरान् (अन्यान्) च, अपि, हनिष्ये (नाशयिष्यामि) अहम्, ईश्वरः (सर्वेषां निग्रहे समर्थः) अहम्, भोगी (सर्वभोगोपकरणवान्) अहम्, सिद्धः (कृतार्थः । लब्धाखिलभोगसाधनः) बलवान् (बलेन

सम्पन्नः) सुखी (सुखवान् । सर्वथा नीरोगः) च, [अहम्] आढ्यः (धनादिभिः सम्पन्नः) अभिजनवान् (कुलीनः । पुत्र-पौत्रनप्तृभृत्यादिभिः सहायैः सम्पन्नः) अस्मि, मया, सदृशः (तुल्यः) अन्यः (अपरः) कः, अस्ति, [अहम्] यक्ष्ये (सर्वेषां दीक्षितानां परिभवाय यज्ञं करिष्यामि) दास्यामि (स्तावकेभ्यो नटादिभ्यश्च धनं वितरिष्यामि) मोदिष्ये (नर्तक्यादिभिः अतिशयं हर्षं प्राप्स्यामि) इति (एवम्) अज्ञानविमोहिताः (विविधम-विवेकभावमापन्नाः) अनेकचित्तविभ्रान्ताः (अनेकेषु मनोरथेषु प्रवृत्तं चित्तमनेकचित्तं तेन विभ्रान्ताः विक्षिप्ताः) मोहजालसमावृताः (अज्ञानजालेनात्यन्त गुम्फिताः । कार्याकार्यहिताहितसारासारहेयो-पादेयाविवेको मोहः स एव जालमिवावरणात्मकत्वात् तेन सम्यगावृताः । पक्षिण इव सूत्रमयेन जालेन बन्धनं गताः) कामभोगेषु प्रसक्ताः (विषयाणामुपभोगेषु प्रकर्षेण सक्ताः संलग्नाः) [सन्तः] अशुचौ (विष्मूत्रादि पूर्णे कश्मले) नरके (वैतरणयादौ) पतन्ति ॥ १३, १४, १५, १६ ॥

पदार्थः— (अद्य) आज (मया) मेरे द्वारा (इदम्) यह धन (लब्धम्) प्राप्त कियागया फिरे कल्ह (इदं मनोरथम्) इस अपने मनोरथको (प्राप्स्ये) प्राप्त करूंगा (इदम्) यह धन (मे) मेरेपास (अस्ति) पहलेसे है (पुनः) फिरे मुझको (इदम्) यह दूसरा धन (अपि) भी (भविष्यति) प्राप्त होगा । आज (असौ) यह (शत्रुः) मेरा शत्रु (मया) मेरे द्वारा (हतः) मारागया (च) और (अपरान्) दूसरे शत्रुओंको (अपि) भी

(हनिष्ये) मार डालूंगा (अहम्) मैं (ईश्वरः) सर्वसामर्थ्य-वान् ईश्वर हूं (अहम्) मैं (भोगी) सब भोगोंका भोगनेवाला हूं (अहम्) मैं (सिद्धः) सिद्ध हूं तथा मैं (बलवान्) बलिष्ठ हूं (सुखी) सर्वप्रकार सुखी हूं (च) और मैं (आढ्यः) धनादिसे सम्पन्न हूं फिर मैं (अभिजनवान) पुत्र, पौत्र, नाती, नौकर इत्यादिसे युक्त कुलीन (अस्मि) हूं (मया सदृशः) मेरे समान (अन्यः) दूसरा (कः) कौन (अस्ति) है। फिर (यक्ष्ये) मैं यज्ञ करूंगा (दास्यामि) अपने वन्दीजनोंको तथा नटोंको दान दूंगा एवम्प्रकारे (मोदिष्ये) यज्ञमें नटादिकोंको दान देकर हर्षित होऊंगा (इति अज्ञानविमोहिताः) इस प्रकार अज्ञान से विमोहित ये असुरजन (अनेकचित्तविभ्रान्ताः) नाना प्रकारके दुष्ट संकल्पोंसे भ्रममें पडेहुए विक्षिप्तचित्तवाले (मोहजालसमावृताः) अज्ञानके जालमें फँसेहुए (कामभोगेषु प्रसक्ताः) कामभोगोंमें पूर्ण प्रकार आसक्त रहतेहुए (अशुचौ) मलमूत्रसे भरेहुए महा अशुद्ध (नरके) वैतरणी इत्यादि नरकमें (पतन्ति) जा गिरते हैं ॥ १३, १४, १५, १६ ॥

भावार्थः— इन असुरजनोंके मनमें आशा, तृष्णा और नाना प्रकारके मनोरथोंसे किस प्रकार और ये किस प्रकार कामपरायण रहते हैं? तथा किस प्रकार क्रोधमें रत रहते हैं? किस प्रकार अभि-मानमें डूबे रहते हैं? फिर इनका अन्तमें क्या दण्ड होता है? और कैसी दुर्गति होती है? इन विषयोंको आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र चार श्लोकोंमें स्पष्टरूपसे वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [इदमद्य मया

लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम्] आज तो मैंने यह गो, हिरण्य, ग्राम इत्यादि नाना प्रकारकी संपत्तियोंको प्राप्त करलिया है कल्ह फिर मैं अपने अन्य मनोरथोंको प्राप्त करूंगा । एवंप्रकार ये मूर्ख नाना प्रकारके मनोरथोंको कहा करते हैं, कि [**इदमस्तीद-मपि मे भविष्यति पुनर्धनम्]** इतना धन तो पहलेका उपार्जन किया मेरे पास एकत्र ही है पर यह जो मेरे पडोसवाले मोतीराम सेठका बैंक है उसका सारा धन मुझे प्राप्त होजावेगा और सेठ मूल-चन्दके कपडेका मिल भी कल मुझे मिलजावेगा ।

एवंप्रकार लोभरूप प्रेतके मस्तकपर खेलतेहुए जब क्रोधका पिशाच भी शिरपर आचढता है तो विचारने लगता है, कि [**असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि]** आज तो मैंने अपने बडे दुर्जय शत्रु तांतिया डाकूको मार डाला है फिर मैं बचे-बचाये सारे शत्रुओंको भी मार डालूंगा एकको भी जीता न छोडूंगा किसीको फांसी दिलवा दूंगा किसीको खड्गसे दो टुकडे करवा दूंगा, किसीको शूली खिंचवा दूंगा, किसीको बमगोलोंसे उडादूंगा, किसीको तोपोंसे नाश करडालूंगा एवंप्रकार क्रोधवश होकर नाना प्रकारकी हत्याका संकल्प-विकल्प करतेहुए जहां दो-चारपर कुछ वल चलगया दो चार बडे दुर्जय शत्रुओंको नाश करडाला तहां मारे अभिमानके ऐसा सम-झने लगजाता है, कि [**ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बल-वान् सुखी]** मैं ईश्वर हूं क्योंकि सैकडों मनुष्योंको अपने वशमें दाबकर पीसडालनेका सामर्थ्य रखता हूं जिसको चाहूं जिलाऊं, जिसको चाहूं मारूं, जिसको चाहूं राजा बनादूं, जिसको चाहूं रंक बनादूं, फिर भोगी

भी मैं ही हूं भोगकी सारी सामग्रियां वेश्या, मदिरा, नाच, रंग, नट, बाजीगर, भडेले, महल, कोठे, अटारी, तकिये, तोशक, पलंग, हाथी, घोडे, नालकी, पालकी, खच्चर, गदहे, ऊंट, कुत्ते, बकरी और बकरे सब मेरे पास हैं। सहस्रों वेश्याओंके मध्य रसिया बनाहुआ डोलता हूं मेरे अंग २ में नाना प्रकारके अगर, चन्दन, तेल, फुलेल लगाये-जाते हैं, मेरे वस्त्रोंमें गुलाब, खस, मोतिया, नरगिस, जूही, अम्बर, मसाले इत्यादिकी सुगन्धसे सारी सभा सुगन्धित होजाती है, मेरे भोगोंके सामने इन्द्र भी लज्जित है इतना ही नहीं, कि भोगी हूं वरु भोगीके साथ २ सिद्ध भी हूं क्योंकि जैसे राजा जनक भोगी और योगी थे तथा कृष्णाचन्द्र भोगी और योगीश्वर भी कहलाते थे ऐसे मैं भी भोगी और सिद्ध हूं उन योगियोंको जैसे अणिमादि अष्टसिद्धियां और ९ ऋद्धियां घेरे रहती थीं इसी प्रकार वेश्यादि सिद्धियां और परस्त्री आदि ऋद्धियां मुझे घेरे रहती हैं फिर इन सिद्धोंसे मैं किसी प्रकार न्यून नहीं हूं वरु इनसे अधिक हूं। फिर मैं बलवान भी हूं मुझको बुद्धि-बल तथा शारीरिक बल भी पूर्णप्रकार प्राप्त है, मेरी बुद्धिके सामने बडे २ विद्वान् मूर्खोंके समान शिर झुकाये खडे रहते हैं, मैं चाहूं तो एक धक्केमें आसमानतकका छत तोड डालूँ, सूर्य और चन्द्रको चुटकीसे मसल डालूं, ताराओंको सिमेटकर मक्केके लावाके समान दांतोंसे चबा डालूं, अगस्त्य ऋषिका विन्ध्याचलका उठाना तथा रावणका कैलाशका उठाना तो किसीने देखा नहीं पर मैं चाहूं तो हिमाचलको उठाकर उत्तरसे दक्षिण दिशाको लेजाकर समुद्रमें बोर दूं, भला मेरे समान बलवान् कौन है ? फिर सुखी भी

मैं ही हूं क्योंकि मैं नित्य घृत, दूध, मलाई तथा नाना प्रकारके पौष्टिक अन्नोंको खाकर ऐसा पुष्ट होरहा हूं, कि किसी प्रकारका रोग मेरे समीप नहीं आसकता इस कारण मुझसे बढकर सुखी कौन है?

फिर [**आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योस्ति सदृशो मया**] मैं आढ्य हूं अर्थात पुष्कल धन मुझे प्राप्त है कुबेर जी धनका स्वामी कहलाता है वह भी मेरे सम्मुख एक रंकके सदृश है इस कारण विश्वमात्रके लक्ष्मीपात्रोंमें मैं श्रेष्ठ हूं साक्षात लक्ष्मी मेरे आंगनमें सन्ध्या सवेरे झाडू दिया करती है। फिर मैं अभिजनवान हूं अर्थात कुलीन हूं, उत्तमवंशका हूं तथा पुत्र, पौत्र, नाती, नौकर तथा पुष्कल परिवार मेरे सहायक हैं। जहां चलता हूं आगे पीछे मेरे कुटुम्बी मुझे घेरे हुए चलते हैं, मेरे समान दूसरा कौन है? कोई भी नहीं।

फिर [**यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः**] मैं अपने पुत्र पौत्रादिका विवाहरूप यज्ञ अच्छे विद्वान दीक्षितोंको बुलवाकर कराऊंगा और उस यज्ञमें भांड, नाई, नर्तक, वेश्या, कत्थक इत्यादि याचकोंको यथेष्ट दान दूंगा। एवम्प्रकार नर्तकोंका नाच इत्यादि देखते हुए और उनको दान देते हुए अपने कुटुम्बियोंके साथ परम मोदको प्राप्त होऊंगा।

अब भगवान् अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि ये असुरसम्पदावाले मूर्ख एवम्प्रकार नाना-विध मनोरथोंको करतेहुए अज्ञानतासे मोहित मानों आकाशको मुट्ठीमें बांधा चाहते हैं तथा ब्रह्मासे भी ब्रह्मपदको

छीनकर ब्रह्मासनपर बैठ दूसरी सृष्टिकी रचना किया चाहते हैं। अधिक कहांतक कहूं अज्ञानताके समुद्रमें एवम्प्रकार ऊब-डूब होतेहुए अपने को धन्य-धन्य और कृतकृत्य समझते हैं। जैसे शूकर कूकर मल-मूत्र के ढेरको पाकर अपनेको बडा भाग्यवान् धन्य-धन्य और कृतकृत्य समझते हैं ऐसे ये आसुरी सम्पदावाले मूर्ख एवम्प्रकार अपनेको बड-भागी मानतेहुए [**अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः**] जैसे वातुल (उन्मादरोगसे पीडित) तथा कठिन विसूचिका अथवा भूत प्रेतसे ग्रसेहुए तथा मद्य पीनेवाले मतवाले अक-बक बका करते हैं ऐसे ये मूर्ख असुरसम्पत्तिरूप बातरोग तथा उन्मादसे ग्रसित होकरे मिथ्या बक-बक लगाया करते हैं, इनका चित्त तो नाना प्रकारके संकल्प-विकल्पोंसे भराहुआ नाना प्रकारके भ्रमोंमें पडा रहता है इसी कारण भगवान्ने इनको **अनेकचित्तविभ्रान्त** कहा है। सच्चा मार्ग वा सच्चा धर्म तो इनको कभी सूझता नहीं पर जैसे कामलारोगवालेको सब वस्तु-तस्तु पीली-पीली भासती हैं ऐसे इन मूर्खोंको सारा विश्व काममय भासता है एवम्प्रकार विविध विकल्पोंसे भ्रममें पडेहुए और अन्तःकरणमें बहु प्रकारके मनोरथोंके प्रवेश करजानेके कारण एक दूसरेकी पूर्ति करनेमें कभी २ विस्मृति होजानेसे विक्षिप्तचित्त होकर आगे-पीछेका कुछ भी ध्यान नहीं रखनेसे बावलोंके समान इधर-उधर भ्रमते फिरते तथा मोहके जालमें घिरे रहते हैं।

फिर ये असुरवृन्द कैसे हैं, कि [**प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ**] विषयके भोगोंमें अहर्निश पूर्ण-

प्रकार तनमनसे प्रसक्त रहते हैं। दिनरात जो कुछ अपनी बुद्धिमानी को व्यय करते हैं इसी काम भोगकी तयारीमें करते हैं नित्य नवीन रंग में रँगे रहते हैं। ये मूर्ख विषयके वनमें विहार करतेहुए मृगराजके समान निश्शंक फिरते हैं। कामभोगमें इनको जाति, पांति, धर्म, अधर्म, उचित अनुचित किसी प्रकारका विचार नहीं रहता। कोई हो अपने सम्बन्धमें किसी प्रकारका लगाव उससे क्यों न हो पर जहां युवती षोडशी देखी और अपनी शय्याकी अधिकारिणी बनाली। अन्त में जाते-जाते इनकी क्या दशा होती है, कि कुष्ठ, पक्षाघात, उपदंश इत्यादि रोगोंसे ग्रस्त हो मरणके समय यमदूतोंके फन्दे पड यमदण्डोंसे पीटेजातेहुए मल, मूत्र, लार, कफ, रुधिर, मज्जा इत्यादि कश्मल पदार्थोंसे भरीहुयी वैतरणीमें डालदियेजाते हैं जहां अधिक दुःख पाते हैं और चिल्लाते हैं, कि हा!!! वह काज क्यों न किया जो आजके दिन काम आता। इन ही आसुरी सम्पदावालोंके लिये भगवान्ने २८ नरकोंकी तथा अनगिनत कुण्डोंकी रचना करडाली है जिनका वर्णन पहले होचुका है ॥ १३, १४, १५, १६ ॥

इतना सुन अर्जुनने भगवान्से पूछा, कि हे करुणासागर! रावण, कुम्भकर्ण इत्यादि राक्षस भी यज्ञोंके संपादन करनेवाले हुए हैं तथा वर्त्तमान कालमें भी बहुतेरे आसुरी संपदावाले यज्ञ करतेहुए देखेजाते हैं फिर इनको इन यज्ञोंका कुछ फल होगा वा नहीं? इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् कहते हैं।

मू०—आत्मसम्भाविताः स्तब्धाः धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

पदच्छेदः— आत्मसम्भाविताः (आत्मनैवात्मानं महान्तं मन्यन्ते ये ते । आत्मनैव पूज्यतां प्रापिता नत्वन्यैः) स्तब्धाः (अनम्राः । अविनीताः) धनमानमदान्विताः (धनेन यो मानो मदश्च ताभ्यामन्विताः) ते, दम्भेन (धर्मध्वजित्वरस्थापमहेतुना) नामयज्ञैः (नाममात्रेण यज्ञसंज्ञा येषां तैः) अविधिपूर्वकम् (विधिरहितम्) यजन्ते (यज्ञान् सम्पादयन्ति) ॥ १७ ॥

पदार्थः— (आत्मसम्भाविताः) अपने आप अपनेको श्रेष्ठ और महान् माननेवाले (स्तब्धाः) नम्रतासे रहित परम उद्दण्ड (धनमानमदान्विताः) अधिक धनी होनेके कारण तिस धनके मान और घमण्डसे भरेहुए जो असुरसम्पदावाले मनुष्य हैं (ते) वे (दम्भेन) केवल पाखण्ड करके अपनेको पूज्य बनानेकेलिये (नामयज्ञैः) अपना नाम संसारमें प्रसिद्ध करनेकेलिये यज्ञोंका नाम मात्र लेकर (अविधिपूर्वकम्) श्रुति और स्मृतिकी विधिसे रहित (यजन्ते) उनका सम्पादन करते हैं ॥ १७ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवान्से पूछा है, कि इन असुर पुरुषोंमें मैंने बहुतोंको यज्ञ करते सुना है और देखा है इसका कुछ फल इनको होगा वा नहीं उसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं, कि [आत्मसम्भाविताः स्तब्धाः धनमानमदान्विताः] जो अपने आपको श्रेष्ठ माननेवाले हैं उदंडतासे पूर्ण हैं तथा मान और

मदसे युक्त हैं अर्थात् जो लोग अपनेसे अपनी श्रेष्ठता चाहते हैं और अपने मुँहसे अपनेको महात्मा कहते हैं दूसरा कोई साधु वा गृहस्थ उनको श्रेष्ठ नहीं कहता अर्थात् जो अपने मुंह आप मियां मिट्ठू बनते हैं तथा मारे घमंडके ऐसे फूले रहते हैं, कि नम्रताका तो नाम भी नहीं जानते हैं नम्रता, विनय, कोमलता और सज्जनता जिनकी कठोरताको देख दूरे भागी हुई रहती हैं ।

अभिप्राय यह है, कि जैसे पर्वतके समीप जाकर कुछ विनय वा प्रार्थना कीजिये वा कुछ मांगिये तो वह किसीका कुछ सुनता ही नहीं न कुछ उत्तर देता है इसी प्रकार ये मूर्खताके मारे मूर्ख कभी किसीका कुछ सुनते नहीं स्तब्ध रहते हैं मुंह फुलाये किसीकी ओर देखते नहीं फिर धनके मदसे फूले रहते हैं क्योंकि " धनं मदाय " इस प्रसिद्ध वचनके अनुसार मूर्खोंकेलिये धन केवल मद ही का कारण है । ऐसे पुरुषोंके लिये भगवान् कहते हैं, कि [**यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्**] ये असुर पुरुष केवल नाममात्र यज्ञसे यजन करते हैं । अर्थात् ये ऐसे मूर्ख होते हैं, कि केवल झूठा यज्ञका नाम लेकर आसपासके लोगोंको इकट्ठा कर यज्ञका नाम प्रसिद्ध करते हैं पर न तो यज्ञमें किसी प्रकारकी सामग्री रखते, न विधिपूर्वक वेदी बनाते हैं, न साकल्यशोधन करते हैं, न भूमिशोधन करते हैं, न उस यज्ञमें आप बैठते हैं और न अपनी धर्मपत्नीको बिठालते हैं बिचारे आचार्य्यपर झूठ-मुठ अपना प्रभाव जमाते हुए बारबार आज्ञा करते हैं, कि बाबाजी ! शीघ्र समाप्ति कीजिये

भूख लगगयी है, कचहरी जाना है यदि मुझसे भी आहुति फिकवांना हो तो मेरे हाथमें तिल यव देदीजिये मैं हवनकी आगमें फेकदूँ क्या अन्धेर है, कि ये असुरपुरुष कोट, बूंट, हैट पहनेहुए आहुति डालते हैं इसी कारण इनका यज्ञ करना दम्भसे भरा है और विधिपूर्वक नहीं कहा जासकता अविधिपूर्वक और नाममात्रके लिये है। इसीलिये रावण मेघनादादि राक्षसोंने जो युद्धमें विजय पानेकेलिये यज्ञ आरम्भ किया था वह समाप्त भी न हुआ और न उसका कुछ फल ही हुआ॥ १७॥

इन असुर सम्पदावालोंका यज्ञ इत्यादि करना नामयज्ञ कहला कर अविधिपूर्वक क्यों कहाजाता है? तिसके अन्य अनेक विशेष कारणों को भी भगवान् अगले श्लोकमें स्पष्टरूपसे वर्णन करते हैं—

मू०— अहंकारं वलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
ममात्मपरदेहेषु प्रद्विषंतोऽभ्यसूयकाः॥ १८॥

पदच्छेदः— अहंकारम् (अहमेव सर्वश्रेष्ठ इति बुद्धिः तम। विद्यमानैरविद्यमानैश्च गुणैरात्मन्यध्यारोपितैरात्मनो विशिष्टत्वाभिमानमविद्याख्यं कष्टतमं सर्वदोषाणां सर्वानर्थप्रवृत्तीनां च मूलम) वलम (पराभिभवनिमित्त शरीरादि सामर्थ्यविशेषम) दर्पम (क्रूरस्वभावताम्। धर्मातिक्रमहेतुमन्तःकरणाश्रयं दोषविशेषम्) कामम (दृष्टादृष्टस्त्र्यादिविषयाभिलाषम्) क्रोधम (कामप्रतिघातजन्यतीव्राक्रोशवृत्तिविशेषम्) च, संश्रिताः (आश्रित्य वर्त्तमानाः) आत्मपरदेहेषु (असुरसम्पदुत्पन्नस्वदेहेषु तथान्यपुरुषाणां देहेषु) माम (चिदाभासरूपेण वर्त्तमानं महेश्वरम) प्रद्विषन्तः (प्रकर्षेणद्वेषं कुर्वन्तः। श्रुतिस्मृतिरूपभगवच्छासनातिवर्त्तित्वं तदुक्तार्थानुष्ठानपराङ्मुखत्वम् भग-

वद्द्वेषस्तं कुर्वन्तम्) अभ्यसूयकाः (सन्मार्गवर्त्तिनांगुणेषु दोषारोपकाः) [यजन्ते] ॥ १८ ॥

पदार्थः— (अहंकारम्) वृथा अभिमानको (बलम) मिथ्या सामर्थ्यको (दर्पम्) दर्प अर्थात् धर्मके उल्लंघनरूप दोषविशेषको फिर (कामम्) स्त्री इत्यादि विषयोंको (क्रोधम) कामना पूर्ण न होनेसे मनके क्षोभविशेषको (च) भी (संश्रिताः) आश्रय करके (आत्मपरदेहेषु) अपने और परायेके शरीरमें स्थित (माम) मुझ परमेश्वरसे (प्रद्विषन्तः) द्वेष करते हुए जो (अभ्यसूयकाः) सन्मार्गके निन्दक हैं [यजन्ते] वे नामयज्ञका सम्पादन करते हैं अर्थात् ऐसे पुरुषोंका यज्ञ सम्पादन करना नाममात्रके लिये है ॥ १८ ॥

भावार्थः— अब श्रीगोलोकविहारी जगत्हितकारी अर्जुनके प्रति स्पष्टरूपसे नामयज्ञ करनेवाले असुरजनोंके यज्ञको अविधिपूर्वक करनेका अन्य कारण दिखलातेहुए कहते हैं, कि [**अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधञ्च संश्रिताः**] अहंकार, बल, दर्प, काम और क्रोधके आश्रय होकर ये असुरजन यज्ञादिका सम्पादन करते हैं। तात्पर्य यह है, कि इनको संसारमें सबसे श्रेष्ठ कहलानेकी अभिलाषा बनी रहती है यदि कोई विद्वान्, महात्मा वा यथार्थ धनी जो कर्णादि के समान दानादिमें प्रवीण हो वह श्रेष्ठ कहलानेकी इच्छा रखे तो योग्य भी होसकता है पर जो ऐसे विद्वान् इत्यादि हैं वे चाहे कैसे भी गुणी क्यों न हों श्रेष्ठ कहलानेकी इच्छा नहीं करते संसार स्वयं उन को श्रेष्ठ कहता है उन्हीको महात्मा और सज्जनकी पदवी मिलती है। पर ये मूर्ख जो असुरसम्पदामें उत्पन्न हैं वृथा विना किसी प्रकारके

गुणके अपनेको सर्वश्रेष्ठ कहलानेकी इच्छा रखते हैं और मारे अभिमानके अपनेको बड़ा कहते हैं सो भगवान पहले भी कहआये हैं और इन मूर्खोंको आत्मसंभावितकी पदवी देआये हैं इनकी उसी पदवीको अधिक बढाकर कहनेकेलिये पहले अहंकारका कुत्सित आभूषण इनके गलेमें पहनाकर कहते हैं, कि ये केवल अहंकारी ही नहीं होते वरु अहंकारके साथ अपने वृथा बलको भी लगाते हैं अर्थात छोटे-मोटे बेचारे दीनदुखियाओंको दुःख देते हैं तथा पड़ोसके नम्र और सज्जनपुरुषोंके ऊपर अपना बल दिखलाकर उनकी पृथ्वी उनकी सीमा दाबलिया करते हैं उनपर झूठे अभियोग लगाकर उनको द्रव्यद्वारा पीडा देकर अपने वशमें रख उनसे अपनी बडाई करवाया चाहते हैं। जसे अन्धकार रात्रिको अधिक अंधेली करनेकेलिये कालाबादल घिरआवे तथा किसी कालीखपडीपर कालिखकी रेखा देदीजावे अथवा किसी कम्बलपर अलकतराका रंग चढायाजावे और किसी हवशीके मुखपर काजल लपेट दिया जावे ऐसे ही इन मूर्खोंके अहंकारपर मानों मिथ्यात्व का ही काला पुट चढजाता है फिर तो दिन-रात इनका अभिमान एवम्प्रकार पुटपर पुट पाता हुआ अधिक बलवान होता हुआ मानों आकाश लगजाता है।

एवम्प्रकार वृथा अभिमान और मिथ्या बलके एकत्र होनेसे इनका दर्प भी बढ जाता है फिर तो सत पूछो सर्वप्रकारके सन्मार्गोंको रसातल पहुंचानेके लिये और धर्मका घर उजाड़ देनेकेलिये ये अपने क्रूरस्वभावको पूर्ण अवकाश देते हैं मानो अपने दर्प रूप अथाह समुद्रकी लहरोंमें धर्म और नीतिकी नौकाओंको बोर देते हैं। एवम्प्रकार जब धर्मकी दृष्टि इनके दर्प रूप अन्धकारसे अंधी होजाती है तो

इनको कामके मैदानमें चौगान खेलनेका अवसर मिलता हैं स्त्रियोंके लाड, प्यार, चुम्बन, आलिंगनेंम बिना रोक-टोक धूम मचाते हैं। यदि इनके कामकी पूर्त्तिमें किसी प्रकारकी रुकावट सामने आगयी तो इनके हृदयमें " **कामात्क्रोधोऽभिजायते** "भगवान्के इस वचनानुसार क्रोधकी आग भडक उठती है फिरे तो मारे क्रोधके ये अपना मुंह आप नोचने लगजाते हैं, अपनी दाढी आप खसोटने लगजाते हैं, अपने दांतोंसे अपना होठ काटने लगजाते हैं, अपनी कलाई अपने हाथसे मरोडने लगजाते हैं और आंखें लाल कर दांतोंको कटकटाते हुए कुत्तोंके समान भौंकने लगजाते हैं।

अब भगवान् कहते हैं, कि एवम्प्रकार अहंकार, बल, दर्प, काम और क्रोधको आश्रय करके ये असुरजन [**ममात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः**] जो गुणी पुरुषोंके गुणकी ओर न देखकर उनकी निन्दा करते हैं जिनके दोनों नेत्र ऐसे फूटे हुए हैं, कि महात्माओंके महत्त्व, विद्वानोंकी विद्वत्ता, सज्जनोंकी सज्जनता, भक्तोंके हृदयकी निर्मलता, वीरोंकी वीरता, धीरोंकी धीरता और विचारवानोंकी बुद्धिकी गम्भीरताकी ओर न देखकर सदा इनकी निन्दा करते रेहते हैं। परायेके गुणमें दोष आरोपण करनेका नाम अभ्यसूया है तिस अभ्यसूया दोषसे ये असुरजन भरे रहते हैं ऊपरसे सम्मुखमें तो हँसकर बडे लोपचोपकी बातें करते हैं पर पीछेमें किसीकी भी बिना निन्दा किये नहीं रहते ऐसे जो असुरजन हैं वे अपनी देहमें तथा परायेकी देहमें चैतन्यरूपसे निवास करनेवाला जो मैं तिससे भी द्वेष करने लगजाते हैं।

भगवान्के ऐसा कहनेसे तात्पर्य यह है, कि वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण इत्यादिमें जो मेरी आज्ञा है उसका उल्लंघनकर उसके किसी भी अंगको नहीं मानते यही मानों मुझसे द्वेष करना है॥ १८

ऐसे अभ्यसूयकों, अहंकारियों, कामियों और क्रोधियोंकी भगवान् क्या दुर्दशा करते हैं ? सो अगले श्लोकमें स्पष्टरूपसे दिखलाते हैं—

मू०— तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

पदच्छेदः— अहम् (सर्वकर्मफलदातेश्वरः) तान् (पूर्वोक्तान् असुरजनान् सन्मार्गप्रतिपक्षभूतान्) [साधून् मां च] द्विषतः (द्वेषं कुर्वतः) क्रूरान् (भूतद्रोहकर्तॄन् । हिंसापरान्) नराधमान् (चाण्डालान् । अतिनिन्दितान्) अशुभान् (अमंगलान्) संसारेषु (जन्ममृत्युमार्गेषु । नरकसंसरणमार्गेषु) आसुरीषु (अतिक्रूरकर्मपरासु व्याघ्रसर्पादिषु) योनिषु, एव, अजस्रम् (सततम्) क्षिपामि (पातयामि) ॥ १९ ॥

पदार्थः— भगवान् कहते हैं, कि (अहम्) मैं (तान्) उन (द्विषतः) साधुओंसे और मुझसे द्वेष करनेवाले (क्रूरान्) क्रूर स्वभाव वाले (नराधमान्) अधम नीचसे नीच (अशुभान्) अमंगलस्वरूप असुरजनोंको (संसारेषु) नरक लेजाने वाले संसृतिमार्गमें (आसुरीषु) अति क्रूर कर्म करनेवाली व्याघ्र सर्पादियोंकी (योनिषु) योनियोंमें (एव) निश्चय करके

(अजस्रम्) सर्वदा (क्षिपामि) फेंकदिया करताहूं अर्थात् ऐसे पुरुषोंको निकृष्ट योनियोंमें डालदिया करता हूं ॥ १६ ॥

भावार्थः— पूर्वमें भगवान् जब असुरसम्पादावालोंके लक्षण अर्जुनके प्रति वर्णन करचुके अर्थात उनकी नास्तिकता और क्रूरता को दिखला चुके तब अर्जुनने भगवान्से यह पूछा था, कि भगवन् ! ऐसे पुरुषोंको क्या कुछ दण्ड नहीं होता ? अर्जुनके उसी प्रश्नके उत्तरमें भगवान कहते हैं, कि [**तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् । क्षिपाम्यजस्रमशुभान्**] मुझसे और साधुओंसे द्वेष करने वाले नीचातिनीच अमंगलस्वरूप तिन असुरजनोंको मैं निकृष्ट योनियोंमें फेंकदिया करता हूं । मैं जो ब्रह्मलोकसे पाताल पर्य्यन्तके देव, दनुज, नाग, किन्नर, पितर, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट इत्यादि जीवोंको उनके कर्मानुसार फलोंका देनेवाला हूं सो इन असुरसम्पदावाले धर्ममार्गके विरोधी वेदशास्त्रोंके निन्दक नराधम साक्षात चाण्डालस्वरूप इन असुरजनोंको मैं बार-बार संसारके मार्गमें फेंकता रहता हूं । कैसे स्थानमें फेंकता हूं ? सो सुन ! [**आसुरीष्वेव योनिषु**] अशुभ आसुरी योनियोंमें अर्थात् कूकर, शूकर, व्याघ्र, सर्प, चाण्डाल इत्यादि योनियोंमें फेंकता रहता हूं ।

शंका— भगवान्ने जो अर्जुनके प्रति ऐसा कहा, कि मैं इस असुरसम्पदावाले क्रूर और अधर्मोंको महा घोर अशुभ आसुरी योनियोंमें फेंकदिया करता हूं इससे ऐसा सिद्ध होता है, कि भगवान्में

विषम-दृष्टि और निर्दयी होनेका दोष है फिर भगवान्‌को समदर्शी और दयावान् कहना कैसे बने ?

समाधान— सुनो ! भगवान् सदा निर्दोष है उसमें ये दोष कदापि नहीं लगसकते भगवान् तो सबोंपर समान ही दृष्टि रखता है पर जीवोंको अपने २ पाप पुण्य कर्मोंके अनुसार ये विषम-फल मिलते हैं क्योंकि शुभ अशुभ कर्मोंके बीजानुसार ही अंकुर फूटता है फिर उसीके अनुसार आगे डाल, पात, फूल, फल, सब लगते हैं इसमें भगवान्‌का कुछ भी दोष नहीं है कर्मोंके बीजका दोष है। देखो ! मेघमाला पृथ्वीपर सर्वप्रकारके क्षेत्रोंमें समानरूपसे जलकी वृष्टि करती है पर धानके बीजसे धान, गोधूमके बीजसे गोधूम, आमके बीजसे आम, महाकारीके बीजसे महाकारी तथा धतूरेके बीज से धतूरा उपजता है इसमें मेघमालाके बरसानेवाले इन्द्रदेवका कुछ भी दोष नहीं है आमके फल स्वादु और अमृतके समान मीठे होते हैं तथा महाकारी और धतूरेके फल तीते और विषैले होते हैं इसमें केवल बीजका ही भेद है। न मेघमालाका दोष है और न पृथ्वीका दोष है ये दोनों समानरूपसे आम वा महाकारीके वृक्षको पुष्ट करते हैं।

सुनो ! वेदान्तके कर्ता महर्षि व्यासदेव अपने ब्रह्मसूत्रमें कहते हैं, कि "**वैषम्यं वै घृण्येन सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति**"।

अर्थ— ईश्वरमें विषमता वा निर्दयता दोषकी प्राप्ति नहीं है क्योंकि वह रागद्वेषसे वा निर्दयी होनेसे सृष्टिकी रचना नहीं करता वरु धर्मोंकी सापेक्षतासे ही सृष्टि करता है अर्थात् शुभ और अशुभकर्मोंके बीज जैसे लगते हैं उन ही के अनुसार जीवोंको उत्पन्न करता है।

यदि यह कहो, कि सबसे प्रथम जो सृष्टि हुई और जीवोंमें कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई दयावान्, बुद्धिमान् और कोई निर्दय, मूर्ख तथा दैवीसम्पदावाले देवगण और असुरसम्पदावाले असुरगण उत्पन्न हुए इनके कर्मबीज कहां थे ? तो उत्तर यह है, कि यह सृष्टि अनादि है इसका किसी समय पहले पहल होना सिद्ध नहीं होता इसके अनादि होनेके विषय ब्रह्मसूत्र कहता है, कि " **न कर्मविभागादिति चेन्नानादित्वात्** " (ब्रह्म सू० अ० २ पा० १ सू० ३५) अर्थ— ऐसा मत समझो, कि शुभाशुभ कर्म इस सृष्टिविभेदके कारण नहीं हैं अवश्य कर्म ही इस सृष्टिमें दुःख, सुखादि विभेदके कारण हैं सो इनका किसी समय पहले पहल प्रादुर्भाव होना कभी सिद्ध नहीं होसकता क्योंकि ये कर्मबीज '**वटबीजन्यायसे**' अनादि हैं।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जैसे बीजसे बट और बटसे बीज होता है ऐसे कर्मसे संसार और संसारसे कर्म उत्पन्न होता चला आता है।

लो और सुनो ! जिस समय जरत्कार ऋषिने याज्ञवल्क्यसे पूछा है उस समय याज्ञवल्क्य कहते हैं, कि " **ॐ पुण्यो ह वै पुण्येन कर्मणा भवति पापं पापेनेति** " (बृह० अ० ३ ब्रा० २ श्रु० १३)

अर्थ— पुण्यकर्मोंके करनेसे पुण्यात्मा होकर जन्म पाता है और पापकर्मोंके आचरणसे पापात्मा होकर उत्पन्न होता है। शंका मत करो !

शंका— परमात्मा तो परम दयालु, कृपासागर तथा क्षमासागर है फिर वह इन दुष्टोंके ऊपर दया करके इनसे पुण्यसाधन करवा कर इनके पापोंका नाश क्यों नहीं करता ?

समाधान— इसमें सन्देह नहीं है, कि परमात्मा सत्यसंकल्प है, जो चाहे करसकता है इन दुष्टोंके पापोंका नाश करसकता है पर उसने जो अपनी सृष्टिमें नियम बना रखा है उस नियमका यदि बार-बार उल्लंघन करे तो न्यायकारी नहीं समझा जावेगा पक्षपाती समझा जावेगा क्योंकि यदि वह बिना कारण एकका भी अपराध क्षमा करदेगा और दूसरोंका न करेगा तो उसमें पक्षपातका दोष लगजावेगा इसलिये वह किसीका अपराध क्षमा नहीं करता। कर्मके नियमानुसार जीव नरक और स्वर्गको भोगते चले जारहे हैं और बार २ उनका जन्म मरण होता चला जारहा है यही संसारका नियम है यह नियम टूट नहीं सकता। नियम टूट जावे तो सृष्टि क्षणमात्रके लिये भी स्थिर नहीं रहसकती क्योंकि जब नियम न रहातो न्यायकारीकी भी आवश्यकता नहीं रहेगी यह न्यायकारी तो नियमित धाराओंके ऊपर न्याय करता है। फिर उस न्यायकारीका नियम यही है, कि पापात्मा दुःख भोगे पुण्यात्मा सुख भोगे।

इसलिये भगवान् कहते हैं, कि " क्षिपाम्यजस्रम् " असुर सम्पत्ति वालोंको नरकमें फेंकदेता हूं अर्थात् मेरा नियमित किया हुआ नियम ही मेरे द्वारा उनको नरकमें फेंकवाता है। शंका मत करो!

शंका— जब परमात्मा अपने नियमके ही बन्धनमें रहता है और किसीका अपराध क्षमा नहीं करता तो उसे क्षमासागर और पतित पावन क्यों कहते हैं?

समाधान— वह महाप्रभु अवश्य क्षमासागर और पतित-पावन है यदि तुम सहस्रब्राह्मणोंको मारकरे सहस्रों साधुओंके आश्रम

उजाडकर सहस्रों देवालयोंको तोडकर सारे वेदशास्त्रकी आज्ञाका उल्लंघनकर एकबार " त्राहि नारायण ! " त्राहि माम " कहकर भगवत्के सम्मुख हो उनके चरणोंका आश्रय ले अपने अपराधोंकी क्षमा मांगते हुए यों प्रतिज्ञा करो, कि हे नाथ ! अबसे मैं आपके चरणोंकी शरण न छोड़ूंगा अन्य न अन्य किसी प्रकारके पाखण्डकी ओर मुख करूंगा अब मेरे अपराधोंको क्षमा करो तो इसमें तनक भी सन्देह नहीं है, कि वह आनन्दकन्द तुम्हारे ऐसे घोर पापोंको एकबारगी क्षमा करदेगा पर तुमको दृढ प्रतिज्ञा रखनी होगी, कि भगवद्भजन और शुभकर्मोंको छोड पापकी ओर आंखें उठाकरे भी मत देखो, सदा भगवत् सम्मुख रहो फिर तो तुम्हारे सारे पाप ऐसे भस्म होजावेंगे जैसे रूईका पर्वत आगकी चिनगारीसे । इसी कारण भगवान् क्षमासागर और पतितपावन कहा जाता है । पर तुम इतना तो सदा स्मरण रखो, कि जबतक भगवत्-सम्मुख न होगे और लौट २ कर पाप किया करोगे तबतक तो एक चींटीके मारनेके पापकी भी क्षमा न होगी । क्योंकि तबतक भगवान्‌का नियम ही तुम्हारे ऊपर काम करता रहेगा । और सब छोड जब उसकी शरण आजाओगे और उसकी भक्ति करनेलगजाओगे तब तो तुम कैसे भी पूर्वके दुराचारी क्यों न हो कैसे भी पतित क्यों न हो पावन कर ही दिये जाओगे । क्योंकि भगवान् इसी गीताशास्त्रमें अपने मुखसे पहले कहआये हैं, कि " अपि चेत्सुदुराचारः " (देखो अध्याय ९ श्लो० ३०)

असुरसम्पदावाले कभी भूलकर भी भगवत्सम्मुख नहीं होना चाहते इसलिये भगवत्कृपा उनपर नहीं होती यदि वे सम्मुख

होजावें तो अवश्य भगवत् जो सत्यसंकल्प है उनपर दयाकर उनके अपराधोंको क्षमा करेहीगा यही ६३ और ३६ के अंकके समान सम्मुख और विमुख होनेका भेद है ।

प्रश्न— विमुख होनेवालेके एक चींटी मारनेका अपराध भी न क्षमा हो और सम्मुख हुएके सहस्रों ब्रह्महत्याओंके पाप क्षमा किये जावें तो क्या यह विषमदृष्टि और पक्षपात नहीं है ?

उत्तर— विषमदृष्टि वा पक्षपात तब कहाजावेगा, कि जब एक सम्मुख आयेहुएका अपराध क्षमा हो और दूसरे सम्मुख आये हुएका न हो सो ऐसा नहीं है चाहे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके जीव अनगिनत पापोंको कर भगवत्सम्मुख आजावें तो क्षमासागर सबको समानदृष्टिसे उद्धार करदेगा पर विमुखोंमें एकका भी नहीं उद्धार होसकेगा इसलिये यह भी मानों भगवत्के सब नियमोंमें एक नियम है, कि सम्मुख आये हुएका उद्धार तथा निस्तार और विमुखका सदा संहार ही हुआ करता है । गोस्वामी तुलसीदासजी रामायणमें कहते हैं, कि " **सम्मुख होय जीव मोहिं जब ही । कोटिजन्म अघ नाशौं तब ही ॥ कोटि विप्रबध लागै तेही । आवै शरण तजौं नहिं तेही ॥** "

यहां इस श्लोकमें भगवान्के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि असुरसम्पदावाले जो जन्मजन्मान्तर मुझसे विमुख रहते हैं उनको मैं घोर आसुरी योनियोंमें डालदिया करता हूं ॥ १६ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा, कि हे भगवन् ! ये जो असुरसम्पदावाले प्राणी हैं वे अनेक जन्मोंमें दुःख भोगनेके पश्चात् कभी तो पुण्यके उदय होनेसे शुभ गतिको प्राप्त होंगे ? यदि ऐसा नहीं है तो

इनकी कैसी गति होती है। सो कृपाकर कहो इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं—

मू०— आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥
॥ २० ॥

पदच्छेदः— [हे] कौन्तेय ! (कुन्तीपुत्रार्जुन !) मूढाः (अविवेकिनः । असुरजनाः) जन्मनि (उत्पत्तौ) जन्मनि (उत्पत्तौ) आसुरीम् (नारकीम्) योनिम्, आपन्नाः (प्राप्ताः । प्रतिपन्नाः) माम् (महेश्वरम्) अप्राप्य (अनासाद्य) एव (निश्चयेन) ततः (तस्मात्) अधमाम् (पूर्वपूर्वनिकृष्टयोनितोऽतिकृष्टतमाम् कृमिकीटादिरूपाम्) गतिम् (दशाम्) यान्ति (गच्छन्ति । प्राप्नुवन्ति) ॥ २० ॥

पदार्थः— (कौन्तेय) हे अर्जुन ! ये जो (मूढाः) असुरसम्पदावाले अज्ञानी हैं वे (जन्मनि जन्मनि) प्रत्येक जन्ममें बार-बार (आसुरीम्) नरक लेजानेवाली राक्षसी (योनिम्) योनिको (आपन्नाः) प्राप्त होकर (माम्) मुझ महेश्वरको (अप्राप्य) न प्राप्तकर (एव) निश्चय (ततः) तहांसे (अधमाम्) नीचसे नीच (गतिम्) दशाको (यान्ति) प्राप्त होते हैं ॥ २० ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवान्से पूछा है, कि ये असुर-जन बारंबार नीच योनियोंमें जन्म पाते हुए कहीं न कहीं जाकर तो

एक ठिकाने लगते होंगे अर्थात् कभी न कभी तो इस दुःखसे छूट-जाते होंगे? यदि नहीं छूटते हों तो फिर इनकी क्या गति होती है ? सो हे दयासागर! मुझसे दयाकरि कहो? इस प्रश्नके उत्तरमें बनमालाधारी जगन्मंगलकारी मदनमुरारी कहते हैं, कि [**आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि**] ये जो असुरसम्पदावाले मूर्ख हैं वे जन्म-जन्म आसुरी योनिको प्राप्त होते हुए [**मामप्राप्यैव कौन्तेय! ततो यान्त्यधमां गतिम्**] मुझ महेश्वरकोनप्राप्त होकर हे अर्जुन ! ये तहांसे अधमगतिको प्राप्त होते हैं। अर्थात् निकृष्टसे निकृष्ट कूकर, शूकर, कीट, कृमि इत्यादि योनियोंमें जा पडते हैं जहांसे उद्धार होना दुस्तर है ।

श्रीजगत्हितकारी गोलोकविहारीके कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि यदि ऐसा प्राणी नीच योनिको चल चला तो जैसे आकाशसे नीचे मुंह गिरनेवाला नीचे ही गिरता चलाजाता है फिर उसे अपने सम्भलनेके निमित्त कोई आधार नहीं मिल सकता गिरता गिरता न जाने रसातलकी ओर कब तक गिरता चलाजाता है । इसी प्रकार जो मनुष्ययोनिसे अधमयोनिकी ओर गिरने लगगया तो नीचसे नीच योनिमें गिरता ही चला जावेगा कहीं ठिकाना नहीं लगेगा । इसलिये हे मनुष्यो! यदि अपना कल्याण चाहते हो तो जबतक यह मनुष्ययोनि प्राप्त है तब ही तक आसुरीसम्पदाको धीरे २ त्याग दैवी सम्पदाके प्राप्त होनेका यत्न करलो क्योंकि बडे भाग्यसे इस बार तुम्हारा पासा पडगया है केवल पौ पडनेकी देरी है पौ पडगया, कि तुम लाल होगये यदि न पडा तो फिर न जाने कहांसे कहां उलटे गिरते रहोगे । यह मनुष्ययोनि ही भवरोगको नाश करनेवाली

औषधिके बनानेका यत्न है यदि तुमने इस यत्नमें अपने रोगकी औषधि न बनाली तो फिर पीछे इस रोगसे निकलना कठिन होजावेगा क्योंकि मनुष्ययोनिके अतिरिक्त किसी योनिमें भी कुछ करनेको यह जीव समर्थ नहीं होता। किसी शास्त्रवेत्ताने कहा है, कि "इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः। गत्वा निरौषधं स्थानं सरुजः किं करिष्यति।" अर्थात् जो प्राणी आसुरी सम्पदारूप रोगसे छूटनेके लिये दैवी सम्पदारूप औषधिको इस मनुष्य-शरीरमें न करसका तो जहां औषधि नहीं बन सकती ऐसी निकृष्टयोनियोंमें जाकर क्या करसकता है ?

इसी कारण भगवान्‌के कहनेका अभिप्राय यह है, कि इसी शरीरमें असुरसम्पदाको त्याग दैवी सम्पदाके प्राप्त करनेका यत्न करो ॥ २० ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! इस आसुरी सम्पदाके अनेक अंग जो तुमने मुझे कह सुनाये इनमें वे कौनसे मुख्य अंग हैं जिनके परित्याग करनेसे प्राणीका यत्न दैवी सम्पदाके प्राप्त करनेमें शीघ्र सिद्ध होगा ? इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् कहते हैं—

मू०— त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् २१

पदच्छेदः— कामः (स्त्र्यादिविषयाभिलाषः) क्रोधः (कोपः) तथा, लोभः (अधिकतृष्णा) इदम् (वक्ष्यमाणम्) आत्मनः (स्वस्य) नाशनम् (नाशकारकम्) नरकस्य (नरकप्राप्तेः) त्रिविधम् (त्रिप्रकारम्) द्वारम् (प्रवेशमार्गः) तस्मात् एतत्, त्रयम्, त्यजेत (वर्जयेत) ॥ २१ ॥

पदार्थः— (कामः) स्त्री इत्यादिकी इच्छा (क्रोधः) क्रोध (तथा) और (लोभः) धनादिका लोभ (इदम्) ये (आत्मनः) अपनेको (नाशनम्) नाश करडालनेवाले (नरकस्य) नरकके (त्रिविधम) तीन प्रकारके (द्वारम्) द्वार हैं (तस्मात) इसलिये (एतत) इन (त्रयम्) तीनोंको (त्यजेत) त्यागदेवे ॥ २१ ॥

भावार्थः— कौस्तुभधारी यमुनापुलिनविहारी श्रीकृष्णमुरारिने जो इस अध्यायके श्लोक ४ तथा ७ से १६ तक आसुरी सम्पदाके भिन्न अंगोंको अर्जुनके प्रति कह सुनाये उन्हें सुन अर्जुनने प्रार्थना की, कि हे आनन्दकन्द ! इन आसुरी सम्पदाके अंगोंको एकवारगी झटिति त्यागदेनेको यदि कोई प्राणी अपनी अल्पायु होनेके कारण समर्थ न होसके तो इनमें कौनसे मुख्य अंग हैं जिनके त्यागदेनेसे मनुष्य शीघ्र दैवी सम्पदामें प्रवेश करनेका अधिकारी होसकता है ? सो कृपाकर कहो ! इतना सुन श्रीदयासागर बोले [**त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः**] हे अर्जुन ! देख ! जितने आसुरी सम्पदाके अंग मैंने तुझसे अभी कहे हैं उनमें तीन ही अंग मुख्य हैं ये तीनों अपने आत्माके सर्वसुखको नाश करनेवाले हैं। ये ही नरकके तीन मुख्य द्वार हैं । जितने अनर्थ हैं सबके मूल ये ही तीन हैं नरकके नगर में जहां देखो तहां इन तीनों महा पुरुषोंके नामके डंके बजरहे हैं ये चौराहेपर खडे होकरे करोडों जीवोंको दायें बायें कररहे हैं राज्य करनेके लिये इनको सम्पूर्ण नरकरूप देश मिलाहुआ है ये जैसा चाहें करें। रौरव, कुम्भीपाक इत्यादि २८ सों नरक इनके २८ गढ हैं

और इनके राज्यमें इनकी प्रजाओंके खानपानके लिये ८६ घोर कुण्ड हैं ब्रह्मवैवर्त्तपुराण प्रकृतिखण्डके २७ और २८ अध्यायोंमें इन ८६ कुण्डों का वर्णन कियागया है जिनमें वह्निकुण्ड, विट्कुण्ड, मूत्रकुण्ड, श्लेष्मकुण्ड, तीक्ष्णकुण्ड, विषकुण्ड, प्रतप्ततैलकुण्ड, कृमिकुण्ड, सर्पकुण्ड, शूलकुंड, लालकुंड, कुम्भीपाककुंड, पांशुभोजनकुंड, धूमान्धकुण्ड, नागवेष्टनकुण्ड ये १५ पन्द्रह कुण्ड बडे भयंकर हैं अन्य सब कुंडोंसे अधिक दुःखदायी हैं।

अब यह पूछना चाहिये, कि वे तीनों महापुरुष कौन हैं ? जिनकी राजधानीमें ये कुण्ड शोभायमान होरहे हैं तो भगवान कहते हैं, कि [**कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्**] काम, क्रोध और लोभ ये ही तीनों एक संग त्रिसन्धि तथा त्रिपुटी, बनाये हुए इन कुण्डोंपर शासन कररहे हैं ये ही तीनों स्वयं इन कुंडोंके द्वारपर खडे हैं जब किसी असुरसम्पदावाले प्राणीको आते हुए देखते हैं झट फाटक खोल देते हैं।

इस कारण भगवान् कहते हैं, कि प्राणी इन तीनोंका त्याग करे इन ही तीनोंके त्यागनेसे अन्य आसुरी सम्पदाओंका त्याग आपसे आप होजावेगा और नरकोंके द्वारके कपाट लगजावेंगे।

शंका— काम, क्रोध और लोभके साथ मोह और अहंकार भी तो हैं ये ही पांचों सर्वत्र प्रसिद्ध हैं और ये पाचों साथ-साथ रहते हैं तथा जहां कोई इन विकारोंका वर्णन करता है तहां इन पांचोंका नाम लेता है ये पांचों एकसे एक अधिक बलवान हैं तथा नरकके

मुख्य कारण हैं फिर भगवान्‌ने **मोह** और **अहंकार** इन दोनोंको छोड केवल तीन ही को बडाई क्यों दी ? अहंकार और मोह क्या इनसे न्यून हैं ?

समाधान— ये कामादि पांचों विकार पांचों महाभूतोंसे उत्पन्न हैं । आकाशसे अहंकार, वायुसे लोभ, अग्निसे क्रोध, जलसे काम तथा पृथ्वीसे मोह । तहां इन पांचों महाभूतोंमें आकाश और पृथ्वी-तत्व पंगु हैं क्योंकि ये स्थिर हैं एक स्थानसे दूसरे स्थानको गमन करनेकी शक्ति इनमें नहीं है और शेष वायु, अग्नि और जल चल हैं इस कारण इन तीनोंसे उत्पन्न जो काम, क्रोध और लोभ ये तीनों अपने प्रवाहमें जीवोंको ऐसे घसीट लेते हैं जैसे समुद्रकी लहरें प्रवाहमें पडेहुए जीवोंको । ये तीनों वीर आगे २ चलते हैं क्योंकि इनकी चाल तीव्र है और इन तीनोंके पीछे २ अहंकार और मोह दोनों भाई वेचारे बिन पाँवके इनकी भुजा पकडे चलते हैं इसी कारण भगवान्‌ने इन तीनोंको आसुरीसम्पदाके मुख्य अंगोंमें गणना की और शेष दोनोंको पिछले अंगोंमें रखा इन तीनोंके मुख्य होनेमें तनक भी सन्देह नहीं है । शंका मत करो !

बुद्धिमान्‌को चाहिये, कि बडी सावधानताके साथ जहांतक शीघ्र सम्भव हो इनके त्यागनेका यत्न करे जिससे दैवी सम्पदाके ग्रहण करनेका अवकाश मिले ॥ २१ ॥

इन तीनोंके त्यागदेनेसे कौनसा फल प्राप्त होता है ? सो भगवान् अगले श्लोकमें कहते हैं ।

मू०— एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥
॥ २२ ॥

पदच्छेदः— [हे] कौन्तेय ! (कुन्तीपुत्र अर्जुन !) एतैः (पूर्वोक्तैः) त्रिभिः (त्रिसङ्ख्याकैः कामादिभिः) तमोद्वारैः (नरकप्रवेशमार्गैः । दुःखमोहात्मकस्य द्वारभूतैः) विमुक्तः, नरः (पुरुषः) आत्मनः (स्वस्य) श्रेयः (कल्याणम । भगवदाराधनादि यद्धितं वेदबोधितम्) आचरति (अनुतिष्ठति) ततः (तस्माच्छ्रेष्ठाचरणात्) पराम् (श्रेष्ठाम्) गतिम् (मोक्षाख्यां पदवीम्) याति (गच्छति । प्राप्नोति) ॥ २२ ॥

पदार्थः— (कौन्तेय !) हे कुन्तीका पुत्र अर्जुन ! (एतैः) ये जो ऊपर कथन किये हुए (त्रिभिः) तीनों (तमोद्वारैः) नरकके मार्गमें प्रवेश करानेवाले जो द्वार हैं तिनसे (विमुक्तः) छूटा हुआ (नरः) मनुष्य (आत्मनः) अपने (श्रेयः) कल्याणके लिये (आचरति) आचरण करता है (ततः) तिससे (पराम्) परमश्रेष्ठ सर्वोत्तम (गतिम्) गतिको (याति) प्राप्त होता है अर्थात् मोक्षलाभ करता है ॥ २२ ॥

भावार्थः— अब वृष्णिवंशप्रदीप श्रीदेवकीनन्दन भवतापभयभंजनने जो पहले यह आज्ञा दी है, कि " तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् " जो प्राणी आसुरीसम्पदाको त्याग दैवीसम्पदाको ग्रहण करनेकी इच्छा रखते हैं उनको चाहिये, कि काम, क्रोध और लोभ इन तीनों नरक लेजानेवाले विकारोंका त्याग करदेवें । आगे चलकर उन त्याग

करनेवालोंकी क्या गति होती है ? उसे वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः**] हे अर्जुन ! जो मनुष्य काम, क्रोध और लोभ इन तीनों नरकके द्वारोंसे छूटगया है अर्थात् जिसके शरीर और मनसे इन तीनों विकारोंकी निवृत्ति होगयी है कभी भूलकर भी किसी परस्त्री इत्यादि विषयोंका संग नहीं करता तथा रुष्ट हो किसीपर क्रोध नहीं करता, किसीकी हानि नहीं चाहता किसीके अनिष्ट करनेमें तत्पर नहीं होता सर्वप्रकार अपनेको इन त्रिकारोंसे बचाये हुए रहता है तथा जो कभी किसीकी धनसम्पत्तिकी ओर आंख उठाकर भी नहीं देखता अर्थात् इन विकारोंसे बचाहुआ जो [**आचरत्यात्मनः श्रेयः ततो याति परां गतिम्**] अपने कल्याण-निमित्त शुद्ध आचरण करता रहता है जिसके द्वारा वह उत्तम गतिको प्राप्त होता है अर्थात् शम, सन्तोष, सत्संग, विचार इत्यादिमें अपना समय बिताता है तथा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य इत्यादिमें दृढ निष्ठा रखता है, अपने वर्णाश्रमधर्मका पालन यथाविधि करता हुआ सन्ध्या, गायत्री इत्यादि शुभकर्मोंसे लीन रहता है संसारको मिथ्या ज्ञान त्याग, संन्यास इत्यादि ग्रहण करता है मौन, कृच्छ्र इत्यादि तप और व्रतका पालन करता है एवम्प्रकार अपने कल्याणके करनेवाले नाना प्रकारके आचरणोंको जो सम्पादन करता है सो " ततो याति परां गतिम् " ऐसे आचरणोंके करनेसे परमगतिको प्राप्त होता है अर्थात् संसारसे मुक्त हो निर्वाणपदको प्राप्त करलेता है ।

विवेकियोंको चाहिये, कि आप भी शुद्ध आचरणोंका साधन करें और अपने स्त्री, पुत्र, पौत्र, बान्धव, पुरजन, परिजन तथा अपने

इष्ट मित्रोंको भी यही उपदेश करें, कि वे काम, क्रोधादि शत्रुओंसे बचकर पारलौकिक—कल्याण—निमित्त तथा भगवतस्वरूपकी प्राप्ति निमित्त गुरुद्वारा शुभाचरणोंकी शिक्षा ले उनका सम्पादन करते रहें।

भगवान्ने जो अर्जुनको 'कौन्तेय' कहकर पुकारा इसका यही भाव है, कि हे अर्जुन! कुन्तीका पुत्र होनेसे तू तो साक्षात् दैवी सम्पदावाला है तेरे शरीरमें आसुरी सम्पदाका प्रवेश नहीं है इसलिये तू किसी प्रकारकी चिन्ता मत कर।

इस श्लोकमें भगवानने जो 'नर' शब्दका उच्चारण किया इसका कारण यहहै, कि जो मनुष्य उक्त तीनों विकारोंके साथ अन्य विकारोंका त्यागकर वेदशास्त्रकी आज्ञानुसार अपने कल्याणार्थ शुभाचरणोंका आरम्भ करता है वही यथार्थमें नर है नरयोनिमें उसीका जन्म लेना सफल है परे जो ऐसा नहीं करता वह नर नहीं है पशु है ॥२२

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन्! जो नर कहलाकर वेद शास्त्रोंके कथन किये हुए मार्गपर न चलकर किसी दूसरे मार्गसे चलता है अथवा मनमाने मार्गसे अपने कल्याणका साधन करता है तो उसकी क्रिया सिद्ध होगी वा नहीं? इतना सुन भगवान बोले—

मू०— यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामचारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३

पदच्छेदः— यः (पुरुषः) शास्त्रविधिम् (शास्त्रेण कर्तव्यतया उपदिष्टं श्रेयोनुष्ठानम) उत्सृज्य (त्यक्त्वा। विहाय) कामचारतः (यथेच्छम। स्वेच्छानुसारतः) वर्त्तते (आचरते) सः, सिद्धिम् (पुरुषार्थप्राप्तियोग्यतामन्तःकरणशुद्धिम। तत्त्वज्ञानम्) न, अवा-

प्नोति (प्राप्नोति) सुखम् (आनन्दवृत्तिविशेषम्) न [अवाप्नोति] परम् (श्रेष्ठाम्) गतिम्, न [अवाप्नोति] ॥ २३ ॥

पदार्थः— (यः) जो नर (शास्त्रविधिम्) शास्त्रकी विधिको (उत्सृज्य) त्यागकर (कामचारतः) अपनी इच्छाके अनुसार (वर्त्तते) किसी आचरणमें वर्त्तमान होता है (सः) सो नर (सिद्धिम्) सिद्धिको (न) नहीं (अवाप्नोति) प्राप्त करसकता है तथा (सुखम्) लौकिक पारलौकिक किसी प्रकारके सुखको (न) नहीं [अवाप्नोति] पा सकता है और (परां गतिम्) जो अत्यन्त उत्कृष्टगति मोक्ष वा भगवत्स्वरूप तिसको भी (न) [अवाप्नोति] नहीं प्राप्त करसकता है ॥ २३ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवानसे यह पूछा है, कि जो प्राणी शास्त्रानुसार अपने कल्याणका साधन न कर अपनी इच्छानुसार मनमाने व्यवहारोंको अपना कल्याण समझकर करे तो उसकी सिद्धि होसकती है वा नहीं ? इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं, कि [**यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामचारतः**] जो मनुष्य शास्त्रोंमें कहीहुई रीतिको छोड अपने कल्याणनिमित्त मनमाना आचरण करता है उसका क्या परिणाम होता है ? सो सुन ! अर्थात् किसी गुरुसे शास्त्रोंकी शिक्षा न पाकर अपनेको बुद्धिमान् समझ अपने मतानुसार जो आचरण करता है जैसे इन दिनों अनेक मतमतान्तरवाले अपना कपोलकल्पितमत बनाकर आलस्यवश धर्मके आचरणोंको मनमाना बनालेते हैं जैसी इच्छा होती है वैसा ही आचरण अपना धर्म समझ लेते हैं। प्रत्यक्ष देखा जाता है, कि इस कलिमें कामकी अधिकतासे अपने

शरीरमें बढेहुए कामदेवकी शान्तिके निमित्त जिसी-तिसी नीच जातिकी कन्याओंको रूपवती देखकर विवाह लेते हैं और वर्णसंकरोंके उत्पन्न करनेका दोष न समझकर गड़बडझज्झा उत्पन्न करनेकी सम्मति निकालते हैं जिस कारण आप भी नष्ट होते हैं और दूसरोंको भी नष्ट करते हैं इसी प्रकारके आचरणोंको " कामचारतः " कहते हैं ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि कामातुरोंने मिथ्या आचरणोंको अपनी बुद्धिमानीका आचरण समझ रखा है और जो कोई इनसे इस विषयमें कुछ कहे तो साक्षात् बृहस्पतिके समान शास्त्रार्थ करनेको तयार होजाते हैं ।

प्रिय पाठको ! इन दिनों एक दो आचरण मनमाने हों तो उन पर कुछ कहा जावे जहां सहस्रों मनमाने आचरण होटलोंमें खाना, मद्यपीना, विचाररहित मांसोंका आहार करना, सब जाति कुजाति, यवन, कसाई, ईसाई इत्यादिके हाथका भोजन करलेना, धर्मपत्नीसे आटा पिसवाना बूढी मासे घरके जूठे पात्रोंका मलवाना और वेश्याओंको कोमल शय्यापर सुलाना, बछिया और गौका पालन, पोषण छोड कुत्तोंको प्रेमपूर्वक पालना; प्रातःकाल सन्ध्या, पूजन, हवन इत्यादि छोड वन उपवनकी ओर जाना, निरपराध जीवोंकी हिंसामें रत रहना, कहांतक कहूं सहस्रों शास्त्ररहित आचरण इस प्रकार फैलगये, कि ब्रह्मदेवके रोके भी नहीं रुकते इसलिये उनके विषय भगवान् कहते हैं, कि [**न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्**] ऐसा मिथ्या आचरण करनेवाला किसी प्रकार भी कर्मोंकी सिद्धिको अर्थात् कर्मोंकी सिद्धि जो अन्तःकरणकी शुद्धि है उसे लाभ नहीं करसकता जब

अन्तःकरणकी शुद्धि ही लाभ न हुई तो आगे चलकर उपासनामें उसके चित्तका प्रवेश ही नहीं होगा। क्योंकि बिना अन्तःकरण शुद्ध हुए प्राणी उपासनाका अधिकारी ही नहीं होसकता जब उपासनाहीका अधिकार प्राप्त न हुआ तो एकाग्रता कभी लाभ नहीं होसकती जब मनकी एकाग्रता ही प्राप्त न हुई तो ज्ञानका प्राप्त होना दुस्तर है ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि बिना शास्त्रविहित आचरण किये कर्म, उपासना और ज्ञान तीनोंमें किसी तत्वका लाभ नहीं होसकेता एव-म्प्रकार जब उपर्युक्त तत्वोंका लाभ हुआ तब इस नर-शरीरधारीको न इस लोकमें किसी प्रकारका सुख लाभ होता है न परलोकमें स्वर्गका सुख लाभ होसकता है और न उसकी श्रेष्ठ गति होसकती है । प्रमाण श्रुतिः— " ॐ नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमनसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् " (कठो० अ० १ वल्ली २ (श्रु० २३)

अर्थ— जो कोई प्राणी इस आत्मज्ञानको अर्थात अपने आत्माके कल्याणनिमित्त इसके पूर्णतत्वको प्राप्त करनेकी इच्छा करे पर वह शास्त्रविहित कर्मोंसे रहित हो तो श्रुति कहती है, कि शास्त्रविहित कर्मोंसे अविरत होनेसे वह शान्तिको प्राप्त न होकर अशान्त रहेगा जब अशान्त रहा तो ऐसे अशान्तचित्त रहनेसे वह समाहितचित्त नहीं होसकता । श्रुतिका मुख्य अभिप्राय यह है, कि शास्त्रविहित कर्मोंके न करनेसे, दुष्टाचरणोंके नहीं त्यागनेसे यह मनुष्य अपने कल्याण करनेवाली परमगतिको नहीं प्राप्त करसकता । फिर कैसे प्राप्त करेगा ? तो कहते हैं, कि " प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात " प्रज्ञानसे अर्थात

अपने आचार्यसे शास्त्रविहित कर्मोंके ज्ञानको प्राप्तकर अपनी परम-गति जो आत्मपद तिसे प्राप्त करेगा ॥ २३ ॥

इसी कारण नरशरीरधारियोंको क्या करना उचित है ? सो अगले श्लोकमें उपदेश करते हुए श्रीआनन्दकन्द व्रजचन्द इस अध्यायको समाप्त करते हैं ।

मू०— तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्मकर्तुमिहार्हसि ॥ २४

पदच्छेदः— तस्मात् (अतः) ते (तव) **कार्याकार्य-व्यवस्थितौ** (कर्तव्याकर्तव्यव्यवस्थायाम) **शास्त्रम्, प्रमाणम्, इह** (कर्माधिकारभूमौ) **शास्त्रविधानोक्तम्** (इदं कर्तव्यमिदं न कर्तव्यमिति शासनं वैदिकलिंगादिपदेनोक्तम्) **कर्म** (शास्त्रोपदिष्टाचरणम्) **ज्ञात्वा** (बुद्ध्वा) **कर्तुम्, अर्हसि** (योग्योऽसि) ॥ २४ ॥

पदार्थः— (**तस्मात्**) इसी कारण (**ते**) तेरेलिये (**कार्य्या-कार्य्यव्यवस्थितौ**) कर्तव्य और अकर्तव्य अर्थात् विधि और निषेधकी व्यवस्थामें (**शास्त्रम्**) शास्त्र ही (**प्रमाणम्**) प्रमाण है इसलिये (**इह**) इस कर्मकी अधिकारभूमिमें (**शास्त्रविधानो-क्तम्**) शास्त्रके कहेहुए विधानके अनुसार (**कर्म**) कर्मको (**ज्ञात्वा**) गुरुसे जान कर हे अर्जुन ! तू (**कर्तुम्**) करनेको (**अर्हसि**) योग्य है ॥ २४ ॥

भावार्थः— श्रीसच्चिदानन्द आनन्दकन्दने पूर्वश्लोकमें कहा है; कि जो नर, शास्त्रकी विधिके अनुसार कर्म नहीं करता उसे लौकिक वा परलौकिक किसी प्रकारका भी सुख नहीं प्राप्त होता अनेक नीच

योनियोंमें जन्म जन्मान्तरे भटकना पडता है उसी अपने उपदेशको अर्जुनके हृदयमें दृढ करनेके लिये कहते हैं, कि हे अर्जुन ! [तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ] इसी कारण तेरे लिये भी शास्त्र ही प्रमाण है अर्थात् शास्त्रमें जो विधि निषेध जनानेके लिये कर्तव्य और अकर्तव्यके विषय पूर्ण प्रकार व्यवस्था कीहुई हैं अर्थात् लौकिक, पारलौकिक, आत्मिक, शारीरिक, सामाजिक, राजनैतिक इत्यादि सर्वप्रकारके विषयोंके नियम उचितरीतिसे कथन किये हुए हैं जिनके प्रतिपालन करनेसे रंक चक्रवर्त्ती होसकता है और महामूर्ख पूर्णविद्वान् बनजाता है। इस लोकमें नाना प्रकारके आनन्द भोगता-हुआ परलोकसुख लाभ कर भगवत्स्वरूपमें मिल सकता है । यह केवल शास्त्र ही है जिसके भीतर सारे संसारकी क्रियाएं भरी हुई हैं कहांतक कहूं स्वयं श्रीनारायण जगदीश्वरने अपने श्वाससे वेदादि सर्वविद्याओंको संसारके कल्याणनिमित्त प्रकट करदिया है । इन सर्वप्रकारकी विद्याओंको महर्षिगण अध्ययनकर आप तरे हैं और संसारको तारा है ।

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि कार्य और अकार्य अर्थात् क्या करना और क्या न करना ? इस विषयमें हे अर्जुन ! शास्त्र ही तेरे लिये प्रमाण है इसलिये तू [ज्ञात्वाशास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्त्तुमिहार्हसि] सब शास्त्रोंको गुरुद्वारा जान इनमें जिस प्रकार कर्मका विधान कियाहुआ है तदनुसार ही तू कर्म करनेके योग्य है । देख ! तू क्षत्रियवंशशिरोमणि है इसलिये तेरे लिये युद्ध-धर्मका सम्पादन करना शास्त्र विहित परम धर्म है अतएव सब शंकाओंको छोड तू युद्धमें तत्पर होजा ।

शंका— प्रत्यक्ष देखनेमें आता है, कि शास्त्रोंमें नाना प्रकारके विरोध हैं भिन्न-भिन्न ऋषियोंने भिन्न-भिन्न प्रकारकी सम्मति दी है एक कुछ करता है दूसरा कुछ करता है, इसलिये मनुष्योंके चित्तमें यह द्विविधा उत्पन्न होआती है और विचारने लगजाता है, कि किसे करूं, किसे न करूं यदि सैकडों गाडी ग्रन्थ पढजावे तो भी इसका निर्णय होना कठिन है वरु ऐसा देखाजाता है, कि जितना अधिक पढतेजाओ उतनी ही अधिक शंकाएं उत्पन्न होती जावें फिर इसका फल ऐसा होता है, कि मनुष्य पढते-पढते नास्तिक होजाता है और यही कारण है जिसके द्वारा इस कालमें नाना प्रकारके मतभेद प्रकट होआये हैं। इसलिये शास्त्रोंके वचनकी ओर क्यों देखना? भगवान्‌ने जो यहां शास्त्रविधिके विषय आज्ञा दी सो किस शास्त्रविधिके अनुसार आचरण करना कहा है?

समाधान— ऐसी शंका मतकर! शास्त्रमें तनक भी विरोध नहीं है जो लोग सच्चे बुद्धिमान् हरिभक्त भगवत्स्वरूपमें निष्ठा रखनेवाले आत्मविद्यारहित गुरुलोगोंके पास जाकर विद्या पढते हैं वे पूर्णप्रकार शास्त्रोंके मर्मको नहीं समझते हैं इसी बेसमझीके कारण मतमतान्तरोंमें भेद पडरहा है। जिसको तुम विरोध कहरहे हो सो विरोध नहीं है विकल्प है तथा देश, काल, पात्र और अवस्थाके भेदसे ऋषियोंने बहुतसे कर्मोंके भेद रखे हैं जो लोग ब्रह्मनिष्ठ और श्रोत्रिय गुरुके बिना अपनी बुद्धिसे पढकर कर्मकी सिद्धि करना चाहते हैं पर सिद्धि न होनेसे शास्त्रोंमें दोष निकालते हैं यदि वे उस शास्त्रके मर्मजाननेवालोंके समीप जाकर यथार्थ रीतिसे सीखें तो कहीं कुछ विरोध नहीं दीखेगा और उनकी सब क्रियाएं भी सिद्ध होजावेंगी।

कर्मोंके मर्म न जाननेके कारण सिद्धि लाभ न होनेपर एक दृष्टान्त दियाजाता है सुनो !

कोई मनुष्य स्वर्ण बनानेके लोभसे रसायन शास्त्रकी एक पुस्तक हाटसे मोललाकर उसमें स्वर्ण बनानेकी रीति देखकरे स्वर्ण बनाने लगा एवम्प्रकार रसायनिक पुटोंके द्वारा ही जब पात्ररेस तयार होकर पीले रंगकाधातु स्वर्णस्वरूप बनगया केवल स्वर्णके समान उसको कठिन करदेना शेष रहगया तहां उस ग्रन्थमें लिखा हुआ था, कि नीबूका रस डालदेनेसे तरलद्रव्य कठिन होकर ठीक स्वर्ण बनजावेगा । उस मनुष्यने एक नीबू लेकर छुरीसे काटकर उसका रस जैसे उस पात्रमें दिया, कि सारा रस मिट्टीका स्वरूप होगयाअब वह मनुष्य मारे क्रोधके ग्रन्थकर्त्ताको गालियां देने लगा संयोगवश जिस पुरुषका यह ग्रन्थ बनाया हुआ था वह भी उसी मार्ग होकर निकला तो देखा, कि एक मनुष्य उसका नाम लेलेकर गालियां बकरहा है उसके समीप जाकर उसने पूछा तो उसने गाली देनेका कारण कह सुनाया पश्चात् रसक्रियाके जानने वालेने कहा, कि भाई ! एकबार मेरे सामने तयार करो यदि न तयार हो तो गालियां देना, उसके कहनेपर वह उसी प्रकार रसक्रिया करके पात्रभर स्वर्ण तयार करचुका जब नीबू काटकरे देने लगा तो रसतन्त्रविद्ने उसके गालोंपर एक गहरा थप्पड़ लगाकर उसके हाथसे नीबू लेलिया और दांतोंसे उसका छिलका निकालकर रसपात्रमें डाला फिर तो ठीक२ सच्चा स्वर्ण बनगया ।

इसी प्रकार सब शास्त्रोंके मर्म और यथार्थ भेदके न जाननेवाले यदि केवल अपनी बुद्धिमात्र ही लगावेंगे तो शास्त्रोंमें सैकड़ों प्रकार

के विरोध देख पडेंगे और कर्मोंकी सिद्धि भी न होगी इस कारण उचित है, कि इन शास्त्रोंके मर्म जाननेवालोंके पास जाकर देखें, कि किस प्रकार ? किस देशमें ? किस अवस्थामें ? किस कालमें ? किस अधिकारीको कर्मोंके करनेका उपदेश करते हैं ? तब वे ठीक २ कर्मोंका सम्पादन करसकेंगे। तहां श्रुतिकी भी आज्ञा है, कि "ॐ वेदमनूच्याचार्य्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति । सत्यं वद । धर्मञ्चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्य्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै न प्रमदितव्यम । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥ (तैत्ति० शिक्षाध्याय वल्ली १ अनु० ११ श्रु० १)

अर्थ— 'वेदमनूच्या' वेद पढाकर आचार्य्य अपने शिष्यको इस प्रकार शिक्षा करता है, कि हे शिष्य ! 'सत्यं वद' सत्य बोलाकर 'धर्मं चर' धर्मका आचरण कियाकर और 'स्वाध्यायान्मा प्रमद' अपने स्वाध्यायसे अर्थात् अपनी शाखा और सूत्रके अनुसार अपने वेदके पढनेसे प्रमाद मत कर 'आचार्य्याय प्रियं....' अपने गुरुका प्रिय धन लाकर गुरुदक्षिणा दे फिर अपने घर जा विवाहकर सन्तानकी उत्पत्ति कर। तात्पर्य यह है, कि सन्तानके तन्तुका उच्छेदन मत कर। इसी शिक्षाके अनुसार दशरथादि प्रजाके लिये यज्ञादि कर संसारको दिखल गये, कि सन्तानका उच्छेदन नहीं करना चाहिये। फिर आचार्य्य कहता है, कि 'सत्यान्न प्रमदितव्यम्' सत्यसे प्रमाद नहीं करना अर्थात् झूठ नहीं बोलना चाहिये।

'धर्मान्न प्रमदितव्यम्' धर्मसे प्रमाद नहीं करना अर्थात् धर्म करनेमें आलस्य नहीं करना चाहिये जो धर्म सामने आवे उसे कर ही डालना चाहिये फिर कहते हैं, कि "कुशलान्न प्रमदितव्यम" कुशलसे प्रमाद नहीं करना चाहिये अर्थात् अपनी रक्षा करनेवाले कर्मोंसे प्रमाद नहीं करना चाहिये, फिर "भूत्यै न प्रमदितव्यम्" ऐश्वर्य्य प्राप्त कराने वाले कर्मोंसे प्रमाद नहीं करना चाहिये तथा "स्वाध्यायप्रवचनाभ्यान्न प्रमदितव्यम्" फिर अपने स्वाध्याय अर्थात् वेद पढने और प्रवचन अर्थात् इष्टमन्त्र गायत्री इत्यादिके जपनेमें प्रमाद नहीं करना चाहिये।

एवम्प्रकार सच्चे गुरुद्वारा शिष्य, शिक्षा पाकर अपने कर्मोंका सम्पादन करे।

शंका— जिसने वेदादि अध्ययन न किया हो गुरुद्वारा किसी प्रकारकी शिक्षा न पायी हो इस कारण शास्त्रोंके मर्मको जो न जानता हो उसे यदि किसी कर्मके करनेकी आवश्यकता हो और उसे कर्मोंके विषय कुछ संशय होजावे तो वह किस प्रकार करे ? कहां जावे ? किससे पूछे ? इसके उत्तरमें श्रुति कहती है— "ॐ अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्" (तै० वल्ली० १ अनु० ११ श्रु० ३) अर्थ— यदि तुझको हे अधिकारी! कर्मके विषय संशय हो अथवा आचरणके विषय संशय होवे तो तुझको क्या करना चाहिये? सो सुन! "ॐ ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्त्तेरन्। तथा तेषु वर्तेथाः"

अर्थ— तब तुझको चाहिये, कि जहां अच्छे विचारशील ब्राह्मणवृन्द कर्मोंमें लगेहुए क्रूरबुद्धिसे रहित स्वच्छबुद्धिवाले जो केवल

धर्म ही की कामनावाले हैं वे जिस प्रकार जिस देश वा जिस कालमें जिन कर्मोंमें वर्त्तमान होते हों उसी प्रकार तू भी अपने कर्मोंके आचरणमें वर्त्तमान हो ! भगवान्‌ने अर्जुनको शास्त्रानुसारे चलनेकी आज्ञा देकर इस वार्त्ताको समाप्त करदिया ।

प्रिय पाठको ! जो मनुष्य एवम्प्रकार वेदोंकी आज्ञाका पालन करता हुआ श्रीगुरुदेव द्वारा शिक्षा पाकर अपने शुभकर्मोंमें वर्त्तमान रहेगा सर्वसिद्धियां तथा अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष ये चारों फल उसके करतलगत रहेंगे संसारमें उसे किसी प्रकारके आनन्दका अभाव नहीं होगा ॥२४॥

रक्ष ! रक्ष ! हरे ! माञ्च निमग्नं कामसागरे ।
दुष्कीर्तिजलपूर्णे च दुष्पारे बहुसंकटे ॥ १ ॥
भक्तिविस्मृतबीजे च विपत्सोपानदुस्तरे ।
अतीवनिर्मलज्ञानचक्षुःप्रच्छन्नकारणे ॥ २ ॥
बुद्ध्या तरण्या विज्ञानैरुद्धरास्मानतः स्वयम् ।
स्वयञ्च त्वं कर्णाधारः प्रसीद ! मधुसूदन ! ॥ ३ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिब्राजकाचार्येण श्रीस्वामिहंसस्वरूपेण विरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतायां हंसनादिन्याख्यटीकायां दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ।

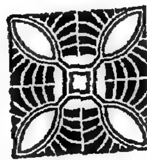
॥ महाभारते भीष्मपर्वणि तु चत्वारिंशोऽध्यायः ॥

इति षोडशोऽध्यायः ।

शुद्धाशुद्धपत्रम् ।



अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठम्	पंक्ति
घृ	धृ	३२९२	१४
घा	घां	३२९४	१
सस	ससे	३२९७	१६
न्ह	ह्न	३२९८	१
ति	तिः	३३०२	५
र्था	था	३३०८	१६
रह	हर	३३१८	११
प	पं	३३२२	१४
हैं	है	३३३८	४
न	न्न	३३७१	६
अन्य न	न	३३७६	५
जु	र्जु	३३९१	२







श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्य

श्री १०८ स्वामिहंसस्वरूपकृत

हंसनादिन्याख्यटीकया समेता

श्रीमद्भगवद्गीता



ज्ञानाख्ये तृतीयषट्के

सप्तदशोऽध्याय.

प्रथम वार	अलवरराजधान्याम्	सम्वत् १९८५
१०००	श्रीहंसाश्रमयन्त्रालये	विक्रमी ।
	मुद्रितः	सन् १९२९ ई०



* तत्सद्ब्रह्मणे नमः *

श्रीयदुकुलकेतवे नमः

श्रीभवाम्बुधिसमुत्तरणहेतवे नमः

अथ

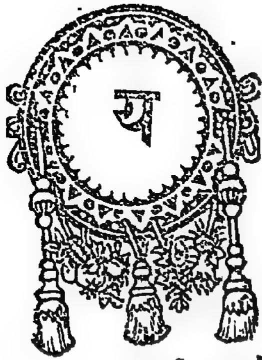


ज्ञानाख्ये तृतीयषट्के

* सप्तदशोऽध्यायः *

ॐ यस्य ते सख्ये वयꣳ सासह्याम पृतन्यतः । तवेन्दो द्युम्न उत्तमे ॥ (साम० उत्तरार्चिक २ खण्ड)

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!



त्पादाम्बुजचंचरीकधिषणा निर्वाणमार्गाधिगा,
पंक्तिर्मुक्तिनिसर्गदुर्गदुरिता वाचं यम्नानामियम् ।
यस्मिन्नित्यमिदं शमादिसमभूद्बोधांकुरो मे यतः,
शुद्धानन्दमुनीश्वराय गुरवे तस्मै परस्मै नमः ॥

अजी चलो देखें तो सही! आज धर्मके राजपथसे दो स्त्रियोंके परस्पर झगडनेके शब्द क्यों आरहे हैं ? थोडा आगे बढकर अहा ! ये दोनों स्त्रियां तो वे हैं जिनमें एकका नाम "श्रद्धा" और दूसरीका नाम " शास्त्रविधि " है ये दोनों अपनी २ श्रेष्ठताके विषय झगड रही हैं और इस झगडेके न्याय करनेके लिये वह देखो सामनेसे चारों वेद अपने सखा शास्त्रोंके सहित यों न्याय करचुके हैं, कि श्रौत और स्मार्तमतके अनुसार शास्त्रविधि बडी और श्रद्धा उसकी छोटी भगिनी है। इस न्यायको सुन श्रद्धा रूठ कर अपनी प्यारी मां भक्तिकी झोपडीमें जा बैठती है जिसके पीछे २ शास्त्रविधि भी दौडी चली जारही है और अपनी भगिनी श्रद्धाके पास पहुंच कर यों बोलती है, कि बहन ! रूठ मत ! यदि तुझे न्यायमें कुछ पक्षपात दीख पडता है तो चल हम दोनों यहांसे थोडी दूरपर महाभारतकी रणभूमिमें चलें जहां पूर्णकाम परमललाम जगदभिराम घनश्याम श्रीसच्चिदानन्द आनन्दकन्द सम्पूर्ण ब्रह्मांडके न्यायाधीश अर्जुनके प्रति हम तुम दोनोंके विषय कुछ कहरहे हैं चलो हम तुम दोनों आनन्दपूर्वक उनके वचनामृतको अपने कर्णपुटोंसे पीवें और देखें, कि हम तुम दोनोंमें किसको बडाई देते हैं ।

अर्जुन उवाच—

मू०— ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्वमाहो रजस्तमः ॥ १

पदच्छेदः— [हे] कृष्ण ! (जनानामाशयसंशयाकर्षण-समर्थ ! । भक्ताघकर्षण !) ये, शास्त्रविधिम् (श्रुतिस्मृतिशास्त्रचोद-नाम) उत्सृज्य (सर्वात्मना आलस्यादिवशात् परित्यज्य) श्रद्धया (आस्तिक्यबुद्ध्या) अन्विताः (संयुक्ताः) यजन्ते (देवादीन् पूजयन्ति) तेषाम् (निजकुलवृद्धव्यवहारेप्रवर्त्तमानानाम) तु, का, निष्ठा (स्थितिः । आश्रयः) सत्वम् (सत्वगुणसंश्रिता निष्ठा-वस्थानम्) आहो (अथवा) रजः (रजोगुणसंश्रिता निष्ठावस्था-नम्) [वा] तमः (तमोगुणसंश्रिता निष्ठावस्थानम्) ॥ १ ॥

पदार्थः— (कृष्ण !) हे भक्तोंके मनके संशयको दूर करनेवाले श्रीकृष्ण ! (ये) जो लोग (शास्त्रविधिम्) शास्त्रविधिको (उत्सृज्य) छोडकर (श्रद्धयान्विताः) परम श्रद्धासे युक्त (यजन्ते) देवादि-कोंकी पूजा करते हैं वा यज्ञादिका सम्पादन करते हैं (तेषाम्) तिन पुरुषोंकी (का, निष्ठा) कैसी निष्ठा कही जाती है ? (सत्वम्) सत्वगुणी निष्ठा अर्थात् दैवी सम्पदावाली निष्ठा कही जाती है ? (आहो) अथवा (रजस्तमः) रज और तमोगुणी निष्ठा अर्थात् असुरसम्पदावाली कहीजाती है ? ॥ १ ॥

भावार्थः— श्रीजन-मन-संशयहारी कृष्णमुरारीने जो सोलहवें अध्यायके अन्तमें अर्जुनके प्रति यों उपदेश करदिया, कि जो लोग

शास्त्रोंको जानते हुए शास्त्रविधिका निरादर कर आलस्यवश मनमाना कर्म करलिया करते हैं उन्हींको आसुरीसम्पदावाला कहना चाहिए और जो लोग शास्त्रको जानें वा न जानें पर आचार्य्यकी आज्ञानुसारे उनके आचरणोंको देख शास्त्रानुकूल कर्मोंका श्रद्धापूर्वक सम्पादन करते हैं उनको दैवीसम्पदावाला जानना चाहिये ।

इन वचनोंको सुन अर्जुनके मनमें यह शंका उत्पन्न होआयी, कि जो लोग शास्त्रके नहीं जानने वाले गृहकार्य्योंके बखेडोंमें पडे रहनेसे शास्त्रीके पास नहीं जाते अथवा किसी आचार्य्य वा महात्माके समीप जानेका अवकाश न पाकर शास्त्रकी विधिको छोड केवल अपनी कुलपरम्परा वा अपने वंशके वृद्धोंका किया हुआ जानकरे बडी श्रद्धासे कर्मको करते हैं उनको किस सम्पदामें कहना चाहिए ? तात्पर्य यह है, कि यद्यपि शास्त्रोंकी विधिका उल्लंघन करते हैं पर उस कर्मकी श्रद्धा उनमें पूर्ण प्रकार बनीरहती है तो ऐसे पुरुषोंकी गणना किस श्रेणीमें करनी चाहिए ? दैवीमें वा आसुरीमें ? इस प्रकारकी शंका कर अर्जुन सर्व-संशयहारी जगतहितकारी श्रीसच्चिदानन्द कृष्णचन्द्रसे यों प्रश्न करता है, कि हे दयासागर ! **[ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः]** जो लोग शास्त्रविधिका तो त्याग करदेते हैं पर श्रद्धापूर्वक देवादिकोंका यजन करते हैं जैसे माता पिताके लाड-प्यारके कारण जिनको शास्त्रादि पढनेका अवकाश न मिला अथवा माता पिताकी आर्थिक अवस्था कम होनेसे वा जन्मसे ही स्वयं आलसी होनेके कारण भिक्षाटन इत्यादि करके भी जो विद्या उपार्जन नहीं करसके

अथवा प्रकृतिसे रुग्ण रहनेके कारण विद्यामें परिश्रम न करसके अथवा विद्यामें परिश्रम करनेपर विद्वान् तो होगये पर शास्त्रोंका अभ्यास छोड अन्य व्यवहारोंमें लगजानेके कारण शास्त्रोंकी विधि तथा मर्मोंको भूलगये एवं जो लोग शास्त्रोंकी विधि जाननेके लिये श्रद्धालु तो हैं पर किसी ऐसे छोटे-मोटे ग्राममें जहां न कोई पंडित और न कोई आचार्य्य है निवास करनेके कारण समय पाकर शास्त्रविधिसे परिचित नहीं होसकते पर कर्मोंको अर्थात् देवादिके पूजनको तथा किसी प्रकार के हवन इत्यादिका श्रद्धापूर्वक सम्पादन करते हैं तिनके विषय अर्जुन भगवान्से पूछता है, कि [**तेषां निष्ठा तु का कृष्ण! सत्वमाहो रजस्तमः**] हे कृष्ण ! ऐसे पुरुषोंकी निष्ठाकी गणना किसमें कीजावेगी सत्वगुणी कही जावेगी वा रजोगुणी अथवा तमोगुणी कही जावेगी ।

यहां अर्जुनके पूछनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि इनकी निष्ठाकी गणना दैवी सम्पत्तिमें कीजावेगी वा आसुरीमें । क्योंकि यहां सत्वम् कहनेसे दैवीसम्पत्तिका और रजस्तमः कहनेसे आसुरी सम्पत्तिका तात्पर्य है । सत्व, रज और तमके कहनेसे तीन प्रश्न नहीं समझना चाहिये दो ही प्रश्नोंसे अर्जुनका तात्पर्य है इसी कारण सत्वके पश्चात् आहो शब्दका उच्चारण करके रज और तमको एक साथ रखा है । क्योंकि भगवानने चौदहवें अध्यायके श्लोक १६ और १७ में " कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्विकम् " से " प्रमादमोहौ तमसः " तक कह दिया है, कि सात्विक कर्मका सत्वप्रधान निर्मलता ही फल है तथा राजसकर्मका फल दुःख

है, तामसका अज्ञान और मूढता है अर्थात् सत्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है, रजसे लोभ और तमसे अविवेक उत्पन्न होता है। इन वचनोंसे सिद्ध होता है, कि सत्वगुणप्रधानकर्म दैवीसम्पत्तिमें और रज तथा तमोगुण-प्रधानकर्म आसुरी सम्पत्तिमें गिनेजाते हैं। अर्जुनके प्रश्नका तात्पर्य यहां दो ही से है।

अर्जुनके पूछनेका अभिप्राय यह है, कि जो शास्त्रविधिसे रहित हैं पर श्रद्धापूर्वक कर्म करते हैं उनकी गणना किधरे करूं ? उनकी निष्ठाका नाम क्या रखूं ? ऐसे करने वालोंको क्या कहदूं ? देखकर चुप रहजाऊँ वा उनको कुछ उपदेश करदूं ? ॥ १ ॥

अर्जुनके इस प्रश्नको सुन श्रीगोलोकविहारी उत्तर देना आरम्भ करते हैं—

सू०— त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२

पदच्छेदः— **देहिनाम्** (लोकाचारमात्रेण वर्त्तमानानां देहाभिमानवताम्) **सा** (प्रसिद्धा श्रद्धा) **स्वभावजा** (प्राग्भवीयौ धर्माधर्मौ ततो जाता । जन्मान्तरकृतो धर्मादिसंस्कार इदानीं जन्मारम्भकः स्वभाव उच्यते तस्माज्जाता वा) **श्रद्धा** (शास्त्रार्थे दृढप्रत्ययः । चेतसः प्रसादः) **सात्विकी** (सत्वनिर्वृत्ता । सत्वगुणयुक्ता) (अथवा) **राजसी** (रजोनिर्वृत्ता । रजोगुणयुक्ता) **च** (तथा) **तामसी** (तमोनिर्वृत्ता) **इति, त्रिविधा** (सत्वादिगुणत्रयभिन्नप्रकारा)

एव (निश्चयेन) भवति, ताम् (त्रिधा वक्ष्यमाणां श्रद्धाम्) शृणु ॥ २ ॥

पदार्थः— (देहिनाम) लोकाचारमें वर्तमान होनेवाले देहधारियोंकी (सा) वह (स्वभावजा) अपने २ स्वभावसे उत्पन्न (श्रद्धा) जो कर्म करनेकी आदरपूर्वक अभिलाषा वह (सात्विकी) सत्वगुण वाली (च) और (राजसी) रजोगुणवाली (च) तथा (तामसी) तमोगुणवाली (इति) ऐसी (त्रिविधा) तीन प्रकारकी (एव) निश्चय करके (भवति) होती है (ताम्) तिन तीनों प्रकारकी श्रद्धाओंको हे अर्जुन ! तू (शृणु) सुन ! ॥ २ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवानसे यों पूछा है, कि जो लोग शास्त्रविधिको तो नहीं जानते हैं पर पूर्ण श्रद्धा एवं भक्तिके साथ देवादिकोंका यजन करें तो उनकी गणना किस सम्पत्तिमें कीजावेगी और कौनसी गुणवाली समझी जावेगी ? इसके उत्तरमें श्रीसच्चिदानन्द आनन्दकन्द कहते हैं, कि [**त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा**] हे अर्जुन ! तूने जिस श्रद्धाके विषय मुझसे प्रश्न किया है वह श्रद्धा श्रद्धावान मनुष्योंमें अपने २ स्वभावके अनुसार तीन प्रकारकी होती है। क्योंकि स्वभाव ही मुख्य है। जैसा स्वभाव होगा तदाकार ही सारी लौकिक वा पारलौकिक, दैहिक वा आत्मिक तथा सामाजिक वा धार्मिक बातें मनुष्यके अंग, व्यवहार, खान, पान, भाषण, गमन, अशन, बसन, मिलन, जुलन इत्यादि आचरणोंमें पायी जावेंगी इसी कारण भगवान्ने इसे स्वभावजा कहा

स्वभावको ही विशेषता दी तहां स्वभाव उसे कहते हैं जो संस्कार जन्मजन्मान्तरके कियेहुए धर्म, अधर्म, शुभ, अशुभ कर्मोंके अनुसार जन्म लेते समय शरीरके साथ उदय होता है तिस संस्कारके अनुसार ही सारी बातें मनुष्यमें उत्पन्न होती हैं सो भगवान् पहले कहचुके हैं " कार्य्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः " (अध्या० ३ श्लो० ५) अर्थात प्राकृतिक गुणोंके वश होकर सब मनुष्य अपने २ स्वभावके अनुसार कर्म करते हैं। इसी कारण भगवान्ने यहां भी श्रद्धाको प्रकृतिके अनुसार ही तीन प्रकारका कथन किया वे तीनों कौन-कौन हैं ? सो भगवान् कहते हैं, कि [**सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु**] सत्वगुण वाली रजोगुण वाली और तमोगुणवाली ये ही तीन प्रकारकी श्रद्धा हैं तिनको हे अर्जुन ! सुन !

यहां भगवान्के कहनेका यह अभिप्राय है, कि मनुष्योंका जन्म इन ही तीन गुणोंके मेलसे होता है इसी कारण जन्म लेते समय अनेक जन्मोंके संस्कारोंके उदय होनेसे जिन संस्कारोंकी जमावट इस शरीरमें होजाती है तदाकार ही श्रद्धा भी शरीरके साथ-साथ उपजती है इसी कारण श्रद्धा स्वाभाविक (Natural) होती है तहां यह जाननाचाहिये । दूसरे किसीके देखने सुननेसे कोई इर्ष्यावश यदि किसी प्रकारकी श्रद्धा करे तो यह श्रद्धा यथार्थ श्रद्धावान्के सम्मुख फीकी पडजाती है और तिस बनावटी श्रद्धा वालेको तहां लज्जित होना पडता है जैसे कोई पुरुष स्वाभाविक दानमें श्रद्धा रखता है, दानी प्रसिद्ध है और उसकी प्रसिद्धिको सुनकरे यदि

दूसरा भी केवल दानी कहलानेके लिये ईर्ष्यावश दान करना आरम्भ करे तो उस बनावटी दानीको लज्जित होना पडेगा ।

इसपर पाठकोंके कल्याणार्थ एक दृष्टान्त देकर समझाया जाता है— दानमें श्रद्धा रखनेवाला राजा कर्ण स्वाभाविक दानी था । दानमें उसकी श्रद्धा आजतक श्रेष्ठ और सर्वोत्तम गिनी जाती है । एक बार अर्जुनने उसके दानकी प्रशंसा सुनकर मनमें बिचारा, कि यदि मैं भी कर्णके समान दानी होजाऊं तो क्या मेरी भी प्रशंसा जगतमें कर्णके समान न होगी ? ऐसा विचार उसने भी कर्णके समान नित्य एकभार *सोना दान देना आरंभ करदिया । भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको जब यह वार्त्ता ज्ञात हुई, कि अर्जुन कर्णकी ईर्ष्या करके दानी कहलाना चाहता है तब उसपर दयाकर उसका अभिमान नष्ट करनेके अभिप्रायसे कई सहस्र यदुवंशियोंको संग लेकर वर्षाऋतुमध्य भादो मासमें उसके द्वारपर पहुंचे और कहा, कि हे अर्जुन ! ये जो सारी यदुवंशियोंकी सेना मेरे संग देखरहे हो इनके भोजनके निमित्त सारी सामग्री परिपूर्ण है परे सूखे ईंधन नहीं मिलते कोई उपाय कर सूखे ईंधन भेजदो । भादोका महिना था पूर्वा हवा बडी प्रबलताके साथ झकोडे लेरही थी वर्षाकी झडी एक सप्ताह पहलेसे लगीहुई थी बाहरके सब ईन्धन भींगगये थे अर्जुनने अपनी बुद्धिअनुसार बहुतेरी युक्तियां कीं पर एक भी सफल न हुई तब हाथ जोड भगवान्के सम्मुख चुप खडा

* "विंशतितुलापरिमाणम् । तत्तु अष्टसहस्रतोलकात्मकम्" बीस तुला जो ८००० तोले होते हैं जो तोलमें २॥ मन होते हैं उसे एक भार कहते हैं ।

होगया। तब भगवान्ने उसीके सम्मुख कर्णके पास दूत भेजकर सूखी लकड़ियां मांगी जब कर्णको भी इतनी अधिक सूखी लकडियां न मिल-सकीं तब उसने यह आज्ञा दी, कि मेरे महलों और अटारियोंको झट तोड डालो और उनमें जो सूखी-सूखी वल्लियां और कड़ियां हैं उनको निकालकर शीघ्र ईंधनके लिये भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके पास भेजदो । कर्णकी इस उदारतापर अर्जुन बहुत ही लज्जित हुआ । प्रमाण—

" मानं मानं शीलतो वर्द्धमानं, ईर्ष्याबुद्धया वर्द्धमानं कुमानम् । पार्थः कर्णात स्वर्णभारप्रदातुरेधोदाने न्यूनतामाप सद्यः" अर्थ— जो मान स्वभावतः वृद्धिको प्राप्त होता है वही यथार्थ मान है पर जो ईर्ष्याकी बुद्धिसे मान चाहता है वह कुमानको प्राप्त होता है जैसे अर्जुनने कर्णके स्वर्णदानकी ईर्ष्याकर आप स्वर्णदान देकर प्रसिद्ध दानी होना चाहा पर केवल ईंधनके ही दान करनेमें शीघ्र ही न्यूनताको प्राप्त हुआ।

इस दृष्टान्तका यही अभिप्राय है, कि किसी भी कर्मकी श्रद्धा स्वाभा-विक होती है सो स्वभाव अनेक जन्मोंके शुभाशुभ कर्मोंका संस्कार होता है । इसी कारण भगवान अर्जुनसे कहते हैं, कि यह श्रद्धा स्वभावजा स्वाभाविक होती है सो गुणों करके तीन प्रकारकी है तिन तीनोंको मैं तुझसे वर्णन करता हूं एकाग्रचित्त होकरे सुन ! इसे सुनकर पुरुषोंमें देवी और आसुरी सम्पदाका निश्चय कर-लेना ॥ २ ॥

इस दूसरे श्लोकमें भगवान्‌ने श्रद्धाका निमित्त-कारण स्वभाव बतलाकर अब उसके उपादान कारणको बतलाते हैं—

मू०— सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ! ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३

पदच्छेदः— [हे] भारत ! (भरतवंशशिरोमणे अर्जुन !) **सर्वस्य** (सकलप्राणिजातस्य) **श्रद्धा**, **सत्त्वानुरूपा** (विशिष्ट-संस्कारोपेतान्तःकरणानुरूपा) **भवति**, **अयम्**, **पुरुषः** (संसारीजीवः। त्रिगुणान्तःकरणसंपिण्डितः) **श्रद्धामयः** (प्राचुर्य्येण श्रद्धायुक्तः) [तस्मात] **यः**, **यच्छ्रद्धः** (यादृशी श्रद्धा यस्य सः) **सः**, **एव** (निश्चयेन) **सः** (तादृशीश्रद्धायुक्तः) ॥ ३ ॥

पदार्थः— (**भारत !**) हे भरतवंशोद्भव अर्जुन ! (**सर्वस्य**) सब प्राणीमातकी (**श्रद्धा**) श्रद्धा (**सत्त्वानुरूपा**) उसके अन्तःकरणके अनुसार (**भवति**) होती है (**अयम्**) यह (**पुरुषः**) संसारी जीव (**श्रद्धामयः**) सदा श्रद्धामय है इसलिये (**यः**) जो जीव (**यच्छ्रद्धः**) सात्त्विकादि जिस प्रकारकी श्रद्धाके अनुकूल है (**सः**) सो जीव (**एव**) निश्चय करके (**सः**) उसी प्रकारकी श्रद्धावाला है ॥ ३ ॥

भावार्थः— उक्त दूसरे श्लोकमें जो भगवान्‌ने तीन प्रकारकी श्रद्धाओंकी गणनाकी है उसका कारण पहले तो **स्वभावमात्र** कहा है अर्थात् पूर्वजन्मोंके शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार जिसका जैसा स्वभाव है तिसकी तैसी ही श्रद्धा भी है इतना कहकर भगवान्‌ने स्वभावको

इन तीनों प्रकारकी श्रद्धाओंका निमित्त-कारण बताया पर इतना ही नहीं इनका अन्य एक उपादान कारण भी है सो क्या है ? उसे इस श्लोकमें स्पष्ट करते हुए कहते हैं, कि [**सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत !**] हे परम पवित्र सात्विक भरतवंशमें उत्पन्न अर्जुन ! मैंने जो तुझसे तीन प्रकारकी श्रद्धाका वर्णन किया सो स्वभावजन्य तो होती ही है पर इससे अतिरिक्त इसका दूसरा उपादान-कारण प्राणीका अन्तःकरण भी है। क्योंकि जिस प्रकारका जिसका अन्तःकरण होता है उसी प्रकारकी उसकी श्रद्धा भी होती है। जैसे सात्विक अन्तःकरणवालेकी श्रद्धा सात्विक होती है, राजस अन्तःकरणवालेकी राजसी और तामस अन्तःकरणवालेकी श्रद्धा तामसी होती है। यहां सत्वानुरूपा कहनेसे अन्तःकरणका ही अर्थ लेना चाहियें क्योंकि पांच भूतोंसे जो उत्पन्न प्रकाशस्वरूप त्रिगुणात्मक अन्तःकरण है उसीको सत्वके नामसे पुकारते हैं तिस अन्तःकरणके अनुसार ही श्रद्धा होती है। तहां जो प्राणी देवयोनिसे पतित होकर मनुष्ययोनिमें उत्पन्न होता है उसके अन्तःकरणमें सत्वगुणप्रधान होनेके कारण सात्विक श्रद्धा विशेषरूपसे निवास करती है। यक्ष, राक्षस, गन्धर्व इत्यादि योनियोंसे पतन हुए मनुष्योंके अन्तःकरणमें रजोगुणकी प्रधानताके कारण रजोगुणी श्रद्धा निवास करती है और भूत, प्रेत, सर्प इत्यादि योनियोंसे आये हुए मनुष्योंके अन्तःकरणमें तमोगुणकी प्रधानतासे विशेषकर तमोगुणी श्रद्धा उत्पन्न होती है। चाहे कोई गुण किसीमें प्रधान हो वा अप्रधान परे समय समय पर सबकी वृद्धि हुआ करती है।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः**] यह पुरुष श्रद्धामय कहलाता है अर्थात् मनुष्योंमें श्रद्धाकी विशेषता है तहां जिस पुरुषमें जो श्रद्धा विशेषरूपसे हुई वह पुरुष वही है अर्थात् उसी प्रकारका श्रद्धावाला कहाजाता है । सात्विक श्रद्धामय पुरुषकी सात्विक निष्ठा, राजस श्रद्धामयकी राजसी निष्ठा तथा तामस श्रद्धामयकी तामसी निष्ठा कहीजाती है इस प्रकार इन श्रद्धाओंके विचारसे ज्ञानी समझ सकता है, कि कौन पुरुष दैवी सम्पदा और कौन आसुरी सम्पदावाला है ।

अर्जुनने जो भगवान्से पहले प्रश्न किया था, कि किसको किस निष्ठावाला समझूं ? उसका उत्तर भगवान्ने इस श्लोकमें स्पष्ट कर देदिया ।

इन वार्ताओंसे यह भी सिद्ध होता है, कि यह जीव जो श्रद्धामय कहलाता है यदि सात्विकी श्रद्धासे कार्योंका सम्पादन करे तो चाहें वह शास्त्रविहित हो वा न हो उसके कर्मकी सिद्धि अवश्य होगी । क्योंकि शुद्ध श्रद्धा भी अपना प्रभाव रखती है। जैसे शास्त्रविधि अपना प्रभाव रखती है तैसे श्रद्धा भी अपना प्रभाव रखती है । क्योंकि जिसको अत्यन्त छोटे ग्रामोंमें निवास करनेके कारण शास्त्रानुकूल देश प्राप्त न हुआ वा प्रारब्धवश द्रव्यके अभाव होने से सामग्रियोंका अभाव है और शास्त्रोंके जाननेवाले आचार्योंका भी अभाव है उसके लिये यदि केवल शास्त्रानुकूल सब विधियोंकी प्रतीक्षा कीजावेगी तो कर्मका अभाव होजायेगा आयु थोडी होनेके

कारण जिनसे शास्त्राभ्यास नहीं बनसकता तो क्या वे ज्योंके त्यों कर्महीन रहजावेंगे ? नहीं ! नहीं !! ऐसा नहीं समझना चाहिये इनके लिये तो सात्विक श्रद्धामात्र ही कर्मोंकी सिद्धि और उनके उद्धारका कारण समझना चाहिये पर श्रद्धा भी सात्विक होनी चाहिये केवल अपने यश वा नामकेलिये नहीं होनी चाहिये । क्योंकि यदि केवल ऊपरसे दिखाने वा यश और नामके लिये यज्ञादि कर्म करेगा, आन्तरिक श्रद्धासे नहीं करेगा तो उसे केवल नामयज्ञके नाम से पुकारेंगे और ऐसे नामयज्ञ करनेवालोंकी गणना भगवान् असुर-सम्पदावालोंमें करचुके हैं (देखो अ० १६ श्लोक १७) इसलिये चाहे वह किसी प्रसिद्ध नगरका निवासी हो वा छोटे-मोटे ग्रामका निवासी हो पर निश्चय कररखना चाहिए, कि श्रद्धा हृदयसे हो और जो श्रद्धा हृदयसे सांगोपांग होती है वह शास्त्रविधिसे किसी प्रकार न्यून प्रभाववाली नहीं होती वरु दोनों पलडोंको समान जानना चाहिये ।

इसी कारण भगवान् कहरहे हैं, कि " शृद्धामयोऽयं पुरुषः " यह पुरुष श्रद्धासे ही भरापूरा है अर्थात इसमें प्रचुर श्रद्धा ही भरी-हुई है जो सदा फलदायक है । भगवान भी इस गीतामें बारंबार श्रद्धाकी प्रशंसा करते चलेआये हैं " श्रद्धावान् लभते ज्ञानम् " (देखो अ० ४ श्लो० ३९) श्रद्धावान् ज्ञानको प्राप्त होता है तिस ज्ञानको प्राप्त करके शीघ्र ही परम शान्तिको प्राप्त होता है । फिर वह्निपुराणके धेनुदानमहात्म्याध्यायमें ब्रह्माका वचन है, कि " श्रद्धा-धर्मः परः सूक्ष्मः श्रद्धा ज्ञानं हुतं तपः । एवं श्रद्धान्वयाः सर्वे

सर्वधर्माः प्रकीर्तिताः । केशवः श्रद्धया गम्यो ध्येयः पूज्यश्च सर्वदा " (अर्थ स्पष्ट है)

कहनेका संक्षिप्त अभिप्राय यह है, कि सर्वधर्म, ज्ञान, हवन, तप, स्वर्ग, मोक्ष इत्यादि जो कुछ कहिये सब शुद्ध सात्विक श्रद्धा ही से लाभ होते हैं यहांतक, कि स्वयं केशव भगवान् भी श्रद्धा ही से ध्यान पूजा द्वारा जाने जाते हैं और प्राणियोंको प्राप्त होते हैं।

यदि सात्विक श्रद्धा और शास्त्रविधि दोनों एक साथ हों तो कहना ही क्या है " अधिकस्याधिकं फलम् " ।

तहां याज्ञवल्क्यका वचन है, " श्रद्धाविधिसमायुक्तं कर्म यत् क्रियते नृभिः । सुविशुद्धेन भावेन तदनन्ताय कल्पते । "

अर्थ— श्रद्धा और विधि दोनोंके साथ जब मनुष्योंके द्वारा शुद्ध भावसे कर्म कियाजाता है तो वह कर्म साक्षात उस अनन्त सर्वेश्वर भगवानके लिये समझा जाता है ॥ ३ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा, कि भगवन् ! तीनों प्रकारकी श्रद्धा-वालोंकी पहचान क्या है ? तिसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं—

मू०— यजन्ते सात्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

पदच्छेदः— सात्विकाः (सात्विकश्रद्धायुक्ताः) जनाः (नराः) देवान (सात्विकान् शेषमहेशगणेशसुरेशादीन्) यजन्ते (पूजयन्ति) राजसाः (राजसीश्रद्धायुक्ताः) [जनाः] यक्षरक्षांसि (कुवेरादीन् तथा निर्ऋतिप्रभृतीन्) [यजन्ते] अन्ये (उभयविलक्षणाः) तामसाः (तामसीश्रद्धायुक्ताः) [जनाः]

प्रेतान् (स्वधर्मात् प्रच्युतान् देहपातादूर्ध्वं वायवीयं देहमापन्नान् विप्रादीन् पिशाचविशेषान्) च, भूतगणान् (सप्तमातृकाविनायकादीन्) यजन्ते (पूजयन्ति) ॥ ४ ॥

पदार्थः— (सात्त्विकाः) सात्त्विकी श्रद्धावाले (जनाः) प्राणी (देवान्) शेष, महेश, गणेश, सुरेश इत्यादि सात्त्विक देवताओंका (यजन्ते) पूजन करते हैं इसी प्रकार (राजसाः) राजसी श्रद्धावाले (यक्षरक्षांसि) कुवेरादि यक्षोंको तथा निर्ऋति इत्यादि राक्षसोंको पूजते हैं तथा (अन्ये) इनसे इतर जो (तामसाः) तामसी श्रद्धावाले पुरुष हैं वे (प्रेतान्) पिशाचोंको (च) और (भूतगणान्) सप्तमातृका, विनायक इत्यादि भूतसमूहोंको (यजन्ते) पूजते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थः— श्रीकरुणासिन्धु हृषीकेश ज्ञानस्वरूप जगत्कर्त्ता श्रीकृष्णचन्द्रके मुखसरोजसे तीन प्रकारकी श्रद्धाओंसे युक्त प्राणियोंकी वार्त्ता सुनकर अर्जुनने यों प्रश्न किया, कि हे दयानिधे ! इन तीनों प्रकारकी श्रद्धावालोंको मैं किस प्रकार पहचान सकता हूं कि कौन मनुष्य किस श्रद्धावाला है ! इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीसर्वेश्वर भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! [**यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः**] जो सात्त्विक श्रद्धावाले हैं वे शेष, महेश, सुरेश, दिनेश, गणेश इत्यादि सात्त्विक देवताओंकी पूजा करते हैं और राजसी श्रद्धावाले यक्ष राक्षसोंको पूजते हैं अर्थात् सात्त्विकी श्रद्धा सात्त्विक देवताओंकी ओर आकर्षण करती है इसलिये वे इन देवोंकी शुश्रूषा पूजामें मग्न रहते हैं । इस सृष्टिमें विधाताने सजातीय

वस्तुओंमें एक प्रकारका आकर्षण उत्पन्न करदिया है, कि जो जिस जातिकी वस्तु होगी वह अपनी ही जातिकी वस्तुकी ओर खिंचेगी। देखो ! अग्निकी ज्वाला सूर्य्यसे खिंचकर आकाशकी ओर चलीजाती है पानी और मिट्टीसे बनाहुआ घट चाहे कितना भी बल लगाकर आकाशकी ओर फेंको पर वह पृथ्वीहीकी ओर गिरेगा क्योंकि पृथ्वी उसे अपनी ओर खैंचलेती है। फिर देखो ! लोहा चुम्बककी ओर खिंचजाता है और जितने लौह हैं सब चुम्बकके पर्वतके समीप जाते ही नौकासे निकलकर उस पर्वतकी ओर भागते हैं इन उदाहरणोंसे सिद्ध होता है, कि सजातीय वस्तुओंमें परस्पर आकर्षण होता है इसी कारण सात्त्विकी श्रद्धावालोंके अन्तःकरणका खिंचाव सात्विक देवताओंकी ओर अवश्य होता है इतनाही नहीं वरु सात्विक श्रद्धावालोंकी बुद्धि सात्विक विद्याके उपार्जनमें बडी प्रबलता रखती है स्वर्गादिलोकोंकी ओर इनके चित्तका खिंचाव करती रहती है सदा दिव्यलोकोंकी प्राप्तिनिमित्त ये दिव्ययज्ञ करने करानेकी पूर्ण अभिलाषा रखते हैं। इस प्रकार उत्तम श्रद्धावाला चाहे शास्त्रोंका कोई अंग भी न जानता हो, वेदादिका अध्ययनतक भी न किया हो और किसी सिद्धान्तके वाक्योंको न जाना हो पर केवल पूर्ण सात्त्विक श्रद्धायुक्त होने ही से उसके समीप सारे आनन्दकी वार्त्ताएं खिंच आती हैं। यदि श्रद्धा सात्त्विकी प्राप्त हो तो ऐसा प्राणी बिना परिश्रम दैवी कर्मोंका फल प्राप्त करसकता है उसकी श्रद्धा चुम्बकके समान सात्त्विक विद्या जाननेवालोंको खैंचकर उसके समीप लासकती है। उनसे वह सर्वमंगलमय सात्त्विक कर्मोंकी शिक्षाका लाभ करसकता है। ऐसा नहीं समझना चाहिये, कि जो कर्मोंकी

विधिके अनुसार सम्पादन करनेवाला विद्वान् है वही लाभ उठावेगा। देखो! जो सलाईसे घिसकर अपने घरमें विधिपूर्वक दीप बालता है उस बलेहुए दीपकसे यदि कोई दूसरा दीपक बाल लेजावे तो क्या उसके घरमें प्रकाश नहीं होगा? अवश्य होगा, दूसरेके खोदेहुए कूप, और बावडी इत्यादिसे जल पीवे तो क्या पिपासाकी शान्ति न होगी? अवश्य होगी। दूसरेके बनेहुए कपडेको पहिने तो क्या उसके छिद्र न छुपेंगे? अवश्य छुपेंगे। इसी प्रकार दूसरेके विधिपूर्वक स्थापन कियेहुए देवालयमें जाकर देवकी पूजा तथा जपादि करे तो क्या वह देव उस पर प्रसन्न नहीं होगा? अवश्य होगा।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जो स्वयं विधि न जानता हो पर सात्विक श्रद्धाकी प्रेरणासे दूसरोंसे समझ बूझकर शुभकर्मोंका सम्पादन करे तो वे कर्म अवश्य उसे फलदायक होंगे।

इसी सात्विकी श्रद्धाके विषय श्रीरघुकुलमणि रामचन्द्र अपने परमप्रिय अनुज श्रीलक्ष्मणजीसे कहते हैं, कि " **श्रद्धान्वितस्तत्त्वमसीतिवाक्यतो गुरोः प्रसादादपि शुद्धमानसः। विज्ञाय चैकात्म्यतथात्मजीवयोः सुखीभवेन्मेरुरिवाप्रकम्पनः** "। (रामगीता श्लो० २४)

अर्थ— गुरुके अनुग्रहसे शुद्ध होगया है अन्तःकरण जिस प्राणीका ऐसी श्रद्धासे सम्पन्न पुरुष 'तत्वमसि' इस महा वाक्यके द्वारा आत्मा और परमात्माकी एकता जानकर सुमेरु पर्वतके समान निश्चल और सुखी होजाता है। फिर उसी रामगीतामें श्रीदशरथनन्दन कहते हैं, कि हे लक्ष्मण! " **यावन्न पश्येदखिलं मदात्मकं**

तावन्मदाराधनतत्परो भवेत । श्रद्धालुरित्यूर्जितभक्तिलक्षणो यस्तस्य दृश्योऽहमहर्निशं हृदि " (समगीता श्लो० ५८) .

अर्थ— जबतक प्राणी सम्पूर्ण जगत्‌को मेरा ही स्वरूप देखनेको समर्थ न हो तब तक मेरे इस सगुणस्वरूपके आराधनमें तत्पर रहे क्योंकि जो श्रद्धावान् पुरुष उत्कृष्ट भक्तिलक्षणवाला है उसके हृदयमें मैं दिन रात दृश्य हूं अर्थात् वह मुझको सदा प्रत्यक्ष देखरहा है ।

इन वचनोंसे सिद्ध होता है, कि सात्विक श्रद्धावाला प्राणी श्रद्धा ही द्वारा परमानन्दस्वरूप परमात्मा और जीवात्माकी एकताका अनुभव करके सुखी होजाता है तथा श्रद्धा ही द्वारा भगवतकी भक्ति करके भगवतस्वरूपका दर्शन पाता है । सात्विक श्रद्धा वालोंकी मुख्य पहचान यही है ।

अब राजसी श्रद्धावालोंकी पहचान क्या है ? सो वर्णन करतेहुए भगवान श्रीसच्चिदानन्द कहते हैं, कि " यक्षरक्षांसि राजसाः " जो राजसी श्रद्धावाले मनुष्य हैं वे यक्ष और राक्षस इत्यादिकी पूजा करते हैं । क्योंकि यक्ष राक्षस स्वयं राजसी प्रकृतिके हैं इसलिये राजसी श्रद्धावालेका अन्तःकरण उनकी ओर खिंचजाता है ।

तहां यक्षोंकी गणना यों है, कि कुवेर तो यक्षोंका राजा है और इन यक्षोंके पांच गण हैं " प्रचेतसः सुता यक्षा तेषां नामानि मे शृणु । केवलो हरिकेशश्च कपिलः काञ्चनस्तथा । मेघमाली च यक्षाणां गण एष उदाहृतः "

अर्थ— प्रचेताके पुत्र यक्षोंके पांच गण हैं जिनके नाम ये हैं— १. केवल, २. हरिकेश, ३. कपिल, ४. काञ्चन और ५. मेघमाली

ये सब कुवेरके भण्डारकी रक्षा करनेवाले हैं। राजसी श्रद्धावाले धनके लोभसे इनके राजा कुवेरके साथ इनकी पूजा करते हैं। इनका स्वरूप देखनेमें भयंकर होता है। प्रमाण — "आजग्मुर्यक्षनिकराः कुवेरवर-किंकराः। शैलजप्रस्तरकरा अञ्जनाकारमूर्त्तयः। विकृताकार-वदना पिंगलाक्षा महोदराः। स्फटिका रक्तवेशाश्च दीर्घस्कन्धाश्च केचन" (ब्रह्मवैवर्त्त० श्रीकृष्णजन्मखण्ड अध्याय १७) अर्थ स्पष्ट है।

इसी प्रकार ये राजसी श्रद्धावाले निर्ऋति इत्यादि राक्षसोंकी पूजा करते हैं।

ये निर्ऋति इत्यादि कौन हैं ? कहां निवास करते हैं ? सो वर्णन कियाजाता है। ये नैर्ऋत्य कोणके राजा हैं— " पूर्वस्यान्तु सुकान्तस्य रक्षकूटाह्वयो गिरिः। यत्रास्ते सततं देवो निर्ऋती राक्षसेश्वरः। खड्गहस्तो महाकायो वामे चर्मधरस्तथा। जटाजूट-समायुक्तः प्रांशुकृष्णाचलोपमः। द्विभुजः कृष्णवस्त्रस्तु गन्धर्वो-परि संस्थितः" (कालिकापुराण ८१ अध्याय) अर्थ स्पष्ट है।

तहां यह भी लिखा है, कि जो प्राणी रक्षाकूटपर्वतपर जाकर नैर्ऋ-त्यबीजमन्त्रसे इस राक्षसराज निर्ऋतिकी पूजा तथा राक्षसेश्वरी चण्डि-काकी पूजा करता है उसे राक्षसादिकोंका भय नहीं होता।

भगवान् कहते हैं, कि राजसी श्रद्धावाले उक्त प्रकार यक्ष राक्षसोंकी पूजामें श्रद्धा रखते हैं। यही राजसी श्रद्धावालोंकी विशेष पह-चान है।

अब भगवान कहते हैं, कि [**प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः**] इनसे इतर जो तामसी श्रद्धावाले जीव हैं वे प्रेत तथा भूतगणोंके यजनमें तत्पर रहते हैं। तहां ये भूत प्रेत कौन हैं ? बहुतेरे तो इनमें वे ब्राह्मण हैं जो अपने कर्मोंसे च्युत होकर राक्षसोंके समान चोरी, जारी, मिथ्या भाषण, मद्यपान, परनिन्दा इत्यादि दुष्कर्मोंके करनेसे वायवीय शरीर धारणकर ब्रह्मपिशाचादिके नामसे पुकारेजाते हैं, बहुतेरे इनसे इतर नीचजाति डोमरे, चमार, भंगीके मरेहुए प्रेत भी सोढूबाबा, मछेन्द्रा मलंग, बूढाबाबू, लोना चमारी, शेख सद्दो, गोंगापीर इत्यादिके नामसे प्रसिद्ध हैं। ये तामसी श्रद्धावाले जिनका पूजन कर इनसे अपनी मनःकामना मांगते हैं ये मूर्ख कभी किसी देवमन्दिरमें जाकर भगवान्‌की पूजा नहीं करते ये अपने प्रेत भूतको रामकृष्णसे भी अधिक श्रेष्ठ जानते हैं। फिर सप्तमातृका और विनायक इत्यादि भूतोंकी भी पूजाकरनेवाले ये ही मूर्ख हैं। अगिया वैताल इन नरकगामियोंका सबसे बडा देवता समझाजाता है इसके आगे जीवोंको मारकर बलिदान करते हैं क्योंकि ये अत्यन्त निर्दयी और कठोरहृदय होते हैं।

भगवान्‌के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि संसारमें ये जो तीन प्रकारकी श्रद्धावाले हैं उनमें केवल सात्विकी श्रद्धावालोंकी दैवीसम्पदामें गणना है शेष दो असुरसम्पदावाले हैं। इसलिये केवल सात्विकी श्रद्धावालोंका अनुकरण करना चाहिये।

भगवान्‌के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि हे अर्जुन ! तीनों श्रद्धावालोंको तू उनके स्वभावसे ही पहिचान लिया कर।

अर्थात् सात्विक श्रद्धावालोंको सात्विक देवादिके पूजनसे, राजसी-श्रद्धावालोंको यक्ष राक्षसोंके पूजनसे और तामसी श्रद्धावालोंको भूत प्रेतादिके पूजनसे पहचान लिया कर ॥ ४ ॥

अब पूर्वजन्मार्जित पापोंके संस्कारकी प्रबलतासे जिन मूर्खोंसे असुरस्वभावका परित्याग नहीं होसकता वरु दुःसंगसे और भी बढ़ताही चलाजाता है वे दोनोंलोकोंमें केवल दुःख ही दुःख भोगते हैं। प्रायः ऐसे पुरुष बडे हठी और क्रूर देखेगये हैं यदि ब्रह्मा भी इनको समझावे तो ये नहीं मानते ऐसोंके क्या विशेष लक्षण और कर्म हैं? अर्थात् ये कैसे पहचानेजाते हैं सो भगवान् अगले दो श्लोकोंमें वर्णन करते हैं—

मू०— अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६

पदच्छेदः— ये, अचेतसः (मूढाः । अविवेकिनः) जनाः (नराः) दम्भाहंकारसंयुक्ताः (दम्भो धर्मध्वजित्वम् अहंकारः स्वस्मिन् पूज्यताबुद्धिः, ताभ्यां सम्यग्युक्ताः) कामरागबलान्विताः (कामो विषयाभिलाषः कामस्य कारणीभूतो विषयाभिरञ्जनात्मको रागः कामरागाभ्यां कृतं बलं विषयसम्पादनोत्साहस्तेन युक्ताः । अथवा कामोऽभिलाषः रागः आसक्तिः, बलमाग्रहः एतैरन्विताः) शरीरस्थम्

(देहस्थितम्) भूतग्रामम (करणसमूहम । पृथिव्यादिभूतसमुदायम्) अन्तःशरीरस्थम (भोक्तृरूपेण शरीरान्तःस्थम्) माम (परमेश्वरम्) च, एव (निश्चयेन) कर्षयन्तः (वृथोपवासादिभिः कृपीकुर्वन्तः) अशास्त्रविहितम (शास्त्रं वेदादितद्विरोधिनाकौलिकाद्यागमेन विहितम) घोरम (दारुणम । परस्यात्मनः पीडाकरम । स्वमांसहोमेन ब्राह्मणलोहिदादिना वा देवतासन्तर्पणाद्यात्मकम) तपः, तप्यन्ते (निर्वर्तयन्ति) तान्, असुरनिश्चयान (वेदार्थविरोधि अतिक्रूरो निश्चयो येषां तान् सर्वपुरुषार्थभ्रष्टान्) विद्धि (जानीहि) ॥ ५, ६ ॥

पदार्थः— (ये अचेतसः) जो अज्ञानी (जनाः) मनुष्य (दम्भाहंकारसंयुक्ताः) पाखण्ड और घमण्डसे भरे हुए हैं तथा (कामरागबलान्विताः) विषयकी अभिलाषा जो काम और उस अभिलाषाके प्राप्तिनिमित्त जो राग तिनके बलसे जो पूर्ण हैं वे (शरीरस्थम) इस देहमें स्थित (भूतग्रामम) भूतसमूहको अर्थात पृथिवी इत्यादि पांचों भूतोंके साथ दश इन्द्रियां और चारों अन्तःकरणोंकोतथा (अन्तःशरीरस्थम्) इस शरीरके भीतर भोक्ता रूप तथा अन्तर्यामीरूपसे स्थित (माञ्च) मुझको भी (एव) निश्चयकरके (कर्षयन्तः) दुर्बल अर्थात क्षीण करतेहुए (अशास्त्रविहितम) वेदादि शास्त्रोंकी आज्ञासे रहित कौलिक इत्यादि अथवा नास्तिकादि शास्त्रोंकी आज्ञाके अनुसार (घोरम्) अपने तथा परायेकी पीडा करनेवाले परम कठोर भयंकर (तपः) तपादिको (तप्यन्ते) तपते हैं अर्थात तामसी तपस्यामें जो रत रहते हैं

(तान्) उनको (असुरनिश्चयान्) असुर अर्थात परम क्रूर निश्चयवाला राक्षस (विद्धि) जान ॥ ५, ६ ॥

भावार्थः— अब श्रीआनन्दकन्द कृष्णचन्द्र असुरस्वभाववालोंकी पहचानके लक्षण अर्जुनके प्रति वर्णन करते हुए कहते हैं, कि [**अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः**] जो तप अशास्त्र हैं वेदादिमें कहीं भी जिनकी आज्ञा नहीं है किसी सनातन धर्मवाले ऋषि वा विद्वानने जिनमें कभी भी सम्मति नहीं दी ऐसे कर्म जो अशास्त्रविहित हैं अर्थात कौलिक, नास्तिक, औघड इत्यादि अनेक स्वार्थी और विषयियोंके द्वारा मनमाने बनायेहुए जो शास्त्र हैं तिनकी आज्ञानुसार जो मूर्ख प्राणी चलते हैं अर्थात अत्यन्त घोर तपको तपते हैं । जैसे अपना मांस काटकर तथा अन्य जीवोंको मारकर वा कभी २ ब्राह्मणके रुधिरसे भयंकर तर्पणादि कर्म करना विहित समझते हैं, मुर्दोंका मांस भक्षण करते हैं तथा मलमूत्रसे व्यवहार साधन करते हैं, श्मशानमें हड्डियों और खोपडियोंको एकत्रकर मृतककी खोपडीमें मदिरा डाल उसमें श्याल, कूकर, कागडे इत्यादिका मांस पकाकर भूत, प्रेत, वैताल इत्यादि अपने इष्ट देवताओंको भोग लगा आप भक्षण करते हैं और नाना प्रकारके शस्त्रोंसे अपने शरीरको काट रुधिर निकाल अपने देवताको अर्पण करते हैं ऐसे जो घोर तपके करनेवाले हैं उनको अवश्य असुरनिश्चय जानना चाहिये ।

फिर ये कैसे हैं ? सो भगवान् कहते हैं, कि [**दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः**] दम्भ, अहंकार, काम, राग और बलसे भरे पूरे हैं अर्थात दम्भ जो पाखण्ड और अहंकार

जो अपने तपोबलका घमगड तिन दोनों प्रसिद्ध दोषों करके युक्त होते हैं अथवा काम जो विषयकी अभिलाषा और राग जो उस अभिलषित विषयमें परेम प्रीति तिनके बल जो विषयभोगका उत्साह है तिस करके भरेपूरे रहते हैं अथवा यों कहलीजिये, कि काम, राग और इनकी प्राप्तिके निमित्त जो कठोर दुःखोंके सहनेका बल इन तीनों दोषोंसे जो पूर्ण रहते हैं वे सचमुच क्या करते हैं ? सो सुनो ! [**कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः**] ये विवेक रहित मूढ शास्त्रप्रतिकूल घोर तामसी आचरण करके अर्थात् किसी सुन्दरीको अपने वशमें लानेके निमित्त अथवा किसी धनीके धनके भगडारके लूटनेमें बलवान होनेके निमित्त अगियावैताल इत्यादि प्रेतोंको जगते हुए सात २ दिवस बिना अन्नपानीके भूखे प्यासे रहकर इस शरीरमें स्थित जो भूतग्राम अर्थात् दश इन्द्रिय, चार अन्तः-करण और पांचों भूतोंका समूह जो यह पिगड तिसको तथा अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय पांचों कोशोंको जो कृश (दुर्बल) करते हैं। तात्पर्य्य यह है, कि आहारादिके न करनेसे इन सबोंको निर्बल करते हैं ऐसे जो ज्ञानरहित हैं, जो अपने इतने करनेपर आप बडे महात्मा, ओझाजी, औघडजी, तान्त्रिकजी वा वाममार्गीजी कहलानेका डींग पंडितोंके समीप हांकते हैं और जो छू करनेसे रोगियोंका रोग नाश करदेनेका दम भरते हैं ऐसे मूर्ख अपने भूतग्रामको ही निर्बल नहीं करते वरु [**मां चैवान्तः-शरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान्**] ' माञ्च ' मैं जो अन्तर्यामीरूपसे शरीरके अन्तर निवास करता हूं उसे भी कृश (दुर्बल)

करते हैं तात्पर्य्य यह, है कि मुझ अन्तर्यामीको भी अपनी बुद्धिकी क्षीणतासे क्षीण करते चले जाते हैं। अर्थात् जैसे-जैसे उनकी बुद्धि इन क्रूरकर्मोंसे दुर्बल होतीजाती है मैं भी उनके ध्यानसे दुर्बल होता चलाजाता हूं अर्थात् विलग होता चलाजाता हूं। ऐसे जो मलिन बुद्धिवाले हैं वे अपने शरीरस्थित भूतग्रामको और मुझको भी कृश करते२ भूलजाते हैं। ऐसे पुरुषोंको हे अर्जुन! तू असुरनिश्चय-वाला जान। यहां भगवानने उनको मनुष्यस्वरूपमें रहनेके कारण असुरशब्दसे नहीं पुकारा अर्थात् "असुरान् विद्धि" असुर जान! ऐसा नहीं कहकर 'असुरनिश्चयान' कहा।

भगवानके कहनेका अभिप्राय यह है, कि देखनेमें तो इनका शरीर मानुषी है पर इनका अन्तःकरण, इनका विचार, इनके कर्म, इनका स्वभाव, इनके लक्षण, इनकी बुद्धि, इनकी चालढाल और इनकी निष्ठा आसुरी होनेके कारण आसुरीशास्त्रोंमें इनका निश्चय दृढ़ है। ये धर्मशास्त्रका उल्लंघन करते हैं और आसुरी शास्त्रोंमें अपना निश्चय रखते हैं यही इनकी पूर्ण पहचान है।

शंका— इस व्याख्यानमें जो ऐसा कहा, कि उपवासादि करके जो कायाको क्लेश देना हैं वह आसुरी है ऐसा क्यों? श्रुति और स्मृतियोंमें तो उपवासादि करके तप करना श्रेष्ठ लिखा है तथा इस 'तप' को ब्रह्मरूप ही कहा है और ब्रह्मरूप जानकर महर्षियोंने सहस्रों वर्ष बिना अन्न जलके तप किया। श्रीविश्वामित्रजीका तथा अन्य ऋषि महर्षियोंका तप करना प्रसिद्ध है सर्वसाधारण जानते हैं, कि श्रीपार्वतीजीने शिव भगवानकी प्राप्तिके निमित्त हिमालय पर्वत

घर घोर तप किया जिसके विषय गोस्वामी तुलसीदासजी रामायणमें लिखचुके हैं, कि " कछु दिन भोजन वारि बतासा । किये कठिन कछु दिन उपवासा " इन बचनोंसे उपवासादि करना निषिद्ध नहीं जानपडता तप करना तो सर्वत्र विहित ही है । प्र० श्रु०—" ॐ तं९ होवाच तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत "
(तैति० भृगवल्ली श्रु० ३)

अर्थ— जिस समय भृगुने अपने पिता वरुणदेवके पास जाकर ब्रह्मके विषय जिज्ञासा की और पूछा, कि हे पितः ! तुम मुझे ब्रह्मका उपदेश करो उस समय वरुणने कहा हे पुत्र ! तपसे ब्रह्मको जान तप ही सब साधनोंमें श्रेष्ठ है अर्थात ब्रह्मरूप ही है इतना सुन भृगुने तप किया । इस श्रुतिसे सिद्ध होता है, कि तप करना श्रेष्ठ है । जब ऐसा है तो यहां भगवान्‌ने ऐसा क्यों कथन किया, कि हे अर्जुन ! तू उपवासादि घोर तप करनेवालोंको आसुरी निष्ठावाला जान ! ।

समाधान— इस शंकाका समाधान अत्यन्त सरल है सब ही जानते हैं, कि जितनी वस्तु इस संसारमें हैं सबोंकी उत्कृष्टता और निकृष्टता सुयोग और कुयोगपर है । जैसे वही गंगाजल पूजाके पात्रमें पवित्र और पावन करनेवाला तथा पूज्य समझा जाता है । और मद्यके घटमें मद्य होकर निकृष्ट, अपवित्र और अपूज्य होजाता है । वही काजल मसीपात्रमें पडनेसे वेदादिके मन्त्रोंको लिखता है आंखोंमें डालनेसे शोभा देता है और उसीको मुंहपर मसलनेसे कुशोभा भास होती है इसी प्रकार जो तप सात्विक श्रद्धासे युक्त भगवत्प्राप्ति निमित्त कियाजाता है वह प्रशंसनीय है और राजसी वा तामसी

श्रद्धासे युक्त पराये की स्त्रीके हरने तथा परायेके नाश करनेके लिये कियाजाता है वह निन्दनीय है। श्रुति और स्मृतियोंमें जो तपका वर्णन है वह सात्विक तपका वर्णन है और यहां जिस तपकी निन्दा कीगयी है वह राजसी तथा तामसी तप है। कोई भी वस्तु क्यों न हो सात्विक होनेहीसे ग्राह्य है और राजस तामस होनेसे अग्राह्य है। भगवान्ने इस १७ वें अध्यायमें इसी विषयका वर्णन किया है, कि जितने सात्विक पदार्थ हैं उनका ग्रहण करो और राजसी वा तामसी तत्वोंका परित्याग करो। इस कारण यहां शंकाका कोई स्थान नहीं है। शंका मत करो ॥ ५, ६ ॥

अब भगवान अगले श्लोकोंमें तीनों प्रकारके आहार, यज्ञ, तप दानादिका वर्णन करते हुए कहते हैं—

मू०— आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७

पदच्छेदः— तु, सर्वस्य (सात्विकादिभेदभिन्नस्य प्राणि-जातस्य) प्रियः (इष्टः) आहारः (अन्नादिः) अपि, त्रिविधः (सात्विकादित्रिप्रकारः) भवति, तथा, यज्ञः (देवतोद्देशेन द्रव्य-त्यागः) तपः (कायेन्द्रियशोषणम्। कृच्छ्रचान्द्रायणादि) दानम् (परस्वत्वापत्तिफलकः स्वसत्वत्यागः) तेषाम् (आहारयज्ञतपोदाना-नाम्) इमम् (वक्ष्यमाणम्) भेदम् (भिन्नता) शृणु (अव-धारय। आकर्णय) ॥ ७ ॥

पदार्थः— (सर्वस्य) सर्वप्रकारके प्राणियोंका (प्रियः) परम प्रिय जो (आहारः) आहार है (अपि) वह भी (तु)

तो (त्रिविधः) तीन ही प्रकारका (भवति) होता है (तथा) और इसी प्रकार (यज्ञः) यज्ञ जो देवताओंके लिये हवनीय द्रव्योंका त्याग करना है (तपः) तप जो कृच्छ्रचान्द्रायण इत्यादि द्वारा शरीर और इन्द्रियोंका शोषण करना है (दानम्) दान जो अपना धन इत्यादि दूसरोंको देना है ये सब भी तीन प्रकारके होते हैं (तेषाम्) तिन आहार, यज्ञ, तप और दानके विषय (इमम्) इस मेरे कथन किये हुए (भेदम) भेदको (शृणु) हे अर्जुन ! तू सुन ॥ ७ ॥

भावार्थः— इस सृष्टिमें जितने पदार्थ हैं वे जड हों वा चेतन सबके सात्विक, राजस और तामस तीन ही भेद हैं इनमें सात्विकका ग्रहण और राजस तामसके त्याग करनेके अभिप्रायसे श्री ब्रजचन्द्र आनन्दकन्द कहते हैं, कि [**आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः**] हे अर्जुन ! सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके प्राणी-मात्रका जो यह आहार प्रिय है वह भी तीन प्रकारका है। अथवा यों अर्थ करलो, कि सात्विक, राजस और तामस प्राणियोंके जो अपने अपने गुणोंके अनुसार आहार प्रिय होता है वह भी तीन ही प्रकारका होता है आहार ही नहीं किन्तु [**यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु**] यज्ञ, तप और दान भी तीन ही प्रकारके होते हैं । हे अर्जुन ! तिनका भेद सुन! मैं इन तीनों प्रकारके आहार यज्ञ, तप और दानका भेद तेरे तथा सर्वसाधारण धर्मावलम्बियोंके कल्याणनिमित्त विलग २ कह सुनाता हूं । जो प्राणी इस भेदको सुनकर सात्विकका ग्रहण और राजस तामसके त्याग करनेका यत्न

करेगा वह संसृतिबन्धनसे छूट परमानन्दको लाभ करेगा ॥ ७ ॥

इतना कहकर श्रीआनन्दकन्द अगले १५ श्लोकोंमें इन आहार, यज्ञ, तप और दानके तीनों भेद वर्णन करेंगे तहां ८, ९ और १० तीन श्लोकोंमें भोज्य, भक्ष्य, लेह्य और चोष्य इन चारों प्रकारके अन्नोंका त्रिगुणात्मक भेद कहते हुए प्रथम सात्विक आहारका भेद कथन करते हैं—

मू०— आयुःसत्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहारा सात्विकप्रियाः ॥ ८ ॥

पदच्छेदः— आयुःसत्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः (आयुर्जीवनम्, सत्वमुत्साहो, बलं कार्य्यकरणे शरीरसामर्थ्यम्, आरोग्यम् नीरोगता, सुखं चित्तप्रसादः, प्रीतिः परेषामभिसम्पन्नानां दर्शात्परमो हर्षोऽभिरुचिर्वा एतेषां वृद्धिकराः) रस्याः (रसोपेताः । आस्वाद्याः शर्करादिमधुररसप्रधानाः) स्निग्धाः (स्नेहवन्तो दुग्धादियुताः) स्थिराः (देहे रसांशेन चिरकालस्थायिनः) हृद्याः (दृष्टमात्रा एव हृदयप्रियाः) आहाराः (घृतक्षीरसितादयः) सात्विकप्रियाः (सत्वगुणयुक्तानामिष्टाः) ॥ ८ ॥

पदार्थः— (आयुःसत्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः) जीवन, उत्साह, शरीरकी सामर्थ्य, आरोग्यता, सुख और प्रीति इन सबोंको बढानेवाले (रस्याः) शक्कर, चीनी, मिश्री इत्यादि मधुर रससे युक्त (स्निग्धाः) दूध, घृत, मक्खन इत्यादि मिश्रित (स्थिराः) अपने रसके पुष्ट अंशोंसे शरीरमें अधिक काल पर्य्यन्त स्थिर रहने-

वाले (हृद्याः) देखनेमें हृदयको प्रसन्न करनेवाले अति प्रिय (आहाराः) आहार हैं वे (सात्विकप्रियाः) सात्विक गुणवालोंको प्रिय होते हैं अर्थात् सात्विक गुणवाले प्राणी ऐसे आहारोंमें रुचि रखते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थः— श्रीकरुणासिन्धु दीनबन्धु श्रीश्यामसुन्दर जो त्रिगुणात्मक आहारोंके विषय अर्जुनके प्रति कहचुके हैं उनमें सबसे प्रथम सात्विक गुणवालेको जो सात्विक-आहार प्रिय हैं उनका भेद वर्णन करते हुए कहते हैं, कि [**आयुःसत्वबलारोग्यसुख-प्रीतिविवर्द्धनाः**] आयु, उत्साह, बल, नीरोगता और सुखको बढ़ानेवाले आहार सात्विक पुरुषोंको प्रिय होते हैं ।

अब यहां पहले यह दिखलायाजाता है, कि सात्विक आहारसे आयुकी वृद्धि कैसे होती है ?

बहुतेरे प्राणियोंके चित्तमें यह वार्त्ता दृढ बैठीहुई है, कि जिस जीवके लिये जितनी आयु भगवानने नियत की है उससे क्षणमात्र भी अधिक वह प्राणी इस संसारमें नहीं ठहर सकता है फिर भगवान्‌ने इस आहारसे आयुकी वृद्धि करदेनेकी शक्ति क्यों कहदी ? तो उत्तर यह है, कि जिन साधारण प्राणियोंने ऐसा समझा है वे आयुके यथार्थ तत्वको नहीं जानते हैं उनकी समझमें यही वार्त्ता बैठीहुई है, कि प्राणियोंकी आयुके कुछ साल, महीने, घड़ी वा पलकी गणना करके धर्मराजके ग्रन्थमें उनके नामपर तिथि नियत कीहुई है, कि अमुक प्राणी अमुक तिथिमें शान्त होजावेगा । जैसे देवदत्त कार्तिक सुदी सप्तमीको तीसरे पहर मरजावेगा । पर ऐसा नहीं, आयुकी समाप्तिके

लिये कोई तिथि विशेषकर नियत नहीं है किसी भी देवता वा पितरके लोकमें ऐसा कोई ग्रन्थ लिखकर नहीं रखा हुआ है जिसमें आयुकी तिथि लिखीहुई हो ।

आयु क्या है ? सो सुनो प्रमा० श्रु०— " ॐ प्राणान्देवा अनुप्राणन्ति । मनुष्याः पशवश्च ये प्राणो हि भूतानामायुः । तस्मात्सर्वायुषमुच्यते" (तैत्ति० अ० २ अनु० ३ श्रु०)

अर्थ— (देवाः) ये जो अग्नि, मित्र, वरुण, कुबेर इन्द्रादि देव हैं वे सबके सब प्राण ही द्वारा श्वासोच्छ्वास करतेहुए जीवित रहते हैं फिर जितने मनुष्य और पशु जो चौरासी लक्ष योनियोंमें उत्पन्न जीव इस पृथ्वीमण्डलपर हैं सब प्राण ही द्वारा जीवित रहते हैं इसलिये श्रुति कहती है, कि प्राण ही सब जीवोंकी आयु है ।

यहां श्रुतिका मुख्य अभिप्राय यह है, कि प्राण जो प्राणियोंके शरीरमें निरन्तर बिना रोक-टोक दिनरात तैलधारावत् प्रवाह कर-रहा है यही सब प्राणियोंकी आयु है । इसी कारण इसको 'सर्वायुष' कहते हैं । अन्य श्रुति भी कहती है, कि " ॐ यावदस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुः " जबतक इस शरीरमें प्राण निवास करता है तब ही तक आयु है । अब यह जानना चाहिये, कि यह प्राण इस शरीरमें कैसे ? कब तक ? किस प्रमाणसे निवास करता है ? सो सुनो ! " हकारेण वहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः । हंसेति परमं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥ एक-

विंशतिसाहस्रं षट्शताधिकमीश्वरि । जपते प्रत्यहं प्राणी सान्द्रानन्दमयीं पराम् । उत्पत्तिश्च जपारम्भो मृत्युस्तस्य निवेदनम् ” (दक्षिणामूर्त्तिसंहितायां प्रथमः पटलः)

अर्थ— हकार उच्चारण करेताहुआ जो बार-बार बाहर जाता है और सकार उच्चारण करताहुआ जो शरीरके भीतर प्रवेश करता है ऐसे ‘ हंसः ’ इस परम मन्त्रको यह जीव सदा जपता रहता है २१६०० प्रतिदिन सूर्य्योदयसे दूसरे सूर्य्योदय तक श्वास द्वारा यह प्राणी इस परमानन्दमयी वाणीको उच्चारण करता है जीवोंके जन्म-दिनसे इस मन्त्रका आरम्भ होता है और मृत्युके दिन समाप्ति होजाती है ।

इतना कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि प्रतिदिन २४ घण्टोंके भीतर इस प्राणीके शरीरमें २१६०० बार श्वास आतेजाते हैं । इस २१६०० के प्रमाणसे मनुष्यकी आयु कमसे कम एक श्वास और अधिकसे अधिक ७७७६००००० (सतहत्तर करोड छिहत्तर लाख) श्वासके दियेगये हैं अर्थात् मनुष्योंकी परम आयु १००वर्ष तककी कहीगयी है। तात्पर्य यह है, कि किसीके शरीरमें २१६०० प्रति-दिनके प्रमाणसे, किसीके शरीरमें कई करोड, किसीमें कई लक्ष, किसीमें कई सहस्र, किसीमें सौ, किसीमें दो, और किसीमें एकही श्वास उस जीवके कर्मानुसार दियाहुआ है इसी कारण श्रुतिने “ प्राणो हि भूताना-मायुः ” प्राण ही भूतोंकी आयु है ऐसा कहा ।

अब यहां एक गुप्त वार्त्ता यह भी जानने योग्य है, कि इस आयुके प्रमाणमें अधिकता और न्यूनता दोनों होसकती हैं यदि प्राणी

२१६००से अधिक श्वास प्रतिदिन व्यय करेगा तो आयुकी कमी होजावेगी और जो २१६०० से कम व्यय करेगा तो आयुकी वृद्धि होजावेगी।

प्रिय पाठको ! श्वासका अपने प्रमाणसे अधिक वा न्यून व्यय होना कैसे होता है ? सो सुनो !

जो २१६०० श्वास ऊपर कथन कियेगये उनमें १५ श्वासोंका एक मिनटमें व्यय होना सिद्ध होता है यदि किसी कारणसे एक मिनटमें १५ श्वाससे अधिक व्यय होवे तो जानो, कि आयुमें कमी होरही है जैसे शयनमें, स्त्रीप्रसंगमें, चलनेमें, क्रोध करनेमें इस श्वासका अधिक व्यय होता है इसी कारण जो अधिक कामी है मिथ्या क्रोधी है अथवा जो रोगी है उसके श्वास अधिक व्यय होते हैं और जो शान्तचित्त है प्राणायामादि क्रियाका साधन करनेवाला है उसके श्वास बहुत ही कम व्यय होते हैं तहां शरीरमें वलकी अधिकताकी आवश्यकता है जो वलवान होगा उसके श्वास कम और जो निर्वल होगा उसके श्वास अधिक अवश्य व्यय होंगे। तहां यह निश्चय है और सर्व सिद्धान्त है, कि पुष्टिकारक अन्नके भोजनसे शरीरमें वल होता है और वल होनेसे श्वासोच्छ्वासमें कमी ही होती है निद्रा भी अधिक नहीं सताती कामादि विकार भी नहीं घेरते इसलिये वलिष्ठ प्राणीके श्वास प्रतिदिन कम व्यय होनेके कारण उसकी आयुकी वृद्धि होती है इसी कारण श्रीभगवान् अर्जुनसे कहते हैं, कि जो आहार आयुकी वृद्धि करनेवाला है अर्थात् पौष्टिक

है जिसके भोजनसे श्वासोंका अधिक व्यय होना रुकजाता है वह सात्विक प्राणियोंको प्रिय है।

अब भगवान कहते हैं, कि जो आहार सत्व, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति इन चारोंको एक संग बढानेवाला है वही सात्विक आहार है। तहां सत्व शब्दके अनेक अर्थ हैं " महाभारतमते सुखः जनकगुणः " महाभारतके मतसे जितने गुण सुखजनक होते हैं उनको सत्व कहते हैं। उसी महाभारतके मोक्षधर्ममें लिखा है, कि १ प्रसादः। २ हर्षः। ३ प्रीतिः। ४ असन्देहः। ५ धृतिः। ६ स्मृतिः। ये सत्वके ही छवों विशेष गुण हैं मुख्य अभिप्राय यह है, कि सत्वगुणके जितने धर्म हैं सब इस सात्विक आहारसे उत्पन्न होते हैं जितने सात्विक भाव हैं उन सबोंका उत्पन्न करनेवाला जो आहार है वही सात्विक पुरुषोंको प्रिय होता है सत्व शब्द कहनेसे भगवानका मुख्य तात्पर्य यही है।

अब भगवान कहते हैं, कि जिस भोजनसे रोगोंकी हानि हो वह सात्विक है। " अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषाः " (सुश्रुतः) जो प्राणी रोगरहित रहता है उसकी आयु ४ सौ वर्षकी होती है। इसलिये मनुष्योंको चाहिये, कि सदा नीरोग रहनेके तात्पर्यसे सात्विक आहारोंका सेवन करें।

फिर भगवान कहते हैं, कि " सुखप्रीतिविवर्द्धनाः " जो आहार सुख और प्रीतिके बढानेवाले हैं वे भी सात्विक आहार हैं। तहां सुख कहनेका तात्पर्य यह है, कि जिस आहारके खानेसे रात्रि-

भरे सुखपूर्वक निद्रा लगजावे, जिसके पचनेमें किसी प्रकारका विकार न हो, रात्रिको पेट न फूले, अधोवायुका सञ्चार न हो, कुसमय पिपासा न लगे, मस्तकमें किसी प्रकारका बोझ न हो, मल सुखपूर्वक उतरजावे तो जानना चाहिये, कि यह आहार सात्विक होनेके कारण सुखदायी है क्योंकि ऐसी दशा होनेसे मन प्रसन्न रहता है इतना ही नहीं वरु प्रीतिकी भी बृद्धि होती है। प्रीति मनकी उस दशाका नाम है जब, कि सब छोटे बडोंको सम्पन्न देखनेसे परम हर्ष और उनसे मिलनेकी रुचि हो। सो केवल सात्विक आहारसे उत्पन्न होती है इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि जो आहार आयु, सत्व, वल, आरोग्य, सुख और प्रीतिका बढानेवाला है वह सात्विक होनेसे सात्विकोंका प्रिय है ।

अब भगवान कहते हैं, कि और भी इस सात्विक आहारका भेद सुनो [**रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः**] जो आहार '**रस्याः**' रससे भराहुआ हो जैसे शर्करा, मिश्री, लड्डू, पूआ, पेडा, जलेबी, बरफी इत्यादि तथा जो "**स्निग्धाः**" चिकनाई दूध, घी, खोवा, मलाई इत्यादि तिससे युक्त हो फिर जो '**स्थिराः**' पेटमें जाकर कुछ काल स्थिर होकर शुद्ध रुधिर, मज्जा और वीर्य्यको बढावे फिर '**हृद्याः**' जिसके देखनेसे खानेकी रुचि हृदयमें उत्पन्न होवे देखते ही खानेको जी चाहे अथवा जो हृदयमें किसी प्रकारका विकार न उत्पन्न करें ऐसे जो आहार हैं सो सब सात्विक जनोंको प्रिय होते हैं ॥ ८ ॥

एवम्प्रकार सात्विक आहारका लक्षण और रूप वर्णन कर अब राजसी आहारका वर्णन करते हैं—

मू०—कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।

आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

पदच्छेदः— कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः (अतिकटु निम्बादि अत्यम्लमम्लिकादि अतिलवणं बहुक्षिप्तसैन्धवादि अत्युष्णं मुखादिदाहकम्, अतितीक्ष्णम् अरुणमरीचादि अतिरूक्षः स्नेहलेशेनापि रहितः कंकुकोद्रवादिः, अतिविदाही सन्तापकः सर्षपादिः) दुःखशोकामयप्रदाः (दुखं तात्कालिकपीडा, पश्चादुत्पन्नरोगे तज्जन्यं दौर्मनस्यं शोकः, आमयो रोगः तान् प्रयच्छन्तीति) आहाराः (चतुर्विधान्नानि) राजसस्य (रजोगुणविशिष्टस्य) इष्टाः (प्रियाः) ॥ ९ ॥

पदार्थः— (कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः) अत्यन्त तीता जैसे नीम इत्यादि, अत्यन्त खट्टा जैसे इमली करौंदा, अमरा इत्यादि, अधिक लवण जिसमें पड़ा हो फिर जो अत्यन्त उष्ण जिससे मुख इत्यादिमें दाह होवे, अत्यन्त तीक्ष्ण जैसे लाल मिरच इत्यादि, अत्यन्त रूखा जैसे कँगुनी कोदो इत्यादि, अत्यन्त दाह करने-वाला जैसे सरसों इत्यादि (दुःखशोकमयप्रदाः) पीडा, शोक और रोगोंके उत्पन्न करनेवाले (आहाराः) आहार हैं वे (राजसस्य) रजोगुणवालोंके (इष्टाः) परम प्रिय हैं अर्थात् इन अन्नोंको

रजोगुणी कहते हैं इस कारण राजसी इनमें बडी रुचि और प्रीति रखते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थः— अब जो अन्न रजोगुणी होनेके कारण राजसी प्रकृतिवालोंको प्रिय होते हैं उनका वर्णन करते हुए श्रीआनन्दकन्द व्रजचन्द कहते हैं, कि [**कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्ष-विदाहिनः**] जो अन्न अत्यन्त कटु (अतितीते) अत्यन्त अम्ल (खट्टे) अत्यन्त लवण (नमकसे भरेहुए) अत्यन्त उष्ण (गरम) अत्यन्त तीक्ष्ण (तीखे) अत्यन्त रूक्ष (रूखे सूखे) और अत्यन्त विदाही (दाह करनेवाले) होते हैं वे सब रजोगुणी कहलाते हैं ।

तहां अत्यन्त कटु आहारमें कौन २ दोष हैं ? सो वर्णन किये जाते हैं— " **सोऽतियुक्तो भ्रान्तिदाहमुखताल्वोष्ठशोषकृत्। कण्ठा-दिपीडामूर्च्छान्तर्दाहदो बलकान्तिहृत् ॥** " (भावप्रकाश श्लोक १६८)

अर्थ— सो जो अन्न अत्यन्त कटु रससे युक्त होता है वह भ्रान्ति, दाह तथा मुख, तालु और ओठोंको सुखानेवाला होता है और कंठ इत्यादिमें पीडा करता है तथा मूर्च्छा लाता है, हृदयमें दाह (तृषा) उत्पन्न करता है और शरीरके बल तथा कान्ति जो तेज और शोभा तिनको हर लेता है । अभिप्राय यह है, कि अत्यन्त कटु अन्नके बहुत भोजन करनेसे जब इसके विकार सञ्चित होजाते हैं तब मस्त-कमें भ्रम होता है अर्थात् शिर घूमने लगता है मुँह, तालु, होठ, हृदय, नाक इत्यादि सूखने लगजाते हैं कंठ, हृदय और पेटमें विकार और

मूर्च्छा इत्यादि रोग उत्पन्न होने लगजाते हैं शरीरके भीतर दाहकी वृद्धि होते २ बलकी और कान्तिकी हानि होने लगजाती है इस कारण सात्विक पुरुषोंको चाहिये, कि कटु अन्नका ग्रहण करना परित्याग करें।

अब अत्यन्त अम्ल (खट्टे) आहारके ग्रहण करनेमें क्या क्या दोष हैं? सो कहते हैं-- " सोऽतियुक्तो भ्रमं: कुर्य्यात् तृड्दाह-तिमिरज्वरान् । कण्डुपाण्डुत्ववीसर्पशोथविस्फोटकुष्टकृत " ॥

(भावप्रकाश श्लो० १६२)

अर्थ— जो अन्न अत्यन्त खट्टा है वह भ्रम, तृषा, दाह, तिमिर, ज्वर, खुजली, पाण्डुता, विसर्प, सूजन, विस्फोटक और कुष्टको उत्पन्न करता है।

अब अत्यन्त लवणयुक्त आहारोंके दोष वर्णन कियेजाते हैं " सोऽतियुक्तोऽक्षिपाकास्रपित्तकोष्ठक्षतादिकृत । वलीपलित-खालित्यं कुष्ठवीसर्पतृड्प्रदः ॥ " (भा० प्र० श्लो० १६४)

अर्थ—अत्यन्त लवणसे भराहुआ जो आहार है वह नेत्रपाक, रक्तपित्त, कोढ और क्षतादि रोगोंका करनेवाला है तथा वली (शरीरके चमडेका सिकुडजाना) पलित (श्वेतकेश) खालित्य (वालोंका उडजाना) कुष्ठ, विसर्प और तृषाको करनेवाला है। इसी प्रकार जो अन्न अति उष्ण हैं उनके भी दोष जानो।

अब अति तीक्ष्ण आहारोंके दोषोंका वर्णन करते हैं। " सोऽतियुक्तः शिरःशूलमन्यास्तम्भश्रमार्तिकृत । कम्पमूर्च्छातृषा-

कारी वलशुक्रक्षयप्रदः ॥ " (भाव० प्र० पू० ख० श्लो २०१)
अत्यन्त तीता रसवाला आहार शिरमें शूल, गर्दनमें स्तम्भता, परिश्रम, पीड़ा, कम्प, मूर्च्छा और तृषाका उत्पन्न करनेवाला तथा वल और वीर्य्यको नाश करनेवाला होता है ।

अब अतिरूक्ष अर्थात सूखे आहारके दोष कहते हैं— " शुष्कं विरुद्धं विष्टम्भि वह्निव्यापदमावहेत् " (भा० प्र० ख० १ श्लो० १४७)

अर्थ— सूखा अन्न भले प्रकार नहीं पचनेसे पिंडके समान कच्चा पक्का रहजाता है इसी प्रकार चौंले, कंगु (कांगनी) कोदव इत्यादि सूखे अन्न दूधके साथ मछली इत्यादिके समान विरुद्ध अन्न तथा चने और मसूर इत्यादि विष्टम्भी अन्न खानेसे अग्नि मन्द होती है ।

इसी प्रकार जो दोष तीक्ष्ण अन्नोंके कह आये हैं वे ही विदाही अन्नोंके भी दोष जानने ।

एवम्प्रकार ये अत्यन्त कटु, अत्यन्त अम्ल, अत्यन्त लवण, अत्यन्त उष्ण, अत्यन्त तीक्ष्ण और अत्यन्त विदाही अन्न अपकारी हैं इसलिये भगवान कहते हैं, कि [आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः] ये जितने आहार कथनकियेगये सब राजसी प्रकृतिवालोंके परम इष्ट हैं इसी कारण ऐसे रजोगुणी मनुष्य सदा रोगी रहते हैं क्योंकि ये अन्न " दुःखशोकामयप्रदाः " दुःख शोक और आमय जो नाना प्रकारके ज्वर, प्लीहा इत्यादि रोग तिन्हें उत्पन्न करनेवाले होते हैं ॥ ६ ॥

अब भगवान् तामसी आहारोंका वर्णन करते हैं—

मू०— यातयामं गतरसं पूति पर्य्युषितञ्च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १०

पदच्छेदः— यत (अन्नम्) यातयामम (प्रहरात् प्राक् कृतम् । शैत्यावस्थां प्राप्तम् । पाकानन्तरं किंचित्कालातिक्रान्त्या निर्वीर्यतां प्राप्तम) गतरसम् (रसविमुक्तम । निष्पीडितसारम्) पूति (दुर्गन्धम्) च, पर्य्युषितम् (पक्वं सद्रात्र्यन्तरितम । दिनान्तरपक्वम्) उच्छिष्टम (भुक्तावशिष्टम्) अपि, च, अमेध्यम् (अभक्ष्यम । यज्ञानर्हमशुचिर्मांसादि) [तत] भोजनम् (आहारः) तामसप्रियम् (तामसस्येष्टम्) ॥ १० ॥

पदार्थः— (यत) जो अन्न (यातयामम्) पहर भर पहले पककर ठण्डा होगया हो (गतरसम) नीरस होगया हो (पूति) जिससे दुर्गन्ध निकलता हो (च) तथा (पर्य्युषितम) एक रात्रि वा एक दिन पहलेका पकाहुआ हो (उच्छिष्टम्) अपना वा किसी दूसरेका जूठा हो (अपि च) और वह भी जो (अमेध्यम्) यज्ञमें लाने योग्य न हो अपवित्र हो सो (भोजनम) आहार (तामसप्रियम) तमोगुणियोंको प्रिय होता है । ऐसे आहारोंको तमोगुणी जानना ॥ १० ॥

भावार्थः— श्रीसच्चिदानन्द आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र इस श्लोकमें तामसी अन्नोंका वर्णन करते हुए कहते हैं, कि [यातयामं

गतरसं पूतिपर्य्युषितञ्च यत्] जिस अन्न को पकेहुए एक पहरके लगभग होगया हो इस कारण एक वारगी ठण्डा होगया हो तथा ठण्डा होजानेके कारण उसमें कठोरता आगयी हो ऐसे अन्नोंको "यातयाम" कहते हैं सो भगवान् कहते हैं, कि जो इस प्रकार कुछ काल पहलेका बनाहुआ अन्न है तथा "गतरस" जिस अन्नसे उसका रस निकलगया है जैसे गोप दूधसे सारांश निकाल कर हाटमें बेचते हैं और तामसीपुरुष जिसे लेकर पीते हैं तथा गतरस कहनेसे भगवानका यह भी तात्पर्य है, कि जिस अन्नको पके हुए अधिक काल बीत गया हो और उसका रस निकलकर निर्वीर्य्य होगया हो इसलिये जिसका भोजन करना एकबारगी निरर्थक है केवल तामसी पुरुषोंके पेट भरनेके लिये है तथा रोगोंको निमन्त्रण देनेके लिये है जिसका कवल बांधकर मुंहमें देनेसे मानो सोयी मृत्युको हेला मारकर जगाना है जिसके पेटमें जाते ही पचानेवाली परिपाकशक्तिको घोर चिन्ता होजाती है जो पचानेका तनक भी नाम नहीं लेती वरु जिसके आहारसे आलस्यकी अधिकता होजाती है। जो अन्न धीरे २ पक्षाघात, गांठ तथा गुल्म इत्यादि रोगोंके उत्पन्न करनेका बीज बनकर उदरके क्षेत्रमें वपन किया जाता है ऐसे अन्नको "गतरस" समझना चाहिये।

रससहित अन्न शरीरको रोगरहित रखता है और रसरहित अन्न रोगोंका मूल है। अब सर्वसाधारण पाठकोंके कल्याण निमित्त रसके यथार्थस्वरूप और गुणोंका वर्णन करदिया जाता है—

"सम्यक् पक्वस्य भुक्तस्य सारो निगदितो रसः ।
स तु द्रव्यः सितः शीतः स्वादुः स्निग्धश्चलो भवेत् ॥

सर्वदेहचरस्यापि रसस्य हृदयं स्थलम् ।
समानमरुता पूर्वं यदयं हृदये धृता ॥
आरुह्य धमनीर्गत्वा धातून् सर्वानयं रसः ।
पुष्णाति तदनु स्वीयैर्व्याप्नोति च तनुं गुणैः ॥
यदा रसो यकृद्याति तत्र रञ्जकपित्ततः ।
रागं पाकञ्च सम्प्राप्य स भवेद्रक्तसंज्ञकः ॥
रक्तं सर्वशरीरस्थं जीवस्याधारमुत्तमम् ।
स्निग्धं गुरु चलं स्वादु विदग्धं पित्तवद्भवेत् ॥"

(भा० प्र० खं० १ श्लो० १६२, १६३, १६४, १६६, १६७)

अर्थ— उत्तम और पूर्ण प्रकारसे पचे हुए अन्नका जो सारांश है वही रस कहाजाता है सो रस द्रव्यतायुक्त श्वेत, शीतल, स्वादु, स्निग्ध और सर्वस्थानोंमें फैलनेवाला, चञ्चलस्वरूप है यद्यपि यह रस सम्पूर्ण शरीरमें नखसे शिखतक विचरनेवाला है तथापि उसके रहनेका विशेष स्थान हृदय है क्योंकि पूर्वमें ही समानवायुने इसको हृदयमें लाकर स्थिर किया है। यह रस धमनी (नाडियों) में जाकर सम्पूर्ण धातुओंको पुष्ट करता है तदनन्तर अपने गुणों करके शरीरमें व्याप्त होता है। यही रस जब यकृत् स्थान (कलेजे) में जा पहुंचता है तो थोडी पित्तकी गरमी पाकर रंग और पक्वताको प्राप्त हो रुधिर बनता है जो रुधिर सम्पूर्ण शरीरमें रहता है और जीवका सर्वोत्तम आधार है।

उक्त वचनोंसे सिद्ध होता है, कि अन्नोंमें जो कुछ सार है रसही है इस कारण रसके विदग्ध होजानेसे रसरहित अन्न विकार करता है—

" मन्दवह्निविदग्धस्तु कटुर्वाम्लो भवेद्रसः। स कुर्य्याद्विहुलान् रोगान् विषकृत्यं करोत्यपि " (भाव० प्र० ख० १ श्लो० १६५) अर्थ— सो रस मदाग्निसे विदग्ध और कच्चा होकर कटु अथवा खट्टा होजाता है तब अनेक रोगोंको उत्पन्न करता है तथा विषके समान मृत्युको भी करडालता है।

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि जो अन्न ' गतरस ' होगया है तथा " पूतिपर्य्युषितं च यत " जो दुर्गन्धसे भराहुआ है और बासी है वह भी त्याज्य है।

शंका— जो लोग लशुनादिके भक्षण करनेवाले हैं वे तो इनको दुर्गन्धि नहीं कहते उनको तो ये सब सुगन्ध ही बोध होते हैं और बडे आनन्दसे नाना प्रकारके शाकों और दालोंमें देकर भोजन करते हैं फिर भगवान्ने इसे 'पूति' क्यों कहा ?

समाधान— भगवान् तो यही कहरहे हैं, कि ये अन्न तमोगुणी पुरुषोंको प्रिय हैं फिर उनको ये दुर्गन्ध पदार्थ सुगन्ध क्यों न होंगे ? उनका तो मस्तिष्क तमोगुणसे भराहुआ है फिर जितने तामसी अन्न हैं सबके सब उनको प्रिय भासते हैं पर इनके प्रिय लगनेसे सात्विक पुरुषोंको कदापि ये प्रिय नहीं लगसकते वे तो इनकी गन्धके समीप आते ही अपनी नासिकाके छिद्रोंको ढकलेते हैं जैसे कुक्कुट, शूकर, कूकर इत्यादि तामसी जीवोंको मनुष्योंका मल अत्यन्त प्रिय होता है पर कोकिल, शुक, पिक मृग इत्यादि सात्विक इनके समीप नहीं जाते। इसी प्रकार गुणोंके भेदसे मनुष्योंके मस्तिष्कमें भेद होनेके कारण दुर्गन्ध सुगन्धका भेद होजाता है यहां शंकाका कोई स्थान नहीं है।

अब भगवान् कहते हैं, कि इसी प्रकार जो अन्न ' पर्य्युषित ' है अर्थात् बासी होकर भ्रष्ट होगया है वह भी त्याज्य है पर यहां यह भी विचारने योग्य है, कि ऐसा दो एक दिवसका बासी अन्न यदि शुष्क हो घृत इत्यादिसे रहित हो तब त्याज्य है याज्ञवल्क्यकी सम्मति है, कि " अन्नं पर्य्युषितं भोज्यं स्नेहाक्तं चिर-संस्थितम् " जो अन्न कई दिनोंका बनाहुआ बासी तो हो पर घृत इत्यादिसे युक्त हो ऐसा अन्न भोजन करने योग्य है। जैसे निमकी, खजूर, लड्डू, रसगुल्ला इत्यादि।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्**] जो अन्न उच्छिष्ट है अर्थात् जिस अन्नका थोडा अंश अपने वा परायेसे पहले भोजन कियागया है उसका जो शेष भाग रहगया उसे " **उच्छिष्ट** " कहते हैं तिस उच्छिष्ट अन्नको कदापि नहीं भोजन करना चाहिए ऐसा करनेसे बुद्धिका लोप होजाता है पर जो लोग तामसी हैं वे प्रायः उच्छिष्ट भोजन करते हुए देखेजाते हैं। प्रायश्चित्ततत्वमें जूठा खानेके प्रायश्चि-त्तोंका वर्णन है विस्तारके भयसे यहां नहीं लिखेगये।

एवम्प्रकारे जो अन्न 'उच्छिष्ट' है तथा जो ' अमेध्य ' है जैसे मांस, मछली इत्यादि अथवा जिस अन्नको मलमूत्रसे स्पर्श होगया हो अथवा जो रजवीर्यके संयोगसे उत्पन्न हुआ हो ऐसे पदार्थोंको अग्निमें नहीं डालना चाहिये। " **नाग्निं मुखेनोपधमेत नग्नां नेक्षेत च स्त्रियम्। नामेध्यं प्रक्षिपेदग्नौ न च पादौ प्रतापयेत्** " (मनुः)

अर्थ— अग्निको मुखसे नहीं फूंकना चाहिये, स्त्रियोंको नग्न नहीं देखना चाहिये, अपवित्र वस्तुओंको अग्निमें नहीं डालना चाहिये तथा अग्निको पांवके तलवेसे नहीं तापना चाहिये । इससे सिद्ध होता है, कि रुधिर, मांस, मज्जा तथा चर्म इत्यादिसे स्पर्श हुआ अन्न अमेध्य है ।

भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! ऊपर कथन कियेहुए अन्न तामसी होनेके कारण तमोगुणी पुरुषोंके प्रिय होते हैं इसी कारण सात्विकोंको इनका त्याग करदेना उचित है ॥ १० ॥

एवम्प्रकार तीनों आहारोंका भेद कहकर अब भगवान तीनों प्रकारके यज्ञोंका वर्णन करते हैं—

मू०— अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्विकः ॥ ११

पदच्छेदः— अफलाकांक्षिभिः (अफलार्थिभिः । फलकांक्षावर्जितपुरुषैः) यष्टव्यम् (यज्ञानुष्ठानमेव कार्य्यं नान्यत्फलं साधनीयम्) एव, इति, मनः (चित्तम्) समाधाय (समाहितं कृत्वा । एकाग्रं कृत्वा) यः, विधिदृष्टः (शास्त्रतोऽनुष्ठीयमानः) यज्ञः (यागः । सत्रः) इज्यते (अनुष्ठीयते । निर्वर्त्यते) सः, सात्विकः (सात्विकानां प्रियः) ॥ ११ ॥

पदार्थः— (अफलाकांक्षिभिः) फलकी इच्छा नहीं करनेवाले पुरुषोंके द्वारा जो (यष्टव्यमेव) केवल मानुषी-शरीर-यात्रामें अवश्य यजनकरने योग्य है (इति) इस प्रकार (मनः समाधाय)

मनको एकाग्र कर (यः) जो (विधिदृष्टः) शास्त्रविहित (यज्ञः यज्ञका (इज्यते) अनुष्ठान कियाजाता है (सः) सो यज्ञ (सात्त्विकः) सात्विक है अर्थात् सात्विकोंको प्रिय होता है ॥ ११ ॥

भावार्थः—अब श्रीगोलोक विहारी मदनमुरारि तीनों प्रकारके यज्ञोंका वर्णन करतेहुए अर्जुनसे कहते हैं, कि [**अफलाकांक्षि-भिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते**] जो यज्ञ ऐसे पुरुषोंसे सम्पादन कियाजाता है जिनको इस लोकमें धन सम्पत्ति तथा परलोकमें अप्सरा इत्यादि किसी प्रकारके सुख प्राप्त करनेकी कांक्षा नहीं है जो केवल इतना ही जानते हैं, कि यह कर्म शास्त्रविहित है मनुष्योंको अवश्य करना चाहिये नहीं करनेसे शास्त्रोंकी मर्य्यादाका उल्लंघन होगा इस कारण शास्त्रमर्य्यादा रखनेके निमित्त तथा लोकसंग्रहके निमित्त कर्तव्यमात्र जानकर करते हैं अतएव [**यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्विकः**] जिन्होंने अपने मनमें ऐसा निश्चय करलिया है, कि इसको बिना फलकी कांक्षाके सम्पादन मात्र कर-देना ही मानुषी धर्म है ऐसे यज्ञको सात्त्विक कहते हैं। अर्थात् जो लोग सात्विक हैं उनको इस प्रकारका ही यज्ञ परम प्रिय होता है क्योंकि वे सर्वप्रकारकी कामनाओंसे रहित रहते हैं।

भगवान इस गीताके चौथे अध्यायमें सर्वप्रकारके यज्ञोंका वर्णन करआये हैं उनमें किसी प्रकारका यज्ञ क्यों न हो निष्काम होकर सम्पादन करना चाहिये। फिर भगवान पहले ही कहचुके हैं, कि "अनाश्रितः कर्मफलं कार्य्यं कर्म करोति यः" जो कर्मफलोंका आश्रय छोड़ कर्तव्य कर्मोंका सम्पादन करता है वही सन्न्यासी और योगी है।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि मुमुक्षुओंके द्वारा जो कुछ कर्म सम्पादन किया जाता है वही सात्विक है तहां मुमुक्षुओंके लिये तो त्याग ही उचित है इसलिये नित्य करने योग्य मनुष्य-यात्रामें विहित मानुषी-कर्तव्य जो कर्म हैं वही सात्विक है।

यहां यह भी कहना प्रसंग विरुद्ध नहीं होगा, कि यज्ञ उस परम पुरुषका भी नाम है इसलिये जैसा, कि भगवान् इस गीताके अ० ३ श्लो० ६ में कह आये हैं, कि " यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः "।

अर्थ— भगवान् विष्णुके आराधनार्थ कर्मसे अन्य जो कुछ कर्म है वह बन्धनका कारण है। तात्पर्य यह है, कि भगवान् विष्णु स्वयं सत्वगुणके अधिष्ठातृदेव हैं इसलिये केवल उनकी प्राप्तिके निमित्त जो निष्काम कर्म हैं वे सात्विक कहलाते हैं " यज्ञः कर्मसमुद्भवः " इस भगवान्के वचनानुसार कर्मसे यज्ञ उत्पन्न होता है इसलिये सात्विक कर्म ही सात्विक यज्ञका कारण है और " तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् " इस वचनके अनुसार सो सर्वव्यापी ब्रह्म सर्वदा यज्ञमें प्रतिष्ठित है इसी कारण तिस ब्रह्मकी प्राप्तिमात्र जो यज्ञ सो सात्विक ही कहाजावेगा।

शंका— भगवान्ने यहां तीनों प्रकारके आहारोंके वर्णन करनेके पश्चात् ही तीनों प्रकारके यज्ञोंका वर्णन क्यों आरम्भ कर दिया? आहारके पश्चात् जल वा वस्त्र तथा गृह इत्यादिका वर्णन प्रसंगानुकूल था यज्ञके साथ आहारके वर्णनका कोई सम्बन्ध नहीं देखा जाता।

समाधान— आहारके साथ यज्ञोंका और यज्ञके साथ आहारोंका घनिष्ट सम्बन्ध है । भगवान् स्वयं अपने मुखारविन्दसे कह-चुके हैं, कि " पर्जन्यादन्नसम्भवः " मेघमालासे अन्न उत्पन्न होता है और " यज्ञाद्भवति पर्जन्यः " यज्ञसे ही मेघोंकी उत्पत्ति होती है तो इन वचनोंसे सिद्ध है, कि यज्ञसे वृष्टि तिस वृष्टिसे अन्न उत्पन्न होता है यदि यज्ञोंका एकबारगी अभाव होजावे तो अन्नका उत्पन्न होना रुकजावेगा इसलिये भगवान्ने जो यों कहा है, कि अन्न कार्य है और यज्ञ उसका कारण है सो प्रसंग विरुद्ध कदापि नहीं कहा जासकता ।

दूसरी बात यह है, कि जो अन्न बनाया जाता है वह बिना यज्ञ किये भोजन नहीं करना चाहिये अन्न बनाकर यज्ञ द्वारा ब्रह्मदेवको तथा देवताओंको अर्पण करके भोजन करना उचित है । तहां भगवान्का वचन है " यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः । भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् " (अ० ३ श्लो० १३) यज्ञका शेष अन्न भोजन करनेवाले प्राणी पापोंसे मुक्त होते हैं पर जो यज्ञपुरुषको अर्पण न करके केवल अपने लिये अन्न पकाते हैं वे मानों पापहीका भोग करते हैं । फिर इसी तीसरे अध्यायमें " *सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा " से " तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः " पर्य्यन्त जिसका संक्षिप्त तात्पर्य यह है, कि सृष्टिकी रचनासे पूर्व ही प्रजापतिने यज्ञके साथ प्रजाओंको उत्पन्न करके यों आज्ञा देदी, कि इस यज्ञसे क्रमशः तुम लोग आत्मोन्नतिको प्राप्त हो यही

* अ० ३ श्लोक १० से १२ तक ।

तुमलोगोंको अपनी २ मनःकामनाका देनेवाला होवे, इसी यज्ञ द्वारा तुम लोग देवताओंको तृप्त कर उनकी उन्नति करो इसके बदले वे प्रसन्न होकर तुम लोगोंकी वृद्धिमें तत्पर रहेंगे इस प्रकार परस्पर भाव रहनेसे तुमलोग परम मंगलको प्राप्त होगे । देवता लोग यज्ञसे प्रसन्न होकर तुम लोगोंकी इच्छाके अनुसार भोगादि देंगे क्योंकि उनको उनका भाग न देकर जो भोजन करता है वह चोर है ।

इससे सिद्ध होता है, कि यज्ञके साथ आहारोंका घनिष्ट सम्बन्ध है इसी कारण भगवानने आहारके वर्णनके पश्चात् तीनों प्रकारके यज्ञोंका वर्णन करेना आरम्भ करदिया है इसको प्रकरण विरुद्ध मत समझो । शंका मत करो ।

तहां इस श्लोकमें केवल सात्विक यज्ञोंका वर्णन करते हुए भगवानने यह दिखलादिया है, कि जो लोग सात्विक हैं उनके द्वारा जो निष्काम यज्ञ केवल मानुषी धर्म जानकर शास्त्रोंकी मर्य्यादाके अनुकूल सम्पादन किया जाता है वह सात्विक कहलाता है ॥ ११ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें राजसयज्ञका वर्णनकरते हैं—

मू०— अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ ! तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२

पदच्छेदः— [हे] भरतश्रेष्ठ ! (भरतवंशशिरोमणे अर्जुन !) तु (पुनः) फलम् (पारलौकिकं सुखम्) अभिसन्धाय (उद्दिश्य) च, दम्भार्थम् (लोके धर्मध्वजित्वख्यापनार्थम् । स्वमहत्त्वप्रचारार्थं वा) अपि, यत्, इज्यते (यजनं क्रियते) तम्, यज्ञम् (यागम्) राजसम् (रजोगुणात्मकम्) विद्धि (जानीहि) ॥ १२ ॥

पदार्थः—(भरतश्रेष्ठ !) हे भरतकुलमें शिरोमणि अर्जुन ! (तु) फिर (फलम्) किसी प्रकारके लौकिक वा पारलौकिक फलको (अभिसन्धाय) मनमें निश्चयकरके (च) तथा (दम्भार्थम्) अपनेको संसारमें धर्मात्मा वा महात्मा प्रसिद्ध करनेके तात्पर्यसे (अपि) भी (यत्) जो यज्ञ (इज्यते) सम्पादन कियाजाता हैं (तम् यज्ञम्) तिस यज्ञको (राजसम्) राजसी यज्ञ (विद्धि) जान ॥ १२ ॥

भावार्थः— अब श्रीआनन्दकन्द ब्रजचन्द राजस यज्ञका वर्णन करते हुए कहते हैं, कि [अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् । इज्यते भरतश्रेष्ठ !] हे भरतकुलशिरोमणि अर्जुन ! लौकिक पारलौकिक सुखकी इच्छा करनेवालोंसे अथवा इस संसारमें धर्मात्मा वा महात्मा कहलाये जानेकी इच्छावालोंसे जो यज्ञ कियाजाता है [तं यज्ञं विद्धि राजसम्] तिस यज्ञको तू राजस यज्ञ जान ।

यहां जो भगवान्ने ' अपि च ' शब्दका प्रयोग किया है इससे तीन प्रकारके विकल्प तथा समुच्चयका अनुमान होता है प्रथम तो यह, कि जो यज्ञ केवल स्वर्गादि फलोंकी इच्छासे कियाजाता हैं। द्वितीय यह, कि जो केवल संसारमें धर्मात्मा विख्यात होनेके तात्पर्यसे कियाजाता है। तृतीय यह कि जिसमें दोनों प्रकारकी इच्छाएं रहती हैं अर्थात् इस लोक और परलोकमें नाना प्रकारके फलोंकी भी प्राप्ति हो और संसारमें धर्मात्मा वा महात्मा विख्यात होजानेका भी प्रयोजन हो । इन तीनों

प्रकारके तात्पर्योंको दिखानेके लिये ही भगवान्‌ने यहां विकल्प-बोधक ' अपि च ' शब्दका प्रयोग किया है ।

प्रायः वर्त्तमान कालमें देखाजाता है, कि नाना प्रकारके धर्म-कार्योंमें हमारे देशी भाई देशी राजाओंको तथा अन्य-देश-निवासि-योंको राज्याधिकारी जानकर निमन्त्रण अवश्य करते हैं उनका तात्पर्य निष्काम यज्ञसे नहीं है वह संसारमें नामी कहलाने और यश पानेके तात्पर्यसे है बहुतेरी पाठशाला, धर्मशाला और चिकित्सालयोंकी नीव किसी सात्विकवृत्तिवाले विद्वान् पण्डितसे न दिलवाकर विदेशियोंके हाथसे दिलवाते हैं जिससे प्रत्यक्ष अनुमान होता है, कि ऐसे यज्ञ करनेवालोंको संसारमें विख्यात होने तथा बडे आदमी कहलानेकी अभिलाषा बनी हुई है इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि ऐसे पुरु-षोंसे जो यज्ञ सम्पादन कियाजाता है वह राजस कहलाता है ।

मुमुक्षुजनोंको चाहिये, कि ऐसे राजस यज्ञोंका सम्पादन न करके केवल भगवत्प्राप्तिनिमित्त तथा अन्तःकरणकी शुद्धिप्राप्तिनिमित्त यज्ञोंका सम्पादन कियाकरें ॥ १२ ॥

अब भगवान् तामसी यज्ञका वर्णन करते हैं—

मू०— विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

पदच्छेदः— विधिहीनम् (शास्त्रविधिना रहितं। यथाचोदि-तविधिविपरीतम्) मन्त्रहीनम्, असृष्टान्नम (अन्नदानहीनम् । ब्राह्म-णेभ्यो न निष्पादितान्नम) मन्त्रहीनम् (स्वरतो वर्णतश्च वैदिकम-न्त्रोच्चारणैः रहितम्) अदक्षिणम् (यथोक्तदक्षिणावर्जितम) श्रद्धावि-

रहितम् (आस्तिक्यबुद्ध्या रहितम) यज्ञम, तामसम (तमोगुणात्मकम) परिचक्षते (शिष्टाः कथयन्ति) ॥ १३ ॥

पदार्थः— (विधिहीनम) शास्त्रोंमें कहेहुए विधानोंसे रहित अथवा शास्त्रोंसे विपरीत (असृष्टान्नम) अन्नदानसे शून्य (मन्त्रहीनम्) वैदिक मंत्रोंसे रहित (अदक्षिणम) बिना दक्षिणाके (श्रद्धाविरहितम) श्रद्धा रहित (यज्ञम्) यज्ञको विद्वान् (तामसम) तमोगुणी (परिचक्षते) कहते हैं ॥ १३ ॥

भावार्थः— पूर्व दो श्लोकोंमें श्रीजगतहितकारी वृन्दावनविहारी सात्विक और राजस यज्ञोंका वर्णन करके अब तामसी यज्ञका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्**] जो यज्ञ विधिहीन है, असृष्टान्न है, मन्त्रोंसे हीन है तथा दक्षिणारहित है वह तामसी कहागया है अभिप्राय यह है, कि जिस यज्ञमें शास्त्रोंकी आज्ञानुकूल सामग्रियोंका संचय नहीं कियागया भिन्न-भिन्न उपकरण विधिपूर्वक मन्त्रोंके द्वारा शोधन होकर अपने २ स्थानपर नहीं रखेगये ऋत्विक् इत्यादि जो सोलह अंग यज्ञके हैं उनमें एक दो अगोंका भी विधिपूर्वक नहीं सम्पादन हुआ तथा वेदी इत्यादिकी रचना न कीगई शुची, श्रुवा इत्यादि नहीं लाये गये। एवम्प्रकार शास्त्रोंके विधानसे जो एकबारगी न्यून रहा केवल नाम करनेके लिये जिस यज्ञमें इधर-उधरके मन्त्रोंका उच्चारण करदियागया घण्टोंतक चर्मकार, पौल्कस इत्यादि-इत्यादि नीच वर्णोंसे खुर्दक और शहनाई इत्यादि बाजे बजवादिए गये और

यज्ञशालाके चारों ओर बडे-बडे धनवान् पुरुषोंकी मण्डलीके हुक्के, पेचवाले गडगडे तथा सिग्रेट इत्यादिके धूम हवनके धूमसे मिलकर आकाशकी ओर बडी शोभाके साथ चल निकले। ऐसा यज्ञ अविधियज्ञ कहलाता है।

इतना ही नहीं वरु जो यज्ञ ' असृष्टान्न ' है अर्थात् जिसमें ब्राह्मणों, भिक्षुकों तथा दरिद्रोंके निमित्त अन्नोंका समूह एकत्र न कियागया। अथवा जो यज्ञ अन्नदानसे एकबारगी शून्य रहा वह तामसी यज्ञ है।

फिर जो यज्ञ ' मन्त्रहीनम् ' मन्त्रहीन होता है अर्थात् जिसमें उदात्त अनुदात्त, स्वरित तथा जकार, यकार, शकार, षकार इत्यादि वर्णोंके शुद्ध उच्चारणके साथ वेदमन्त्र नहीं पढाजाता है अथवा वैदिक मन्त्रोंसे हीन केवल नवीन मतवालोंके मनगढन्तमन्त्रोंसे जो यज्ञ किया जाता है तथा किसी विद्वान् ब्राह्मणके उपस्थित न होनेसे मूर्ख ब्राह्मणोंके जिसी तिसी ग्रन्थका मन्त्र पढकर आहुति डलवायी जाती है उसे भी मन्त्रहीन यज्ञ कहना चाहिये। इसलिये भगवान् कहते हैं, कि मन्त्रहीन यज्ञ भी तामसी कहाजाता है।

इसी प्रकार "*अदक्षिणम् " जो यज्ञ बिना दक्षिणाके किया-जाता है अर्थात् जिस यज्ञमें यजमान किसी द्वेषवश आचार्य्यको

* बहुतेरे आधुनिक मतवाले दक्षिणाका नाम सुनकर हंसी ठट्ठे उडाते हैं पर उनको यह स्मरण नहीं रहता, कि वकील साहब और डाक्टर साहब जो बडे

दक्षिणा न देवे वरु दक्षिणा देते समय झगडेमें तत्पर होजावे आचार्य्य और यजमान दोनोंमें परस्पर कठोर वचनोंकी मार पडने लगजावे दक्षिणाका न्याय न होने पावे आचार्य्य यजमानको कृपण और यजमान आचार्य्यको लोभीकी पदवी देने लगजावें यहांतक, कि परस्पर मार पीटकी दशा उत्पन्न होजावे ऐसे यज्ञकर्त्ताको तमोगुणी और यज्ञको तामसी कहते हैं।

फिर भगवान् कहते हैं, कि [**श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते**] जो यज्ञ श्रद्धारहित है उसे भी तामसी यज्ञ कहते हैं। ऐसे यज्ञोंका कुछ भी फल नहीं। इस प्रकारका यज्ञकरनेवाला संसारके दुःखोंसे भयभीत होकर यज्ञ करता है। अर्थात् जैसे बहुतेरे भृत्य केवल अपने स्वामीके भयसे कार्य करते हैं श्रद्धासे नहीं करते क्योंकि उनको यह भय होता है, कि यदि स्वामीकी सेवा न करूंगा

सुभीतेके साथ घण्टे आधघण्टेकेलिये परिश्रम करते हैं वे फीस (मजदूरी) बिना लिये जान नहीं छोडते यदि उनको फीस न दिया जावे तो अदालतोंमें नालिश कर वसूल करते हैं और कहते हैं, कि मैंने परिश्रम किया है और अपने समयकी हानि की है फीसके रुपये क्यों न गिनाऊं ? बडे शोककी बात है, कि इनकी मजदूरीपर कोई आधुनिक मतवाला नहीं हंसता चाहे मुवक्किलका मुकद्दमा खराब होजावे और रोगी उनके ऑपरेशन (Operation) से मरजावे पर उस बिचारे ब्राह्मणकी फीस (दक्षिणा) देते समय हंसी ठट्टे उडाते हैं और यह स्मरण नहीं रखते, कि इस बिचारेने सूर्योदयसे सूर्यास्त पर्यन्त सारा दिन आगकी ज्वालाके सामने बैठा-बैठा पसीनोंसे लथ-पथ हो अग्निधूमसे आंखें फोडी हैं।

तो घर द्वारकी दी हुई सम्पत्ति वा जागीरें छीनली जावेगी। इसी प्रकार ये तामसी प्रकृतिवाले देवताओंसे भयभीत होकर केवल नाम-मात्र यज्ञ करते हैं श्रद्धा, प्रीति, उत्साह, प्रसन्नता और भक्ति तो इनमें छू तक नहीं जाती केवल इतना ही जानते हैं, कि यदि किसी प्रकारका पूजन हवन न करूंगा तो कदाचित् देवता कुपित होकर हमारे लडकोंको मारदेवेगा वा हमारे शरीरमें कोई भयंकर रोग उत्पन्न करदेगा ऐसे भयभीत होकर यज्ञोंके करनेका कुछ भी फल इन्हें नहीं होता। व्यर्थ समय, द्रव्य इत्यादिकी हानि करना है।

शंका— इधर इस तामसी यज्ञका भी कुछ फल नहीं होता उधर सात्विक यज्ञ करनेवाले भी फलकी कामनासे रहित होकर यज्ञोंका सम्पादन करते हैं तो सात्विक और तामस दोनों प्रकारके यज्ञ एक समान हुए क्योंकि दोनोंमें किसी प्रकारके यज्ञोंके फलोंसे यजमानको शून्य रहना पडा तो बताओ अब इन दोनोंमें क्या अन्तर रहा ?

समाधान— इन दोनोंमें पृथ्वी और आकाशका अन्तर है सात्विक यज्ञका फल तो अवश्य होता है पर यजमान उस फलकी इच्छा न करके भगवतको अर्पण करदेता है जिसके बदले भगवान् उसको अपना बनालेते हैं और सदा उसके योगक्षेमपर दृष्टि रखते हैं उसको पापोंसे मुक्तकर मोक्षपद प्रदान करते हैं जैसा, कि भगवान् पहले अर्जुनके प्रति कह आये हैं, कि " यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत " (अ० ६ श्लो० २७, २८)

अर्थ— भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! जो कुछ करता है, जो कुछ तू खाता है, जो कुछ तू हवन करता है, जो कुछ दान

दान करता है, जो कुछ तप करता है सबके फलोंकी इच्छा न करके सबको मुझमें अर्पण कर ! एवम्प्रकार अर्पण करनेसे शुभ और अशुभ कर्म-फलोंसे तू मुक्त होजावेगा पीछे सन्न्यासयोगयुक्तात्मा होकर अर्थात् मुझमें सर्वकर्मके अर्पण रूप योगमें युक्तचित्त होकर तू मुझहीको प्राप्त होजावेगा । अब इस वचनसे सिद्ध होता है, कि सात्विक यज्ञ निरर्थक नहीं है फल तो अवश्य होता है पर फल लेनेवाला फल नहीं चाहता भगवत्को चाहता है सो इस विषयको पूर्णप्रकार इन दोनों श्लोकोंकी टीकामें दिखला आये हैं देखलेना पर इस तामसी यज्ञका तो कुछ फल ही नहीं होता निरर्थक है फिर यजमान रीता हाथ क्या भगवान्को अर्पण करेगा ? और किस फलसे निस्पृही होगा ? कामनारहित इच्छारहित, फलरहित, स्पृहारहित होना तब ही सिद्ध होता है जब किसी प्राप्त हुए पदार्थसे हो । जहां किसी पदार्थकी प्राप्ति ही नहीं है तहां कामनारहित सिद्ध होना कैसे समझा जासकता है ? जो राजा होकर स्वर्गके सिंहासनकी तथा षोडशी युवतियोंकी वा मणि-माणिक्ययुक्त आभूषणोंकी इच्छा न रखे तो उसे कामना रहित कहसकते हैं पर जो स्वयं जन्मसे दरिद्र है उसे तो किसी सुखके पदार्थोंकी प्राप्ति ही नहीं है फिर उसे कामनारहित कैसे कह सकते हैं ? हां ! यदि इस दरिद्रको भी धन सम्पत्ति तथा सर्वप्रकारके विषय-सुख लाभ होवें तब उसे परित्याग करदेवे तो उसे अवश्य कामनारहित कहसकते हैं ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि सात्विक यज्ञवालोंको सर्वसम्पत्तिकी प्राप्तिका संयोग होनेपर भी वह उसे त्याग भगवत्को ही चाहता है और तामसी

यज्ञवालेको तो न कोई फल ही प्राप्त है और न वह भगवत्प्राप्तिकी इच्छा करता है इस कारण वह दोनों ओरसे शून्य है। न विषयकी प्राप्ति है न मोक्षका लाभ है। राजसी यज्ञवालोंको तो इतना भी है, कि फलकी इच्छा रखनेसे स्वर्गसुख लाभ होता है पर तामसी यज्ञवाले तो न इधरके न उधरके " इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः " इसलिये सात्विक और तामसी यज्ञोंमें फलोंके विषय बहुत ही अन्तर है। दोनोंको एक समान कहनेकी शंका करना निरर्थक है ॥ १३ ॥

अब भगवान तीनों प्रकारके तपोंका वर्णन करते हैं—

मू०— देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्य्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

पदच्छेदः— देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम् (देवाः ब्रह्मविष्णुशिवसूर्य्यदुर्गादयः, द्विजा ब्राह्मणाः, गुरवः पितृमातात्चार्य्यादयः, प्राज्ञाः पण्डिताः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः तेषां पूजनम्) शौचम् (मृज्जलाभ्यां शरीरशोधनम्) आर्जवम् (ऋजुत्वम्) ब्रह्मचर्यम् (उपस्थेन्द्रियसंयमः) च (तथा) अहिंसा (प्राणिनामपीडनम्) शारीरम् (शरीरप्रधानैः कर्त्रादिभिः साध्यम्। कायिकम्) तपः, उच्यते (कथ्यते) ॥ १४ ॥

पदार्थः— (देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम्) ब्रह्मादि देवगण, विद्वान् ब्राह्मण, माता, पिता, आचार्य्य, तथा श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठोंका पूजन करना (शौचम्) मृत्तिका और जलसे शरीरका शुद्ध रखना (आर्जवम्) शरीरसे सीधा रहना अथवा मनसे

कुटिलतारहित होना (ब्रह्मचर्य्यम्) कामवश होकर परस्त्रीका संग न करना (च) तथा (अहिंसा) किसी जीवको किसी प्रकार पीडा न देना ये सब (शारीरम्) शारीरिक (तपः) तप (उच्यते) कहेजाते हैं ॥ १४ ॥

भावार्थः — अब भगवान् तीनों प्रकारके तपोंका वर्णनकरते हुए प्रथम कायिक तपको कहते हैं [**देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्**] देवता, ब्राह्मण, गुरु और पण्डितोंका पूजन करना शारीरिक तपके अन्तर्गत है । अर्थात् देवता ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, वरुण, कुवेर, सूर्य्य, चन्द्र, दुर्गा इत्यादिके पूजनमें जो अहर्निश मन्दिरोंमें एवं तीर्थोंमें दौडना, अपने पांवको थकाना अपने इष्टदेवकी मूर्त्तिके सम्मुख हाथ बांधे पहरों खडा रहना, अपने इष्टदेवके शृंगार इत्यादिकेलिये पुष्पोंकी माला तथा भिन्न २ प्रकारके आभूषणोंके सजानेमें अपने हाथोंको परिश्रम देना तथा पंचोपचार, दशोपचार, षोडशोपचार, द्वात्रिंशदुपचार तथा चतुःषष्ठिउपचारों करके पूजनके सम्पादन करनेमें दिनरात अपना सर्वांग लगाये रहना । वेदविद्यासम्पन्न ब्राह्मणोंकी सेवामें तत्पर रहना, अपने माता पिता आचार्यको भी साष्टांग प्रणाम तथा अन्य प्रकारकी शुश्रूषाओंसे प्रसन्न करनेके निमित्त अपना शारीरिक परिश्रम लगाना फिर प्राज्ञोंकी पूजा करना अर्थात् जो लोग श्रोत्रिय हैं वेदादिका पूर्णप्रकार अध्ययन करे षट्शास्त्रोंमें निष्णात हैं तिनकी सेवामें तत्पर रहना ।

फिर शौच मृत्तिका, जल इत्यादिसे शरीरको शुद्ध रखना और आर्जव अर्थात् सबसे छलरहित होकरे शरीर और मनसे

सीधा व्यवहार रखना इत्यादि जो कर्म हैं ये ही शारीरिक तप कहेजाते हैं ।

इतना ही नहीं वरु [**ब्रह्मचर्य्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते**] ब्रह्मचर्य अर्थात् परस्त्रियोंसे बचना और अहिंसा अर्थात् पराये जीवको पीडा न देना इन दोनों प्रकारके आचरणोंपर पूर्ण प्रकार ध्यान रेखना अर्थात् इन दोनों अंगोंका तथा इनके साथ २ अस्तेय (परायेकी वस्तु न चुराना) और अपरिग्रह (निरर्थक अशुद्ध दान न लेकर अपने साथ उपस्थित द्रव्यसे ही अपना निर्वाह करना) इत्यादि कर्म भी शारीरिक तपके ही अन्तर्गत हैं ।

भगवानका मुख्य अभिप्राय यह है, कि देवता, ब्राह्मण, माता, पिता, आचार्य्यकी पूजा, शौच, आर्जव, ब्रह्मचर्य्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह इत्यादिमें परिश्रम करनेको शारीरिक अर्थात् कायिक तप कहते हैं ये सब सात्विक हैं अर्थात् इनकी गणना सात्विक तपमें है ।

शंका— देवद्विजादिकी पूजा, शौच, ब्रह्मचर्य्य, अहिंसा इत्यादि को तो शारीरिक तप कहसकते हैं क्योंकि ये सब व्यवहार शरीरसे सम्बन्ध रखते हैं पर भगवानने आर्जवको शारीरिक तपमें क्यों कहा ? आर्जव तो मनसे सम्बन्ध रखता है फिर इसे शारीरिक कहना उचित नहीं देखपडता ।

समाधान— शास्त्रोंमें आर्जवके दो भेद हैं— " परप्रतारणाराहित्ये सारल्यञ्च दैहिकं मानसञ्च । तत्र दैहिकं कुटिलसंयोगराहित्यम् । मानसञ्च बाह्याभ्यन्तरे विहितनिषिद्धयोरेकरूपप्रवृत्ति-

निवृत्तिसत्वम् " (वाचस्पतिः) अर्थात् परायेको धोखादेनेसे रहित रहनेमें जो सीधा रहता है उसे आर्जव कहते हैं तिसके दो भेद हैं दैहिक और मानस तहां दैहिक उसे कहते हैं जिससे देहमें किसी प्रकारके टेढेपनका संयोग न हो।

अर्थात किसी जीवको धोखा देनेके लिये अथवा धोखा देकर पीडादेनेके लिये वा मार डालनेके लिये किसी अंगको टेढा कुबडा न करना जैसे बधिकजन जीवोंके मारनेके लिये छपक जाते हैं बाण इत्यादि लेकर झुकजाते हैं अथवा शत्रुके पीछेसे कुबडेहुए धीरे २ समीप आकर खड्ग मारदेते हैं अथवा विडाल वा व्याघ्र इत्यादि क्रूर-जीव निरपराध जीवोंको मारदेनेके लिये छुपकर टेढे होजाते हैं ऐसा न करना। इसीको दैहिक आर्जव कहते हैं। बाहर और भीतरसे विहित तथा निषिद्ध दोनोंमें एक समान प्रवृत्ति और निवृत्तिका होना मानस आर्जव कहाजाता है। जैसा मनमें हो वैसा ही बाहरसे वर्त्तमान होना चाहिये जिसको " भावशुद्धि " भी कहते हैं इसलिये भगवान्इस आर्जवको आगे मानस तपमें भी वर्णन करेंगे। दूसरी बात यह है, कि आर्जव, ब्रह्मचर्य्य इत्यादि बहुतसे ऐसे कर्म हैं जो मन और शरीर दोनोंसे सम्बन्ध रखते हैं क्योंकि जब मनमें सरलताका बीज होगा और जब मनसे परस्त्री इत्यादिका त्याग होगा तबही शरीरसे भी इनका पालन होगा। वरु सच तो यह है, कि जिस कर्मका बीज मनमें नहीं होगा उसका पालन शरीरसे नहीं होसकता है। क्योंकि मन और शरीरका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है इसीलिये भगवान इस श्लोकमें कहेहुए

' आर्जव ' को १६ वें श्लोकमें " भावसंशुद्धिः " शब्द करके प्रयोग करेंगे । शंका मत करो ॥ १४ ॥

उक्त प्रकार भगवान् अगले श्लोकमें वाचिक तपका वर्णन करते हैं—

मू०— अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

पदच्छेदः— अनुद्वेगकरम् (न कस्यापि दुःखजनकम्) सत्यम् (यथादृष्टार्थप्रतिपादनम् । यथार्थकथनम्) च, प्रियहितम् (श्रवणकाले परिणामे च सुखदम्) यत्, वाक्यम् (वचनम्) च, स्वाध्यायाभ्यसनम् (प्राङ्मुखत्वं पवित्रपाणित्वमित्यादिविधानम-नतिक्रम्य यथाविधिवेदाभ्यसनं प्रणवोच्चारणं च) एव, वाङ्मयम् (वाचिकम् । वाक्प्रधानम्) तपः, उच्यते ॥ १५ ॥

पदार्थः— (अनुद्वेगकरम्) जो वचन किसीको दुःख-दायी न हो (सत्यम्) सच हो (च) और (प्रियहितम्) सुननेके समय कानको प्रिय लगे और जिसका फल भी सुखदायी हो ऐसा (यत् वाक्यम्) जो वचन है (च) तथा (स्वाध्यायाभ्यस-नम्) विधिपूर्वक वेदका अभ्यास करना अथवा प्रणवादिको जपना है ऐसेको (एव) निश्चयकर (वाङ्मयम्) वाचिक (तपः) तप (उच्यते) कहते हैं ॥ १५ ॥

भावार्थः— अब श्रीसर्वेश्वर महाप्रभु श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति वाचिक तपका वर्णन करते हुए कहते हैं, कि [अनुद्वेगकरं

वाक्यं सत्यं प्रियहितञ्च यत्] जो वचन इस प्रकारसे बोला-जाता है, कि जिसके साथ बोलाजावे उसको सुनकर किसी प्रकारका क्लेश न होवे अर्थात् सुननेवाला जिसे सुनकर दुःखी न हो तथा किसीकी निन्दासूचक न हो तथा किसीके दैहिक वा मानसिक अव-गुणोंको जन-समाजमें प्रकट करनेवाला न हो वरु सदा सत्य हो और सबका प्रिय और हितकारी हो अर्थात् जो कुछ जैसे देखा वा सुना हो ज्योंका त्यों कहदिया जावे तथा जो सर्वप्रकारके प्रमाणोंसे युक्त हो किसी शास्त्रके प्रमाणसे, धर्मसे, नीतिसे, व्यवहारसे विरुद्ध न हो; जिसमें निर्मल स्वर्णके समान किसी मलिन विषयका मेल न हो, ज्योंका त्यों खडा हो, सुनने वालेको प्रिय लगे, ऐसा न हो, कि सच तो हो पर सुननेवाला सुनकर दुःखी होजावे। भगवान्के कह-नेका तात्पर्य यह है, कि वचन तो सच ही हो पर ऐसी चतुराई और कोमल शब्दोंमें उच्चारण कियाजावे, कि सुननेवालेके कानमें कटु न लगे वरु सुननेके समय भी प्रिय हो फिर उस वचनके अनुसार कर्म करनेमें फल सुखदायी हो ॥

यहां जो भगवान्ने 'च' शब्दका प्रयोग किया है इसका अभिप्राय यह है, कि एक ही वचनमें अनुद्वेगकरत्व, सत्यत्व, प्रियत्व और हितत्व ये चारों बातें पायी जावें। इनमें एक विशेषणकी भी कमी न हो। इन विशेषणोंमें सबसे उत्तम एक सत्य है जिसका भाषण करना सहस्रों शुभगुणोंके तुल्य होता है महा-भारतका वचन है—

" सत्यञ्च समता चैव दमश्चैव न संशयः ।
अमात्सर्य्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितीक्षानसूयता ॥
त्यागो ध्यानमथार्जवं धृतिश्च सततं दया ।
अहिंसा चैव राजेन्द्र! सत्याकारास्त्रयोदश ॥ "

(अर्थ स्पष्ट है)

मुख्य अभिप्राय यह है, कि सत्यसे लेकर अहिंसा तक जो १३ शुभगुण हैं ये प्रत्येक एक ही आकारमें हैं अर्थात् सत्य बोलने वालोंको मानों इन सब शुभगुणोंका फल प्राप्त होजाता है । सत्य न बोलनेमें क्या दोष है ? सो सुनो—

" कृत्वा शपथरूपंच सत्यं हन्ति न पालयेत् ।
स कृतघ्नः कालसूत्रे वसेद्देवचतुर्युगम ॥
सप्तजन्मसु काकश्च सप्तजन्मसु पेचकः ।
ततः शूद्रो महाव्याधिः जन्म सप्त ततः शुचिः ॥ "

(ब्रह्मवैवर्त्त प्रकृतिखराड अध्या० ४८ में देखो)

अर्थ— जो प्राणी शपथरूप सत्यताका पालन न करके हनन करडालता है सो कृतघ्न कहाजाता है जिस कृतघ्नताके पापके कारण देवताओंके युगसे चार युग पर्य्यन्त कालके सूत्रमें बांधा हुआ पडा रहता है, सात जन्म कागला, सात जन्म पेचक (उलुआ) और सात जन्म शूद्र होकर महारोगोंके भोगनेके पश्चात् शुद्ध होता है ।

फिर वह्निपुराणके दानावस्थानिर्णयनाम अध्यायमें लिखा है—

" तस्मात्सत्यं परं ब्रह्म सत्यमेव परं तपः ।
सत्यमेव परो यज्ञः सत्यमेव परं श्रुतम् ॥

सत्यं वेदेषु जागर्ति सत्यञ्च परमं पदम् ।
कीर्तिर्यशश्च पुण्यश्च पितृदेवर्षिपूजनम् ॥
आद्यो विधिश्च विद्या च सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ।
सत्यं यज्ञस्तथा वेदा मन्त्रा देवाः सरस्वती ॥
व्रतचर्य्या तथा सत्यं ओंकारः सत्यमेव च ।
सत्येन वायुरभ्येति सत्येन तपते रविः ॥
सत्येनाग्निर्दहेन्नित्यं सर्वं सत्येन गच्छति ।
सत्येन चापः क्षिपति पर्जन्यो धरणीतले ॥
सत्येन सर्वदेवानां सर्वतीर्थावगाहनम् ।
सत्यस्य वचनाल्लोके सर्वमाप्नोत्यसंशयम् ॥
अश्वमेधसहस्रञ्च सत्यंच तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥
सत्येन देवाः प्रीयन्ते पितरः ऋषयस्तथा ।
मनुष्याः सिद्धगन्धर्वाः सत्यात् सिद्धिमितो गताः ॥
अगाधे विपुले शुद्धे सत्यतीर्थे शुचिहृदे ।
स्नातव्यं मनसायुक्तैः स्नानं तत्परमं स्मृतम् ॥
आत्मार्थे वा परार्थे वा पुत्रार्थे वापि मानवाः ।
अनृतं ये न भाषन्ते ते बुधाः स्वर्गगामिनः ॥"

(अर्थ स्पष्ट है)

फिर गरुडपुराणके ११५ अध्यायमें यों वर्णन किया है—

"न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः,
वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम् ।

नासौ धर्मो यत्र नो सत्यमस्ति,
नो तत्सत्यं यच्छलेनानुविद्धम् ॥

अर्थ— वह सभा सभा नहीं है जिसमें वृद्ध न उपस्थित हों, वे वृद्ध भी वृद्ध नहीं हैं जो धर्मयुक्त बात न बोलें, वह धर्म भी धर्म नहीं है जिसमें सत्य न हो फिर वह सत्य भी सत्य नहीं है जो छलसे युक्त हो।

फिर पतञ्जलि योगसूत्रमें कहते हैं, कि "**सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्**" इस सूत्रका अर्थ अध्याय १६ श्लोक २ में होचुका है देखलो।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि सत्य भाषण करना वाचिक तप है इसमें तनक भी सन्देह नहीं है सो सत्य अनुद्वेगकर, प्रिय और हित होना चाहिये।

फिर भगवान् कहते हैं, कि [**स्वाध्यायोभ्यसनञ्चैव वाङ्मयं तप उच्यते**] विधिपूर्वक स्वाध्याय जो अपनी शाखाके अनुसार वेदोंका अभ्यास करना है वह भी वाचिक तप है अर्थात् जिस प्रकार शास्त्रोंमें आज्ञा है तदनुसार स्नानादि क्रियासे शुद्ध होकर भक्तिपूर्वक वेद भगवानको सम्मुख रेखकर मन्त्रोंको, उनके स्वर और व्यञ्जनोंको ठीक २ उच्चारण करते हुए बारम्बार अभ्यास करना तथा प्रणवादि मन्त्रोंका विधिपूर्वक जप करना "**स्वाध्याय**" कहाजाता है तिस स्वाध्यायको वाचिक तप कहते हैं। इस स्वाध्यायका वर्णन अ० १६ श्लो० १ में होचुका है ॥ १५ ॥

अब भगवान् मानस तपका वर्णन करते हैं—

मू०— मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

पदच्छेदः— मनःप्रसादः (मनसः स्वाच्छ्यमनाकुलता । नैश्चिन्त्यम् । रागद्वेषादिराहित्यम् । विषयचिन्ताव्याकुलत्वराहित्यम् । स्वस्थता) सौम्यत्वम् (सर्वेभ्योहितैषित्वमहिताचिन्तनम) मौनम (वाक्संयमहेतुर्मनःसंयमः । वाक्यप्रयोगराहित्यम्) आत्मविनिग्रहः (मनोनिरोधः । समाधिरसंप्रज्ञातः) भावसंशुद्धिः (परैर्व्यवहारकालेऽमायावित्वम । हृदयस्य शुद्धिः । कामक्रोधमलनिवृत्तिः) इति, एतत, मानसम् (मनसा प्रधानेन निर्वर्त्यम्) तपः, उच्यते ॥ १६ ॥

पदार्थः— (मनःप्रसादः) मनकी जो प्रसन्नता और स्वच्छता (सौम्यत्वम्) सबोंके हितकी चिन्ता करना अर्थात् हितैषी होना (मौनम्) मनके संयम द्वारा जो वचनका संयम (आत्मविनिग्रहः) मनका जो निरोध तथा (भावसंशुद्धिः) छलकपटरहित शुद्ध हृदयसे सबके साथ व्यवहार अर्थात् आर्जव (इति एतत्) इस इतनेको (मानसम्) मानस (तपः) तप (उच्यते) कहते हैं ॥ १६ ॥

भावार्थः— पूर्व दो श्लोकोंमें श्रीयोगेश्वर भगवान् कायिक और वाचिक तपोंका वर्णन समाप्त कर अब इस श्लोकमें मानस

तपका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः**] मनःप्रसाद, सौम्यत्व, मौन और आत्मविनिग्रह ये मानस तप कहेजाते हैं अर्थात् मन जो अन्तःकरण तिसे सर्वप्रकारके विकारोंसे रहित करके अत्यन्त निर्मल और स्वच्छ करदेनेसे जब धीरे २ राग, द्वेष, काम, क्रोध इत्यादि विकारोंका एक वारगी अभाव होकर एक प्रकारकी प्रसन्नता आपसे आप प्राप्त होती है उसे मनःप्रसाद कहते हैं। इसकी प्राप्ति सर्वप्रकारके सुखोंको प्रदान करती है क्योंकि फिर किसी विषयकी प्राप्तिकी व्याकुलता मनको नहीं रहती सर्वप्रकारकी वृत्तियोंके निरुद्ध होनेसे परम शान्ति लाभ होती है। जैसे आश्विनमासका आकाश मेघमालाओंसे रहित हो चन्द्रमाकी शीतल चांदनीके साथ देखनेवालोंको प्रसन्न करडालता है ऐसे यह मन राग द्वेषादि विकारोंसे रहित हो जब शान्तिरूप चांदनीसे मिलजाता है तब प्राणीको परम प्रसन्नताकी प्राप्ति होती है। जैसे किसी मलय चन्दनके वनको कोई सर्पोंसे स्वच्छ करदेवे तो उस वनमें विचरनेवालेको निःशंक हो परम सुगन्धका सुख लाभ होता है इसी प्रकार जब मानस-मलयवन राग द्वेषादि सर्पोंसे रहित होजाता है तब निर्भय हो शान्तिरूप सुगन्धका लाभ करता है। जैसे जिज्ञासु संसृतियुद्धको जीतकर सुखी होजाता है अथवा किसी युद्धमें विजय पानेके पश्चात् जैसे वीर परमसुखको लाभ कर प्रसन्नचित्त होजाता है इसी दशाको मनःप्रसाद कहतेहैं। इस मनःप्रसादके विषय श्रीभगवान् पहले भी कहचुके हैं, कि " **प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते । प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्य्यवतिष्ठते** (अ० २ श्लो० ६५)

अर्थ— जब चित्तको प्रसाद प्राप्त होता है तब सर्वप्रकारके दुःखोंकी हानि होजाती है फिर प्रसन्नता प्राप्त कियेहुए पुरुषकी बुद्धि शीघ्र ही प्रतिष्ठित होजाती है। इसीको **मनःप्रसाद** कहते हैं। सो मानसिक तपका सबसे श्रेष्ठ अंग है। सो चित्तका प्रसाद कैसे प्राप्त होता है? सो सुनो! " **मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुःख-दुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्** " (पतञ्जलि पाद० १ सू० ३३) सुखी प्राणियोंमें मित्रता, दुःखीमें दया, पुण्यवानोंमें हर्ष, पुण्य रहित पुरुषोंमें उदासीनता ऐसी भावना करनेसे चित्तको प्रसाद अर्थात् प्रसन्नता प्राप्त होती है। सुखी प्राणियोंमें मित्रता करनेसे ईर्षारूप मलकी निवृत्ति होती है, दुःखियोंके दुःख दूर करनेकी भावनासे अपकाररूप मलकी निवृत्ति होती है। धर्मात्माओंमें ईर्षाकी भावना करनेसे असूयारूप मलकी निवृत्ति होती है और पापी पुरुषोंमें उदासीनताकी भावना करनेसे क्रोधरूपी मल दूर होता है। इस प्रकार मलोंकी निवृत्ति होजानेसे चित्तको प्रसन्नता प्राप्त होती है।

इसी प्रकारे " **सौम्यत्वम्** " अर्थात् सर्वप्राणियोंके हितकी चिन्ता करना एक चींटीके अहित करनेको भी कभी मनमें न लाना और दुःखियोंकी आपत्ति दूर करनेमें तत्पर रहना ये भी मानसिक तप हैं।

फिर " **मौनम्** " मौन ग्रहण करना न बोलना भी मानसिक तप है।

शंका— नहीं बोलना तो जिह्वा और ओष्ठों (होठों) की क्रियासे सम्बन्ध रखता है फिरे इसे कायिक तप न कहकर भगवानने मानसिक तपके अन्तर्गत क्यों कहा ?

समाधान— केवल नहीं बोलनेको मौन नहीं कहते हैं यदि नहीं बोलना मौनरूप तप कहलावे तो संसारमें जितने गूंगे हैं सब मौनी वा मुनि कहलाने लगजावेंगे इसलिये यह प्रत्यक्ष देखपडता है, कि केवल होठ वा जिह्वा हिलाकर बोलना ही मौन रूप तप नहीं है इस मौनको मनसे सम्बन्ध है जिस प्राणीका मन अपने हाथमें होजाता है फिर उसको किसी भी पदार्थकी इच्छा नहीं रहती फिर किसी व्यक्तिसे कुछ भी बोलनेका प्रयोजन न रख कर दिन रात ब्रह्मज्ञानके विषयोंका मनन करता रहता है तब वह किसीका वचन सुनने वा स्वयं कुछ बोलनेका अवकाश न पाकर चुप होरहता है क्योंकि मनन करनेवाले वा विचार करने वाले पुरुषोंको अपने विचारके समय तनक भी किसी अंगका हिलाना किसीसे कुछ बोलना वा किसीका शब्द सुनना अच्छा नहीं लगता इसलिये यह मनसे सम्बन्ध रखता है । इसी कारण भगवान्‌ने मौनको मानसिक तपके अन्तर्गत रखा । शंका मत करो !

इसी प्रकार आत्म बिनिग्रहको भी मानसिक तप जानना । यह आत्मविनिग्रह क्या है ? सो अ० १३ श्लोक ८ में दिखलाया जाचुका है ।

अब भगवान कहते हैं, कि [भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते] भावकी जो शुद्धि है अर्थात परायेके साथ व्यवहार करते समय किसी प्रकारका कपट वा छल न करना शुद्ध हृदयसे जो बाहर हो उसी प्रकार भीतर भावना रखना जिसको मानसिक आर्जवके नामसे भी पुकारते हैं (जिसका वर्णन पन्द्रहवें श्लोकमें होचुका है) सो मानस तप कहाजाता है। फिर कामक्रोधादि मलोंसे जो हृदयको इस प्रकार शुद्ध करलेना है जिससे फिर कभी इन मलोंका हृदयमें उदय न हो उसे भी भावसंशुद्धि कहते हैं। इस श्लोकमें जो भगवानने भावसंशुद्धि, सौम्यत्व और आत्मविनिग्रहकी मानसतपमें गणना की है उसे पतञ्जलिने भी अपने योगसूत्रमें यों वर्णन किया है— "सत्वसंशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजपात्मदर्शनयोग्यत्वानि च" (पतञ्जलि पाद १ सू० ४१) अर्थात् सत्वसंशुद्धि जिसे भावसंशुद्धि भी कहसकते हैं तथा सौमनस्य और एकाग्रता जिसे मौन भी कहते हैं फिर इन्द्रियजप, जिसे आत्मविनिग्रह भी कहते हैं ये सब साधन आत्माके योग्यत्वको प्रदान करते हैं अर्थात् मानसतपके इन अंगोंसे साधक आत्मदर्शनके योग्य होता है इसलिये आत्मदर्शनके योग्य बनादेना इन चारों प्रकारके मानस तपोंका फल है ॥ १६ ॥

यहां तक भगवानने कायिक, वाचिक और मानसिक तपका वर्णन किया फिर ये ही तीनों प्रकारके तप तीनों गुणोंके भेदसे तीन प्रकारके हैं जिनका वर्णन भगवान अगले तीन श्लोकोंमें करते हैं—

मू०— श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥

पदच्छेदः— अफलाकांक्षिभिः (फलाभिलाषरहितैः) युक्तैः (समाहितैः । सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारैः । एकाग्रचित्तैः) नरैः (अनुष्ठातृभिः) परया (प्रकृष्टया । अप्रामाण्यशंकाकलंकशून्यया) श्रद्धया (आस्तिक्यबुद्ध्या) तप्तम (अनुष्ठितम) तत, त्रिविधम (त्रिप्रकारम्) तपः, सात्विकम्, परिचक्षते (कथयन्ति) ॥ १७ ॥

पदार्थः— (अफलाकांक्षिभिः) फलकी इच्छा नहीं करनेवाले (युक्तैः) एकाग्रचित्तवाले (नरैः) मनुष्योंके द्वारा (परया) परम श्रेष्ठ (श्रद्धया) श्रद्धासे (तप्तम) जिस तपका अनुष्ठान कियाजाता है (तत) तिस (त्रिविधम्) कायिकादि तीनों प्रकारके (तपः) तपको (सात्विकम्) सात्विक (परिचक्षते) कहते हैं ॥ १७ ॥

भावार्थः— श्रीभक्तजनमानसहंस यदुकुलावतंस सच्चिदानन्द श्रीकृष्णचन्द्र उपर्युक्त तीनों श्लोकोंमें कायिक, वाचिक और मानसिक तीनों प्रकारके तपोंका वर्णन कर इस श्लोकमें इन ही तीनोंके सात्विक होनेका स्वरूप वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः] हे अर्जुन ! परम श्रद्धासे

जो कायिक, वाचिक और मानसिक त्रिविधतप मनुष्योंके द्वारा अनुष्ठान कियेजाते हैं अर्थात् मैंने जो तुझे कायिकादि तीन प्रकारके तप कह सुनाये सो जब परमश्रद्धापूर्वक ऐसे पुरुषों द्वारा अनुष्ठान कियेजाते हैं जो इनके पूर्ण करनेमें किसी प्रकारकी शंका नहीं करते, बड़ी श्रेष्ठ श्रद्धासे इनका अनुष्ठान करते हैं, तनक भी आलस्य नहीं करते वरु अपने सारे तन, मन और धनका बल इनके अनुष्ठानमें लगा, एक पल भी निरर्थक नहीं बिताते [अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते] ऐसे फलकी इच्छा नहीं करनेवाले समाहित पुरुषोंसे जो अनुष्ठान कियाजाता है सो ही सात्विक तप कहा जाता है। अर्थात् जो पुरुष फलकी कांक्षासे एक बारगी रहित हैं तथा "युक्तैः" जो समाहित चित्त हैं सर्वप्रकारकी वृत्तियोंको सब ओरसे सिमेट चतुर सारथीके समान अपने मनके घोड़ेको जो अपने हाथमें रखते हैं ऐसे पुरुषोंसे ये तप साधे जाते हैं तब "सात्त्विकं परिचक्षते" इन तीनों कायिक, वाचिक और मानसिक तपोंको महापुरुष सात्विक-तपके नामसे पुकारते हैं।

श्रुतिने जो ऐसा कहा, कि "तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व" तपसे ब्रह्मको ढूंढ (तैत्ति० भृगुवल्ली अनु०२) सो इसी सात्विक तपके विषय कहा क्योंकि केवल यही सात्विक तप ब्रह्मरूपका प्रकट करनेवाला है।

योगके सूत्रकार पतञ्जलि इसी सात्विक तपके विषय कहते हैं, कि "कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः" तपसे अशुचि जो अन्तर

बाहरकी अपवित्रता उसका नाश होजानेसे शरीर और इन्द्रियोंकी सिद्धि होती है। तहां कायिक तपसे शरीरकी सिद्धियां जो अणिमादिक हैं और इन्द्रियोंकी सिद्धियां जो दूरदेशकी वस्तुओंका देखना और दूरदेशके शब्दोंको सुनना इत्यादि है सबकी सब लाभ होती हैं। वाचिकतपसे अर्थात् प्रिय और हित सत्यके बोलनेमें क्रियाके फलोंका आश्रयत्व कहते हैं। अर्थात् सत्यभाषण करनेवाला जिस क्रियाको करेगा उसकी सिद्धि अवश्य प्राप्त होगी। और स्वाध्यायरूप वाचिकतपसे इष्टदेवताका भी दर्शन होता है। प्रमाण (१) " सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् " । (पत० पाद २ सू० ३६) (२) " स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः " (पत० पाद २ सू० ४४) अर्थ— (१) सत्यकी प्रतिष्ठामें क्रिया और फलका आश्रयत्व है अर्थात् सच बोलनेवालेकी सब क्रियाएं सफल होती हैं।

(२) अर्थ— स्वाध्यायसे इष्टदेवताका सम्प्रयोगअर्थात् संयोग (जिसे सामीप्यमुक्तिके नामसे पुकारते हैं) लाभ होता है मानसिक तपसे प्राणी आत्मदर्शनकी योग्यताको प्राप्त करता है सो अभी दिखलायागया है।

इस प्रकारके कायिक, वाचिक और मानसिक तीनों प्रकारके तप सात्विक कहलाते हैं क्योंकि यहां सर्वप्रकारके फलोंकी इच्छाकी निवृत्ति होजाती है ॥ १७ ॥

अब भगवान् राजस तपका वर्णन अगले श्लोकमें करते हैं—

मू०— सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥

पदच्छेदः— यत्, तपः, सत्कारमानपूजार्थं (सत्कारः साधुकारः साधुरयं तपस्वी ब्राह्मण इत्येवमविवेकिभिः क्रियमाणा स्तुतिः । मानः प्रत्युत्थानाभिवादनादिः । पूजा पादप्रक्षालनार्चनादिः तदर्थम्) दम्भेन (धर्मध्वजित्वेन) च, एव, क्रियते (अनुष्ठीयते) तत्, इह (अस्मिंल्लोके) चलम् (क्षणिकफलम्) अध्रुवम् (अनिश्चितफलम्) राजसम् (रजोगुणविशिष्टम्) प्रोक्तम् (कथितम्) ॥ १८ ॥

पदार्थः— (यत्, तपः) जो तप (सत्कारमानपूजार्थम्) अपनी स्तुति, मान और पूजा करानेके तात्पर्य्यसे तथा (दम्भेन) पाखण्डसे (च) भी (एव) निश्चयकर (क्रियते) कियाजाता है (तत्) सो तप (इह) इस लोकमें (चलम्) चलायमान और (अध्रुवम्) अनिश्चित फलवाला होनेके कारण (राजसम्) राजसी तप (प्रोक्तम्) कहागया है ॥ १८ ॥

भावार्थः— अब सर्वेश्वर भगवान श्रीकृष्णचन्द्र राजसी तपका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् । क्रियते] जो तप केवल अपनी स्तुति, मान और पूजा करानेके तात्पर्यसे तथा पाखण्डसे कियाजाता है

अर्थात् जिस तपके अनुष्ठानमें चाहे वह कायिक हो, वाचिक हो वा मानसिक हो करनेवालेको यह अभिलाषा रहती है, कि लोग मुझे बहुत बडा तपस्वी ब्राह्मण समझ कर मेरी स्तुति किया करें तथा मैं कैसा भी दुष्टात्मा क्यों न होऊं पर लोग मेरे तपको देखकर मेरा मान और मेरी बडाई करें, लोग मुझे दण्डवत्प्रणाम किया करें तथा मेरे चरणोंको धोकर पीवें वा मेरा अर्चन कर मुझे धनादि प्रदान करें तो भगवान् कहते हैं, कि ऐसी तपस्या करनेवालेका तप [तदिह प्रोक्तं राजसञ्चलमध्रुवम्] इस लोकमें राजस तप कहागया है ऐसा तप सदा चल और अध्रुव होता है। अर्थात् ऐसे तपमें यदि कोई फल भी निकल पडे तो वह फल थोडे दिन तक रहता है फिर शीघ्र ही नष्ट होजाता है तथा ऐसे तपका कुछ फल होगा वा नहीं यह भी निश्चय नहीं होसकता प्रायः ऐसा देखा-गया है, कि बहुतेरे धनके ठगनेवाले विमल साधुका वेष बना तपस्वीका रूप धारण कर पाखण्डको फैला तपस्वी कहलाते हैं और अविवेकी मूढ पुरुष उनके फन्देमें आकर उनकी सेवा शुश्रूषा करने लगजाते हैं पर "उघरहि अन्त न होहि निबाहू" इस वचनके अनुसार उनका महत्व, उनकी पूजा, उनकी बडाई सब ऐसे उड-जाती हैं जैसे कर्पूरकी डली देखते-देखते बिलाजाती है फिर तो उनको कोई पूछता ही नहीं इसी कारण भगवान्‌ने 'इह' शब्दके साथ 'चल' और 'अध्रुव' शब्दका प्रयोग किया है। अर्थात् ऐसे धर्मध्वजियोंके तपका फल परलोकमें तो कुछ होता ही नहीं न स्वर्गकी प्राप्ति होती है न कोई देवयोनि ही प्राप्त होती है यह तो

केवल इसी लोकमें थोडी देरकेलिये फलदायक है । प्रथम तो 'अध्रुव' है अर्थात् यह निश्चय नहीं, कि इसका कुछ फल होगा वा नहीं यदि मान, बडाई, पूजा, धनकी प्राप्ति इत्यादि किसी प्रकारका फल हुआ भी तो वह भी चल होता है अचल नहीं अर्थात् जैसा, कि पहले कथन करआये हैं उसी प्रकार अन्ततक उसका निर्वाह नहीं होता झगडा फूट जाता है ।

वर्त्तमान कालमें इस प्रकारके पाखण्डमतका अधिक प्रचार होगया है । इन ही पाखण्डियोंने सनातनधर्मको निन्दित बनादिया है इसी कारण भगवान् सर्वसाधारणको मानों इस अध्यायद्वारा यह उपदेश कररहे हैं, कि कपट छल प्रपञ्च इत्यादि तथा अहंकारादि विकारोंको परित्यागकर कायिक, वाचिक और मानस तपका सात्विक आचरण करो राजसका परित्याग करो ॥ १८ ॥

अब भगवान् तामस तपका वर्णन अगले श्लोकमें करते हैं—

मू०— मूढग्राहेणात्मनो यत् पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥
॥ १९ ॥

पदच्छेदः— यत्, तपः, मूढग्राहेण (अविवेककृतेन दुराग्रहेण । यदेते तपश्चरन्ति तेभ्योऽत्यधिकमहं तपः करिष्यामीत्यादिरूपेण) आत्मनः (स्वस्य देहेन्द्रियसंघातस्य) पीडया, क्रियते (अनुष्ठीयते) वा, परस्य (शत्रोः वा अन्यस्य) उत्साद-

नार्थम् (विनाशार्थम्) [क्रियते] तत् (तपः) तामसम् (तमसानिर्वर्त्तितम्) उदाहृतम् (कथितम् । उक्तम् ॥ १९ ॥

पदार्थः— (यत् तपः) जो तप (मूढग्राहेण) अज्ञानतासे भरेहुए दुराग्रहकरके (आत्मनः) अपनी देह और इन्द्रियोंको (पीडया) नाना प्रकारके कष्टदेनेसे (क्रियते) कियाजाता है (तत्) सो तप आचार्य्योंके द्वारा (तामसम्) तमोगुणी (उदाहृतम्) कहागया है ॥ १९ ॥

भावार्थः— अब करुणासागर दयामय श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति तामसी तपका वर्णन करते हुए कहते हैं, कि [**मूढग्राहेणात्मनो यत् पीडया क्रियते तपः**] जो तप अज्ञानतासे भरेहुए दुराग्रहद्वारा अपनी देहको पीडा देकर कियाजाता है। अर्थात् अविवेकियोंके चित्तमें सदा दुराग्रह बैठारहता है मनमें ऐसा विचार होता रहता है, कि अमुक साधु जो मेरे स्थानके पीछे झोपडी बनाये हुआ है वह बहुत तप करता है इसलिये मैं भी ऐसा तप करूंगा, कि उसके तपसे मेरे तपका दशगुण प्रभाव लोगोंके चित्तपर पडेगा क्या मैं उससे महत्त्वमें कुछ कम हूं ? क्या उससे बढकर तपका साधन न करसकूंगा ? देखो ! मैं अभी अपने तपके सामने उसके तपको धूलमें मिलादेता हूं इस प्रकारके मूढ विचारको दुराग्रह कहते हैं। ऐसे दुराग्रह करके जो तपस्वी अपने शरीर और इन्द्रियोंको पीडा देकर नाना प्रकारके तपका आचरण करता है अर्थात् कभी ज्येष्ठ वा आषाढके तापमें पांचों ओर अग्नि जलाकर बीचमें बैठ अपने शरीरको क्लेश देता है अर्थात् पंचाग्नि तापता है तथा जाडेमें

नदियोंके भीतर जलमें शय्या बनाकर नंगे बदन रात्रिभर शीतकी कठोरताको सहन करता है अर्थात् जलशयन लेता है तथा जो बाणशय्या बनाकर अर्थात् काटोंकी शय्या बनाकर उसपर लेटा रहता है कभी ठडेश्वरी बाबा बनकर दिन रात खडा ही रहता है, फिर जो उलटा लटककर मस्तकके नीचे आग लगा उसकी ज्वाला सहन करता है, अभिप्राय यह है, कि एवम्प्रकार जो दुराग्रहके कारण अपने शरीरको पीडा देकर तप करता है ईश्वरप्राप्तिके निमित्त नहीं करता ऐसे तपको तामसी तप कहते हैं।

श्रीआनन्दकन्द कहते हैं, कि हे अर्जुन! इतना ही नहीं वरु इससे भी अधिक जो [**परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्**] दूसरेके नाश करडालनेके निमित्त किया जाता है वह भी तामसी तप कहा गया है। अर्थात् जैसा ऊपर कथन कियागया है इस प्रकारके शारीरिक कष्टोंको सहन कर ईश्वरकी अभिलाषा नहीं करके केवल दूसरोंके नाश निमित्त तप करना महाघोर तामसी पुरुषोंका काम है। शास्त्रद्वारा शत्रुओंसे बदला न लेकर तपद्वारा बदला लेना महा तामसी कहना चाहिये वरु राक्षसी शब्दका प्रयोग इसके विषय कियाजावे तो अनुचित न होगा क्योंकि राक्षसोंने इस प्रकारके तप बारम्बार सम्पादन किये हैं जैसे रावणने अपना मस्तक काट-काटकरे शिव भगवान्के नामपर अर्पण कर तपका सम्पादन किया है इसी प्रकार मेघनाद, कंस, एकतनु (कपटीमनु) इत्यादिकोंने तथा अन्यान्य अनेक राक्षसगण ऐसे घोर तामसी तप करतेहुए सुने गये हैं इसी कारण ऐसे तपको राक्षसी भी कहना चाहिये ॥ १९ ॥

अब भगवान् तीनों प्रकारके तपोंका वर्णन समाप्त कर तीनों प्रकारके दानका वर्णन आरम्भ करते हैं—

मू०— दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम्॥
॥ २० ॥

पदच्छेदः— दातव्यम् (शास्त्रचोदनावशादित्येवं निश्चयेन तनुफलाभिसन्धिना प्रदेयद्रव्यम्। दातुं योग्यम्) इति, यत्, दानम् (शास्त्रोक्तसम्प्रदानस्वत्वावच्छिन्नद्रव्यत्यागः) देशे (गंगाद्वारे प्रयागे पुण्यकरे गंगासागरसंगमे कुरुक्षेत्रादौ गयायां वा) च, काले (दुर्भिक्षे संक्रान्त्यादौ) च, अनुपकारिणे (प्रत्युपकारासमर्थाय) पात्रे (क्षुधार्त्ते। नेत्रहीने। पंगुदरिद्रादौ। विद्यातपोयुक्ते ब्राह्मणे वेदपारगे) दीयते, तत्, दानम्, सात्विकम् (सत्वगुणप्रधानमनोविशेषजातम्) स्मृतम् (कथितम्) ॥ २० ॥

पदार्थः— (दातव्यम्) दान करनेके योग्य यह द्रव्य है (इति) इतना जानकर (यत् दानम्) जो दान (देशे) गंगा, गया कुरुक्षेत्र इत्यादि देशोंमें (च) और (काले) दुर्भिक्ष, संक्रान्ति, ग्रहण इत्यादि कालमें (च) और (अनुपकारिणे) प्रत्युपकार करनेमें जो किसी प्रकार समर्थ न हो ऐसे (पात्रे) पात्रमें (दीयते) दियाजाता है (तत् दानम्) सो दान (सात्विकम्) सात्विक (स्मृतम्) कहागया है ॥ २० ॥

भावार्थः— श्रीजगतहितकारी गोलोकविहारी अब अर्जुनके प्रति तीनों प्रकारके दानोंमें प्रथम सात्विक दानका वर्णन करते हुए कहते हैं, कि [दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे] जो दान दातव्य है अर्थात शास्त्रोंकी आज्ञाके अनुसार मनुष्योंके लिये सदा दान करने योग्य है जिसका दान देना मनुष्यमात्रको मानवधर्मके प्रतिपालन करनेमें अत्यन्त उपयोगी है और जिसके नहीं दान करनेसे मनुष्योंको अपने मानवधर्मके अनुसार प्रायश्चित्ती होना पडता है। तात्पर्य यह है, कि जिस दानको अवश्य सम्पादन करना चाहिये तथा जो दान ऐसे प्राणीको दियाजावे जिससे फिर उसके बदले दानीको अपना किसी प्रकारका उपकार न करवाना हो, अभिप्राय यह है, कि इस तात्पर्यसे दान न दिया जावे, कि इसके बदले फिर कभी इस प्राणीसे कुछ काम निकालना पडेगा तो ऐसे दानको सात्विक दान कहते हैं और जो दान लेनेवालेसे अपने स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये दिया जाता है जैसे किसीने अपने पुरोधाको इस प्रयोजनसे दान दिया, कि वह उसके लिये मन्त्रोंका जप कर किसी देवताको प्रसन्न करे और उस देवताकी प्रसन्नतासे उसे पुत्रका लाभ हो तो ऐसे दानको सात्विकदान कदापि नहीं कहसकते। इसी कारण भगवान्‌ने यहां "अनुपकारिणे" शब्दका प्रयोग किया है।

अब भगवान् दान देनेके निमित्त देश, काल और पात्रका विचार करते हुए कहते हैं, कि [देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम्] जो दान उत्तम पवित्र देश तथा दान देने

योग्य देशमें और उत्तम समय अथवा दुर्भिक्ष इत्यादि समयमें और जो उत्तम पात्रमें अर्थात विद्वानोंमें तथा दरिद्र, अंगभंग इत्यादि देनेयोग्य पात्रोंमें दियाजाता है उसी दानको सात्विक दान कहना चाहिये ।

तहां पहले देशको दिखलाते हैं, कि कैसे देशमें दान देना कैसा है—

" गंगाद्वारे प्रयागे च अविमुक्ते च पुष्करे ।
नगरे चाट्टहासे च गंगासागरसंगमे ॥
कुरुक्षेत्रे गयायां च तीर्थे चाऽमरकण्टके ।
एवमादिऽषु तीर्थेषु दत्तमक्षय्यतामियात ॥
सर्वतीर्थमयी गंगा तत्र दत्तं महाफलम । " (व्यासः)

" सर्वे शिलोच्चयाः पुण्याः सर्वा नद्यः ससागराः ।
गोसिद्धमुनिवासाश्च देशाः पुण्याः प्रकीर्त्तिताः ॥
एषु तीर्थेषु यद्दत्तं फलस्यानन्तकृद्भवेत् । " (स्कन्दपुराणे)

" लिंगं वा प्रतिमा वापि दृश्यते यत्र कुत्रचित ।
तत्सर्वं पुण्यतां याति दानेषु च महाफलम् ॥ " (पद्मपुराणे)

" अग्नि होत्रे गवां गोष्ठे वेदघोषपवित्रिते ।
शिवायतनसंस्थाने यत्स्वल्पमपि दीयते ॥
तदनन्त फलं ज्ञेयं शिवक्षेत्रानुभावतः ।" (ब्रह्मपुराणे)

अर्थ— व्यासका वचन है, कि गंगाद्वारमें, प्रयागमें, काशीमें पुष्करक्षेत्रमें, अट्टहासदेशमें, गंगासागरसंगममें, कुरुक्षेत्रमें, गयामें, अमरकण्टक इत्यादि पवित्र तीर्थोंमें जो दान दियाजाता है वह अक्षय है अर्थात ऐसे दानका कभी भी नाश नहीं होता । गंगा

सर्व तीर्थमयी है इसलिये गंगातटमें दान देना महाफलदायक है पर फलको भगवान्में अर्पण करदेवे तब यह दान सात्विक कहा जावेगा। फिर जितने उच्चशिखरवाले पर्वत हैं और जितनी नदियां सागरके सहित हैं तथा जहां गौ, सिद्ध और मुनियोंका निवासस्थान है ये सब पुण्यदेश कहेगये हैं इन देशोंका दान अनन्त फलका देनेवाला है। जहां कहीं शिवलिंग वा भगवानकी प्रतिमा देखी जाती है उन सब स्थानोंको तीर्थके समान पवित्र समझना चाहिये ऐसे पवित्रस्थानोंमें दानका महाफल है। फिर जहां अग्निहोत्र होता हो, जहां गोशाला हो, जो स्थान वेदोंके उच्चारणसे पवित्र हुआ हो जहां शिवालय हो तहां थोडा भी दान देनेसे अनन्त फल होता है।

यह तो पवित्रताकी अपेक्षा स्थानोंका अर्थात् पवित्रदेशोंका वर्णन कियागया जहां दान देना सदैव उचित है। अब दरिद्रताकी अपेक्षा लेकर स्थानोंका वर्णन कियाजाता है— अर्थात् जिस स्थानमें बहुतेरे दरिद्रोंका निवास हो, जिस स्थानमें बहुतेरे कुष्टी, लंगडे लूले इत्यादि निवास करते हों जैसे किसी अस्पतालमें तथा किसी अनाथालयमें, जहां बिना मा बाप वा किसी रक्षकके अनाथ बच्चे रक्षा पाते हैं तथा जो देश वर्षाकालमें जलके उपद्रवसे नष्ट होगया हो और घरबार बहजानेसे जहकि निवासी दुःखी होरहे हों अथवा आग लगजानेसे जो ग्राम जलगया हो तथा राजाओंके परस्पर युद्ध होनेसे जो देश लुटगया हो, इन सब देशोंको दानके लिये उचित देश जानना। इन देशोंमें दान देनेसे परमात्माकी प्रसन्नता होती

है और प्रसन्न होकर भगवान् उस दानीको अपनी कृपाका पात्र बनालेता है।

अब कैसे कालमें दान देना योग्य है ? सो वर्णन कियाजाता है—

"आश्विने मासि सम्प्राप्ते द्वितीया शुक्लकृष्णगा।
दानं प्रदत्तं यत्तस्यामनन्तफलमुच्यते" ॥ (स्कन्दपुराणे)
"वैशाखमासे या पुण्या तृतीया शुक्लपक्षगा।
अनन्तफलदा दातुः स्नानदानादि कर्मसु ॥" (पद्मपुराणे)
"आश्विनस्य तु मासस्य नवमी शुक्लपक्षगा।
जायते कोटिगुणितं दानं तस्यां नराधिप ॥" (देवीपुराणे)
"+आग्नेयन्तु यदा ऋक्षं कार्तिक्यां भवति क्वचित।
महती सा तिथिर्ज्ञेया स्नानदानेषु चोत्तमा॥
यदा * याम्यन्तु भवति ऋक्षं तस्यां तिथौ क्वचित।
तिथिः सापि महापुण्या ऋषिभिः परिकीर्त्तिता ॥
×प्राजापत्यं यदा ऋक्षं तिथौ तस्यां नराधिप।
सा महाकीर्त्तिकी प्रोक्ता देवानामपि दुर्लभा ॥"
(ब्रह्मपुराणे)
"या मार्गशीर्षमासस्य शुक्लपक्षे तु सप्तमी।
नन्दा सा कथिता वीरे सर्वानन्दकरी स्मृता ॥

+ आग्नेयमृक्षं कृत्तिका।

* याम्यर्क्षं भरणी।

× प्राजापत्यं ऋक्षं रोहिणी।

स्नानदानादिकं सर्वमस्यामक्षय्यमुच्यते ॥
पौषे मासि यदा देवि शुक्लाष्टम्यां बुधो भवेत् ।
तदा तु सा महापुण्या महारुद्रेति कीर्त्तिता ॥
तस्यां स्नानं महादानं तर्पणं विप्रभोजनम् ।
मत्प्रीतये कृतं देवि शतसाहस्रिकं भवेत् ॥
माघमासि तथा शुक्ला या चतुर्थी महीपते ।
सा शान्ता शान्तिदा नित्यं शान्तिं कुर्य्यात्सदैव हि ॥ "
(भविष्यपुराणे)

" फाल्गुने पुष्यसहिता द्वादशी पावनी परा ।
नक्षत्रयुक्तास्वेतासु स्नानं दानमुपोषितम ।
सकृत कृतं मनुष्याणामक्षय्यफलदायकम ॥" (गरुडपुराणे)

" यस्तु चैव त्रयोदश्यां स्नानदानं समाचरेत ।
फलं शतगुणं तस्य कर्मणो लभते नरः ॥ "(स्कन्दपुराणे)

" हस्तयुक्ता तु वैशाखे ज्येष्ठे तु स्वातिसंयुता ।
ज्येष्ठायां च तथाषाढे मूलोपेता च * वैष्णवे ॥
नक्षत्रयुक्तास्वेतासु स्नानं दानमुपोषितम ।
सकृत कृतं मनुष्याणामक्षय्यफलदायकम् ॥
ज्येष्ठस्य शुक्लदशमी सम्वत्सरमुखीस्मृता ।
तस्यां स्नानं प्रकुर्वीत दानञ्चैव विशेषतः ॥ " (गरुडपुराणे)

" मासि भाद्रपदे शुक्ला द्वादशी श्रवणान्विता ।
महती द्वादशी ज्ञेया उपवासे महाफला ॥

* वैष्णवे— श्रावणे मासि ।

फलं दत्तहुतानाञ्च तस्यां लक्षगुणं भवेत् ।
वैशाखी कार्तिकी माघी पूर्णिमा तु महाफला ॥
पौर्णमासीषु सर्वासु मासर्क्षसरितासु च ।
स्नानानामिह दानानां फलं दशगुणं भवेत् ॥" (विष्णुधर्मोत्तरे)

" अमावास्या सोमवारे सूर्यवारे च सप्तमी ।
अंगारकदिने प्राप्ते चतुर्थी वा चतुर्दशी ॥
तत्र यः कुरुते कर्म शुभं वा यदि वाशुभम् ।
षष्ठिवर्षसहस्राणि कर्त्ता तत्फलमश्नुते ॥" (शातातपः)

अथोपरागकालः—

" चन्द्रस्य यदि वा भानो राहुणा सह संगमः ।
उपराग इति ख्यातस्तत्रानन्तफलं स्मृतम् ॥
इन्दोर्लक्षगुणं पुण्यं रवेर्दशगुणं भवेत् ।
गंगातीरे तु सम्प्राप्ते इन्दोः कोटि रवेर्दश ॥
रविवारे रवेर्ग्रासः सोमे सोमग्रहस्तथा ।
चूडामणिरितिख्यातस्तत्रानन्तफलं स्मृतम् ॥" (पद्मपुराणे)

" चन्द्रसूर्योपरागे च यत्कर्तव्यं तदुच्यते ।
सर्वं हेममयं दानं सर्वे ब्रह्मसमा द्विजाः ॥
सर्वं गंगासमंतोयं राहुग्रस्ते दिवाकरे ।" (भरद्वाजः)

इन श्लोकोंके अर्थ स्पष्ट हैं तथापि इनके संक्षिप्त तात्पर्य लिख-दिये जाते हैं—

आश्विनके महीनेमें शुक्ल और कृष्णपक्षकी द्वितीयामें कार्त्तिक महीनेकी शुक्लपक्षकी नवमीमें तथा जिसदिन कृत्तिका तथा इन दिनोंमें जो भरणीका लेशमात भी हो वा उन ही तिथियोंमें यदि रोहिणी

आपडे तो इनको महापुण्यकाल जानना इन कालोंमें दान देनेसे अनन्त फलोंकी प्राप्ति होती है ।

अगहनके शुक्ल पक्षकी सप्तमी जिसे नन्दाके नामसे पुकारते हैं तथा पौषमासके शुक्लपक्षकी अष्टमीके दिन यदि बुध हो तथा माघके महीनेके शुक्ल पक्षमें जो चतुर्थी हो जिसे " शान्ता " कहते हैं फिर फाल्गुन महीनेकी द्वादशी तिथिमें यदि पुष्य नक्षत्र पडे, फिर चैत्रमासकी त्रयोदशीमें जो स्नान दान किये जाते हैं उनका फल सैकडों गुण अधिक होता है ।

फिर वैशाख महीनेमें जो हस्त नक्षत्र हो, ज्येष्ठमें जो स्वाति नक्षत्र हो, श्रावणमें जब मूल नक्षत्र पडे तो इन कालोंमें स्नान दान करनेसे मनुष्योंको अक्षय फलकी प्राप्ति होती है । फिर ज्येष्ठके शुक्ल पक्षकी दशमीमें दानका अमोघ फल है ।

फिर भादोंके शुक्ल पक्षमें यदि द्वादशी तिथि श्रवण नक्षत्रके साथ हो तो उसे 'महाद्वादशी' कहते हैं उस समय दान, उपवास और हवन इत्यादिका लाखोंगुण अधिक फल होता है ।

वैशाखी, कार्तिकी और माघी पूर्णिमा तथा अन्य सब पूर्णिमाओंमें भी स्नान दानके बहुत फल होते हैं ।

यदि सोमवारको अमावास्या हो, रविवारको सप्तमी, चतुर्थी वा चतुर्दशी हो तो दानादि पुण्य तथा किसी प्रकारके पापका करनेवाला साठ हजार वर्ष तक अपने कर्मके फलोंको भोगता है ऐसा शातातपका वचन है ।

फिर चन्द्रमा वा सूर्य्य जिस दिन राहुसे ग्रसेजाते हैं उस दिनका नाम उपराग कहलाता है उस दिन जो दान करे उसका अनन्तगुण फल होता है चन्द्र ग्रहणमें लाख गुण और सूर्य्य ग्रहणमें उसके दश गुण अधिक अर्थात् दश लाख गुण अधिक फल होता है। फिर यदि ग्रहणके समय गंगातट पहुंच कर स्नान दान करे तो चन्द्रग्रहणमें कोटिगुण और सूर्य्यग्रहणमें दशकोटि गुण अधिक फल होता है।

यदि रविवारको सूर्य्यग्रहण और सोमवारको चन्द्रग्रहण हो तो ऐसे ग्रहणोंको चूड़ामणि कहते हैं चूडामणिमें स्नान दान करनेसे अनन्तगुण फल अधिक होता है।

सूर्य्यग्रहणके समय दानके जितने द्रव्य हैं सब स्वर्णके तुल्य होजाते हैं (यह भरद्वाजका वचन है) व्यतीपातकालमें भी दान देना श्रेष्ठ है। व्यतीपात किन कालोंको कहते हैं? सो सुनो— "श्रवणाश्विधनिष्ठार्द्रानागदैवतमस्तके । यद्यमा रविवारेण व्यतीपातः स उच्यते । पंचाननस्थौ गुरुभूमिपुत्रौ मेषे रवि, स्याद्यदि शुक्लपक्षे। पाशाभिधाना करभेण युक्ता तिथिर्व्यतीपात इतीह योगः ॥" अर्थ स्पष्ट है।

एवम् प्रकार जितने काल ऊपरे कथन कियेगये इनको दानका उचित और उत्तम काल समझना चाहिये। इनसे इतर भी अनेक काल ज्योतिःशास्त्र द्वारा निरूपण किये गये हैं जिनमें दान देना श्रेष्ठ है विस्तारके भयसे यहां नहीं लिखागया।

तात्पर्य यह है, कि जिसी समय कोई अतिथि आजावे उसी समय उसे कुछ दान देना चाहिये प्यासेको झट पानी पिलादेना चाहिये, कालकी प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिये । भगवान् मनु कहते हैं, कि अन्न जल तो सदा ही देना चाहिये इनके लिये कालका विचार करना योग्य नहीं है । फिर वाराहपुराणमें लिखा है, कि जिस समय किसी प्राणीकी मृत्यु होने लगे उसी समय दान देवे क्योंकि ऐसे समयको व्यतीपात, संक्रान्ति, सूर्य्यग्रहण इत्यादि पुण्यकालके तुल्य समझना चाहिये ऐसे समयमें गौ, पृथ्वी, स्वर्ण इत्यादि दान देना अत्याय होता है । फिर जिस समय पुत्र उत्पन्न हो उस समय नाडी छेदनेसे पहले जो काल है वह चन्द्र सूर्य्यग्रहणके समान है ऐसे समयमें भी अवश्य दान देना चाहिये तथा जिसी समय धनकी प्राप्ति होवे और चित्तमें दान देनेका उत्साह हो उसी समय दान देना चाहिये कालकी प्रतीक्षा करनेकी आवश्यकता नहीं है ऐसा विष्णुधर्मोत्तरग्रन्थमें लिखा है ।

अब दान देने योग्य पात्रोंका वर्णन किया जाता है—

मनुः— " पात्रस्य हि विशेषेण श्रद्दधानस्तथैव च ।
अल्पं वा बहु वा प्रेत्य दानस्य प्राप्यते फलम् "

अर्थ—थोडा वा बहुत विशेषकर पात्रको देनेसे फलकी प्राप्ति होती है ।

" ये क्षान्तदान्ताः श्रुतपूर्णकर्णा,
जितेन्द्रियाः प्राणिवधे निवृत्ताः ।
प्रतिग्रहे संकुचिताग्रहस्ता-
स्ते ब्राह्मणास्तारयितुं समर्थाः ॥ "

अर्थ— वशिष्ठका वचन है, कि वे ब्राह्मण जिन्होंने सर्वप्रकार क्षमा अंगीकार की है अर्थात् धीरजके साथ सदा रहते हैं और दान्त हैं अर्थात् बाहर भीतरसे अपनेको दमन किये हुए हैं तथा वेदकी श्रुति-योंसे जिनके कान पूर्ण होरहे हैं, जितेन्द्रिय हैं, जीवोंकी हिंसासे रहित हैं और जो दान लेनेके समय बहुत सकुचकर हाथ आगे बढाते हैं वे ही संसारके तारनेमें समर्थ हैं और दानदेनेके यथार्थ पात्र हैं।

यमः— " विद्यावन्तश्च ये विप्राः सुव्रताश्च तपस्विनः ।
सत्यसंयमसंयुक्ता ध्यानयुक्ता जितेन्द्रियाः ॥
पुनन्ति दर्शने प्राप्ताः किं पुनः संगतिं गताः ।
तेषां दत्वा च सम्भोज्य प्राप्नुयुः परमां गतिम् ॥ "

अर्थ— यमका वचन है, कि जो ब्राह्मण विद्वान् हैं, व्रती हैं, तपस्वी हैं, सत्य, संयम तथा ध्यानसे युक्त हैं, जितेन्द्रिय हैं वे दर्शन करनेवालेको पावन करदेते हैं फिर जो लोग उनकी संगति करें उनका तो कहना ही क्या है ? ऐसे विप्रोंको दान देकर तथा भोजन कराकर दाता परमगतिको प्राप्त होता है ।

" श्रोत्रियाय कुलीनाय विनीताय तपस्विने ।
व्रतस्थाय दरिद्राय प्रदेयं शक्तिपूर्वकम् ॥ " (कूर्मपुराणे)

अर्थ— श्रोत्रिय, कुलीन, विनीत, तपस्वी, अपने आश्रम-व्रतमें स्थिर तथा दरिद्रके लिये यथाशक्ति दान देना योग्य है ।

" श्रोत्रियाय दरिद्राय अर्थिने च विशेषतः ।
यद्दानं दीयते तस्मै तद्दानं शुभकारकम् ॥ " (संवर्त्तः)

अर्थ— श्रोत्रिय, दरिद्र, जिसका कोई अर्थ अटकरहा हो अथवा जो कन्यादिके विवाह अथवा मृतकके श्राद्धादिके निमित्त द्रव्यकी आवश्यकता रखता हो ऐसोंको जो दान दियाजाता है वह परम शुभ-कारक होता है।

किस जातिको दान देनेसे कितना फल होता है ? सो कहते हैं—

शूद्रे समगुणं दानं वैश्ये तु द्विगुणं स्मृतम ।
क्षत्रिये त्रिगुणं प्राहुः षड्गुणं ब्राह्मणेस्मृतम् ।
श्रोत्रिये चैव साहस्रमाचार्य्ये द्विगुणं ततः ॥
आत्मज्ञे शतसाहस्रमनन्तन्त्वग्निहोत्रिणि। ”

अर्थ— बृहस्पति कहते हैं, कि शूद्रको दान देनेसे समफल होता है अर्थात् एकका एक ही होता है, वैश्यको देनेसे तिससे दूना, क्षत्रियको देनेसे तिगुणा और ब्राह्मणको देनेसे छौ गुण अधिक फल होता है। श्रोत्रियको देनेसे सहस्रगुण और आचार्य्यको देनेसे तिससे दुगुणा फिर आत्मज्ञानीको देनेसे एक लक्षगुणा और अग्निहोत्रीको देनेसे अनन्तगुण फल होता है।

पर सात्विकदानवाला इन फलोंकी स्वयं इच्छा न करे वरु भगवत्में अर्पण करदेवे।

“ कृतान्नमितरेभ्यः ” इस गौतमके वचनानुसार अन्नदानमें शूद्रादिका विभेद नहीं। “ अन्नं सर्वत्र दातव्यम ” इस वचनके अनुसार अन्न तो सबोंको देना चाहिये।

विष्णुधर्मोत्तरे—

" अन्नदाने न कर्त्तव्यं पात्रापेक्षणमण्वपि ।
अन्नं सर्वत्र दातव्यं धर्मकामेन वै द्विज ॥
सदोषोऽपि तु निर्दोषं सगुणोऽपि गुणावहेम् ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन देयमन्नं सदैव तु ॥
विद्याध्ययनसक्तानामन्नदानं महाफलम् । " (अर्थ स्पष्ट है)

" व्यसनापदृणार्थञ्च कुटुम्बार्थञ्च याचते ।
एवमन्विष्य दातव्यं सर्वदानेष्वयं विधिः ॥ " (दक्षः)

अर्थ— दक्ष कहते हैं, कि राजा वा चौर इत्यादिके उपद्रवसे जो हानि हो उसे व्यसन कहते हैं सो व्यसनके समय तथा आपत्काल जो दुर्भिक्ष इत्यादि तथा ऋण देने वा कुटुम्बपालनके प्रयोजनसे जो जाचता है उसे खोज २ कर दान देना चाहिये सर्व प्रकारके दानोंमें यही विधि है ।

व्यासः— "हृतस्वा हृतदाराश्च ये विप्रा देशसंप्लवे ।
अर्थार्थमभिगच्छन्ति तेषु दत्तं महाफलम् ॥ "

अर्थ— व्यासदेव कहते हैं, कि जो ब्राह्मण देशके संप्लव होजानेके कारण धन दारा इत्यादिके छिनजानेसे अर्थके लिये जाचना करने आवें उनको देनेका महान फल है ।

अब पाठकोंके कल्याणार्थ यहाँ यह भी वर्णन करदिया जाता है, कि दातव्य द्रव्य तथा दातव्य दान क्या है ?

दान देनेवाला जो न्यायसे उपार्जन किये हुए द्रव्यका दान देता है उसीको दातव्य द्रव्य कहते हैं । क्योंकि न्यायपूर्वक उपार्जन

किये हुए द्रव्यका दान वेद तथा शास्त्रोंमें विहित है अन्यायसे उपार्जन किये हुए द्रव्यका दान पापसे मुक्त नहीं करसकता—

प्रमाण– " शुभोपात्तेन यत्किंचित् करोति लघुना नरः ।
अनन्तं फलमाप्नोति मुद्गलोऽपि यथा पुरा " ॥
(वह्नि पुराणे)

अर्थ– पवित्र रीतिसे उपार्जन किये हुए द्रव्यसे जो थोड़ा भी दान कियाजाता है तो उसका अनन्त फल होता है जैसे पूर्व समयमें मुद्गलकी दशा हुई थी ।

जो धन उपार्जन किया जाता है उसके तीन भेद हैं—

प्रमाण–" तत्पुनस्त्रिविधं ज्ञेयं शुक्लं शवलमेव च ।
कृष्णञ्च तस्य विज्ञेयो विभागः सप्तधा पुनः ॥ "
(नारदः)

अर्थ— उपार्जन किया हुआ धन तीन प्रकारका होता है शुक्ल, शवल और कृष्ण फिर इन तीनोंके सात २ भेद हैं विस्तारके कारण यहां नहीं लिखेगये ।

अब ये शुक्ल, शवल और कृष्ण क्या हैं ? सो वर्णन किया जाता है—

" श्रुतशौर्य्यतपःकन्यायाज्यशिष्यान्वयागमात् ।
धनं सप्तविधं शुक्लमुदयोऽप्यस्य तद्विधः ॥"

अर्थ—— श्रुतियोंकी आज्ञानुसार जो धन यथार्थ न्यायके साथ उपार्जन कियाजावे, जो धन ऋत्विजोंने हवनादि द्वारा प्राप्त किया हो, जो धन राजाने प्रजा द्वारा (करके नामसे) ग्रहण किया हो, जो धन

शिष्यने गुरुको गुरुदक्षिणामें दिया हो, जो धन राजाओंने अपनी वीरतासे किसी अन्य देशसे प्राप्त किया हो, और जो धन शारीरिक परिश्रमसे उपार्जन कियागया हो । इतने प्रकारसे उपार्जन कियेहुए धन शुक्ल कहेजाते हैं ।

शवलम्- " कुसीदकृषिवाणिज्यशिल्पशुल्कानुवृत्तितः ।
कृतोपकारादाप्तञ्च शवलं समुदाहृतम् ॥ "

अर्थ— (कुसीद) सूद, कृषि, वाणिज्य, शिल्प, शुल्क (फीस) अनुवृत्ति और जिसका उपकार किया हो उससे मिलाहुआ ये सातों प्रकारसे उपार्जन कियेहुए धन '**शवल**' कहेजाते हैं ।

कृष्णम्-" पार्श्वकद्यूतचौर्य्यार्त्तिप्रतिरूपकसाहसैः ।
व्याजेनोपार्जितं यत्तत् सर्वेषां कृष्णमुच्यते " ॥ (नारदः)

अर्थ— पार्श्वक जो घूँस, द्यूत, (जूआ) चोरी, पीड़ा देकर, प्रतिरूपक अर्थात् बदलई तथा व्याजसे अर्थात् पाखण्ड कर तप इत्यादिके बहानेसे जो धन उपार्जन कियाजावे उसे ' कृष्ण ' कहते हैं ।

" यथाविधेन द्रव्येण यत्किञ्चित् कुरुते नरः ।
तथाविधमवाप्नोति स फलं प्रेत्य चेह च " ॥

अर्थ— जो मनुष्य जिस प्रकारके धनसे दानादि कर्मोंका सम्पादन करता है उसको उसी प्रकारका उच्च, मध्यम वा नीच फल परलोक और इस लोकमें प्राप्त होगा ।

" शुक्लेन वित्तेन कृतं पुण्यं वहुफलं भवेत् ।
शवलं मध्यमफलं कृष्णं हीनधनं फलम् ॥ "

(पद्मपुराणे)

अर्थ— शुक्ल धनसे बहुत फल होता है, शबलसे मध्यम फल और कृष्णसे नीच फल होता है।

फिर नारद कहते हैं, " तत्पुनर्द्वादशविधं प्रतिवर्णाश्रयात्स्मृतम। साधारणं स्यात्त्रिविधं शेषं नवविधं स्मृतम " ॥ प्रतिवर्णाश्रयान्नवविधं साधारणं त्रिविधमित्येवं द्वादशविधमित्यर्थः।

" क्रमागतं प्रीतिदायः प्राप्तञ्च सहभार्य्यया।
अविशेषेण सर्वेषां वर्णानां त्रिविधं धनम ॥
वैशेषिकं धनं ज्ञेयं ब्राह्मणस्य त्रिलक्षणम्।
प्रतिग्रहेण संलब्धं याज्यतः शिष्यतस्तथा ॥
त्रिविधं क्षत्रियस्यापि प्राहुर्वैशेषिकं धनम।
युद्धोपलब्धं काराच्च दण्डाच्च व्यवहारतः ॥
वैशेषिकं धनं ज्ञेयं वैश्यस्यापि त्रिलक्षणम।
कृषिगोरक्षवाणिज्यैः शूद्रस्यैभ्यस्त्वनुग्रहात ॥ " (नारदः)

अर्थ— नारदका वचन है, कि जो न्यायसे उपार्जन किया हुआ धन है वह बारह प्रकारका होता है वर्णोंके भेदानुसार साधारण तो तीन प्रकारका उपार्जन है वह सब वर्णोंकेलिये एकसमान है परु जो विशेष है वह प्रति वर्णकेलिये भिन्न २ है। तहां—

१. क्रमागत — जो बाप दादासे चला आता है।

२. प्रीतिदायः— जो किसी मित्रने वा किसी उत्तम पुरुषने प्रीति करके दिया हो।

+ कारः— वल्यादिः

३. जो स्त्रीके साथ दहेज इत्यादिमें श्वसुरने दिया हो। ये तीनों प्रकारके द्रव्य साधारण उपार्जन कहलाते हैं। अब जो नव प्रकारके हैं उन्हें वर्णानुसार बिलग २ कहते हैं–

विशेष उपार्जन ब्राह्मणोंकेलिये तीन प्रकारके हैं–

१. प्रतिग्रह– जो किसीने दान दिया हो।

२. याज्यतः– जो यज्ञमें प्राप्त हुआ हो।

३. शिष्यतः– जो किसी शिष्य द्वारा गुरुपूजनमें लाभ हुआ हो।

इसी प्रकार क्षत्रियोंकेलिये भी विशेष उपार्जन तीन प्रकारके हैं–

१. युद्धोपलब्ध– जो युद्धमें लाभ हुआ होवे।

२. करात्– करसे जो प्रजाओंपर लगाया जावे।

३. दण्डात्– जो दण्डसे लाभ हो।

इसी प्रकार वैश्योंका भी विशेष धन तीन प्रकारका है–

१. गोरक्षात्– गौओंके पालनसे गौओंके बच्चोंके क्रयविक्रयसे।

२. कृषि– खेतोंके नाजसे।

३. वाणिज्य– व्यापारसे।

और शूद्रोंको तो इन ही तीन वर्णोंके अनुग्रहसे जो कुछ लाभ होजावे।

उक्त नव प्रकारकी विधिसे तीनों वर्णोंको जो धनका लाभ है उसे न्यायोपार्जित धन कहते हैं और जो इनसे विपरीत है वह अन्यायोपार्जित अधर्म्य है।

इसीलिये श्रीआनन्दकन्द ब्रजचन्द अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि जो दाता एवम्प्रकार न्यायसे उपार्जन किये हुए धन द्वारा देश, काल और पात्रका विचार करके दान देता है पर दानके फलोंकी तनक भी इच्छा नहीं करता वही सात्विकदानी कहलाता है और उसका दान भी सात्विक कहलाता है ॥ २० ॥

अब रजोगुणी दानको कहते हैं—

मू०— यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१

पदच्छेदः— पुनः, यत, तु, प्रत्युपकारार्थम (कालान्तरे त्वया मां प्रत्युपकरिष्यतीत्येवं दृष्टार्थम) वा, फलम् (दानस्यादृष्टं स्वर्गादिसुखम्) उद्दिश्य (संकल्प्य) च, परिक्लिष्टम् (खेदसंयुक्तम् । कथमेतावद्दीयत इति पश्चात्तापयुक्तम्) दीयते (दानं क्रियते) तत्, दानम्, राजसम् (रजोगुणसंयुक्तम्) स्मृतम (कथितम्) ॥२१

पदार्थः— (पुनः) फिर (यत तु) जो निश्चय करके (प्रत्युपकाराय) प्रत्युपकारकी दृष्टिसे (वा) अथवा (फलम्) स्वर्गादि फलप्राप्तिका (उद्दिश्य) संकल्प करके (च) और (परिक्लिष्टम) मनमें खेद वा पश्चात्ताप करके (दीयते) दिया जाता है (तद्दानम) सो दान (राजसम) रजोगुणी (स्मृतम्) कहागया है ॥ २१ ॥

भावार्थः— अब श्रीयदुकुलनायक भक्तजन सुखदायक सात्विक दानके वर्णन करनेके पश्चात् राजसी दानका वर्णन करतेहुए कहते

हैं, कि [यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः । दीयते] जब दान देनेवाला दाता दान देनेसे पहले चित्तमें प्रत्युपकारका संकल्प करलेता है अर्थात् ऐसा निश्चय करलेता है, कि जिसको मैं देता हूं इसके बदले वह मेरा कुछ उपकार करेगा । जैसे जब मुझे किसीसे लडाई होगी तो मेरी पीठपर होकर उससे लडेगा अथवा किसी अभियोग (मुकद्दमा) में मेरी झूठी गवाही देगा वा मेरे लिये पुत्र होनेका प्रयोग करेगा ऐसे प्रत्युपकारोंको मनमें रखकर जो दान दियाजाता है । अथवा आज मैं दान करता हूं कल्ह इसका फल मुझे मिलेगा, कोई राज्य हाथ आजावेगा, कोइ अच्छीसी नौकरी मिलजावेगी, कोई ग्राम हाथ आजावेगा अथवा स्वर्गमें अप्सरा इत्यादि मिलेंगी तिनके संग नाना प्रकारके भोग विलास करूंगा अथवा इस दानके देनेसे मेरा शत्रु नाश होजावेगा । मुख्य अभिप्राय यह है, कि ऐसे प्रत्युपकार वा फलकी इच्छासे जो दान दियाजाता है अथवा जो अपने यश वा नामके लिये दिया जाता है वह राजसी दान है।

फिर भगवान् कहते हैं, कि इतना ही नहीं वरु [च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्] जिस दानके देनेमें दानीके चित्तमें क्लेश होता है वह राजसदान है अर्थात् देनेवाला देनेके पीछे खेद करने लगता है, कि मैंने व्यर्थ ब्राह्मणोंके जालमें आकर इतना पुष्कल द्रव्य क्यों दान देदिया ? अमुक पाठशाला वा गोशालामें लोगोंको चन्दा देतेहुए देख मैंने इतना द्रव्य क्यों देदिया ? अच्छा जानेदो मैं आजसे ऐसी सभामें न जाऊंगा जहां द्रव्य ठगलिया

जाता है। एवम्प्रकार जो दान देकर पीछे पछताता है उस दानको भी रजोगुणी दानके नामसे पुकारते हैं। आश्चर्य तो यह है, कि अन्य धर्मावलम्बी जो कुछ दान देकर पछताते हैं उनका पछताना तो उचित ही है क्योंकि वे बिचारे श्राद्धादि कर्मोंको नहीं मानते पर बहुतेरे सनातनधर्मावलम्बी भी दान देकर पछताने लगते हैं इसी प्रकार के दानके विषय भगवान्‌ने "परिक्लिष्टम्" शब्दका प्रयोग किया है ॥ २१ ॥

अब भगवान् सात्त्विक और राजस दानका वर्णन कर तामसी दानका वर्णन करते हैं—

मू०— अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

पदच्छेदः— च (पुनः) यत्, दानम्, अदेशकाले (म्लेच्छाद्याक्रान्तप्रदेशे अशुचिस्थाने चेत्यपरदानानर्हसमये पुण्यहेतुत्वेनाप्रख्याते संक्रान्त्यादिविशेषरहिते) अपात्रेभ्यः (नटादिसदृशेभ्यः अपात्रभूतेभ्यः ब्राह्मणेभ्यः) असत्कृतम् (प्रियभाषणपादप्रक्षालनादिपूजासत्कारादिरहितम्) अवज्ञातम् (तिरस्कारयुक्तम्) दीयते (दानं क्रियते) तत्, तामसम् (तमोगुणात्मकम्) उदाहृतम् (उच्चारितम्) ॥ २२ ॥

पदार्थः— भगवान् कहते हैं, कि (च) पुनः (यत् दानम्) जिस दानको (अदेशकाले) अपवित्र देश तथा अपवित्र

में (अपात्रेभ्यः) कुपात्रोंके लिये तथा सुपात्रोंको भी (असत्कृतम्) सत्काररहित (अवज्ञातम्) तिरस्कारके साथ दुर्वचन कहकर (दीयते) दिया जाता है (तत्) सो (तामसम्) तमोगुणी दानके नामसे (उदाहृतम्) कहागया है ॥ २२ ॥

भावार्थः— अब श्रीसच्चिदानन्द कृष्णचन्द्र पूर्व दो श्लोकोंमें सात्विक और राजस दानका वर्णन कर तामसी दानका व्याख्यान करतेहुए कहते हैं, कि [**अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते**] जिस देशमें दान देने योग्य नहीं है अर्थात् जहां पापियों, हिंसकों तथा म्लेच्छोंका निवास है, जहां दिन-रात पापाचरण छोडकर पुण्यका लेशमात्र भी नहीं है जैसे नगरोंमें वेश्याओंकी टोली, कच्ची सराय वा पक्की सरायें जहां भटियारे, भटियारिन इत्यादि कुकर्मी वृन्द दिन-रात परायेकी गठरी काटलेनेकी चिन्तामें पडेरहते हैं ऐसे अशुद्ध स्थानोंमें जो दान दियाजाता है वह तामसी कहलाता है तथा अशुद्ध कालमें अर्थात् नहीं देनेयोग्य समयमें जो दान दियाजाता है वह भी तामसी कहलाता है और दान देनेवालेको नरकका मार्ग दिखलाता है। क्योंकि ऐसे स्थान वा ऐसे कालमें दान लेनेवाला दान लेकरे पापोंका आचरण करता है इसलिये ऐसे दानको तामसी दान कहते हैं।

अब पाठकोंके कल्याण निमित्त यहां उन कालोंका वर्णन किया जाता है जिनमें दान देना निषिद्ध है।

शंखः— "आहारं मैथुनं निद्रां सन्ध्याकाले तु वर्जयेत्।
कर्म चाध्ययनञ्चैव तथा दानप्रतिग्रहौ ॥"

अर्थ— शंखका वचन है, कि भोजन, स्त्रीगमन, निद्रा, शास्त्राध्ययन तथा दान देना और लेना इत्यादि कर्म करना संध्याकालमें निषिद्ध हैं।

स्कन्दपुराणे— " रात्रौ दानं न कर्त्तव्यं कदाचिदपि केनचित् ।
हरन्ति राक्षसा यस्मात्तस्माद्दातुर्भयावहम् ॥ "

अर्थ— स्कन्दपुराणका वचन है, कि रात्रिके समय विशेषकर अर्द्ध रात्रिको कभी किसीके द्वारा दान नहीं देना चाहिये क्योंकि राक्षसगण ऐसे दानको हरलेते हैं इसलिये इस समयका दान, देनेवालेके लिये भयदायक है पर ऐसे अर्द्धरात्रि इत्यादि निषिद्ध कालमें भी यदि कोई विशेष नैमित्तिक कर्म आन पड़े तो दान देनेमें दोष नहीं है। प्रमाण--

देवलः— " राहोर्दर्शनसंक्रान्तिविवाहात्ययवृद्धिषु ।
स्नानदानादिकं कुर्य्युर्निशि काम्यव्रतेषु च ॥ "

अर्थ-- देवल ऋषि कहते हैं, कि यदि सायं वा अर्द्ध रात्रि निषिद्ध कालमें कोई नैमित्तिक कर्म जैसे चन्द्रग्रहण, संक्रान्ति, विवाह वा मृत्यु इत्यादि उपस्थित होजावे तो दान देना निषिद्ध नहीं है। इसी प्रकार किसी अन्य काम्यकर्ममें भी जानना।

विश्वामित्रः— " महानिशा द्वे घटिके रात्रौ मध्यमयामयो ।
नैमित्तिकन्तथा कुर्यान्नित्यन्तु न मनागपि ॥ "

अर्थ— विश्वामित्र कहते हैं, कि रात्रिके मध्यभागकी जो दो घटिका हैं इस समय केवल नैमित्तिक कर्मोंको छोड़ कोई नित्य कर्म नहीं करना चाहिये।

उक्त कालोंसे इतर भी अनेक काल हैं जिनमें दान देना निषिद्ध है और ऐसे समयमें किये हुए दानको तामसी दान कहते हैं। फिर भगवान कहते हैं, कि " अपात्रेभ्यः " जो दान अपात्रोंकेलिये दियाजाता है वह भी तामसी दान है।

वे अपात्र कौन हैं सो सुनो—

" गोपालांश्च वाणिजिकांस्तथा कारुकुशीलवान् ।
प्रेष्यान् वार्द्धुषिकांश्चैव विप्रान् शूद्रवदाचरेत् ॥
ये व्यपेताः स्वकर्मभ्यः परपिंडोपजीविनः ।
द्विजत्वमभिकांक्षन्ति तांश्च शूद्रवदाचरेत ॥ "

अर्थ— गौओंका पालनकर धन उपार्जन करने वाले, वाणिज्य करनेवाले ' कारु ' अर्थात् किसी प्रकारके शिल्प-कर्म करने वाले, ' कुशीलवान ' अर्थात् नाचनेवाले और गानेवाले ' प्रेष्यान् ' चाकरी करनेवाले ' वार्द्धुषिकान '' सूद बट्टा खानेवाले ब्राह्मणोंको शूद्रके समान जानकर दान नहीं देना चाहिये। फिर जिन ब्राह्मणोंने अपना कर्म परित्याग करदिया है, परायेके पिण्डसे अपना जीवन निर्वाह करते हैं अर्थात् श्राद्धादिमें खाते फिरते हैं फिर ब्राह्मण कहलानेकी इच्छा भी रखते हैं उनको भी शूद्रवत् जानकर दान नहीं देना चाहिये हां! यदि वे परम दरिद्र हों भूखों मरते हों तो सेर सवासेर अन्न देकर बिदा करदेना चाहिये।

यमः— " अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् ।
नैषां प्रतिग्रहो देयो ना शिला तारयेच्छिलाम् ॥ "

अर्थ— यमका वचन है, कि जो ब्राह्मण यज्ञोपवीत और गायत्री मन्त्रसे रहित हैं तथा केवल जातिमात्र ब्राह्मण कहलाकर अपना जीवन निर्वाह करते हैं ऐसोंको भी दान नहीं देना चाहिये। क्योंकि एक पत्थर दूसरे पत्थरको तीनकालमें भी तार नहीं सकता।

वशिष्ठः— "यथाकाष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नामधारकाः ॥"

अर्थ— वशिष्ठका वचन है, कि काठका हाथी, चमडेका मृग, अपढ ब्राह्मण ये तीनों नाममात्र हैं इस कारण इनको दान नहीं देना चाहिये ऐसा दान तामसी दान है।

व्यासशातातपौ— "नष्टे शौचे व्रतभ्रष्टे विप्रे वेदविवर्जिते ।
रोदत्यन्नं दीयमानं किं मया दुष्कृतं कृतम ॥"

अर्थ— व्यास और शातातपका वचन है, कि जो विप्र शौचसे नष्ट है तथा यज्ञोपवीतव्रतसे च्युत होगया है ऐसेको जो अन्न दिया जाता है वह अन्न सर पीट २ कर रोता है, कि हा! हे भगवन्! मैंने क्या पाप किया था, कि ऐसे ब्राह्मणके शरीरमें प्रवेश करूंगा।

मनुः— "पात्रभूतो हि यो विप्रः प्रतिगृह्य प्रतिग्रहम् ।
असत्सु विनियुंजीत तस्य देयं न किंचन ॥"

अर्थ— मनुका वचन है, कि ब्राह्मण देने योग्य पात्र तो है पर वह प्रतिग्रह लेकर किसी असत् कार्यमें लगाता है जैसे वेश्याको देता है वा जूआ खेलता है तो ऐसे ब्राह्मणको एक कपर्दिका (कौडी) भी नहीं देनी चाहिये।

श्रीआनन्दकन्द कृष्णचन्द्रके कहनेका यह अभिप्राय है, कि ऐसे कुपात्रोंको तथा चोर, डाकू, मिथ्यावादी, लोलुप, व्यभिचारी इत्यादिको जो दान दियाजाता है वह सब दान तामसी है।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्**] जो दान देनेके समय दाता, दान लेनेवालेका सत्कार न करके देता है ऐसे दानको भी तामसी दान कहते हैं ॥ २२ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें पूर्वोक्त यज्ञ, तप, दानादिकी सिद्धि निमित्त तथा सद्गुणोंकी सिद्धिके हेतु कर्मारम्भसे पहले उस परमात्माके मुख्य नामोंको उच्चारण करनेका उपदेश करते हैं जिससे सब प्रकारकी विगुणताका प्रायश्चित्त होजाया करता है।

मू०— ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३

पदच्छेदः— ॐ तत्सत (ॐ तत् सत्) ब्रह्मणः (परमात्मनः) इति, त्रिविधः (तिस्रो विधा अवयवा यस्य) निर्देशः (नाम्ना पाठः। ब्रह्मप्रतिपादकः शब्दः) स्मृतः (वेदान्तेषु ब्रह्मविद्भिश्चिन्तितः) तेन (त्रिविधेन निर्देशेन। एतन्नामत्रयोच्चारणसामर्थ्येन) पुरा (सर्गादौ) ब्राह्मणाः (द्विजाः) च, वेदाः (ऋगादिचत्वारो वेदाः) च, यज्ञाः (अश्वमेधादयो यागाः) विहिताः (प्रजापतिना निर्मिताः) ॥ २३ ॥

पदार्थः— (ॐ तत्सत) ॐ, तत् और सत् (इति) ये जो (ब्रह्मणः) उस परमात्माके (त्रिविधः) तीन प्रकारके

(निर्देशः) नाम हैं अर्थात् उस ब्रह्मके प्रतिपादन करनेवाले शब्द (स्मृतः) वेदान्तशास्त्रमें वेदान्तियोंके द्वारा विचारे जाचुके हैं (तेन) इन ही तीन नामोंके समाहारसे (पुरा) सृष्टिके आदिमें (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण क्षत्रियादि तीनों द्विज (च) तथा (यज्ञाः) अश्वमेधादि नाना प्रकारके यज्ञ (विहिताः) प्रजापतिके द्वारा निर्माण कियेगये इसलिये ये परम मंगलदायक नाम हैं इनको प्रत्येक शुभकर्मोंके आरम्भमें उच्चारण करलेना चाहिये ॥ २३ ॥

भावार्थः— श्रीगोलोकविहारी जगत्हितकारी श्रीकृष्णचन्द्रने जो इस अध्यायके श्लोक ७ से २२ तक सात्विक, राजस और तामस तीनों प्रकारके आहार, यज्ञ, तप और दानका वर्णन किया है इन कर्मोंके करने वालोंमें कभी २ मानुषी प्रकृतिके कारण नाना प्रकारकी भूल, दोष, विगुणता इत्यादिका होजाना सम्भव है। क्योंकि मानुषी प्रकृतिके कारण प्राणी चाहे कितना भी चतुर क्यों न हो कहीं २ विशेष कारणवश कर्मोंको उचित रीतिसे सम्पादन करनेमें चूक जासकता है । जैसे किसी विचारवान ज्ञानीने सात्विक आहारका अभ्यास किया है और वह शुद्ध रीतिसे उस सात्विक आहारका सम्पादन करता चला आरहा है यदि उसके आहारमें प्रमादवश किसी दिन किसी प्रकारका राजस वा तामस आहार मिल जावे अथवा असावधानताके कारण अन्य प्राणीका उच्छिष्ट उसमें मिल जावे जिसे वह ज्ञानी भूलसे भोजन करजावे अथवा किसी प्रकारकी विषैली वस्तु उस आहारमें पडगयी हो अथवा वह आहार किसी दुष्ट प्राणीके

घरका हो तो उसके भोजन करनेसे जो उस सात्विक ज्ञानीके चित्तमें काम, क्रोध तथा मिथ्या भाषण इत्यादि करनेका दोष उत्पन्न होगा उसके प्रायश्चित्तके तात्पर्यसे आहार करनेसे पूर्व इन दोषोंके निवारणार्थ भगवत् नाम लेलेनेकी आवश्य कता है सो केवल आहार ही में नहीं वरु यज्ञ, तप और दानमें भी जो किसी प्रकारकी भूल होगयी हो जैसे यज्ञकी सामग्रियोंके पूर्ण प्रकार नहीं शोधन होनेके कारण जो उसमें कीटादि रहगये हों और वे अग्निमें भस्म होगये हों इसी प्रकार तप करते समय भी किसी सुन्दरीके सम्मुख होनेपर कामादिका विकार अथवा किसी अपने शत्रुके सम्मुख हुए किसी प्रकार क्रोधका उद्रेक होगया हो तो इन दोषोंके नाशनिमित्त भी प्रथमही प्रायश्चित्त करलेनेके तात्पर्यसे उस यज्ञ और तपके आरम्भसे पहले भगवत् नाम उच्चारण करलेनेकी आवश्यकता है। इसी प्रकार सात्विक दानमें भी जो कभी फल इत्यादिकी इच्छा उत्पन्न होगयी हो अथवा वह दान भूलसे किसी धूर्त्तको देदिया गया हो तो ऐसे दानके प्रायश्चित्त तथा भूलके परिहार निमित्त भी भगवत्-नामका उच्चारण करलेना अति ही आवश्यक है इसलिये भगवान उस परब्रह्मके मुख्य नामका उपदेश करतेहुए कहते हैं, कि [**ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः**] ॐ, तत् और सत् ये तीनों उस ब्रह्मके नाम ऋषि महर्षियों द्वारा विचार कर निश्चय कियेगये हैं अर्थात् श्रुतियोंमें उस परब्रह्म जगदीश्वरके ये ही तीन नाम आये हैं जिन पुरुषोंने इन तीनों मात्राओंको अपने शरीरमें देखा है और भले प्रकार इनके महत्वका विचार किया है तथा इनके उच्चारण वा श्रवण द्वारा एकाग्रता प्राप्तकर इनके

वाच्य परब्रह्मकी ओरे चित्त लगाया है वे ही पूर्व कथनकिये हुए सात्विक आहार, यज्ञ, तप और दानके सम्पादनमें पूर्ण अधिकार रखते हैं। इन क्रियाओंमें किसी प्रकारकी भूल उनसे नहीं होसकती। पूर्वोक्त सब ऋषि महर्षियोंने इन्ही तीनोंकी सामर्थ्यसे नाना प्रकारकी सिद्धियां प्राप्त करते हुए भगवत्स्वरूपमें जामिले हैं। शास्त्रोंमें और वेदोंमें जहां देखिये तहां इतना ही कथनकिया गया है, कि इन ही तीनोंसे सब प्रकारकी सृष्टिकी रचना हुई है। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि [ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा] प्रजापतिने भी जब प्रथम २ सृष्टि करनेकी इच्छा की तब इसी "ॐतत्सत" त्रिविध नामका उच्चारण कर इसीके महत्वकी सामर्थ्यसे ब्राह्मणोंको, वेदोंको और यज्ञोंको रचडाला अर्थात् कश्यप, अंगिरा, पुलस्त्य, सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमारे इत्यादि ब्राह्मणोंको जो नाना प्रकारके यज्ञोंके कर्त्ता हैं फिर ऋग्, यजु, साम, अथर्व चारों वेदोंको जो यज्ञोंके कारणरूप हैं इन्हें तथा यज्ञरूप कर्मोंको रचडाला।

कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि ब्रह्मासे लेकर आजतकके जितने ऋषि, महर्षि, योगी और तपस्वी हुए सबोंने इन ही तीनों नामोंकी सामर्थ्यसे जो कुछ संसारमें करना था करडाला इसीलिये आज भी जो पुरुष आहार, यज्ञ, तप और दानादि क्रियाओंके सम्पादन करते समय पहले इन तीनों प्रणवोंका उच्चारण करलेगा तो उसकी सारी क्रिया निर्विघ्न समाप्त होजावेंगी ॥ २३ ॥

अब अगले पांच श्लोकोंमें इन ही तीनों प्रणवोंका महत्त्व वर्णन करते हुए भगवान् इस अध्यायको समाप्त करते हैं।

मू— तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततम्ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४

पदच्छेदः— तस्मात्, ॐ (प्रणवः) इति, उदाहृत्य (उच्चार्य) ब्रह्मवादिनाम् (वैदिकानाम् । ब्रह्मवदनशीलानाम्) विधानोक्ताः (शास्त्रचोदिताः । वेदोक्ताः । विधिशास्त्रबोधिताः) यज्ञदानतपःक्रियाः (अश्वमेधादियज्ञाद्याः शास्त्रोक्ताः क्रियाः) सततम् (सर्वदा) प्रवर्तन्ते (प्रकृष्टतया वैगुण्यराहित्येन वर्तन्ते) ॥ २४

पदार्थः— (तस्मात्) इसी कारणसे (ॐ) ॐकार (इति) इस इतने प्रणवको (उदाहृत्य) उच्चारण करके (ब्रह्मवादिनाम्) वेदज्ञोंके (विधानोक्ताः) विधानके अनुसार वेदोंमें कथन कीहुई (यज्ञदानतपःक्रियाः) यज्ञ, दान, तप इत्यादि क्रियाएं (सततम्) सदा (प्रवर्तन्ते) उत्तम रीतिसे विगुणताओंसे रहित होकर वर्तमान होती हैं ॥ २४ ॥

भावार्थः— पूर्वश्लोकमें जो " ॐ तत् सत् " इन तीनों भगवन्नामोंको उच्चारण कर आहारादि क्रियाओंके करनेकी आज्ञा श्रीआनन्दकन्द कृष्णचन्द्रने दी है उन तीन नामोंमें प्रथम " ॐ " इस इतने नामका महत्त्व वर्णन करते हुए कहते हैं, कि [तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः । प्रवर्त्तन्ते] इसलिये ॐ इस प्रणव का उच्चारण करनेसे यज्ञ, दान, तप इत्यादि क्रियाएं निर्विघ्न पूर्ण होजाती हैं। तात्पर्य यह है, कि कर्मोंकी भूल विगुणता इत्यादि इन नामोंसे दूर होजाती हैं। इसी कारण याज्ञिक यज्ञ, दान और तप

इत्यादि क्रियाओंमें प्रथम इस ॐकार प्रणवको जो भगवत्‌के नामोंमें श्रेष्ठ नाम है उच्चारण करलेते हैं तिसके प्रभावसे उनकी सब क्रियाएं उत्तम रीतिसे सम्पादन होजाती हैं। अर्थात् यज्ञोंमें जितने मन्त्र हैं उनके आदिमें इस ॐकार प्रणवको अवश्य ही लगाते हैं क्योंकि बिना इसके जितने मन्त्र हैं सब निर्जीव रहते हैं। इस ओम्‌का महत्त्व इस गीताके अ० ८ श्लोक १२ में वर्णन कर आये हैं इस कारण इस स्थानमें विस्तार न करके पाठकोंके कल्याण निमित्त थोडीसी विशेष वार्त्ता जो इसके विषय जानना अति ही आवश्यक है वर्णन कीजाती है—

श्रुतिः— "ॐअथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ स यो ह वै तद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोंकारमभिध्यायति। कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति।" (प्रश्नो० प्रश्न ५ श्रु० १)

अर्थ– फिर पिप्पलाद मुनिसे शिवि ऋषिके पुत्रने पूछा, कि भगवन्! मनुष्योंमें जो मनुष्य अपने मरण पर्य्यन्त इस ॐकारका ध्यान करता है वह इसके ध्यानसे अर्थात् इस ॐकार प्रणवकी उपासनाके महत्त्वसे किस उत्तम लोकको प्राप्त होता है? सो कृपा कर कहो– " ॐ तस्मै स होवाच एतद्वै सत्यकामः परञ्चापरञ्च ब्रह्म यदोंकारः। तस्माद्विद्वानेतेनैव यत्नेनैकतरमन्वेति ॥"

(प्रश्न० ५ श्रु० २)

अर्थ— इतना सुन पिप्पलाद ऋषिने कहा— हे सत्यकाम! सुनो यह जो ॐकार, पर और अपर ब्रह्मस्वरूप है जिसके अभ्यास

करनेसे विद्वान इन दोनोंमेंसे एकको प्राप्त होता है अर्थात् जो जिस ब्रह्मकी उपासना करनेवाला है वह उसीको प्राप्त होता है ।

अब इस ॐकारमें तीन मात्राएं हैं इन तीनों मात्राओंकी उपासनाका फल विलग २ वर्णन कियाजाता है अर्थात् एक, दो और तीन मात्रावालेकी क्या गति होती है ? सो श्रुति भिन्न २ कर वर्णन करती है। सुनो !

" ॐ स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसम्पद्यते । तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्य्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति " (प्रश्न० ५· श्रु० ३)

अर्थ— सो जो प्राणी इसकी तीनों मात्राओंको न जानकर केवल एक ही मात्राका ध्यान करता है वह इसके ध्यानसे प्रबोधित होकर इस जगत्में उच्चगतिको प्राप्त होता है । अर्थात इसकी एक मात्राके प्रभावसे ऋग्वेदके मन्त्र इस लोकमें उत्पन्न कर ऐसे बना देते हैं, कि वह श्रद्धापूर्वक तप और ब्रह्मचर्य्यसे सम्पन्न होकर महत्त्वको प्राप्त होजाता है ।

अब दो मात्रावालेकी गति सुनो —

" ॐ अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम् । स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्त्तते " (प्रश्न० ५ श्रु० ४)

अर्थ— जो प्राणी इस ॐकारकी दो मात्राओंकी उपासना करता है सो यजुर्वेदके मन्त्रोंके द्वारा अन्तरिक्षमें चन्द्रलोकको पहुँचा-

दिया जाता है तहां उस चन्द्रलोकमें सुखोंको भोग फिर इस संसारमें आकर यहांके सुखोंको भोगता है ।

अब तीन मात्राओंकी उपासना करनेवालेकी गति सुनो !

"ॐ यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्य्ये सम्पन्नः । यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एव ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवधनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते तदेतौ श्लोकौ भवतः" (प्रश्न० ५ श्रु० ५)

अर्थ— फिर जो प्राणी इस ॐकारकी तीन मात्राओंके द्वारा उस परम पुरुषका ध्यान करता है सो सूर्य्यके तेजमें जाकर प्राप्त होता है जैसे सर्प अपने केचुलेको छोड अलग होजाता है ऐसे वह ध्यान करनेवाला सब पापोंसे छूटजाता है फिर सामवेदके द्वारा ब्रह्मलोकको पहुंचायाजाता है तहां इस जीवत्वसे छूट अपने आपमें स्थित उस परम तेजोमय पुरुषको देखता है । तहां इस अर्थके प्रकाश करनेवाले दोनों मन्त्र प्रमाण हैं ।

एवम्प्रकार इस प्रश्नोपनिषद्की श्रुतियोंने ॐकार प्रणवके महत्त्वको कथनकर यह दिखलादिया, कि यह ॐकार जो सबसे श्रेष्ठ उस भगवत्का नाम है इसके उच्चारण करनेसे प्राणीके यज्ञ, तप, दानादि सर्व कर्म सिद्ध होते हैं और उसके कर्मोंमें जो कुछ पापरूप विगुणता रहती है सब नाश होजाती है ।

अब वे नाना प्रकारके कर्म जो इस ॐकारके महत्त्व द्वारा प्रकर्षरूपसे वर्त्तमान होते हैं वे कैसे हैं और किसके हैं? तिसके विचार में भगवान् कहते हैं, कि [**विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्**] वे विधानोक्त हैं अर्थात् वेद शास्त्रोंमें जिनके सम्पादन करनेकी विधि पूर्णप्रकार दीहुई है उन ही विधियोंके अनुसार यज्ञ, दान, तप इत्यादि कर्मोंको करना चाहिये। क्योंकि विधिहीन क्रिया निरर्थक होजाती है सो भगवान् पहले ही अध्याय १६ श्लोक २३, २४ में अर्जुन के प्रति कहआये हैं, कि ' यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य ......" अर्थात् हे अर्जुन ! जो अपने मनसे शास्त्रविधिको त्यागकर जैसे चाहता है वैसे मनसुखी कर्म करलेता है तो उसे सिद्धि, सुख तथा परम गति कदापि नहीं प्राप्त होसकती इसलिये तू शास्त्रविधि जानकर कर्म करनेका अधिकारी है। क्योंकि कार्य और अकार्यमें शास्त्र ही प्रमाण है।

इसी विषयको भगवान् इस श्लोकमें कहरहे हैं, कि वे यज्ञ, दान और तप जो ' ओम तत् सत्' कहकर कियेजाते हैं उनको विधानोक्त करना चाहिये तथा वे कर्म सब ब्रह्मवादियोंके द्वारा होने चाहियें। यहां ब्रह्म शब्दसे वेदका तात्पर्य है। अर्थात् वैदिकोंके कर्म होने चाहियै जो वेदके ज्ञाता हैं और उन वेदोंके मन्त्रोंसे हवनादि क्रियाओंका सम्पादन करते हैं उनहीके यज्ञ, तप और दानादि क्रियाओंके आदिमें " ओम् तत्सत् " का प्रयोग किया जाता है। जिनको वैदिक कर्मका अधिकार नहीं है वे " ओम् तत्सत " का उच्चारण नहीं करसकते क्योंकि उनको वैदिक मन्त्रोंके उच्चारण करनेका

अधिकार नहीं है इसी कारण भगवानको यहां 'ब्रह्मवादिनाम्' शब्दका प्रयोग करना पडा यदि यह विशेष अभिप्राय न होता तो 'ब्रह्मवादिनाम्' के स्थानपर 'सर्वारम्भानाम्' शब्दका प्रयोग करते ॥ २४ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें 'तत्' शब्दका महत्व वर्णन करते हैं—

मू०— तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥
॥ २५ ॥

पदच्छेदः— मोक्षकांक्षिभिः (मुमुक्षुभिः) तत, इति [उच्चार्य] फलम् (फलाभिलाषम) अनभिसन्धाय (अकृत्वा) विविधाः (नाना प्रकाराः) यज्ञतपःक्रियाः (यज्ञक्रियास्तपःक्रियाश्च) दानक्रियाः (क्षेत्रहिरण्यप्रदानादि कर्माणि) च, क्रियन्ते (संपाद्यन्ते । निर्वर्त्यन्ते) ॥ २५ ॥

पदार्थः— (मोक्षकांक्षिभिः) मोक्षकी अभिलाषा करनेवालोंके द्वारा (तत) 'तत्' यह इतना भगवत्का नाम [उच्चार्य] उच्चारण कर तथा (फलम) क्रियाके फलकी (अनभिसन्धाय) चाह न कर (विविधाः) नाना प्रकारके (यज्ञतपःक्रियाः) यज्ञ और तपस्यारूप कर्म (दानक्रियाश्च) तथा दानादि कर्म भी (क्रियन्ते) सम्पादन कियेजाते हैं ॥ २५ ॥

भावार्थः— पूर्व श्लोकमें श्रीआनन्दकन्द भगवत्के नामत्रय 'ओं तत्सत' में प्रथम नाम ओंकारका महत्व वर्णन कर अब

द्वितीय नाम 'तत्'का महत्व वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः**] उस परब्रह्मके मुख्य नामोंमें दूसरा नाम जो 'तत' है उसे उच्चारण करके तथा क्रियाके फलोंकी चाह न करके जो मुमुक्षुगण यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाओंका सम्पादन करते हैं वे क्रिया करनेसे पहले श्रद्धापूर्वक इस 'तत्' को किस प्रकार क्या समझकर उच्चारण करलेते हैं? सो सुनो!

भिन्न-भिन्न श्रुतियोंमें इस 'तत्' शब्दका व्याख्यान किया गया है जैसे "तत्त्वमसि" जो महावाक्य है इसमें 'तत' उसी परमात्माका वाचक है यहां 'तत' कहने ही से वह सच्चिदानन्द आनन्दकन्द समझा जाता है। मोक्षाभिलाषी पुरुष इस 'तत' से परम प्रीति रखते हैं क्योंकि 'तत्' उच्चारण होते ही उनका अन्तःकरण परब्रह्मकी ओर जापहुंचता है और उसको अपना परम प्रिय समझते हैं और वह सच्चिदानन्द उनके 'तत्' के उच्चारण करनेसे ऐसे प्रसन्न होता है जैसे किसी अबोध बालकके मुखसे 'तत्ताके' उच्चारण होनेसे उसके मा बाप प्रसन्न होते हैं और उस तत्तको बार-बार उसके मुखसे सुना चाहते हैं।

इसी कारण 'तत' के उच्चारणका आनन्द उन ज्ञानियोंको है जो अपना सर्व व्यवहार करतेहुए भी सबसे विलग पद्मपत्रके समान निर्लेप रहकर उस जगत्पिताके चरणोंमें पड़े रहते हैं और 'तत्' का उच्चारण करते-करते तत् (ब्रह्म) होजाते हैं। कैसे होजाते हैं? सो सुनो—

जैसे कोई बच्चा किसी घरमें पलनेपर सोगया हो और माता पिता उससे विलग हो घरके कार्यमें लगगये हों इतनेमें बच्चा जग-पडा और बोला 'तत्ता' बस तत्ता सुनतेही मां बाप दौडे और गोदमें उठालियां बच्चेने भी जो तत्ता कहा था वह मा बापको ही समीप बुलानेके तात्पर्यसे कहा था। यद्यपि 'तत्ता' कुछ अर्थ नहीं रखता निरर्थक है तथापि बच्चेके तत्ताकी तोतली धुनि तो मा बाप को समीप खैंचलानेमें अद्भुत शक्ति रखती है। इसी प्रकार मायाके पलनेमें सोयाहुआ जीव मोह-निद्रासे जगकर 'तत्' का उच्चारण करता है तो इस ततकी भी मत पूछो! उच्चारण करने वालेके ध्यान को जगत्पिताकी ओर खैंच देता है और जगत्पिताको भी उच्चारण करनेवालेकी ओर खैंचकर दोनोंको एक संग मिलादेता है। इसी कारण महावाक्यने यों निरूपण करदिया है, कि 'तत्त्वमसि' हे जीव! तू वही है। इसमें तीन शब्द हैं 'तत्' 'त्वम्' और 'असि' तहां तत् कहनेसे वह ब्रह्म और "त्वम्" कहनेसे यह जीव समझाजाता है और 'असि' इन दोनोंको मिलाकर एक करदेता है। अर्थात् यह जीव अपने जगत्पिताकी गोदमें जामिलता है तहां जीव और ब्रह्मकी एकता होजाती है। इसी कारण इस 'तत्' शब्दकी महिमा अपार है जिसके विषय श्रुति यों पुकारती है- "ॐ तदिति

वा एतस्य महतो भूतस्य नाम भवति " (ऐतरेयो०)

अर्थ— 'तत्' यह जो इतना शब्द है अर्थात् भगवत्के नाम-त्रय 'ॐ तत्सत्' का दूसरा अंग है इसके उच्चारणसे यज्ञ, दान, तप इत्यादि करने वालोंकी बुद्धिमें ऐसी प्रेरणा होती है, कि इन

कर्मोंके फलोंकी अभिलाषा मत करो वरु इन कर्मोंके सारे फलोंको भगवत्‌में अर्पण कर केवल मोक्षाभिलाषी बने रहो अर्थात् भगवत्प्राप्तिको छोड अन्य किसी लौकिक वा पारलौकिक कामनाको मत चाहो इसी कारण भगवान्‌ने इस ' तत् ' के साथ " अनभिसन्धाय फलम् " वाक्यकी योजना की है ।

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि ' तत् ' को उच्चारण कर कर्मोंके फलोंकी इच्छा न करके यज्ञ और तपोरूप क्रिया तथा [दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः] दानादि कर्म मोक्षाभिलाषियोंके द्वारा साधन कियेजाते हैं । कहनेका अभिप्राय यह है, कि जो मोक्षाभिलाषी हैं वे प्रीतिपूर्वक ' तत् ' उच्चारण करतेहुए क्रियाओंके फलोंको भगवत्‌में अर्पण करदेते हैं ॥ २५ ॥

अब भगवान् अपने नामोंमें सत् ऐसे नामका महत्व अगले श्लोकमें दिखलाते हैं—

मू०— सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६

पदच्छेदः— [हे] पार्थ ! (पृथापुत्राऽर्जुन !) सद्भावे (अस्तित्वे) साधुभावे (समीचीनत्वे । साधुत्वे) च, सत् (ब्रह्मणस्तृतीयाभिधानम्) इति, एतत्, प्रयुज्यते (अभिधीयते) तथा, प्रशस्ते (विवाहादिमांगलिके) कर्मणि (क्रियायाम्) सच्छब्दः (ब्रह्माभिधानस्य तृतीयः शब्दः) युज्यते ॥ २६ ॥

पदार्थः— (पार्थ !) हे पृथापुत्र अर्जुन ! (सद्भावे) यज्ञ दान तपादिक कर्मोंकी स्थितिकेलिये तथा (साधुभावे) उन कर्मोंकी श्रेष्ठता और उनके महत्वयुक्त होनेकेलिये (च) भी (सत) सत् (इति एतत) यह इतना शब्द (प्रयुज्यते) पिछले दोनों नामोंके साथ कर्मके आरम्भमें जोडाजाता है (तथा) और (प्रशस्ते) विवाहादि मांगलिक (कर्मणि) कर्ममें भी (सच्छब्दः) यही 'सत्' (युज्यते) विनियोग कियाजाता है ॥ २६ ॥

भावार्थः— पूर्वके श्लोक २४ और २५ में श्रीकेशव 'ॐ तत्सत्' इस अपने नामत्रयके 'ॐ' और 'तत्' इन दो अंगोंका महत्व वर्णन कर अब अन्तिम अंग 'सत्' शब्दका महत्व दिखलातेहुए कहते हैं, कि [**सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते**] सद्भाव और साधुभाव इन दोनों तात्पर्यसे 'सत्' यह इतना शब्द उच्चारण कियाजाता है । तहां सद्भाव और साधुभाव दोनों क्या हैं ? सो कहते हैं—

सद्भाव उसे कहते हैं जिस समय किसी वस्तुतस्तुका अस्तित्व होवे । जैसे देवदत्तको पुत्र उत्पन्न हुआ सो इसकालमें वर्त्तमान है इसलिये इस वर्त्तमानकालमें उस पुत्रका सद्भाव है ।

साधुभाव उसे कहते हैं, कि जिस वस्तुमें सद्भाव हो और जो श्रेष्ठ भी हो । जैसे देवदत्तका वह पुत्र जो वर्त्तमान है सो साधु-स्वभाव वाला है। अर्थात् सज्जन, परोपकारी और हरिभक्त है इत्यादि २ इसीको साधुभाव कहते हैं ।

भगवान्‌के कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि यज्ञ, दान, तप इत्यादि जो कुछ कर्म किये जावें उनमें सद्भाव और साधुभाव दोनोंका प्रवेश उत्तमरीतिसे हो इसलिये यज्ञादि कर्मोंके आरम्भमें इसी 'सत्' शब्दका प्रयोग करना चाहिये । क्योंकि इन कर्मोंमें असद्भाव और असाधुभाव होनेकी शंका है सो पहले भी कहा जाचुका है ।

महाराज उत्तानपादके पुत्र महाराज ध्रुवने भगवत् नामके प्रभावसे ऐसी स्थिति पायी, कि आजतक वे ध्रुवलोकमें ध्रुव ही हैं अर्थात् अचलरूपसे स्थिर है । इसीको " सद्भाव " कहते हैं, कि जैसा नाम हो तदाकार उसकी स्थिति हो ।

शंका— जब मोक्षाभिलाषियोंको फलकी इच्छा ही नहीं है तब क्रियाके सद्भाव वा साधुभाव होनेकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान— ऐसा न हो, कि कर्मकी पूर्त्तिमें सद्भाव वा साधु-भावका अभाव होजावे क्योंकि इनके अभावसे कर्ममें असद्भाव और असाधुभावका प्रवेश होजावेगा । जब ऐसा हुआ तो कर्मका सांगोपांग रूप ही सिद्ध न हुआ और जब कर्म ही सिद्ध न हुआ तो फल कहांसे आवेगा ? जब फल न हुआ तो मोक्षाभिलाषी त्याग क्या करेगा ? और भगवान्‌को क्या अर्पण करेगा ? इसलिये भगवच्चर-णारविन्दानुरागियोंको चाहिये, कि सत् शब्दका उच्चारण करके कर्मोंमें सद्भाव और साधुभावका प्रवेश होनेदें जिससे कर्मकी पूर्त्ति हो, कर्मकी पूर्त्तिसे फलका उदय हो और उस फलके त्याग करनेका पूर्ण अव-

काश मिले अर्थात् भगवत्में अर्पण करनेका पूर्ण अवकाश मिले । सो बार २ कहते चले आये हैं, कि कर्मका स्वरूप मत बिगाडो और फलका त्याग करो अर्थात् भगवत्में अर्पण करो। क्योंकि जब किसीके पास कोई वस्तु ही नहीं होगी तो वह अर्पण क्या करेगा ? फिर भगवत्की प्रसन्नता उसपर कैसे होगी ? इसलिये यज्ञ, दान, तप इत्यादि कर्मोंको साधुभाव और सद्भावसे अलंकृत करनेके लिये भगवत्के तीनों नामोंमें ' सत् ' ऐसे नामका उच्चारण करलेना उचित है। शंका मत करो !

इसी कारण भगवान् ' सत् ' शब्दका उच्चारण कर यज्ञादि कर्मोंके करनेकी आज्ञा देते हैं।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते**] हे पार्थ ! यज्ञ, तप, दानादिमें तो ' सत् ' शब्दका प्रयोग करना ही उचित है पर जो प्रशस्त कर्म हैं अर्थात् इनसे इतर जो विवाहादि मांगलिक कर्म हैं उनमें भी ' सत् ' शब्दका प्रयोग करना उचित है। क्योंकि विवाहादिमें प्रयोग करनेसे इस ' सत् ' शब्दका यह प्रभाव पड़ता है, कि वर और कन्या दोनोंके लिये शुभ होता है, दोनोंमें परस्पर प्रीति बनी रहती है, दोनोंका हृदय एक होजाता है। इसी प्रकार जितने मांगलिक और समीचीन कर्म हैं उनमें सत् शब्दका प्रभाव जानना ॥ २६ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें इस ' सत् ' शब्दका कुछ और भी अधिक महत्त्व वर्णन करते हैं।

मू०— यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

पदच्छेदः— च (पुनः) यज्ञे (यागे । षोडशसंस्कारादि कर्मसु) तपसि (मौनकृच्छ्रचान्द्रायणादि कर्मसु) दाने (अन्न-वस्त्रगोहिरण्यादि दाने) च, स्थितिः (निष्ठा) सत्, इति, उच्यते, तदर्थीयम् (यज्ञदानतपोऽर्थीयम् । ईश्वरार्थीयम् वा) कर्म (पूजोपगृ-हांगणपरिमार्जनोपलेपमांगलिकादिक्रिया) च, एव (निश्चयेन) सत्, इति, एव, अभिधीयते (उच्यते । प्रतिपाद्यते । व्याख्यायते) ॥ २७ ॥

पदार्थः— (च) फिर (यज्ञे) यागादि कर्ममें (तपसि) तपमें (दाने) दानमें (च) भी जो (स्थितिः) स्थिति है उसे (च) भी (सत्) 'सत्' (इति) ऐसा (उच्यते) कहते हैं फिर (तदर्थीयम्) इन यज्ञ, तप और दानके साथ २ जो इनके साधननिमित्त (कर्म) अन्य कर्म है उसे भी (एव) निश्चय कर (सत्) 'सत्' (इति एव) यही इतना विशेषकर (अभिधी-यते) उच्चारण करते हैं अर्थात् 'सत्' कहकर इन सबोंका प्रतिपादन करते हैं ॥ २७ ॥

भावार्थः— पिछले तीन श्लोकोंमें भक्तहृदयदुःखहारी श्रीकृष्ण-मुरारि "ॐतत्सत्" इन तीनोंके महत्वका वर्णन कर अब इस तीसरे अंग 'सत्' का उच्चारण जहां-जहां होना चाहिये उसे स्पष्ट करते हुए अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि [यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः

सदिति चोच्यते] यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति है उसे भी 'सत्' ऐसा कहकर विद्वान् लोग पुकारते हैं अर्थात् अश्वमेधादि नाना प्रकारके जो वेदानुकूल बडे २ यज्ञ हैं तथा गर्भाधान-संस्कारसे अन्त्येष्टि-संस्कार पर्य्यन्त अर्थात् जन्मसे मरण पर्य्यन्त हम सनातन वैदिकधर्मावलम्बियोंके द्विजातियोंमें जो १६ प्रकारके मुख्य संस्कार हैं इनमें भी जो स्थिति है उसे भी 'सत्' कहकर पुकारते हैं। इस स्थानमें *स्थिति शब्दसे निष्ठाका अर्थ लियागया है अर्थात् भिन्न २ वैदिककर्मोंके सम्पादन करनेमें जो कर्म करनेवालेकी श्रद्धा वृद्धिको पातीहुई उन कर्मोंमें सदा वृत्ति लगे रहनेका दृढ नियम है वही निष्ठाके नामसे पुकाराजाता है उसको विद्वान् 'सत्' कहकर भी पुकारते हैं।

भगवानके इस वचनसे सिद्ध होता है, कि जिन मनुष्योंको इन कर्मोंमें श्रद्धा नहीं है वे केवल दो पुरुषोंके कहनेसे अथवा अडोस पडोसके याज्ञिकोंकी देखादेखी करदेते हैं वा इस भयसे करते हैं, कि यदि नहीं करूँगा तो न जाने घरबारमें, नौकरीचाकरीमें, लडके बालोंमें तथा शरीरमें क्या उपद्रव उत्पन्न होजावे ? । ऐसे पुरुषोंकी स्थिति इन कर्मोंमें नहीं रहती इसी कारण उसे 'सत्' नहीं कह सकते।

अब भगवान् कहते हैं, कि [कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते] पहले कथन कियेहुए यज्ञ, तप, दानादि कर्मोंके साधनके

* यज्ञादौ स्थितिर्निष्ठा (नीलकण्ठः)

अर्थ जो अन्य कर्म कियाजाता है उसको भी ' सत् ' ऐसा कहकर पुकारते हैं ।

अथवा **तदर्थीय** कहनेसे यह भी तात्पर्य है, कि जो कर्म ' तत् ' साक्षात् परब्रह्म को अर्पण करनेकेलिये कियाजावे तथा तदर्थीय कहनेसे यह भी तात्पर्य है, कि जो कर्म केवल भगवत्की प्राप्तिके निमित्त कियाजावे । इन सब तदर्थीय कर्मोंको भी ' सत् ' के नामसे पुकारते हैं । इन ही तदर्थीय कर्मोंके विषय भगवान् अर्जुनके प्रति पहले कहचुके हैं, कि " **सत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः** " (अ० ११ श्लोक ५५) अर्थात् हे अर्जुन ! जो मेरा कर्म करता है अर्थात् मेरी प्राप्तिके निमित्त जो नाना प्रकारके कर्मोंका साधन करता है तथा मैं ही जिसका परम पुरुषार्थ हूं, जो मेरा भक्त है सदा संगसे वर्जित है वही मुझको प्राप्त होता है ।

फिर भगवानने कहा है, कि " **मयि सर्वाणि कर्माणि** " (अ० ३ श्लोक ३०) " **मय्येव मन आधत्स्व** " (अ० १२ श्लोक ८) " **मयि चानन्ययोगेन** " (अ० १३ श्लोक १०) इत्यादि ।

इसी कारण भगवानका बारम्बार यही कहना है, कि जो कुछ कर्म कियाजावे वह श्रद्धापूर्वक ' ओं तत् सत् ' ब्रह्मका नाम उच्चारण कर किया जावे सच है इसीलिये श्रद्धामूलाभक्ति (devotion grounded on faith) कहीगयी है ॥ २७ ॥

जो लोग श्रद्धारहित होकर यज्ञ वा दानादि कर्म करते हैं उनके विषय भगवान् अगले श्लोकमें पश्चात्ताप करतेहुए इस अध्यायको समाप्त करते हैं ।

मू०— अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतञ्च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

पदच्छेदः— [हे] पार्थ ! (पृथापुत्रार्जुन !) अश्रद्धया (आस्तिक्यबुद्धिरहितेन) हुतम् (हवनं कृतम् । देवतोद्देशेनाग्नौ प्रक्षिप्तम्) दत्तम् (दरिद्रेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो वा समर्पितम्) तपः (मौनकृच्छ्रचान्द्रायणादेरनुष्ठानम्) तप्तम् (अनुष्ठितम्) च, यत्, कृतम् [तत्सर्वम्] असत् (मिथ्या) इति, उच्यते (कथ्यते) तत्, प्रेत्य (मृत्वा परलोके) च, न (मोक्षप्राप्तये न) इह (अस्मिंल्लोके) नो (जीवन्मुक्तये नोपयुज्यते) ॥ २८ ॥

पदार्थः— (पार्थ!) हे पृथाका पुत्र अर्जुन ! (अश्रद्धया) श्रद्धासे रहित होकर जो कुछ (हुतम्) हवन कियाजाता है (दत्तम्) दियाजाता है (तपः तप्तम्) कृच्छ्रचान्द्रायण इत्यादि तप अनुष्ठान कियाजाता है (च) और (यत्) जो कुछ (कृतम्) इनसे अतिरिक्त कोई और कर्म कियाजाता है (च) इन सबोंको भी (असत्) मिथ्या और निष्फल (इति) ऐसा (उच्यते) विद्वान् लोग कहते हैं (तत्) वे सब कर्म (प्रेत्य न) मरनेके पश्चात् परलोकमें कुछ काम नहीं आते और (इह) जीतेहुए इस संसारमें भी (नो) कुछ फल नहीं देते निरर्थक होते हैं ॥ २८ ॥

भावार्थः— अब हृदयनलिनरंजन दुःखदोषविभंजन श्रीआनन्दकन्द कृष्णचन्द्र इस अध्यायको समाप्त करतेहुए कहते हैं, कि [अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतञ्च यत्] बिना

श्रद्धाके हवन किये, दानदिये, तप किये और अन्य प्रकारके किये कर्मोंको 'असत्' कहते हैं। अर्थात् जो प्राणी हवन, दान, तप इत्यादि कर्मोंके करनेमें श्रद्धा नहीं रखता न विश्वास रखता है एवम् जिसकी समझमें यह बात न आयी, कि इस संसारमें कर्म ही प्रधान है जो प्राणी जैसा करता है वैसा फल पाता है. जिसने कर्मशक्तिको तिरस्कार कर नास्तिकोंके समान सृष्टिमें केवल खाना, पीना, हँसना, खेलना, इन्द्रियोंका स्वाद लेना, पुत्र, कलत्र इत्यादिको हँसकर गले लगाना इत्यादि तुच्छ कर्मोंसे प्रसन्न होता है परलोककी कुछ भी चिन्ता नहीं करता भगवन्नाम-स्मरणके समय जिसके शिरमें व्यथा उत्पन्न होजाती है। यथा— " हरिणा ये विनिर्मुक्ताः ते मग्ना भवसागरे " इस वचनके अनुसार जो हरिसे त्यागेहुए हैं इसलिये भवसागरमें मग्न हैं वे ही कर्मोंके करनेमें कुछ भी श्रद्धा नहीं रखते।

फिर भगवान् कहते हैं, कि " कृतञ्च यत् " इन कर्मोंके अतिरिक्त जो कभी किसी अच्छे महापुरुषोंकी स्तुति वा पूजा इत्यादि कर दिया तथा कभी देखादेखी किसी मण्डलीमें बैठ कुछ कथा वार्त्ता सुनली तो अपनी मूर्खताके कारण उस कथाका विषय न समझकर उसका उलटा फल अपना मन माना निकाललिया तो ऐसे कर्मोंके विषय भगवान् कहते हैं, कि [असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह] हे पार्थ! उन कर्मोंको 'असत्' ही कहना चाहिये अर्थात् कर्म किया वा न किया दोनों एक समान समझना चाहिये। भगवान्के कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि श्रद्धाहीन प्राणी चाहे कितना भी हवन करे, चाहे

हीरे, रत्न वा स्वर्णका पर्वत बनाकर दान करे, समुद्रके तुल्य बावडी तडाग क्यों न बनाडाले पर उसके ये सब कर्म असत् अर्थात् मिथ्या होजाते हैं इसी कारण ऐसे कर्म मोक्षके कारण नहीं होसकते वरु इसके प्रतिकूल बन्धनके कारण होते हैं।

शंका—यदि कोई प्राणी कर्मोंमें श्रद्धा तो नहीं रखे पर कर्मारम्भसे पहले " ॐ तत्सत " भगवन्नामका उच्चारण करलेवे तो क्या उस कर्मकी सिद्धि नहीं होगी ? यदि नहीं हुई तो भगवन्नामकी महिमा क्या होगयी ? क्योंकि भगवानने भी २५, २६ और २७ श्लोकोंमें " ॐ तत्सत " भगवन्नामके तीनों अंगोंकी महिमा वर्णन करतेहुए यों कहा, कि किसी कर्मके आरम्भसे पहले ॐ तत्सत तीनों नामोंका उच्चारण करलेनेसे कर्मोंकी विगुणता दूर होजाती है और उनकी सिद्धि प्राप्त होजाती है। और अब इस २८ वें श्लोकमें कहते हैं, कि बिना श्रद्धाके जो कर्मोंका सम्पादन किया जाता है वह असत् और निष्फल कहा जाता है इतना कहनेसे भगवन्नाममें न्यूनता आती है ऐसा क्यों ?

समाधान— इसमें सन्देह क्या है ? श्रद्धारहितके समीप तो स्वयम भगवान् आप आकर क्यों न खडे होजावें तो भी उसे कुछ लाभ न होगा नामकी तो कुछ बात ही नहीं है नामके उच्चारणसे स्वरूपकी प्राप्ति होती है सो स्वरूप ही यदि श्रद्धारहितके सम्मुख आ उपस्थित होजावे तथापि उससे कुछ लाभ नहीं होसकता। क्या श्रीआनन्दकन्द दुर्योधनके गृहपर स्वयं नहीं पधारते थे ? फिर उसके पक्वान्नोंका त्याग कर विदुरके घरके केलेके छिलका खानेका क्या प्रयो-

जन था ? केवल श्रद्धा ही की विहीनता तो थी जिसने दुर्योधन ऐसे महीपतिका पक्वान्न त्याग करवादिया और तिस श्रद्धाकी पूर्णता ही तो थी जिसने विदुर-पत्नी ऐसी एक साधारणाके हाथसे केलेका छिलका और शाक भगवान्को भोजन करवादिया ।

जब कृष्णरूपके सम्मुख होनेसे दुर्य्योधनको कुछ भी लाभ न हुआ तो नामकी कौन कहे नामका उच्चारण तो नामीकी प्राप्तिकेलिये ही है अन्यथा निरर्थक है इसलिये श्रद्धाविहीन पुरुषोंको श्रद्धारहित होनेसे किसी भी कर्मका तथा नामोच्चारणका फल नहीं होसकता । जहां देखो तहां श्रद्धा ही मुख्य है भगवान् पहले भी इस गीताके अ० ६ श्लो० ४७ में कहआये हैं, कि " **श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः** " जो योगी वा गृहस्थ श्रद्धायुक्त होकर मुझको भजता है वही मेरे जानते युक्ततम है ।

फिर इस अध्यायके आरम्भमें ही अर्जुनने भगवान्से यही प्रश्न किया है, कि " **ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः । तेषां निष्ठा**···· (देखो श्लोक १) जिसके उत्तरमें भगवान्ने " **त्रिविधा भवति श्रद्धा** " से " **यो यच्छ्रद्धः स एव सः** " पर्य्यन्त दो श्लोक कथन किये हैं इसलिये यहां अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है ।

इन श्लोकोंसे सिद्ध होता है, कि यह १७ वां अध्याय श्रद्धा हीका विषय लेकर आरम्भ हुआ है और " **श्रद्धया परया तप्तम** " श्लोक १७ के देखनेसे सिद्ध होता है, कि इस अध्यायके मध्य-

भागमें भी श्रद्धाहीको मुख्य माना है फिर इस अन्तिम श्लोक २८ वें को देखनेसे भी यही सिद्ध होता है, कि " श्रद्धा " ही मुख्य है ।

अतएव इस १७ वें अध्यायका नाम ही " **श्रद्धात्रयविभाग-योग** " है फिर जिसविषयमें एक सम्पूर्ण अध्याय ही भगवत्के मुखसे उच्चारण हो तो उस विषयका कहना ही क्या है ।

फिर इसी श्रद्धाके विषय पाठकोंके कल्याण निमित्त भिन्न २ प्रमाणोंसे यों दिखलाया जाता है, कि जहां देखो वहां श्रद्धा ही की मुख्यता है " **प्रत्ययो धर्म्यकार्य्येषु तथा श्रद्धेत्युदाहृता। नास्ति ह्यश्रद्दधानस्य धर्मकृत्ये प्रयोजनम्** " (स्मृतिः)

अर्थ— धार्मिक कर्मोंमें जो पूर्णप्रकार मनका लगाना है उसीको श्रद्धाके नामसे पुकारते हैं जो प्राणी श्रद्धारहित है उसका धर्मकार्यमें कुछ भी प्रयोजन नहीं है क्योंकि श्रद्धारहितका धर्म निरर्थक है ।

फिर वह्नि पुराणके धेनुदान माहात्म्याध्यायमें ब्रह्माका वचन है—

" **श्रद्धा पूर्वा इमे धर्माः श्रद्धामध्यान्तसंस्थिताः ।**
श्रद्धा नित्या प्रतिष्ठाश्च धर्माः श्रद्धैव कीर्तिताः ॥
कायक्लेशैर्न बहुभिस्तथैवार्थस्य राशिभिः ।
धर्मः सम्प्राप्यते सूक्ष्मः श्रद्धाहीनैः सुरैरपि ॥
श्रद्धा धर्मः परः सूक्ष्मः श्रद्धा ज्ञानं हुतं तपः ।
श्रद्धा स्वर्गश्च मोक्षश्च श्रद्धा सर्वमिदं जगत् ॥
सर्वस्वं जीवितं वापि दद्यादश्रद्धया यदि ।
नाप्नुयात्तत्फलं किंचित श्रद्धादानं ततो भवेत ॥
एवं श्रद्धान्वयाः सर्वे सर्वधर्माः प्रकीर्त्तिताः ।

केशवः श्रद्धया गम्यो ध्येयः पूज्यश्च सर्वदा ” अर्थ स्पष्ट है।

संक्षेपतः यह, कि सर्व धर्मोंके आदि, मध्य और अन्त तक श्रद्धा ही मुख्य है श्रद्धाहीन देवत्ता भी क्यों न हो और कठिन परिश्रम कर धर्मोंका सम्पादन क्यों न करे तो भी श्रद्धाकी हीनताके कारण उसके परिश्रमका कुछ फल नहीं होता। श्रद्धा ही ज्ञान, हवन, तपस्या और स्वर्ग है, श्रद्धा ही मोक्ष है और श्रद्धा ही यह सारा जगत् है। एवम्प्रकार जो कुछ धर्म है सब श्रद्धा करके सुशोभित है। यहां तक, कि वह केशव भी श्रद्धा ही करके जानने योग्य है इसलिये कहना पडेगा, कि श्रद्धा मुख्य है बिना श्रद्धाके योग, जप, तप, ध्यान, ज्ञान, नाम-स्मरण इत्यादि सब निरर्थक हैं। इस विषयमें शंका मत करो।

केयूरचुम्बितमनोहरवाहुयुग्मं,
यच्चार्पितं भवति कंठतटे स्वमातुः ॥
दुःखं विनाशयति संयतशृंखलायाः,
ज्ञाने कदा तदिह माल्यति हंसकंठे ।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्येण श्रीस्वामिना
हंसस्वरूपेण विरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतायां
हंसनादिन्यां प्राकृतटीकायां श्रद्धात्रय
विभागयोगोनाम सप्तदशोऽध्यायः ॥

॥ महाभारते भीष्मपर्वणि त्वेकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

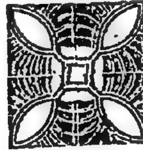
इति सप्तदशोऽध्यायः।

शुद्धाशुद्धपत्रम् ।



अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
शू	श्र	३४१०	१५
अ	आ	३४१९	७
धि	धी	”	८
अ	आ	३४२०	१
ज ।	जप्,	३४२१	११
क्र	क्र	३४२२	३
का ण	कारण	”	८
अ	आ	”	९
ता	ताम्	३४२४	१९
क	का	३४३३	१८
हे	दे	३४३८	१२

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
निश्च	निश्चय	३४४३	१३
श्च	ञ्च	३४६१	२
ईर्षाकी	हर्षकी	३४६५	१२
पा	या	३४६७	१२
१	२	”	”
प	य	”	१४
वि	विः	३४८४	१५
या	य	३४९२	१७
ना	न	३४९८	२१
क	के	३५०२	२२








श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्य

श्री १०८ स्वामिहंसस्वरूपकृत

हंसनादिन्याख्यटीकया समेता

श्रीमद्भगवद्गीता



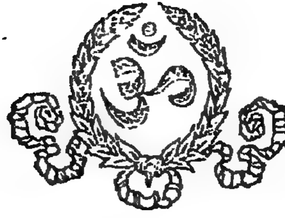
ज्ञानाख्ये तृतीयषट्के

अष्टादशोऽध्याय.

प्रथम वार १०००

अलवरराजधान्याम श्रीहंसाश्रमयन्त्रालये मुद्रितः

सम्वत् १९८५ विक्रमी । सन १९२९ ई०



* तत्सद्ब्रह्मणे नमः *

श्रीविमलवैराग्यविकाशिने नमः

श्रीप्रेमप्रदीपप्रकाशिने नमः ।

अथ



श्रीमद्भगवद्गीता

ज्ञानाख्ये तृतीयषट्के

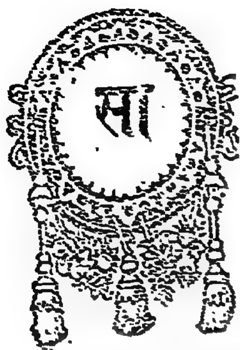
* अष्टादशोऽध्यायः *

ओं तद्विष्णोः परमं पदꣳ सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम् ।

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांꣳसः समिन्धते विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥

ओं शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

(ऋग्वे० अ० २ व० ७ मं० १ अ० ५ सू० २२ मंत्र २०, २१)



न्द्रानन्दपुरन्दरादिदिविषद्वृन्दैरमन्दादरा-
दानम्रैर्मुकुटेन्द्रनीलमणिभिः सन्दर्शितेन्दीवरम्।
स्वच्छन्दं मकरन्दसुन्दरगलन्मन्दाकिनीमेदुरं,
श्रीगोविन्दपदारविन्दमशुभस्कन्दाय वन्दामहे॥

अहा ! सखे !! आज मेरी लेखिनी अत्यन्त उदासीन हो इस गीताके पत्रपर नेत्रोंसे अश्रुपात करती हुई क्यों रुक-रुककर चलरही है ? अनुमान होता है, कि इसे इस बातकी सुधि होगयी है, कि जिस श्याम-घनसे बरषती हुई उपदेशामृतकी झड़ीसे मैं इतने दिनोंतक हरी-भरी रहती थी आज वह झडी निवृत्त होजाना चाहती है। यदि ऐसा हुआ तो मैं सूखती-सूखती ऐसी खिन्न होजाऊंगी, कि फिर निगमागमके राजपथपर एक पग भी न चल सकूंगी पर फिर धीरजकी यष्टिका अवलम्बन करके धीमी २ चलती हुई श्यामसुन्दरके मुखारविन्दकी ओर टक लगाये यही प्रतीक्षा कररही है, कि देखूं मेरे अभाग्यवश वे सरस सुन्दर अधराधर-पल्लव जिनसे मधुर २ वचनोंके रस टपक रहे थे कब संपुटित होजाते हैं। जिस समय ऐसा होगा मैं विद्वानोंसे यही प्रार्थना करूंगी, कि अब मुझे अधिक परिश्रम न देकर * दो टुकडोंमें तोड़ अपने हाथोंसे विलग फेंक देवें, मेरी प्यारी सखी मसिधानीकी मसिको भी पृथ्वीपर बहा देवें और पत्रोंको जलाकर चुप बैठ जावें। क्योंकि मैं जो सदा भगवन्मुखारविन्दनिःसृत उपदेशामृतकी

* कलम बशिकन स्याही रेज, कागज सोज दम दरकश।

ग्रहण करनेवाली हूं अन्य किसी प्रकारके चिकने चुलबुले प्राकृत लेखों- केलिये अपने शरीरको जीवित नहीं रखना चाहती।

फिर कुछ मनहीमन विचार करते-करते जब उसे यह स्मरण हो आता है, कि महाभारत-संग्रामके अन्तमें भगवानके मुखसरोजसे पुनः उत्तर-गीताके उपदेशरूप मकरन्द टपकेंगे जिन्हें पानकर मेरा चित्त- रूप भ्रमर परम संतोषको प्राप्त होजावेगा। तब कुछ आगे बढ़ती है और अपने मनमें यह दृढ करलेती है, कि चलो इस समय संसार- ध्वान्त-विध्वंसकारी तपनतनयातटविहारी श्रीभगवानका अन्तिम वचन सुनकर कुछ दिनके लिये शान्तिभवनमें विश्राम लेलूं।

चलो सखे! हम लोग भी उसी ओर चलें और देखें, कि भगवान किस प्रकार अर्जुनको परम शान्ति प्रदान कर चुप होजाते हैं?

अर्जुन उवाच—

मू०— सन्न्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिसूदन! ॥ १ ॥

पदच्छेदः— [हे] महाबाहो! (विशालपराक्रमयुत- महान्तौ बाहू यस्य तस्य सम्बोधने) हृषीकेश! (हे सर्वेन्द्रियनियामक!) केशिनिसूदन! (हे केशिनामा हयाकृतिदैत्यहन्ता!) सन्न्यासस्य (सन्न्यासशब्दार्थस्य। सम्यक् प्रकारेण कर्मणां न्यासस्य। चतुर्थाश्रमध- र्मस्य) च (तथा) त्यागस्य (त्यागशब्दार्थस्य। कर्मफलविसर्ज- नस्य। वैराग्यस्य) तत्त्वम (याथात्म्यम। याथातथ्यस्वरूपम) पृथक् (भिन्नम्) वेदितुम (ज्ञातुम्) इच्छामि ॥ १ ॥

पदार्थः— (**महाबाहो** !) हे विशाल पराक्रम भुजाओं-वाले श्री वासुदेव ! (**हृषीकेश** !) हे सब इन्द्रियोंके नियामक ! (**केशिनिसूदन** !) हे केशी दानवके नाश करनेवाले ! (**सन्न्यासस्य**) सन्न्यासके (**च**) और (**त्यागस्य**) त्यागके (**तत्त्वम्**) सारतत्त्वको (**पृथक्**) विलग-विलग (**वेदितुम**) जाननेकी (**इच्छामि**) मैं अर्जुन इच्छा करता हूं सो मुझे समझाकर कहो ॥ १

भावार्थः— प्रिय पाठको ! क्या फिर कोई ऐसा सुअवसर हाथ आवेगा जिस समय अर्जुनके समान संसारका उपकार करने-वाला जिज्ञासु और अर्जुनके मिससे संपूर्ण संसारको सारतत्त्वका उप-देश करनेवाले श्रीभगवान् करुणानिधान जगद्गुरु सर्वज्ञ श्रीकृष्ण-चन्द्र ही हों और कोई दूसरा न हो । सभी जानते हैं; कि जब दो पुरुष किसी एकान्तस्थानमें बातें करते हैं तो हृदय खोलकर करते हैं । एक दूसरेसे किसी प्रकारकी ओट नहीं रखते । सो रणभूमिमें **अग्निदत्तनाम** रथके ऊपर जहां श्यामसुन्दर तो सारथी हों और अर्जुनके समान रथी हो फिर तो क्या कहना है ? पूर्ण आशा है, कि अब यहां जीवोंके उद्धार-निमित्त कोई बात ऐसी छिपी न रहेगी जिसको जानना फिर आवश्यक हो ।

अर्जुनके हृदयमें सचमुच इस युद्धको देखकर और अपने सम्ब-न्धियोंको प्राण देनेकेलिये उपस्थित देखकर जो विषाद उत्पन्न हुआ है और उस विषादके कारण संन्यासका अंकुर उपज आया है वह बढते-बढते डाल पात देताहुआ ऐसा दृढ होगया है, कि अब वह

विषयभोगरूप महाबलवान गजराजके उखाडे भी नहीं उखड सकता। अब तो यह मधुर फल देकर ही संसारमें सुशोभित होगा। इसलिये अर्जुन संन्यास और त्यागका विषय जाननेको उत्सुक होरहा है। अर्थात् इस वृक्षके मधुर फलका रसास्वादन करनेकेलिये लालायित होरहा है अतएव भगवान्से पूछता है, कि [**संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्**] हे महाबाहो! मैं सन्यासके तत्त्वको जानना चाहता हूं। यहां ' महाबाहो ' कहकर जो अर्जुनने पुकारा है इसका मुख्य कारण यही है, कि जैसे जगद्गुरु श्रीवासुदेवने अपनी विशाल भुजासे गजका शुण्ड पकड ग्राहके फन्देसे छुडाया ऐसे संसाररूप ग्राहसे ग्रसित मुझे भी संन्यासका तत्त्व उपदेश कर शोक और मोहसे छुडावेंगे।

इस श्लोकके पूर्वार्द्धमें **संन्यासकी** और उत्तरार्द्धमें त्यागकी जिज्ञासा पृथक् २ कीगयी है। तहां संन्यासके सारतत्त्वके जाननेकी ही आवश्यकता है यद्यपि इस संन्यासके विषय भगवान् पांचवें अध्यायमें बहुत कुछ कहचुके हैं जैसे " **ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी** ...." (अध्या० ५ श्लो० ३) "**संन्यासस्तु महाबाहो** ".... (अध्या० ५ श्लो० ५) **नैव किंचित्करोमीति** ...." (अध्या० ५ श्लो० ८) " **न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य** ...." (अध्या० ५ श्लो० २०) फिर अध्याय ६ में भीकहा है, कि " **अनाश्रितः कर्मफलम्** ...." (अध्या० ६ श्लो० १)

इन श्लोकोंसे संन्यासके तथ्यकी गंधमात्र दूरसे निकलती है पर अन्तःकरणकी नासिका तक पहुँचजानेकेलिये पूर्ण बल नहीं रखती। क्योंकि अध्याय ६ तक भगवान्ने अर्जुनको संन्यासका अनधिकारी

जानकर केवल कर्मयोगपरे ही वल दिया है, कर्मयोगका ही पूर्णप्रकार व्याख्यान किया है और अर्जुनकेलिये कर्मयोगको ही संन्याससे विशेष बतलाया है। देखो अध्याय ५ श्लो० १ " तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते " अर्थात् हे अर्जुन ! तेरे लिये अभी तो संन्याससे कर्मयोग ही विशेष है। क्योंकि " संन्यासस्तु महाबाहो " हे अर्जुन ! बिना कर्मयोगकी पूर्त्ति किये संन्यास दुःखका कारण होता है। पर इतना कहनेसे ऐसा नहीं समझना चाहिये, कि अधिकारी पुरुष कर्मयोग ही के फन्देमें जन्म भर पडा रहे और कर्मबन्धनसे छूटनेकेलिये संन्यासतत्त्वकी प्राप्तिकी अभिलाषा न करे। इसलिये अर्जुन जो अग्रशोची है अपने मनमें यह विचार कररहा है, कि श्यामसुन्दरकी आज्ञानुसार कर्मयोगका तत्त्व हाथमें लेकर युद्ध सम्पादन करलेनेके पश्चात् मुझे संन्यास और त्यागकी ओर दृष्टि करनी ही पडेगी। क्योंकि जहांतक इतिहास पुराणोंसे देखागया है सर्वत्र ऐसा पायाजाता है, कि चौथेपनमें नरेश भगवत्प्राप्तिके निमित्त राजपाट त्याग, संन्यासी हो, वनमें जा, भगवदाराधना करतेहुए शरीरकी समाप्ति करते थे। इसीलिये मुझको संन्यास और त्यागके तत्त्वोंका जानलेना नितान्त आवश्यक है। अतएव भगवान्से संन्यास और त्यागके तत्त्वोंको जाननेकेलिये इस श्लोकके पूर्वार्द्धमें **संन्यास** और उत्तरार्द्धमें **त्याग** के विषयको पूछा है। तहां प्रथम संन्यासका स्वरूप दिखलायाजाता है। अर्थात् नाना प्रकारके जो संन्यास हैं उनके नाम बताकर यह दिखलायाजाता है, कि अर्जुन किस प्रकारके संन्यासका विषय जाननेको भगवान्से प्रार्थना कररहा है। ?

अब यह जानना चाहिये, कि संन्यासके कई भेद हैं—१. कुटीचक, २. बहूदक, ३. हंस, ४. परमहंस, ५. क्षेत्र, ६. विद्वत और ७. विविदिषा।

इनमें प्रथमके चार कुटीचकसे परमहंस पर्य्यन्तका वर्णन पांचवें अध्यायके छठवें श्लोकमें वर्णन कियागया है।

५. क्षेत्रसंन्यास— उस संन्यासको कहते हैं, कि जिसमें संन्यासी क्षेत्रोंमें विचरता हुआ सर्वत्र ब्रह्मकी व्यापकताको सब रंगरूपमें जड चैतन्यमें, घरमें, वनमें, उस ब्रह्मको एक रस व्यापता हुआ देखनेका अभ्यास करता है। राजा और रंकमें एकसमान दृष्टि रखता है। किसी प्रकारके स्पर्शास्पर्शका विचार न करके जहां जिस प्रकारकी भिक्षा मिलजावे एक हाथमें लेकर खालेता है और वहां ही हाथ धोलेता है। जो जितना देदेवे उसीमें सन्तुष्ट रहता है। साधुमें और पापीमें समानबुद्धि रखता है। किसीसे भी राग वा द्वेष नहीं करता है। जैसा, कि भगवान्‌ने कहा है— "साधुषु च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते" अर्थात् साधुमें और पापीमें जो समानदृष्टि रखता है वही विशिष्ट पुरुष है सच्चा संन्यासी है। फिर कहते हैं, कि "समं सर्वेषु भूतेषु...."

(अ० १३ श्लो० २७)

अर्थ— सर्वभूतोंमें परमात्माको एक समान स्थित और सबके नाश होते हुए भी उस अविनाशी परमात्माको देखता है। तात्पर्य यह है, कि वही यथार्थ तत्त्वका देखनेवाला क्षेत्रसंन्यासी कहलाता है।

६. विद्वत्संन्यास— अपने आश्रम ही में संशय, विपर्यय इत्यादि आवरण जिनके अन्तःकरणसे उठजाते हैं और जीवन्मु-

क्तिके अधिकारी होकर जो आश्रमको परित्याग करदेते हैं चाहे मुंडन करावें या न करावें, काषाय-वस्त्र धारण करें वा न करें अर्थात् शिखासूत्र परित्याग करें वा न करें दंड कमंडलु धारण करें वा न करें वे ही विद्वत्संन्यासके अधिकारी हैं और इसी प्रकारके संन्यासको विद्वत्सन्न्यास कहते हैं।

७. विविदिषा— वेदान्तशास्त्रके श्रवण करनेके निमित्त आश्रमका त्याग करना अर्थात् श्रवण, मनन और निदिध्यासनमें लगे रहनेकेलिये अन्य सर्व-प्रकारके संगोंको छोड देना विविदिषा संन्यास कहाजाता है।

इनसे इतर और भी अनेक प्रकारके संन्यास हैं। जैसे— १. पाराशरी, २. भस्करी, ३. परिव्राट्, ४. कर्म्मन्दी, ५. श्रमण, ६. भिक्षु इत्यादि। यद्यपि मतभेदसे ये नाना प्रकारके संन्यास कहेंगये हैं पर इन सबोंका सारतत्त्व यही है, कि सर्वसंगोंका परित्याग करे केवल ब्रह्माकारवृत्तिमें मग्न रहे।

इसलिये अर्जुन सर्वप्रकारके संन्यासोंका सारतत्त्व भगवान्से पूछता है पर संन्यास और त्याग इन दोनोंमें कुछ अन्तर है वा नहीं? इसके विषय जाननेकेलिये यों प्रार्थना करता है, कि [**त्यागस्य च हृषीकेश ! पृथक्केशिनिसूदन !**] अर्थात् हे हृषीकेश ! हे केशिनिषूदन ! त्यागके तत्त्वको भी जाननेकी मैं इच्छा करता हूँ सो तुम कृपाकर संन्यास और त्याग दोनोंको समझाकर कहो !

एवम्प्रकार प्रश्न करनेसे ज्ञात होता है, कि अर्जुनको संन्यास और त्यागमें कुछ अन्तर होनेका भान होरहा है। १७वें अध्याय तक जो कुछ भगवान्ने कहा है वे सब बातें अर्जुनके ध्यानमें ज्यों की त्यों बनीहुई है। इसलिये थोडी देरके लिये जो संन्यास और त्याग में भेद समझ आया है उसे स्वच्छरूपसे जानलेना अति ही आवश्यक जानकर " त्यागस्य च " वाक्यका प्रयोग कररहा है अर्थात् त्याग को भी समझाकर कहो ऐसी प्रार्थना करता है।

अब जानना चाहिये, कि संन्यासके दो मुख्य साधन हैं। अब तक जो पांचवें अध्यायमें तथा चौदहवें अध्यायमें सन्न्यासका वर्णन कियागया वह वहिरंग साधन था और उनका सम्बन्ध उन प्राणियोंके अन्तःकरणके साथ था जो आत्मज्ञानके प्राप्त न होनेके कारण थोडाबहुत कर्मोंकी उलझनमें उलझे रहते हैं। कभी सात्विक, कभी राजस और कभी तामस कर्मोंके करनेकी आवश्यकता उन्हें पडजाती है। महा बलवती माहेश्वरी माया की प्रबल प्रेरणासे अन्तःकरणके निर्मल, श्वेत प्रच्छपट (चादर) पर शुभाशुभ कर्मकी काली-काली बूँदें पड़जाती हैं और माहेश्वरी महामाया तो ऐसी चुनरीके पहरेनेसे प्रसन्नताको प्राप्त होती ही है। पर जो तेजःपूर्ण अन्तःकरण है अर्थात् परम तेजोमय है उसे किसी प्रकारके वस्त्रसे ढक देनेसे उसकी शोभा नहीं होती। जैसे खड्ग जबतक काठीके भीतर रहता है शोभायमान नहीं होता है। जब काठीसे निकल कर विद्युत्के सदृश देदीप्यमान होने लगता है तब ही उसकी

शोभा होती है । इसी प्रकार कर्मकाण्डकी काठीसे निकलेहुए अन्तः-करणरूप खड्गको जानो । सच तो यह है, कि जब अन्तःकरण भी आत्मतत्त्वमें लय होकर आत्मा ही आत्मा होजावे तभी संन्यास और त्याग दोनोंके सारतत्त्वके फलकी प्राप्ति कहनी चाहिये । यथार्थमें संन्यास और त्यागमें कुछ अन्तर नहीं है ॥ १ ॥

वाचारम्भण विकारके कारण जो समझानेके लिये थोडासा अन्तर रहगया है उसे भगवान् आगे अर्जुनके प्रति समझाते हैं—

मू० — काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २

पदच्छेदः— कवयः [केचित] (पण्डिताः । सदसद्विवेक-शालिनः । विपश्चितः) काम्यानाम् (स्वर्गपुत्रादिफलकामनया प्रयुक्तानामश्वमेधपुत्रेष्ट्यादीनाम्) कर्मणाम् (यज्ञकर्मणाम्) न्यासम् (त्यागम् । सम्यक्प्रकारेण स्वरूपतो विसर्जनम्) सन्न्यासम् (सन्न्यसनम् । कुटीचकबहूदकादिभेदैर्विविधप्रकारसन्न्यासशब्दवाच्यम । संन्यासशब्दार्थमनुष्ठेयत्वेन प्राप्तस्यानुष्ठानम्) विदुः (जानन्ति) विचक्षणाः [अपरे] (विद्वांसः । नानार्थदर्शननिपुणाः । विविधद्रष्टाः) सर्वकर्मफलत्यागम (सर्वेषां नित्यनैमित्तिकादिकर्मणां फलानां परित्यागम्) त्यागम् (यथार्थत्यागम । वैराग्यम्) प्राहुः (कथयन्ति ।) ॥ २ ॥

पदार्थः— (कवयः) बहुतेरे पण्डित (काम्यानाम्) सर्वप्रकारके नैमित्तक सकाम (कर्मणाम्) कर्मोंके (न्यासम्) स्वरूपतः त्यागको (सन्न्यासम्) संन्यास (विदुः) जानते हैं ।

(विचक्षणाः) और दूरदर्शी महात्मागण (सर्वकर्मफल-त्यागम्) सर्वप्रकारके कर्मोंके फल त्याग देनेहीको (त्यागम्) त्याग अर्थात वैराग्य (आहुः) कहते हैं ॥ २ ॥

भावार्थः— सन्तनशिरमौर भक्तनचित्तचोर श्रीनन्दकिशोरने इस गीताशास्त्रके पिछले अध्यायोंमें अर्जुनके प्रति संन्यास और त्याग दोनों शब्दोंके यथार्थ तत्त्वोंको कह सुनाया पर जैसे गंगातटके समीप जाकर कोई पुरुष अपने और अपने घरभरके कुटुम्बियोंकी प्यासकी शान्ति निमित्त एक विशाल घट भरलेनेके तात्पर्य्यसे धारकी गहराईमें पहुंचकर गंगाजल निकालता है इसी प्रकार अर्जुन जो परोपकारका स्वरूप ही है संसारभरके मनुष्योंको अपना कुटुम्ब ही जानता है । क्योंकि किसीने कहा है, कि " अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् । उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम " यह अपना है और यह पराया है ऐसा विचार करने वालोंकी गणना अत्यन्त अल्पबुद्धि वालोंमें कीजाती है पर जो लोग उदार-चरित हैं उनमें अपने और परायेका भेद न रहनेसे वे संसार मात्रके प्राणियोंको अपना कुटुम्बी समझते हैं । इसलिये उदारचरित अर्जुन यह विचार कररहा है, कि भगवान्‌के सम्मुख रहनेसे मुझे जो कुछ जानना था जानलिया पर मेरे बहुतेरे प्यासे कुटुम्बी अर्थात् संसार-निवासी, पिछले अध्यायोंमें कथन कीहुई उलझाऊ बातोंके समझनेमें कदाचित् असमर्थ रहगये हों तो मेरे उपकारमें धब्बा लगजावेगा इस लिये उनकी पिपासाकी शान्ति-निमित्त भगवत्‌के मुखारविन्दसे निकसीहुई शिक्षारूप गंगाकी लहराती हुई धारसे अपने घटको

पूर्ण प्रकार भरलूं तो अतिउत्तम हो इसलिये संन्यास और त्याग इन दोनों के समझने समझानेमें अर्थात् पूर्णप्रकारसे आपके परिष्कार करनेमें जो कुछ त्रुटि रहगयी है उसे फिर एक बार श्रीसच्चिदानन्द आनन्दकन्दसे पूर्ण करलूं अतएव पिछले श्लोकमें जो अर्जुनने संन्यास और त्यागके विषय भगवान्से पूछा है उसके उत्तरमें श्रीगोलोकविहारी जगतहित-कारी कहते हैं, कि [**काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः**] विवेकी पुरुष स्वरूपतः काम्यकर्मोंके त्यागको संन्यास कहते हैं। कोई प्राणी जब किसी वस्तुको त्यागता है तो उसका त्याग दो प्रकारसे करता है एक स्वरूप करके और दूसरा फल करके। जैसे किसीने अपनी वाटिकामें जाकर नाना प्रकारके मधुर फलोंसे युक्त वृक्षोंको जडसे उखाड कर फेंकवादिया यह तो उन वृक्षोंका स्वरूपतः त्याग हुआ। और दूसरेने अपनी वाटिकामें जाकर मालीको वृक्षोंमें जल सींचनेकी आज्ञा तो देदी पर उससे यह कह-दिया, कि इनके फूल और फलोंको भूलकर भी मेरे पास न लाया कर वरु उनको गंगाजीकी धारमें बहादिया कर। अर्थात् स्वरूपतः तो वृक्षोंका परित्याग नहीं किया पर फलतः उनका परित्याग करदिया। इन दोनों प्रकारसे त्याग करनेको त्याग ही बोलेंगे परे बुद्धिमान् विवेकी पुरुष इन दोनोंके अन्तरको अपने अन्तःकरणमें भली भांति समझकर स्वरूपतः त्याग करनेको संन्यास कहेंगे।

कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि लौकिक वा पारलौकिक अर्थात् धन, सम्पत्ति, पुत्र, कलत्र इत्यादि जो लौकिक कामनाएं हैं तथा स्वर्गलोक, बृहस्पतिलोक, प्रजापतिलोक वा ब्रह्मलोकके सुख

भोगनेकी जो पारलौकिक कामनाएं हैं इन दोनोंकी प्राप्ति-निमित्त जो नाना प्रकारके अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम, वाजपेय इत्यादि यज्ञ हैं उनके समीप एकदम नहीं जाना अर्थात् स्वरूपतः परित्याग कर देना और किसी प्रकारके परिग्रहोंका संग्रह न करके एकान्त-निवास करना यथार्थ संन्यास कहलाता है। जैसा, कि भगवान् पहले कहआये हैं, कि "एकाकिरपरिग्रहः"।

फिर नचिकेताको जब संसारसे उपराम हुआ तब अपने पिता यमके समीप संन्यासका पूर्ण स्वरूप जाननेकेलिये गया है। तब उसके पिताने उसे संन्यासी न होनेदेनेके तात्पर्यसे यों कहा है—

श्रुतिः— "ॐ शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व वहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्। भूमेर्महदायतनं वृणीष्व। स्वयञ्च जीव शरदो यावदिच्छसि। एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकाञ्च। महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामा त्वांकामभाजं करोमि। ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व इमा रामाः सरथा सतूर्य्यान् न हीदृशालम्भनीया मनुष्यैः। आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः"। (कठोपनि० श्रु० २३, २४)

अर्थ— यम अपने पुत्र नचिकेतासे कहता है, कि सैकडों वर्ष जीनेवाले पुत्र पौत्रोंको मांगले, बहुतसे पशुओंको, हाथी घोडोंको, स्वर्णको, पृथ्वीके बहुत बडे राज्यको मांगले और तू आप भी जितने साल तक जीवित रहनेकी इच्छा करता हो जीवित रह। यदि इसके समान तुम्हें कुछ और भी मांगना हो तो वर मांगले, धनधान्ययुक्त

चिरस्थायिनी जीविकाको मांगले अर्थात् तू चक्रवर्ती बनजा मैं तुझे सर्वप्रकारकी कामनाओंका भोगनेवाला बनाता हूं, जितनी कामनाएं इस मर्त्यलोककी हैं उन सब कामनाओंको यथेच्छ मांगलें और मनुष्योंके द्वारा रथ सहित नहीं प्राप्त होनेयोग्य बाजे-गाजे सहित अप्सराओंको मांगले और मुझसे दीहुई इन अप्सराओंसें दासियोंके समान पादप्रक्षालनादि सेवा करा! पर हे नचिकेता अपनी मृत्यु मत मांग।

अपने पिताके मुखसे इतना सुनकर नचिकेता बोला श्रु०—

"ॐ श्वोभावामर्त्यस्य यदन्तैकतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः। अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते। "(काठ० मंत्र २६)

अर्थ— मर्त्यके अन्त करनेवाले हे मेरे पिता यम! ये सब भोगके पदार्थ कल्ह तक रहेंगे वा नहीं कुछ भी निश्चय नहीं है। ये जो अप्सरादि भोग्यपदार्थ हैं सबके सब इन्द्रियोंकी सामर्थ्यको विनाश करदेते हैं। जब, कि कालके विस्तारके सम्मुख ब्रह्मदेवकी आयु भी अल्प ही समझी जाती है तो फिर हमलोगोंके दीर्घजीवी होनेकी गणना ही क्या है? अतएव जितने हाथी, घोडे, नाच, राग और तान हैं सब तुम्हारे ही पास रहें मैं इनमें एकको भी नहीं चाहता।

इन श्रुतियोंसे प्रत्यक्ष होता है कि नचिकेताके हृदयमें किसी प्रकारकी कामना नहीं है जब कामना ही नहीं है तो उन कामनाओं-की पूर्तिनिमित्त जो नाना प्रकारके दर्श, पौर्णमास, अग्निष्टोम इत्यादि कर्म कथन कियेगये हैं उनके सम्पादन करनेसें उसकी रुचि क्यों होगी अर्थात् नहीं होगी? तात्पर्य यह है, कि नचिकेताके समान

महापुरुषोंसे ही काम्यकर्मोंका त्याग होसकता है और ऐसा ही महापुरुष यथार्थमें संन्यासी कहाजासकता है और इसी धर्मको यथार्थ संन्यासधर्म कहसकते हैं। इसीलिये भगवान् अर्जुनके प्रति कहरहे हैं, कि हे धनंजय ! * काम्यकर्मोंके स्वरूपतः त्याग करदेनेको तू संन्यास जान !

शंका— भगवानके इतना कहनेसे ऐसा बोध होता है, कि, नित्य, नैमित्तिक, काम्य, प्रायश्चित्त और निषिद्ध जो स्मृतिके मतसे पांच प्रकारके कर्म हैं इनमें केवल काम्य कर्मोंका त्याग करदेना ही संन्यास है अर्थात् संन्यासी केवल काम्यकर्मोंका परित्याग करे, शेष जो चार कर्म हैं उनका त्याग न करे। यदि ऐसा है तो संन्यास एकबारगी निरर्थक होजावेगा। क्योंकि नित्य, नैमित्तिक, निषिद्ध और प्रायश्चित्त कर्मोंसे तो उसका छुटकारा नहीं हुआ ?

समाधान— नहीं ऐसा मत समझो ! इस श्लोकमें भगवानने जो काम्यकर्म कहा है वह शेष चारों कर्मोंका भी + उपलक्षण है। उपलक्षण उसे कहते हैं जहां एकके कहनेसे अन्यका भी बोध हो जैसे किसीने कहा, कि हाथमें दही लिये जाते हो तो कागलोंसे

---

* भिन्न-भिन्न मतसे नाना प्रकारके कर्मोंका वर्णन अ० ४ श्लोक १७ में दिया गया है देखलेना।

+ उपलक्षणम्— "एकपदेन तदर्थान्यपदार्थकथनम्" एक पदके कहनेसे उसी प्रकारके अन्य पदार्थोंका ग्रहण करना उपलक्षण कहलाता है। जैसे— "देशान्तरे मृते पत्यौ साध्वी तत् पादुकाद्वयम्। निधायोरसि संशुद्धा प्रविशेत् जातवेदसम्।"

बचाना । यहां कहनेवालेका इतना ही तात्पर्य नहीं है, कि कागलों से ही बचाना और तोता, मैना, कुत्ता बिल्ली, बानर इत्यादिसे न बचाना वरु कागला कहनेसे सर्वप्रकारके पक्षियों तथा अन्य जीवों से भी बचानेका तात्पर्य है । इसी प्रकार भगवान्का तात्पर्य ' काम्य ' कहनेसे चारों प्रकारके कर्म अर्थात् नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त और निषिद्ध कर्मोंके त्याग करदेनेसे भी है । यद्यपि नित्य कर्मके अन्तर्गत जो भोजन, शयन, मल-मूत्र-परित्याग इत्यादि कर्म हैं उन का त्याग दुस्तर है इसलिये इन कर्मोंमें किंचित् कर्म शरीर-यात्राके निर्वाहार्थ रहजावें तो रहजावें पर शेष कर्मोंका तो स्वरूपतः त्याग ही होजाना चाहिये । बहुतेरे परमहंस तो इन शारीरिक कर्मोंके त्याग करनेका भी यत्न करते हैं। कोई दूसरा ही उनको खिला पिला देता है और मलमूत्र-परित्याग करादेता है । शंका मत करो !

इस श्लोकका पूर्वार्द्ध नीचे लिखीहुई श्रुतिकी छाया ही समझना चाहिये अर्थात् भगवानने इस श्रुतिका ही अर्थ ज्योंका त्यों यहां रखदिया है ।

अर्थ— जैसे सती अपने पतिके परदेशमें मरनेपर उसकी चरणपादुकाको लेकर अग्निमें प्रवेश करजावे । इसका तात्पर्य यह है, कि उसकी चरणपादुका ही नहीं वरु छड़ी, छाता, चद्दर, पगड़ी इत्यादि किसी भी वस्तुको लेकर अग्निमें प्रवेश करजावे क्योंकि यहां चरणपादुका अन्य कई पदार्थोंका उपलक्षण है ।

उपलक्षणम्— Implication of something in addition or any similar object where only one is mentioned

" ॐ असौ स्वपुत्रमित्रकलत्रबन्ध्वादीञ्छिखां यज्ञोपवीतं यागं-स्वाध्यायं च सर्वकर्माणि संन्यस्यायं ब्रह्माण्डं च हित्वा कौपीनं दण्डमाच्छादनं च स्वशरीरोपभोगार्थाय लोकस्यैवोपकारार्थाय च परिग्रहेत्तन्न मुख्योऽस्ति कोयं मुख्य इति चेदयं मुख्यः "

(परमहंसोपनिषद् १)

अर्थ— वह ज्ञानवान् अर्थात् संन्यासी अपने पुत्र, मित्र, स्त्री, बांधव, शिखा, यज्ञोपवीत, यज्ञ, वेदपाठ, सर्वकर्म तथा संपूर्ण ब्रह्माण्ड के विषयोंको भी त्याग अपने शरीररक्षानिमित्त और लोकोंके उपकारार्थ कोपीन, दण्ड और काषायका ग्रहण करे। परन्तु संन्यासियोंके लिये सो प्रधान नहीं है। फिर प्रधान क्या है ? तो यह है, कि " ॐ न दण्डं न कमंडलुं न शिखां न यज्ञोपवीतं न चाऽऽच्छादनं चरति परमहंसो न शीतं न चोष्णं न सुखं न दुःखं न मानावमाने च षडूर्मिवर्ज्जं निन्दागर्वमत्सरदम्भदर्पेच्छाद्वेषसुखदुःखकाम-क्रोधलोभमोहहर्षासूयाहंकारादींश्च हित्वा स्ववपुः कुणपमिव दृश्यते " (श्रुतिः २)

अर्थ— परमहंस दण्ड, कमण्डलु, शिखा, यज्ञोपवीत, काषायवस्त्र धारण नहीं करता है। अरु शीत, उष्ण, सुख, दुःख, मान, अपमान छवों विकार, निन्दा, गर्व, मत्सर, दंभ, दर्प, इच्छा, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, असूया, अहंकार इत्यादिको परित्याग कर अपने शरीरको मृतकके समान देखता है। मुख्य तात्पर्य यह है, कि जैसे मृतक-शरीर कुछ नहीं करता इसी प्रकार परमहंस भी जो सब संन्यासियोंमें उत्तम संन्यासी है सर्वकर्मोंसे रहित होजावे।

इन श्रुतियोंसे भी यही सिद्ध होता है, कि सर्वप्रकारके कर्मोका स्वरूपतः त्याग करदेना ही संन्यास है।

अब इस श्लोकके परार्द्धमें भगवान् त्यागका स्वरूप बतातेहुए कहते हैं, कि [**सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः**] बुद्धिमान् सूक्ष्मदर्शी ज्ञानी सर्वप्रकारके कर्मोंके फलोंको त्यागदेना ही त्याग कहते हैं। अर्थात प्राणी स्वरूपतः तो किसी कर्मका त्याग न करे कर्म करता जावे पर उनके फलोंसे अनभिस्नेह रहकर सब फलोंको भगवत्‌में ही अर्पण करता जावे। सो भगवान् पहले ही कह आये हैं, कि " **यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्** "

(देखो अ० ९ श्लो० २७)

अर्थ— हे अर्जुन! जो कुछ तू करता-धरता है सब मेरेमें अर्पण करता चलाजा! ऐसा करनेसे शुभाशुभ बाधित नहीं करसकते।

सन्न्यास और त्याग शब्दमें इतना ही अन्तर है, कि स्वरूपतः कर्मोंके त्याग देनेको सन्न्यास कहते हैं और केवल स्वरूपतः कार्य्य करते हुए फलकी कामना नहीं करनेको त्याग कहते हैं। यह सूक्ष्म भेद सर्व साधारणके मस्तिष्कमें प्रवेश नहीं करसकता। इसलिये साधारण प्राणी न संन्यासके ही अधिकारी होसकते हैं और न त्यागके अधिकारी होसकते हैं। क्योंकि संन्यासका अधिकारी वही प्राणी है जो ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ तीनों आश्रमोंके यथार्थ धर्मोंका पालन करता-करता आत्मज्ञानके तत्त्व तक पहुंच गया है जिसकी सारी कामनाएं निवृत्त होगयी हैं जो पाताल-लोकसे ब्रह्म-लोकतकके सुखोंको कूकरके उवान्तके समान समझ रहा है। ऐसा

समझते २ जो उस परब्रह्म सच्चिदानन्द आनन्दघनमें पहुंच जानेका अधिकारी होरहा है वरु ऐसा कहना चाहिये, कि वह स्वयं सच्चिदानन्दरूप ही होरहा है पर जो प्राणी अपनी बुद्धिकी न्यूनताके कारण कामनाओंके छोडनेमें असमर्थ है और कर्मोंके बन्धनसे जकडा हुआ है प्रकृतिने जिसकी जान अभीतक नहीं छोडी है चुप बैठने नहीं देती जैसा, कि भगवान् पहले कहआये हैं, कि " नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् । कार्य्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः (अ० ३ श्लो० ५) अर्थात एक क्षण भी कोई साधारण प्राणी बिना कर्म किये बैठ नहीं सकता क्योंकि प्रकृतिके तीनों गुणोंके वशीभूत होनेसे कुछ न कुछ कर्म करना ही पडता है ।

कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि इन साधारण कर्म करनेवालोंमें भी जिनको कुछ सत्संग लाभ हुआ है वे तो फलकी कामनासे रहित होकर कर्मोंका सम्पादन करते हैं और जो एकवारगी अल्पबुद्धि हैं वे फलोंकी प्राप्तिनिमित्त कर्म करते रहते हैं। इसलिये यह त्याग भी उन्हीं लोगोंकेलिये है जिनकी संसृतिबाधाओंकी निवृत्ति होगयी है और भगवच्चरणारबिन्दोंके पवित्र रजकणकी अभिलाषा कररहे हैं । इसी कारण अपने सब कर्मोंके फलोंको भगवान्में अर्पण करदेते हैं ।

विचारशील प्राणी विचारकी दृष्टिसे अवश्य समझ जावेंगे, कि आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी चार प्रकारके जीव हैं जिनका वर्णन भगवानने " चतुर्विधा भजन्ते······· " (अ० ७ श्लो० १६) में किया है । इन चारोंमें आर्त्त और अर्थार्थी तो न संन्यासके अधिकारी होसकते हैं और न त्यागके होसकते हैं पर तीसरा जो जिज्ञासु

है वह संन्यासका अधिकारी है अर्थात् जो मुमुक्षु है वह भगवत्-प्राप्तिनिमित्त कर्मोंके फलोंको भगवत्में अर्पण करता रहता है और ज्ञानी एकदम कर्मका परित्याग कर देता है ।

इस उलझाऊ अर्थके परिष्कार करनेके निमित्त इतना कहना भी अति आवश्यक है, कि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ तीन आश्रम वाले तो अपना २ विहितकर्म कामनारहित होकर अन्तःकरणकी शुद्धि केलिये करें। प्रमाण श्रु०—" ॐ तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषंति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन " (बृह० अ०३श्रु० १५४)

अर्थ— तिस इतनेको ब्राह्मण वेदानुवचनोंसे प्रतिपालन करनेका उपदेश करते हैं अर्थात यहां वेदानुवचन ' वाक्य ' ब्रह्मचाचारीके सब धर्मोंका उपलक्षण है । तात्पर्य यह है, कि आचार्य्यके समीप निवासकर विद्या उपार्जन करना, ब्रह्मचर्य्यको नष्ट करनेवाली जो स्त्रियोंकी संगति है उसे परित्याग करना, चित्रकी स्त्रीको भी आंख उठाकर नहीं देखना, भिक्षादिसे अपना पोषण करना इत्यादि जो ब्रह्मचारियोंके अनेक धर्म हैं अर्थात् वेदानुवचन हैं उनका पालन अन्तःकरणकी शुद्धिके निमित्त कामनारहित होकर ब्रह्मचारी करता रहे । फिर यज्ञ, दान इत्यादि जो गृहस्थाश्रमियोंके अनेक धर्मोंके उपलक्षण हैं अर्थात् अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम, इष्ट, पूर्त्त, दत्त इत्यादि जो उनके विशेष धर्म हैं तिनका प्रतिपालन गृहस्थ कामनारहित होकर किया करे । फिर तप और अनाशक (उपवास) जो वानप्रस्थके धर्मोंके उपलक्षण हैं अर्थात् मौन, कृच्छ्र, चान्द्रायणादि जो उनके कर्म हैं उनका प्रतिपालन

वे अन्तःकरणकी शुद्धि निमित्त करते रहें। अर्थात् प्राणी तीन आश्रम तक तो किसी भी कर्मका त्याग न करे वरु सब कर्मोंका सम्पादन करताहुआ अन्तःकरणकी शुद्धि निमित्त उनके फलोंका परित्याग करता रहे।

मेरे प्रिय पाठकोंमें जो पाठक इस गीताशास्त्रके पिछले १७ अध्यायोंको श्रद्धापूर्वक स्थिर-चित्त होकर पढ़ेंगे और विचारेंगे तो उनको संन्यास और त्यागके सूक्ष्म भेदका बोध अवश्य होजावेगा। इसलिये यहां संक्षेपतः वर्णन किया गया ॥ २ ॥

इन कर्मोंके विषय भिन्न-भिन्न विद्वानोंकी क्या सम्मति है? सो भगवान् अगले श्लोकमें वर्णन करते हैं—

मू०— त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चाऽपरे ॥ ३ ॥

पदच्छेदः— एके (केचन। सांख्यतत्त्वदर्शिनः) मनीषिणः (मनोनिग्रहसमर्थाः। पण्डिताः) दोषवत् (शुभाशुभबन्धनहेतुत्वाद्धिंसादिदोषत्वाद्वा दुष्टम्) कर्म (कार्य्यम्) त्याज्यम् (त्यक्तव्यम्। हातव्यम्) इति (एवम्) प्राहुः (कथयन्ति) च (तथा) अपरे (अन्ये। मीमांसकाः) यज्ञदानतपःकर्म (वेदविहितयागदानतपस्यादि कार्यम्) न (नैव) त्याज्यम् (हेयम्) इति (एवम्विधम्) [प्राहुः] ॥ ३ ॥

पदार्थः— (एके) कितनेक (मनीषिणः) सांख्यतत्त्वदर्शी विद्वान् (दोषवत्) शुभाशुभ बन्धन तथा हिंसादि दोषोंसे युक्त (कर्म) कर्म (त्याज्यम्) त्याज्य है (इति) इस प्रकार (प्राहुः)

कहाकरते हैं (च) और (अपरे) दूसरे जो मीमांसा शास्त्रके विद्वान् हैं वे (यज्ञदानतपःकर्म) यज्ञ, दान, तप आदि कर्म (त्याज्यम्) त्याग करने योग्य (न) नहीं है (इति) इस प्रकार [प्राहुः] कहते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थः— प्रिय पाठको ! इस प्रकरणमें जो त्याग और ग्रहणके झगडे लगेहुए हैं वे उन पुरुषोंके विषय नहीं हैं जो आलस्यवश किसी प्रकारके धार्मिक कर्मको करते ही नहीं हैं वरु सब छोड छाड मिथ्याचरण, व्यभिचार, मद्यपान, हिंसा इत्यादि नाना प्रकारके विषयोंमें अपना समय बिताते हैं ऐसेका ' त्याग ' त्यागके प्रकरणमें नहीं ग्रहण किया जासकता । क्योंकि यदि ऐसोंका त्याग भी त्याग कहाजावे तो महा अनर्थका कारण होगा फिर तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके आलसी और विषयी पुरुष अपनेको त्यागी समझने लगजावेंगे अतएव इन नीचबुद्धिवालोंको छोड जिन पुरुषोंने अपनी अभिरुचि ईश्वरकी ओर की है उन्हींके लिये इस प्रकरणमें कर्मके त्याग और ग्रहण का विषय कथन कियाजाता है ।

अब सकलज्ञानरत्नाकर यदुकुलकुमुदकलाधर मुरलीमनोहर जगत्सुन्दर भगवान श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि [**त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः**] बहुतेरे बुद्धिविशारद सूक्ष्मदर्शी विवेकी जन ऐसा कहते हैं, कि दोषयुक्त जितने कर्म हैं सब त्याग करनेयोग्य हैं। इन कहनेवालोंमें दो प्रकारकी दृष्टिवाले हैं एक सामान्य और दूसरे सांख्य । सामान्य दृष्टिवालोंका तो यह तात्पर्य्य है, कि यहां ' दोषवत् ' शब्दसे निन्दित कर्मोंका ग्रहण समझना चाहिये इसलिये जितने

निन्दित वा कुत्सित कर्म हैं उनका परित्याग करदेना ही प्राणि-योंकेलिये कल्याणकारक है। पर जो सांख्यदर्शनके वेत्ता हैं उनका तात्पर्य्य यह है, कि जितने कर्म हैं सब शुभाशुभके बंधनमें डालने-वाले हैं इसलिये दोषवत् कहेगये हैं चाहे वे शुभ हों वा अशुभ हों॥

इसी कारण सब कर्मोंका स्वरूपतः फलमात्रसे त्याग कर देना ही उचित है। क्योंकि सब कर्मोंका तात्पर्य केवल अन्तःकरणकी शुद्धिसे है सो शुद्धि जिसे प्राप्त नहीं है वह तो कर्मयोग अर्थात् फलोंका त्याग करताहुआ कर्मोंका सम्पादन करता रहे। जिसे कर्मयोगके नामसे भी पुकारते हैं और जिसे अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त होगयी है अर्थात् जिसके अन्तःकरणपर किसी प्रकारका मल वा विक्षेप वा आवरण नहीं है वह केवल ज्ञानका अवलम्बन करके कर्मोंका स्वरू-पतः भी त्याग करदेवे तो कोई हानि नहीं। इसीलिये भगवान्ने पहले भी कहा है, कि "**सांख्ययोगौ पृथग्बालाः**⋯⋯" (देखो अ० ५ श्लो० ४) अर्थात् बालकोंके समान जिनकी बुद्धि है वे ही सांख्य और योगको भिन्न २ कहते हैं नहीं तो "**यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते**" (अ० ५ श्लो० ५) जो फल सांख्यसे प्राप्त होता है वही कर्मयोगसे भी होता है इसलिये जो बुद्धिमान् सांख्य और योगको एक देखता है वही यथार्थ देखने-वाला है।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि दोनों एक ही मार्गपर चले जारहे हैं केवल आगे पीछेका थोडासा अन्तर है। सांख्ययोगवाले दो चार हाथ आगे हैं और कर्म योगवाले दोचार हाथ पीछे चलेजारहे हैं अर्थात्

कर्मयोगवाला सांख्ययोगवालोंका अनुगामी है इसलिये सांख्ययोग वाले जहां पहुंचेंगे वहां ही कर्मयोगवाला भी पहुंचेगा अर्थात् जहां सन्न्यासी पहुंचेगा वहां ही त्यागी भी पहुंचेगा। तात्पर्य यह है, कि स्वरूपतः त्याग करनेवालेके पीछे-पीछे फलतः त्याग करनेवाला भी पहुंचेगा। सम्भव है, कि एवं प्रकार आत्मपद प्राप्त होजानेके पश्चात् कर्मका बन्धन एकदम छूट ही जावे।

इस श्लोकके पूर्वार्द्धमें तो भगवान्ने दोनों प्रकारके त्यागका वर्णन किया जहां सांख्यवादियोंका मत प्रधान रखा। अब भगवान् मीमांसावालोंका सिद्धान्त कहते हुए अर्जुनके प्रति यों वर्णन करते हैं, कि [**यज्ञदान तपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे**] अर्थात (अपरे) जो मीमांसाशास्त्रवाले विद्वान् कर्मको ही प्रधान जानते हैं वे यों कहते हैं, कि यज्ञ, दान, तपादि कर्मोंका त्याग तो कभी भी करना नहीं चाहिये क्योंकि इस संसारमें अधिकांश प्राणी ऐसी बुद्धिवाले हैं, कि यदि उनकी बुद्धिका छेदन करदियाजावे तो न वे इधरके रहेंगे और न उधरके रहेंगे इसीलिये भगवान्ने पहले ही कहा है, कि " न बुद्धिभेदंजनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् " (अ० ३ श्लो० २६) अर्थात् अज्ञानी कर्मसंगियोंको कर्म करते हुए परा-बुद्धिका भेद नहीं बताना चाहिये क्योंकि उनकी बुद्धि यथार्थ तत्त्व समझनेको समर्थ नहीं है और ऐसे अज्ञानियोंसे यह संसार-मण्डल भराहुआ है सहस्रोंमें कोई एक सूक्ष्मबुद्धिवाला होता है जो परमतत्त्वकी ओर जानेकी इच्छा करता है और उसको जानता है। सो भगवान भी पहले कहआये हैं, कि " **मनुष्याणां सहस्रेषु**

कश्चित् यतति सिद्धये " (अ० ७ श्लोक ३.) इसलिये मीमांसा वालोंने ऐसा विचार किया है, कि अधिकांश मनुष्य इस संसारमें कामासक्त हैं। यदि उनकी कामनाकी पूर्ति न हो तो वे किसी कर्म की इच्छा ही नहीं करेंगे जब उनको धन, सम्पत्ति, पुत्र, पौत्र स्वर्ग इत्यादिके सुखोंका लालच दिखलाया जाता है तभी वे कर्म करनेको जग पडते हैं और सकाम कर्मोंका सम्पादन करने लगजाते हैं। इसलिये मीमांसा वालोंने यही विचार दृढ रखा है, कि सकाम प्राणियोंके लिये कर्मका त्यागना उत्तम नहीं है और कहा है, कि ' स्वर्गकामो यजेत ' स्वर्गप्राप्तिकी इच्छासे यागादि कर्मोंका सम्पादन करे। वरु यहां तक कहागया है, कि जो लोग ज्ञानी भी हैं और कर्मसे उनको कुछ तात्पर्य नहीं है वे भी लोकसंग्रहके लिये कर्म किया करें क्योंकि उनकी देखा-देखी अज्ञानियोंके हृदयमें कर्म करनेकी श्रद्धा उपज आवे तो संभव है, कि अरुन्धतीदर्शनन्याय से धीरे २ यथार्थ कर्मत्यागके तत्वको पहुंच जावें अर्थात् कर्मोंका सम्पादन करते-करते संसृति-सुखोंको भोगतेहुए स्वर्गसुखोंका आनन्द लेतेहुए किसी न किसी समय उनको इन सुखोंसे उपराम हो ही जावेगा। क्योंकि जब सहस्रों बार कूपयन्त्रघटिकान्यायसे मृत्यलोकसे स्वर्ग फिर स्वर्गसे मृत्युलोक बारंबार आवें-जावेंगे और बार बार मातृगर्भमें प्रवेश करेंगे तो अवश्य किसी न किसी दिन उनको इन सुखोंसे उपराम हो ही जावेगा।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि पहले सकाम कर्म फिर सकामसे निष्काम कर्म फिर निष्कामसे कर्मरहित हो संन्यासके अधिकारी होजा-

वेंगे जहां जाकर उनको शान्ति प्राप्त होगी । इस अरुन्धतीदर्शनन्यायसे सकामकर्मवालोंको आत्मज्ञान तक पहुँचादेना मीमांसा शास्त्रवालोंने दृढ कररखा है इसलिये उनकी आज्ञा यह है, कि यज्ञ, दान, तप इत्यादि कर्मोंका कभी भी परित्याग न करे इसलिये बार २ कहा है, कि स्वर्गकी कामनासे वा पुत्र इत्यादिकी कामनासे दर्श, पौर्णमास, अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम, वाजपेय इत्यादि कर्मोंका सम्पादन करता रहे ।

दूसरी बात यह है, कि नाना प्रकारके मल जैसे साबुनसे धोदिये जाते हैं अथवा विषके छुडानेके निमित्त औषधि विष ही द्वारा होती है इसी प्रकार अशुभ कर्मोंके दुःखसे छुडानेकेलिये शुभ कर्मोंका सम्पादन करना अति ही आवश्यक है । अतएव जो प्राणी अनेक जन्मोंके दुष्कर्मोंसे घेरा जाकर इस जन्ममें नाना प्रकारके दुःखोंको झेलरहा है उसे सुखी करनेकेलिये तो प्रायश्चित्त कर्मोंका सम्पादन करना ही अत्यावश्यक है । इसलिये मीमांसावालोंने कर्म करना ही प्रधान मानरखा है अर्थात् अपने दुःखकी अत्यन्त निवृत्तिकेलिये पुरुषार्थका करना आवश्यक समझा है । प्रमाण— " अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः " (सांख्यदर्शन सूत्र १)

अर्थ— आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीनों प्रकारके दुखोंकी निवृत्ति ही अत्यन्त पुरुषार्थ है अर्थात् अत्यन्त पुरुषार्थसे दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति होजाती है । तहां इनकी निवृत्तिकेलिये पहले प्रायश्चित्त कर्मोंका सम्पादन, फिर सुखकी प्राप्तिकेलिये सकामकर्मोंका सम्पादन, पश्चात् अन्तःकरणकी शुद्धिकेलिये निष्काम कर्मोंका

सम्पादन, फिर आत्मज्ञानप्राप्ति होजानेसे कर्मोंका त्याग ये सब पुरुषार्थ ही के नामसे पुकारेजाते हैं जो अरुन्धतीदर्शनन्यायसे एक दूसरेके पश्चात् प्राप्त होतेजाते हैं।

पर मीमांसावालोंने सर्वसाधारण संसारीपुरुषोंकेलिये प्रायश्चित्त और सकाम कर्मोंका सम्पादन करना कथन करदिया है तत्पश्चात् सांख्यवालोंने निष्काम कर्मोंका सम्पादन और वेदान्तवालोंने आत्मज्ञान प्राप्त होनेसे 'स्वरूपतः' कर्मोंका त्याग कथन किया है। मीमांसावालोंने तो कर्मासक्तपुरुषोंकेलिये कर्मका त्याग न कथन करके कर्म ग्रहण करनेके लिये यों उपदेश किया जैसा, कि यह श्रुति कहती है। श्रु०— "ॐ अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात । ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः युक्ता आयुक्ता अलूत्ता धर्मकामाः स्युः यथा ते वर्त्तेरन् तथा तत्र वर्त्तेथाः ।"

(तैत्ति० वल्ली १ अनु० ११ श्रु० ३, ४)

अर्थ— हे सौम्य ! यदि तुझे अपने वर्ण वा आश्रमके कर्म वा वृत्तिके संपादन करनेमें किसी प्रकारका संशय उत्पन्न होआवे तो तू उन ब्राह्मणोंके समीप जा जो युक्त हैं वा आयुक्त हैं तथा अक्रूर बुद्धिवाले हैं अर्थात् जिनकी बुद्धि सम्यक् है आसक्त नहीं हैं उन्हें देख, कि वे कर्मोंका सम्पादन कैसे करते हैं ? फिर जैसे वे कर्मोंका सम्पादन करते हैं ऐसे तू भी कियाकर।

भगवानने भी इसीके विषय कहा है, कि "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनाः" (अ० ३ श्लो० २१) जैसे-जैसे श्रेष्ठजन आचरण करते हैं उनकी देखादेखी इतर जन भी करते हैं।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि कर्मासक्तपुरुष मीमांसाकी आज्ञानुसार कर्मोंका त्याग कभी न करे वरु सम्पादन करता जावे ॥ ३ ॥

अब भगवान् इस विषयमें अपना सिद्धान्त अगले श्लोक द्वारा कहते हैं—

मू०— निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ! ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४

पदच्छेद— भरतसत्तम ! (भरतकुलातिशोभन !) तत्र (त्वया पृष्टेकर्माधिकारिकर्तृके संन्यासत्यागशब्दाभ्यां प्रतिपादिते) त्यागे (फलाभिसंधिपूर्वककर्मत्यागे) मे (मम) निश्चयम् (सिद्धान्तवचनम्) शृणु (आकर्णय) पुरुषव्याघ्र ! (पुरुषशार्दूल । व्याघ्रपाद) हि (यतः) त्यागः, त्रिविधः (सत्वराजसादिभेदेन त्रिप्रकारः) संप्रकीर्तितः (कथितः) ॥ ४ ॥

पदार्थः— (भरतसत्तम !) हे भरतकुलको सुशोभित करनेवाला अर्जुन ! (तत्र) तिस (त्यागे) कर्मत्यागके प्रति (मे) मेरे (निश्चयम्) सिद्धान्त वचनको (शृणु) सुन (पुरुषव्याघ्र !) हे पुरुषशार्दूल ! (हि) क्योंकि (त्यागः) सो त्याग (त्रिविधः) तीन प्रकारका (सम्प्रकीर्त्तितः) कहागया हैं ॥ ४ ॥

भावार्थः— अरुणाब्जनेत्रधारी त्रितापहारी जगत्‌हितकारी भगवान श्रीकृष्णचन्द्रने इस गीताके अध्याय ४ श्लोक १७में अर्जुनके प्रति यों कहा है, कि '**गहना कर्मणो गतिः**' कर्म की गति बहुत ही दुर्विज्ञेय और कठिन है बडे-बडे विद्वानोंने इस उलझाऊ विषयमें

पडकर एक दूसरेके प्रतिकूल नाना प्रकारके सिद्धान्तोंको कथन कर-दिया है परं वे सब पक्षपातके दोषसे मिश्रित होनेके कारण सच्चे और यथार्थ सिद्धान्त नहीं कहे जासकते । क्योंकि जो वचन पक्षपात रहित निर्मल और निर्दोष होता है वही यथार्थ ग्रहण करनेके योग्य है । इसीलिये यहां इस अध्यायके पूर्वश्लोकमें सांख्य वा मीमांसाके विद्वानोंके वचन कथन कियेगये हैं जहां किसीने कर्मोंका त्याग और किसीने कर्मोंका ग्रहण उपदेश किया है । इससे गीताके प्रिय पाठक गण नाना प्रकारकी शंकाओंके सागरमें डूबजाते हैं फिर उनको यह सुधि नहीं रहती, कि मैं किस सिद्धान्तके ग्रहण करनेके योग्य हूं । यदि कोई सर्वज्ञ होवे तो अवश्य इस उलझाऊ सिद्धान्तको परिष्कार करडाले सो सर्वज्ञ आज तक कोई न हुआ, न है और न होगा । यदि है तो वही सच्चिदानन्द आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र है । इसीलिये भगवान् इस श्लोकमें कहते हैं, कि [**निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम !**] हे भरतकुलको इस संसारमें विख्यात और सुशोभित करनेवाला अर्जुन ! अब तू इस कर्मत्यागके विषय मेरा सिद्धान्त वचन सुन ! क्योंकि किसी विद्वान्‌ने तो दोषयुक्त अर्थात् निषिद्ध कर्मोंका त्याग, किसीने कर्ममात्रको बन्धनका कारण बतलाकर एकबारगी त्याग करदेनेकी सम्मति दी है और किसीने कर्मोंका त्याग अनुचित बताया है इसलिये मेरा सिद्धान्त जो ईश्वरीय सिद्धान्त है वही इस झगडे और बखेडेका न्याय करदेगा ॥ क्योंकि इस संसारमें जो भिन्न-भिन्न राज्य है अथवा किसी चक्रवर्ती का राज्य है उसमें भी यही नियम देखाजाता है, कि किसी प्रकारके

अभियोगका न्याय नीचली श्रेणीके न्यायकर्ता भिन्न-भिन्न प्रकारसे करते जाते हैं और राजनीति ग्रन्थकी भिन्न-भिन्न धाराओंका सिद्धान्त अपने न्यायमें लिखकर न्याय करते हैं पर उस न्यायसे जब अभियोगवाले वादीप्रतिवादियोंको सन्तोष प्राप्त नहीं होता है तो अन्ततो गत्वा पार्लमैंट (Parliament) न्याय करदेता है। इसी प्रकार हे अर्जुन! तू मुझे पारलौकिक पार्लमैंटका न्यायकर्त्ता समझकर मेरे सिद्धान्त-वचनको सुन! और किसी प्रकारका संशय न करके उन्हीं वचनोंपर अपना दृढ निश्चय करले! क्योंकि विद्वानोंमें जो विकल्प देखाजाता है उसका मुख्य कारण यही है, कि [**त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्त्तितः**] हे पुरुषशार्दूल! त्याग तीन प्रकारका कहागया है। सात्विक, राजस और तामस। प्रकृतिके इन ही तीन गुणोंके द्वारा कर्म करनेवालोंके अन्तःकरण तीन प्रकारके बनेहुए हैं इसी कारण तीन प्रकारके त्याग निश्चय कियेगये हैं यही अटल सिद्धान्त है। इन तीनों गुणोंके प्रभावको यदि कोई साधक वा विद्वान् अपने अन्तःकरणसे निकालकर दूर फेंका चाहे तो नहीं होसक्ता क्योंकि प्रकृति बलवती होनेसे उसके तीनों गुण भी बलवान् हैं जो अपना प्रभाव अन्तःकरणपर डालेहुए हैं अतएव कैसा भी पुरुष विद्वान् क्यों न हो अन्तःकरणसे अपने स्वभावको शीघ्र दूर नहीं करसक्ता।

प्रिय पाठको! यह अठारहवां अध्याय इस गीताशास्त्रका उपसंहार अध्याय है इसलिये पिछले १७ अध्यायोंमें जो विषय अत्यन्त गम्भीर होनेके कारण ऊलझाऊ रहगये हैं और जिनमें पाठकोंकी

शंकाएं पूर्णप्रकार निवृत्त नहीं हुई हैं उनको भगवान् अब इस अन्तिम अध्यायको उपसंहार जानकर इसीमें सम्पूर्ण उलझाऊ विषयों को स्वच्छ कर दिखला रहे हैं।

पहले कहचुके हैं, कि कर्मकी गति अत्यन्त दुर्विज्ञेय है यद्यपि ५ वें अध्यायमें कर्म, विकर्म और अकर्म इत्यादिका वर्णन करतेहुए विशेषरीतिसे इस विषयका वर्णन कियागया है तथा अन्य अध्यायों में भी ठौर-ठौरपर कर्मकी वार्ताएं छेडदीगयीं हैं तथापि इन सब स्थानोंके पढनेसे भी जो बातें समझमें नहीं आयीं उन्हींके विषय भगवान् इस श्लोकमें कहरहे हैं। इस श्लोकमें " त्रिविधः संप्रकीर्तितः " कहनेसे पाठकोंको तो यही बोध होगा, कि सात्विक, राजस और तामस इन ही तीन प्रकारके गुणोंसे भगवानका तात्पर्य है पर सच पूछो तो इतना ही नहीं वरु इसके अन्तर्गत गूढ आशय घुसा हुआ है।

अर्जुनने जो इस अध्यायके प्रथम श्लोकमें सन्न्यास और त्याग का भेद पूछा है तहां यह कहा जाचुका है, कि इन दोनों शब्दोंमें बहुत स्वल्प अन्तर है इसलिये भगवानकी अभिलाषा यह है, कि अर्जुनको पूर्णप्रकार त्यागका विषय समझा देवें। अतएव यहां " त्रिविधः संप्रकीर्तितः " कहनेसे भगवानका तात्पर्य विशेष्याभाव त्यागसे है जो तीन प्रकारका है।

(१) विशेषणाभाव, (२) विशेष्याभाव और (३) उभयाभाव।

१. **विशेषणाभाव**— उसे कहते हैं जहां विशेष्य तो हो पर विशेषणका अभाव हो । जैसे किसी स्थानमें बहुतसे मद्यपी एकत्र हों और मद्य न हो तो वहां मद्यपान–कर्मका त्याग समझा जावेगा इसको **विशेषणाभावत्याग** कहते हैं ।

२. **विशेष्याभाव**– विशेषण तो हो पर विशेष्यका अभाव हो । जैसे मद्यके घडेके घडे रखे हों पर पीनेवाला कोई नहीं हो तो भी मद्यपान कर्मका त्याग समझा जावेगा इसको **विशेष्याभाव त्याग** कहते हैं ।

३. **उभयाभाव**— जहां विशेषण और विशेष्य दोनोंका अभाव हो जैसे न मद्य ही है और न कोई मद्यपी है तो वहां भी मद्य-पानकर्म नहीं है इसलिये उसको **उभयाभावत्याग** कहते हैं ।

इसी प्रकार जो यह कहागया, कि " **स्वर्गकामो यजेत** ' स्वर्गकी कामनासे यज्ञ करे तहां स्वर्गकी कामना न हो पर यज्ञ करनेवाला यज्ञका सम्पादन करे उस कर्मको भगवत्‌में अर्पण करदे तो ऐसे कर्मको **विशेषणाभावत्याग** बोलेंगे । इसीको सात्विक त्याग भी कहते हैं । फिर यज्ञकी कामना तो हृदयमें हो पर यज्ञशाला और यज्ञकी सामग्रियोंके उपस्थित रहते भी जो व्यक्ति संसारी विषयोंमें फँसे रहनेके कारण अथवा राजकाजमें उलझे रहनेके कारण अथवा मूर्खतावश यज्ञका सम्पादन न करसके तो इसे विशेष्याभाव त्याग केहते हैं सो दो प्रकारका है **राजस** और **तामस**—

जहां कर्म करनेवाला क्लेश, परिश्रम और दुःख जानकर कर्म करनेमें प्रवृत्त न हो और छोडदेवे उसे **राजसत्याग** कहते हैं । जहां

वेदवचनोंमें भ्रान्ति वा प्रमाद होने तथा आलसी होनेके कारण कर्मका त्याग करदेवे उसे तामसत्याग कहते हैं।

जहां विशेषण और विशेष्य दोनोंके अभावसे कर्मका त्याग हो उसे उभयाभाव त्याग कहते हैं अर्थात न तो यज्ञ करनेवालेको स्वर्गमें ही विश्वास हो स्वर्गको ही मिथ्या समझता हो इसलिये स्वर्ग की कामना न हो और न यज्ञके उपकरण उसके पास हों और न स्वयं कुछ करनेकी श्रद्धा हो इसीको उभयाभाव त्याग कहते हैं इसके भी दो भेद समझने चाहियें। एक तो नास्तिकबुद्धिसे त्याग और दूसरा अन्तःकरण शुद्ध होनेके कारण आत्मज्ञानबुद्धिसे कर्मोंका त्याग।

यहां भगवान्‌का तात्पर्य्य केवल विशेषणाभाव अर्थात सात्विक त्यागसे है अन्य किसी त्यागसे नहीं अर्थात् निष्काम होकर सम्पादन करतेजाना फलकी अभिसन्धि न रखना जिसे स्पष्ट रूपसे अगले श्लोकमें कहते हैं ॥ ४ ॥

मू०— यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

पदच्छेदः— यज्ञदानतपःकर्म (यज्ञो दानं तप इत्येतत्त्रिविधं कर्म) न (नैव) त्याज्यम् (त्यक्तव्यम् । हातव्यम्) तत् (यज्ञादि त्रिविधं कर्म) कार्य्यम् (कर्तव्यम् । विधातव्यम् । अनुष्ठेयम् । विधिपूर्वकमाचरणीयम्) एव (निश्चयेन) च (यतः) यज्ञः (वेदविहितो यागः) दानम् (देशकालपात्रविचारेणोत्सर्गः)

तपः (मौनकृच्छ्चान्द्रायणादिव्रतक्लेशजनकं कर्म) मनीषिणाम् (मनोनिग्रहशीलानाम्। विदुषाम् । वशेन्द्रियचित्तानाम्। विपश्चिताम्) पावनानि (शोधनानि । शुद्धिकराणि) एव ॥ ५ ॥

पदार्थः— [हे अर्जुन !] (यज्ञदानतपःकर्म) यज्ञ, दान और तप रूप कर्म (न) नहीं (त्याज्यम) त्याग करने योग्य हैं (तत्) किन्तु वे कर्म (कार्य्यम) करने योग्य (एव) निश्चय करके है (च) क्योंकि (यज्ञः) यज्ञ (दानम्) दान (तपः) तपस्या ये तीनों कर्म (मनीषिणाम्) फलकी इच्छासे रहित विद्वानोंको (पावनानि) पवित्र करनेवाले (एव) ही हैं ॥ ५

भावार्थः— यहां सकलसुखअयन राजीवनयन भगवान कृष्णचन्द्र अपनेमधुर-वचनोंसे अर्जुनके प्रति विशेषणाभाव अर्थात सात्विक त्यागको वक्रगति द्वारा (Indirectcy) समझाते हुए कहते हैं, कि [यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं* कार्य्यमेव तत्] यज्ञ, दान और तप ये तीनों कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं करने योग्य हैं अर्थात् हे अर्जुन! इन कर्मोंका स्वरूपतः त्याग नहीं करना चाहिये । क्योंकि अन्तःकरणकी शुद्धि चाहनेवाले प्राणियोंको इन कर्मोंका त्याग करना उचित नहीं है । यदि इन कर्मोंका वे अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त होनेके पहले ही त्याग करदेंगे तो उनका अन्तःकरण भ्रष्ट होते-होते अधिक

* यहां कार्य शब्दका अर्थ यही है, कि जो कर्म करने योग्य है अर्थात् श्रुति और स्मृतिसे विहित किया हुआ है अविहित निषिद्ध वा दोषवत् नहीं है ।

मलीन होजावेगा । क्योंकि विना आत्मज्ञान लाभहुए कुछ न करना चुप बैठे रहना बहुत बडी आपत्तिका कारण है । क्योंकि प्रकृति उनके अन्तःकरणको चुपचाप बैठने नहीं देवेगी कुछ न कुछ कराती ही रहेगी ।

सो यदि शुभ कार्य्य नहीं किया तो यह प्रकृति अशुभ कार्य्य अवश्य करावेगी जिससे अन्तःकरण मलीन होते-होते प्राणीको दुःखी करडालेगा । इससे क्या अच्छी बात है, कि चुप न बैठ कर शुभ कर्मोका सम्पादन करते रहना चाहिये पर उनके फलोंकी कांक्षा नहीं करनी चाहिये और सब कर्मोको निष्काम होकर सम्पादन करना चाहिये जिससे अन्तःकरण किसी समय ऐसा निर्मल होजावे, कि आत्मज्ञानका अधिकारी बनजावे। इसीलिये [**यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्**] ये यज्ञ, दान और तप निष्काम कर्म करनेवाले बुद्धिमानोंको पवित्र करनेवाले हैं अर्थात् उनको अन्तःकरणकी शुद्धि प्रदान कर आत्मज्ञानकी ओर लेजाने वाले हैं ।

इस विषयको भगवानने ठौर २ पर इन पिछले अध्यायोंमें पूर्णप्रकार कथन कर दिया है इसलिये इस अध्यायमें उपसंहारमात्र होनेसे यहां अधिक कहनेका कुछ आवश्यक नहीं है ॥ ५ ॥

अब अगले श्लोकमें भगवान् इन कर्मोंको निष्काम होकर सम्पादन करनेकी आज्ञा देते हुए फिर इसी विषयको दृढ करते हैं ।

मू०— एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६

पदच्छेदः— पार्थ ! (हे पृथापुत्रार्जुन !) तु (पुनः) एतानि (पूर्वोक्तानि यज्ञादीनि) कर्माणि (श्रुतिस्मृतिप्रतिपादितानि) अपि (निश्चयेन) संगम् (आसक्तिम् । कर्तृत्वाभिमानम्) च (तथा) फलानि (तेषां फलानि स्वर्गादीनि) त्यक्त्वा (विहाय) कर्त्तव्यानि (अनुष्ठातव्यानि । आचरणीयानि) इति (एतत्) मे (मम वासुदेवस्य) निश्चितम् (निर्धारितम्) उत्तमम् (श्रेष्ठम्) मतम् (सम्मतम् । अभिप्रायः) ॥ ६ ॥

पदार्थः— (पार्थ !) हे पृथापुत्र अर्जुन ! (तु) फिर सच तो यह है, कि (एतानि) ये पूर्वोक्त यज्ञ, दान इत्यादि कर्म (अपि) भी (संगम्) कर्तृत्वाभिमान (च) तथा (फलानि) स्वर्गादि फलोंको (त्यक्त्वा) छोडकर (कर्त्तव्यानि) करने योग्य हैं (इति) ऐसा (मे) मुझ परमेश्वर वासुदेवका (निश्चितम्) निश्चित (उत्तमम्) श्रेष्ठ (मतम्) सम्मत वा अभिप्राय है ॥ ६ ॥

भावार्थः— अब सर्वदुःखमोचन अरुणाब्जलोचन श्रीआनन्दकन्द कृष्णचन्द्र कहते हैं, कि [एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च । कर्त्तव्यानि] इन कर्मोंको भी इनके संग और फलको छोड सम्पादन करना चाहिये अर्थात् स्वरूपतः तो कर्म करना चाहिये पर स्वर्गादि किसी प्रकारके भी फलकी इच्छा छोड देना चाहिये फलकेलिये इनका संग नहीं करना चाहिये ।

तात्पर्य यह है, कि यद्यपि काम्यकर्म भी प्राणियोंको सुखदेने-वाले हैं अर्थात स्वर्गमें लेजाकर रोग, शोक, क्षुधा, पिपासा, जरा, मृत्यु इत्यादि दुःखोंसे रहित कर विविध भांतिके सुखोंको प्रदान करनेवाले हैं जो शूकर, कूकरे इत्यादि निकृष्ट योनियोंको लाभ नहीं होसकते। तथा चोर, चाण्डाल, हिंसक, व्यभिचारी इत्यादि मलीन अन्तःकरण-वाले पुरुषोंको प्राप्त नहीं होसकते। इसलिये उन जीवोंके वा पुरुषोंके अन्तःकरणकी अपेक्षा थोडी देरकेलिये स्वर्गसुख भोगनेवालोंका अन्तःकरण शुद्ध समझना चाहिये। अर्थात् काम्यकर्मके सम्पादनसे भी अन्तःकरणकी शुद्धि समान्यरूपसे होजाती है पर यह शुद्धि सदाके लिये न होनेके कारण मुमुक्षुजनोंसे अभिलषित नहीं है। क्योंकि कूपयंत्रघ-टिका समान बार-बार स्वर्गलोकसे मृत्युलोकमें पतन होना और मृत्यु-लोकसे स्वर्गलोकमें आना जाना बना रहता है इस कारण आवागमनके दुःखसे ये प्राणी छूट नहीं सकते। इसलिये इस प्रकारके काम्यकर्मोंसे अन्तःकरणका सुखी होना मनुष्योंको सदाके लिये पावन नहीं कर सकता। अतएव भगवानका तात्पर्य यही है, कि ये यज्ञ, दान और तपरूप कर्म कामनारहित होकर सम्पादन कियेजावें। इसीलिये भगवान् पहले भी ठौर-ठौर इस गीताशास्त्रमें कहआये हैं और फिर भी यहां इसी विषयका उपसंहार करतेहुए कहते हैं, कि [**इति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्**] हे पृथाका पुत्र अर्जुन! यही मेरा सबसे उत्तम और श्रेष्ठ मत निश्चय कियाहुआ है अर्थात् किसी प्रकारका कर्म क्यों न हो, निष्काम होकर कियाजावे तो बन्धनका कारण नहीं होसकता वरु अन्तःकरणकी शुद्धि प्रदान करता हुआ मोक्षका कारण होता है।

शंका— यदि कोई प्राणी आगमें हाथ डाले और अपने मन में ऐसा निश्चय करडाले, कि मैं हाथ जलनेकी इच्छा नहीं करता अर्थात् हाथ जलनेकी कामनासे रहित होकर आगमें हाथ डालता हूं तो क्या हाथ डालनेवालेका हाथ नहीं जलेगा ? तात्पर्य यह है, कि इच्छा सहित करो चाहे इच्छा रहित करे कर्म तो अपना फल देवेहीगा फिर ऐसा कब होसकता है, कि प्राणी कामनारहित होकरे कर्म करे और वह कामना उसे न बांधे ?

समाधान— इसी प्रकारकी शंकाओंके निवारणार्थ भगवानने पिछले श्लोकमें ' कार्यम् ' शब्दका प्रयोग किया है अर्थात् जो कर्म करने योग्य हैं उन्हीं कर्मोंको करना चाहिये । आगमें हाथ डालना अथवा पहाड़से कूदना वा अथाह जलमें डूबजाना, शस्त्रोंसे हाथ पांव काटलेना इत्यादि कार्य कर्म नहीं हैं इसलिये तुम्हारी शंका इस स्थानमें नहीं बनती । सो भगवान् पहले भी कहआये हैं, कि "अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः" (अ० ६ श्लो० १).

शंका मतकरो !

शंका— यदि ऐसा है तो भगवानने यहां केवल यज्ञ, दान और तप ही को कार्य क्यों कहा ? क्या पुत्र, कलत्र, मित्र इत्यादिका पालन करना कार्य्य नहीं है ?

समाधान— पुत्र, कलत्र इत्यादिका पालन करना भी कार्य्य ही कर्म है निषिद्ध वा विहित नहीं है पर यह कार्य्य विशेषकर गृहस्थ आश्रमका है इसलिये गृहस्थसे लेकर ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमोंमें उचितरीतिसे कर्मोंका

पालन करना भी तप कहलाता है। इसीलिये भगवान‌ने तप शब्द कहकर इन चारों आश्रमोंके कार्य्योंका संकेत करदिया है पर इतना भूल न जाना, कि इन कर्मोंको भी अनभिस्नेह रहकर करनेकी आज्ञा दी है। ऐसे आश्रमविहित कार्य्य कर्मोंको नित्यकर्मके अन्तर्गत रखा है जिनका त्याग होना असंभव है ॥ ६ ॥

इसी विषयको भगवान अगले श्लोकमें पुष्ट करतेहुए कहते हैं—

मू०—नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७

पदच्छेदः— तु (किन्तु) नियतस्य (नित्यस्य) कर्मणः (पञ्चशूनापापनिवृत्तिहेतुत्वेन सन्ध्यातर्पणहवनादिकर्मणः। शरीरयात्रा-निर्वाहार्थं स्नानभोजनशयनविण्मूत्रविसर्जनादिकर्मणो वा) सन्न्यासः (परित्यागः) न (नैव) उपपद्यते (सिद्ध्यति) मोहात् (अज्ञा-नात्) तस्य (नित्यस्य कर्मणः) परित्यागः, तामसः (तमोगुणा-वृतः) परिकीर्तितः (कथितः। उक्तः। तामसीनिर्दिष्टः) ॥ ७ ॥

पदार्थः— हे अर्जुन! (तु) फिर (नियतस्य) नित्य (कर्मणः) तर्पण तथा स्नान भोजन शयन गमनादि नित्य कर्मोंका (सन्न्यासः) परित्याग (न उपपद्यते) सम्भव नहीं है (मोहात्) इसलिये अज्ञानतासे (तस्य) तिस नित्य कर्मका (परित्यागः) त्याग करना (तामसः) तामसत्याग (परिकीर्तितः) कहागया है ॥ ७ ॥

भावार्थः— अब अघओघनिकन्दन भक्तउरचन्दन श्रीनन्द-नन्दन भगवान् कृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि [**नियतस्य तु सन्न्यासः कर्मणो नोपपद्यते**] नित्यकर्मका त्याग सम्भव नहीं है अर्थात नित्यकर्मके त्याग देनेसे न तो शरीरयात्रा ही की सिद्धि होगी न अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त होगी फिर तो प्राणी स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकारके शरीरोंके मलीन होजानेसे परम दुर्गतिको प्राप्त होगा । क्योंकि सन्ध्या, तर्पण, हवन, वलिवैश्व-देव अतिथिसत्कार तथा स्नान, भोजन, शयन, गमन, मलमूत्र-विसर्जन इत्यादि जो नित्यकर्म हैं वे दोनों प्रकारके शरीरोंको स्थिर रखनेवाले हैं । प्रतिदिन इन कर्मोंके करनेकी आवश्यकता है । यदि न कियेजावें तो नाना प्रकारके उपद्रव सम्मुख आखडे हों और प्राणी शीघ्र मृत्युके मुखमें जापडे । इस विषयके समझनेकेलिये गुरु तथा महानुभावोंके चरणोंका सेवन और श्रुति स्मृतियोंका अवलोकन करना मुख्य है । ऐसा करनेसे इन उक्त कर्मोंका आन्तरिक रहस्य ज्ञात होजाता है । जैसे नित्य सन्ध्या करनेकी क्या आवश्यकता है ? क्योंकि नित्यकर्मोंके अन्तर्गत सन्ध्याकी भी गणना कीजाती है सो पाठकोंके कल्याणार्थ दृष्टान्त देकर दिखलायाजाता है ।

जैसे प्रकोष्टयामनाली (Wistwatch) अथवा जेबघडी जो आज आपके सम्मुख रखी हुई हैं उनकी ओर अवलोकन कीजिये और देखिये, कि आठ पहर चलनेके पश्चात इनकी चलनेकी शक्ति निवृत्त होजाती है उस शक्तिको फिरसे चलानेकेलिये इन घड़ियोंमें कुंजी दीजाती है । यदि न दीजावे तो ये घड़ियां निर्जीव

होजावेंगी इसी प्रकार इस शरीररूप यामनालीमें जो आयुकी शक्ति दीगयी है वह प्राणों ही की गणनापर दीगयी अर्थात् २१६०० (इकीस हजार छै सौ) श्वासोच्छ्वास आठ प्रहरमें व्यय होजाते हैं और एक दिनकी आयुशक्ति घट जाती है ।

तात्पर्य यह है, कि २१६०० श्वास प्रतिदिन व्ययके हिसाबसे जो मनुष्यशरीरमें सौ वर्षकी परम आयु दीगयी है उसमें आजाती है। क्योंकि २१६०० से अधिक व्यय करदेनेपर आयु कम होती चली-जावेगी एवं प्रत्येक प्राणीके श्वास उठने, बैठने, चलने ,फिरने, उछ-लने, कूदने, सोने, जागने, खाने, पीने इत्यादि व्यवहारोंमें अधिक व्यय हो ही जाते हैं । अर्थात यदि प्राणी कुछ न करे चुप बैठा रहे तब तो द्वादशांगुल बाहर निकलनेके प्रमाणसे २१६०० श्वासकी गणना ठीक रहती है । पर पहले दिखलाआये हैं, कि बिना कुछ कर्म किये प्राणी चुप बैठा नहीं रहसकता उसे नाना प्रकारके व्यव-हारोंमें लगकर फिर थकथकाकर सोजाना पडता है तहां "बैठत बारह चलत अठारह सोवतमें छत्तीस "अर्थात चुप बैठेरहनेसे द्वादश अंगुल श्वास नासिकासे बाहरआता है वही चलने-फिरनेमें अठारह अंगुल बढजाता है और सोनेमें छत्तीस अंगुल अधिक बढता है। अर्थात् प्रमाणसे अधिक व्यय होजाता है अतएव प्राणी नियमित समयसे पूर्व ही जराके फांसमें बंधकर नित्य निर्बल होताहुआ असमयमें ही मृत्युको प्राप्त होजाता है । इसीलिये वेद, शास्त्र और आचार्योंने इस शरीररूप यामनालीकी कुंजी बनाकर प्राणियोंकी आयुकी रक्षा की है । यदि पूछो, कि वह कुंजी क्या है ? तो कहना चाहिये, कि सन्ध्या ! सन्ध्या !! सन्ध्या !!!

अर्थात् सन्ध्यामें जो मुख्य अंग प्राणायाम है वही नित्यप्रतिके व्यवहारोंमें व्यय होगयेहुए श्वासोंको लौटालेनेकी कुंजी है। तात्पर्य यह है, कि प्राणायाम करनेसे आठ पहरकी नष्ट हुई आयु फिर लौटकर शरीरमें आजाती है और शरीरको शक्तिसम्पन्न और प्रसन्न करती है और उसकी परम आयु अर्थात् सौ बर्षकी आयु बनी रहती है। बहुतेरे मूर्ख यों जानते हैं, कि शरीरमें जो आयु है उसकी कोई मिति (तारीख) नियत है पर ऐसा नहीं किसी वर्ष, मास, पक्ष वा दिवसकी गणना आयुकेलिये नहीं है केवल प्राणों ही की गणना है और प्राण ही चौरासी लक्ष योनियोंकी तथा देव गन्धर्वादिकोंकी आयु है। प्रमाण श्रु०—ॐ "प्राणं देवा अनुप्राणन्ति मनुष्याः पशवश्च ये। प्राणो हि भूतानामायुस्तस्मात्सर्वायुषमुच्यते। सर्व्वमेव त आयुर्यन्ति ये प्राणं ब्रह्मोपासते प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति" (तैत्ति० ब्रह्मानु० श्रु० २७ अनुवा० ३)

अर्थ— देवगण तथा जितने मनुष्य वा पशु हैं सब प्राण ही द्वारा श्वासोच्छ्वास करते हैं। प्राण ही सब जीवोंकी आयु है इसीलिये इसको "सर्वायुष" कहते हैं। वे लोग सर्वप्रकारसे पूर्ण आयुको पाते हैं जो प्राणब्रह्मकी उपासना अर्थात् प्राणायाम करते हैं इसलिये यह निश्चय है, कि प्राण ही भूतोंकी आयु है इसी कारण यह 'सर्वायुष' कहाजाता है।

इस श्रुतिने दो बार 'सर्वायुषमुच्यते' कहकर यह दृढ कर दिया, कि भूतोंकी आयु प्राण ही की गणना पर निर्भर है, किसी मिति, पक्ष, वर्ष वा मासके ऊपर नहीं है।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि प्राणायाम इस शरीररूप यामनालीकी कुंजी होनेसे प्रतिदिन करनेके योग्य है और इसीलिये इसको नित्य-कर्म भी कहते हैं। जिसको नित्य प्रति नहीं करनेसे आयुकी हानि संभव है। फिर शास्त्रकारोंने इस प्राणायामको अष्टांगयोगका चौथा अंग कहा है इसलिये इसको योगयज्ञके नामसे पुकारते हैं। (इसका वर्णन अ० १७ श्लो० ८ में भी कियागया है देखलेना)

शंका— तुमने जो यह कहा, कि मनुष्योंकी आयु सौ वर्षकी दीगयी है सो प्रत्यक्ष देखा नहीं जाता। क्योंकि इस संसारमें नित्य सहस्रों बालक वा कन्या जन्मलेनेके पश्चात् दो चार ही दिन अथवा दो चार ही वर्ष रहकर मृत्युको प्राप्त होजाते हैं फिर तुम्हारा सौ वर्षकी आयु कहना मिथ्या जानपड़ता है ?

समाधान— मैंने तुमसे यह कब कहा, कि सब मनुष्योंकी आयु सौ वर्षकी होती है। मैंने तो सौ वर्षको परम आयुके नामसे पुकारा है अर्थात् अधिकसे अधिक सौ वर्षकी आयुका प्रमाण वेद-वचनसे सिद्ध कियाहुआ है। प्रमाण-'शतं वै पुरुषः' अर्थात् पुरुषके-लिये सौ वर्ष निश्चय हैं। पर जिन पुरुषोंको अपने कर्मानुसार परम आयु नहीं दीगयी है वे ही दो चार दिन वा दो चार सालमें अपने कर्मोंको भोग कर शान्त होजाया करते हैं इसलिये उनको अल्प आयुके नामसे पुकारते हैं पर जिनको सौ वर्षकी परम आयु दीगयी है वे भी यदि प्राणायाम न करें तो इन दिनों ५०, ६० के भीतर ही समाप्त होजाते हैं सौ वर्षतक नहीं पहुंचने पाते। चलने, फिरने, सोने इत्यादि

कर्मोंसे २१६००से अधिक श्वास व्यय होनेके कारण उनकी आयु कम होतीजाती है और उनमें प्राणायामकी कुंजी नहीं दीजाती है जिससे उसकी कमी पूरी होती जावे । सो यहां पहले दिखलाया जाचुका है इसलिये यह सिद्धान्त है, कि परम आयुवाला प्राणी यदि नित्य सन्ध्याके अन्तर्गत प्राणायाम-क्रियाका सम्पादन करता जावे तो उसकी परम आयु शीघ्र समाप्त नहीं होगी वह अवश्य सौ वर्षतक जीवित रहेगा । वरु विशेष रूपसे यदि इस क्रियाका अधिक अभ्यास करेगा तो सौ वर्षसे अधिक भी जीवित रहसकता है। देखो! सन्ध्याहीके उपस्थानमन्त्रमें यों प्रार्थना कीगयी है, कि "ॐ पश्येम शरदः शतम् जीवेम शरदः शतꣳशृणुयाम शरदः शतम्प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतम्भूयश्च शरदः शतात्" (शु० य० अ० ३६ मन्त्र २४)

अर्थ—हम सौवर्ष देखें, सौ वर्ष जीवें, सौ वर्ष सुनें, सौवर्ष बोलें, सौ ही वर्ष नहीं वरु बारम्बार सौ वर्ष अर्थात् कई सौ वर्ष देखें, जीवें, सुनें और बोलें ।

यदि यह कहो, कि स्त्री और शूद्रोंको तो सन्ध्या करनेकी आज्ञा नहीं है फिर वे कैसे परम आयु तक जीवित रहेंगे तो उत्तर यह है, कि प्राणीमात्रको सन्ध्या करनेकी आज्ञा है । क्योंकि यह उनका नित्य-कर्म है भेद इतना है, कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंको वैदिकसंध्या पर स्त्री और शूद्रोंको भी पौराणिक सन्ध्या करनेकी आज्ञा है । इसलिये प्राणायामकी कुंजी दोनों प्रकारकी सन्ध्यामें बतायी गयी है कोई भी क्यों न हो सन्ध्यारूप नित्यकर्मको करताजावे और अपनी परम आयुको भोगता जावे । शंका मत करो !

अब देखा जाता है, कि नित्यकर्म सन्ध्यामें गायत्रीजप करनेकी भी आज्ञा है जिसे जपयज्ञके नामसे पुकारते हैं इससे सिद्ध होता है, कि सन्ध्या जिसे ब्रह्मयज्ञके नामसे पुकारते हैं उसके अन्तर्गत योगयज्ञ और जपयज्ञ भी मिश्रित है। इसीलिये भगवान्ने इस अध्यायके श्लो० ५ में * यज्ञ, दान और तप तीनही कर्मको नित्य कर्मके अन्तर्गत रखा है अतएव आज्ञा दी है, कि यह त्यागने योग्य नहीं है।

यदि शंका हो, कि सन्ध्याको तो यज्ञके नामसे पुकारनेके कारण अथवा यज्ञकर्मोंसे मिश्रित रहनेके कारण भगवान्ने इस सातवें श्लोकमें 'नियतस्य' अर्थात् नित्यकर्मके त्यागनेकी आज्ञा नहीं दी पर पांचवें श्लोकमें दान और तपको भी त्याज्य नहीं कहा क्या ये भी नित्य हैं?

समाधान— अवश्य ये दोनों भी नित्य-कर्म ही हैं। तहां दानको नित्यकर्ममें कहनेका कारण यह है, कि प्राणीमात्रको प्रतिदिन पञ्चसूनाका पाप लगजाया करता है। प्रमाण— "**पंचसूना गृहस्थस्य चुल्लीपेषण्युपस्करः। कंडनी चोदकुम्भश्च बध्यते यस्तु वाहयन्** (मनुः० अ० ३ श्लो० ६८)

अर्थ— (१) चुल्ही— चूल्हेके फूकनेमें अग्निके धूम वा ज्वालासे जीवोंका मरना, (२) पेषणी— चक्कीमें नाज पीसते समय

टि०— भगवान्ने यज्ञ, दान और तप तीन ही कर्मका नाम यहां क्यों लिया? इसका कारण अगले श्लोकसे यहां ज्ञात होगा।

जीवोंका मरना, (३) उपस्कर— घर आंगन बुहारनेमें जीवों की हिंसा होना, (४) ऊखल और मूशलसे नाज कूटते समय जीवों का मरना और (५) जल द्वारा मुखप्रक्षालन वा स्नान आदिमें जीवोंका बध होना ये ही * पंचसूना पाप गृहस्थोंको पापमें बांधदेते हैं अर्थात् प्रतिदिन गृहस्थोंके द्वारा ये पाप अवश्य होते हैं जिनका रोकना अनिवार्य है । इसलिये इस पापकी शान्ति निमित्त पंचमहायज्ञके अन्तर्गत जो बलिवैश्वदेव और अतिथिसत्कार दियेगये हैं उनको दानही कहना चाहिये। क्योंकि इन कर्मोंमें पशुओंके निमित्त और अतिथियोंके निमित्त गृहस्थको कुछ देना ही पडता है जिससे गृहस्थ पंचसूना के पापसे बचते हैं इसलिये भगवान्ने इस दानको भी ' नियतम् ' अर्थात् नित्यकर्ममें रखा ।

इसी गृहस्थाश्रमसे ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासियोंको अन्नकी प्राप्ति होती है इसलिये इस पंचसूनामें उनका भी साझी होना सम्भव है अतएव इस बलिवैश्वदेव और अतिथिसत्कार रूप दानको उनके लिये भी नित्यकर्मके अन्तर्गत समझना चाहिये । शंका मत करो !

अब तप भी नित्यकर्म क्यों है ? सो सुनो ! तप शब्दके दो अर्थ हैं—

प्रथम तो यह, कि ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्न्यासी इन चारोंको अपने-अपने आश्रमके व्रत अर्थात् नियतकर्मके

* सूना— पशुओंके बध करनेका स्थान।

निर्वाह करनेमें जो शारीरिक और मानसिक क्लेश वा परिश्रम पहुं- चता है उसे तप कहते हैं ।

दूसरा अर्थ यह है, कि " मनसश्चेन्द्रियाणां चैकाग्र्यं परमं तपः " यह श्रुतिका वचन है जिसका अर्थ यह है, कि मन और इन्द्रि- योंकी परम एकाग्रताको तप कहते हैं । इन दोनों प्रकारके कर्मोंको नित्यकर्मके अन्तर्गत ही समझना चाहिये । क्योंकि ब्रह्मचारीकेलिये विद्योपार्जन करने और गुरुसेवा करनेमें जो परिश्रम होता है वह ब्रह्मचारियोंका नित्यव्रतरूप तप है । इसी प्रकार अर्थशौच अर्थात् उचितरीतिसे द्रव्यका उपार्जन कर अपने कुटुम्बियोंके पालन करने वा दान देनेमें जो परिश्रम होता है वह गृहस्थोंका नित्यव्रतरूप तप है । ऐसे ही मौन कृच्छ्रचन्द्रायणादि वानप्रस्थोंका तप है और वाग्- दंड, कायादंड और मनोदंड अर्थात् वचन, शरीर और अपने मनको वशमें रखना यही त्रिदंडी संन्यासियोंका तप है । इसलिये सब आश्र- मियोंके लिये अपना-अपना व्रत निर्वाह करना अर्थात् अपना-अपना तप नित्यकर्म समझा गया है ।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि उपर्युक्त तीनों कर्म यज्ञ, दान और तप (नियत) नित्यकर्म हैं इसलिये भगवान्ने ५ वें श्लोक में इन तीन कर्मोंको मुख्य जानकर इनको कार्यकर्म कहा और इनके त्यागका उल्लं- घन करदिया अर्थात् ये कर्म त्याज्य नहीं होसकते । उसीका संकेत इस सातवें श्लोकमें भी कररहे हैं, कि " नियतकर्म " का त्याग करना उचित नहीं है ।

अब कहते हैं, कि [**मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः**] जो लोग इन कर्मोंको परित्याग करते हैं वे केवल मोहके वश होकर ऐसा करते हैं अर्थात् अज्ञानता, आलस्य, प्रमाद, अहंकार, दर्प, कुसंग और कुविचारकी अधिकतासे जो उक्त कर्मोंका त्याग करते हैं वह **तामसी त्याग** कहाजाता है।

शंका— भगवत्प्राप्तिके निमित्त कर्मोंसे इतर कर्म बन्धनके कारण होते हैं और अब कहते हैं, कि यज्ञ, दान और तपका त्याग करना प्रमाद है और तामसी त्याग है। जब कर्मोंको बन्धनका कारण पहले कहचुके तो उनके त्यागको तामसी क्यों कहते हैं ? उनके त्यागको उचित त्याग कहना चाहिये और त्याग ही करदेना चाहिये जिसमें मनुष्य बांधा न जावे। ज्ञानसे जानकर अथवा अज्ञानतासे नहीं जानकर जो कोई अमृत पान करेगा वह अमर हो ही गा फिर अज्ञानतावश वा मोहवश वा प्रमाद वश जिसने कर्मोंका त्याग कर-दिया उसमें त्यागका फल तो होना ही चाहिये फिर उसे बुरा क्यों कहते हैं ? और तामसी क्यों कहते हैं ? क्योंकि बंधनके कारणोंके त्यागदेनेवालोंको उत्तम और श्रेष्ठ कहना चाहिये।

समाधान— अरे प्रतिवादी ! तू बार-बार यथार्थ तत्त्वको भूल जाया करता है। इस गीताशास्त्रमें ठौर-ठौरपर बारम्बार तुझे यह वार्त्ता समझा दीगयी है, कि सकामकर्म बन्धनके कारण होते हैं निष्काम-कर्म नहीं होते। भगवानका तात्पर्य्य यहां निष्कामकर्मोंसे है और निष्कामकर्मोंका तात्पर्य भगवत्की प्राप्ति ही है इसलिये यहां श्याम-सुन्दरके कहनेका यही अभिप्राय है, कि भगवत्प्राप्तिनिमित्त कर्मोंका

सम्पादन करके जो कोई भी प्राणी यज्ञ, दान और तपका परित्याग करेगा उसका त्याग तामसी त्याग कहा जावेगा। क्योंकि भगवान् पहले ही अ० ६ श्लो० २७ में कहचुके हैं, कि " **यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौंतेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्** " अर्थात् जो कुछ तू करता है सब मुझमें अर्पण करदे! तात्पर्य यह है, कि कर्मोंसे किसी प्रकारकी कामना न करके मेरी प्राप्तिकी अभिलाषा रख। शंका मत करो!

अब भगवान् अगले श्लोकमें राजसी त्यागका वर्णन करते हैं—

मू०— दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८

पदच्छेदः— [यः] दुःखम् (दुःखात्मकम् । कष्टजनकम) एव (निश्चयेन) इति (हेतोः) यत (नित्यम) कर्म (यज्ञदानादि विहितकर्म) कायक्लेशभयात् (शारीरिकदुःखभयहेतोः) त्यजेत (परिहरेत्) सः (असौ त्यागी) राजसम् (रजोगुणनिर्वृत्तम्) त्यागम् (कर्मपरित्यागम) कृत्वा (विधाय) त्यागफलम (ज्ञानपूर्वकत्यागस्य फलम । शान्तिम) एव (निश्चयेन) न (नैव) लभते (प्राप्नोति) ॥ ८ ॥

पदार्थः— हे अर्जुन! (दुःखम) यह कर्म दुःखरूप (एव) ही है (इति) ऐसा जानकर जो प्राणी (यत्) जिस

[नित्य] (कर्म) यज्ञ, दान इत्यादिको (कायक्लेशभयात) शारीरिक दुःखके भयसे (त्यजेत) त्यागदेवे (सः) वह [नित्य-कर्म] (राजसम्) रजोगुणी (त्यागम) त्याग (कृत्वा) करके (त्यागफलम) त्यागफलका (न) नहीं (लभते) लाभ उठा सकता है ॥ ८ ॥

भावार्थः— अब जगत-दुलारे कजरारे नैनवारे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति रजोगुणी त्यागका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्**] जो प्राणी ऐसा समझता है, कि अमुक कर्म दुःखस्वरूप है इसके करनेसे शरीर दुखी होगा और इसका करना मुझसे पार नहीं लगेगा ऐसा जानकर जो अपने कायाक्लेशके भयसे नियत कर्मोंका परित्याग करदेता है अर्थात जैसे वर्त्तमान कालमें बहुतेरे कपोलकल्पित मतावलम्बी जो सनातनधर्मके विरोधी हैं वे पौष और माघकी हिम ऋतुमें जब शीत, शरीरको अधिक सताता है, दांतोंसे दांत लगाकर खटखटाते रहते हैं शरीरपरसे वस्त्र उतारना भी जिनको असह्य ज्ञात होता है वे हरिद्वारके मेलेमें श्रीजगतपावनी गंगाजीके तीरपर जाकर शीतके भयसे यों बकवाद कियाकरते हैं, कि गंगामें स्नान करनेसे क्या होता है ? क्या केवल शरीर धोनेसे भगवान मिलजावेगा ? क्या गंगामें स्नान करनेसे हम कालेसे गोरे होजावेंगे ? इसलिये ऐसे शीतकालमें गंगास्नान करना जिन्होंने धर्म बतलाया है वे ऋषि मुनि महामूर्ख थे अजी चलो घर चलें ! अरे बडे शोककी बात है, कि इन साहस-रहित शीत-भीत शरीर-पोषक निर्बलबुद्धिवालोंको यह देखकर लज्जा नहीं आती, कि

सनातनधर्मावलम्बियोंकी वे स्त्रियां धनवानोंके घरमें परम कोमल होती हैं और जो चारों ओर दासियोंसे घिरी हुई अपने हाथसे दीपबात्ती भी नहीं टारती हैं वे भी माघके महीनेमें माघस्नानकरती हैं और सूर्योदय से पहले हरिद्वारके गंगाजलमें स्नानादि कर गंगाजीकी पूजा करती-हुई आनन्दपूर्वक अपने गृहको जाती हैं और इसी स्नानके कारण पुण्यकी प्राप्ति तो अलग रहे शरीरसे सदा नीरोग रहती हैं किसी प्रकारका क्लेश उनके शरीरको नहीं होता। इनको देखकर भी बित-राडावादियोंको लज्जा नहीं आती और कायाक्लेशके भयसे स्नान करना दुःखरूप जानकर परित्याग करदेते हैं।

इसी प्रकार ये बकवाद करनेवाले आलसीपुरुष एकादशी-ब्रत कृच्छ्रचान्द्रायण इत्यादि ब्रतोंको भी दुःखरूप जानकर परित्याग करदेते हैं। क्योंकि दिवारात्रि मत्स्य-मांस तथा खोआ, पूरीसे पेट भरलेना अपना नित्य-कर्म समझते हैं और अपने शरीरको पुष्ट रखनेके लिये पौष्टिक अन्नोंका संहार करजाया करते हैं तो कब सम्भव है, कि एक दिन भी वे बिना अन्न जलके रहसकें यह देखकर हंसी आती है और शोक भी होता है, कि ये लोग पुरुष होकर उन स्त्रियोंसे भी अधिक भीरुस्वभाव वाले हैं जो षष्ठी—ब्रत इत्यादि करनेमें दोदो दिवस लगातार भूखी रहजाती हैं और पूर्णप्रकार अपने ब्रतका सम्पादन करती हैं।

कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि इस कलिकालमें सौमें निन्न्यानवें पुरुष ऐसे ही डरपोक उत्पन्न होंगे कि जो कायाक्लेशके

भयसे स्नान, संध्या, तर्पण, हवन, व्रत इत्यादि नित्यकर्मोंका परित्याग कर सनातनधर्मको छोड अन्य धर्मोंमें प्रवेश कर जावेंगे। कायाक्लेशके भयसे (Atheist) नास्तिक बन जावेंगे सर्वप्रकारके धर्मोंको तिलाञ्जलि देदेवेंगे इसीलिये भगवान् कहते हैं, कि [**स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्**] ऐसा प्राणी इस राजसी त्यागको करके त्यागका फल लाभ नहीं करसकता क्योंकि उसका त्याग यथार्थ त्याग नहीं है राजसी त्याग होनेके कारण लोक परलोक दोनोंका नष्ट करनेवाला है।

ऐसे राजसत्यागवालोंको यह सुधि नहीं है, कि अनेक जन्मोंके सात्विक कर्मोंके साधन द्वारा ही मनुष्यशरीर पाया है अर्थात् चौरासीलक्ष योनियोंमें भ्रमते २ भवसागरके किनारेपर आपहुंचे हैं जहां केवल भगवच्चरणारविन्दरूपी नौकाके आसरे इस महा भयंकर सागरको पार कर शान्तिको प्राप्त होजाना है। इस प्रकार कर्मोंको पहचानकर उनके साधन करनेकी पूर्ण शक्ति भी भगवान्ने इसी मनुष्ययोनिमें प्रदान की है फिर इस भवसागरको पार कर भगवत् तक पहुंचनेकेलिये यह मनुष्य शरीर ही मुख्य है। तब कायाक्लेशके भयसे नित्यकर्मोंका सम्पादन न करके अन्तःकरणकी शुद्धिसे विमुख रहकर इसी घोर धारमें ऊबडूब करे रहजाना बुद्धिमान्केलिये शोभा नहीं देता। ऐसे लोगोंको यह वचन सुना देना चाहिये, कि "**जिन ढूँढा तिन पाइयां गहरे पानी पैठ। मैं बौरी डूबन डरी रही किनारे बैठ॥**" मैं अपने प्रिय पाठकोंसे यही कहूंगा, कि वे कायाक्लेशके भयसे ऐसे अमूल्य समयका त्याग न करें वरु साहस

कर सात्त्विक कर्मोंके पथपर चढ उपासनाकी सांकरी गली होतेहुए ज्ञानके आनन्दमय नगरमें प्रवेश कर भक्तिकी सुहावनी अटारीपर चढ परप्रकाशमय शय्यापर विहार करतेहुए अपना समय आनन्दपूर्वक बितावें ॥ ८ ॥

अब भगवान सात्त्विकत्यागका वर्णन करतेहुए कहते हैं—

मू०— कार्य्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन !।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥
॥ ९ ॥

पदच्छेदः— अर्जुन ! (निर्मलान्तःकरणानुरंजित पार्थ !) कार्य्यम् (शुद्धिहेतुत्वात् कर्तव्यम्) एव (निश्चयेन) इति (एवम्) यत्, नियतम् (नित्यम्) कर्म (यज्ञदानादिकर्म) संगम् (तत्रासक्तिम् । कर्तृत्वाभिमानम्वा) च (तथा) फलम् (तेषां फलं स्वर्गादिकम्) त्यक्त्वा (विहाय) एव (निश्चयेन) क्रियते (अनुष्ठीयते । विधीयते) सः, त्यागः (कर्मपरित्यागः) सात्त्विकः (सत्वगुणनिर्वृतः) मतः (अनुमतः) ॥ ९ ॥

पदार्थः— हे अर्जुन ! (इत्येव) यह इतना कर्म निश्चयकरके (कार्य्यम्) मनुष्यके लिये कर्तव्य ही है (इति) ऐसा (यत्) जो (नियतम्) नित्यकर्म (संगम्) तिसके संग (च) तथा (फलम्) फलको जब (त्यक्त्वा) त्यागकर (एव) निश्चयरूपसे (क्रियते) सम्पादन किया जाता है तब (सः) इस प्रकारका (त्यागः) त्याग (सात्त्विकः) सात्त्विक (मतः) माना-

गया है अर्थात् कर्मोंको करते हुए उनके फलोंका त्याग सात्विक त्याग है ॥ ९ ॥

भावार्थः— अब किरीटधारी ब्रजविहारी श्रीश्याम मुरारी भगवान् कृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि [**कार्य्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन !**] यह कर्म मनुष्योंकेलिये कर्त्तव्य ही है ऐसा जानकर जो नियतकर्म किया जाता है अर्थात् संध्यादि ब्रह्मयज्ञ जो नित्यकर्म कहे जाते हैं जिनके विषय इस गीताशास्त्रमें ठौर-ठौरपर अनेकोंबार यों कथन किया है, कि इनका नहीं करना हानिकारक है शारीरिक और आत्मिक दोनों प्रकारकी उन्नतिमें शिथिलताका कारण है। इसलिये जो बुद्धिमान् विवेकी मोक्षाभिलाषी हैं वे अपने अन्तःकरणकी शुद्धिनिमित्त इस नित्यकर्मका अवश्य सम्पादन करते हैं पर किस प्रकार करते हैं ? सो भगवान् कहते हैं, कि [**संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः**] इन नित्यकर्मोंका संग और फल त्यागकर करते हैं अर्थात् कर्मका त्याग तो कभी नहीं करते अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त होजानेपर भी तथा जीवन्मुक्ति लाभ करने पर भी लोक-संग्रह-निमित्त नित्य कर्मोंका सम्पादन तो करते ही रहते हैं पर उसके फलकी इच्छा तीनकालमें भी नहीं करते ऐसा त्याग सात्विक मानागया है ॥ ९ ॥

यथार्थ सात्विकत्यागकरनेवाला आत्मविवेकी सर्वप्रकारके शुभाशुभ कर्मोंके साथ किस प्रकार सम्बन्ध रखता है ? सो वर्णन करतेहुए भगवान् कहते हैं ।

मू०— न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १०

पदच्छेदः— त्यागी (सात्विकेन त्यागेन युक्तः । सात्विकत्यागशीलः) सत्वसमाविष्टः (सत्वेनात्मानात्मविवेकज्ञानहेतुना संयुक्तः) मेधावी (ऊहापोहकुशलतया नित्यानित्यवस्तुविवेके प्रज्ञावान्) छिन्नसंशयः (छिन्नः नष्टः अविद्याकृतसंशयः यस्य सः) अकुशलम् (अभद्रम् । परिणामविरसतयाऽमंगलजनकम्) कर्म (कार्यम्। यागादिकम्) न (नैव) द्वेष्टि (द्वेषबुद्ध्या पश्यति) कुशले (भद्रे । स्वर्गादिसाधनतया मंगलजनके) [अपि] न (नैव) अनुषज्जते (आसक्तो भवति) ॥ १० ॥

पदार्थः—(त्यागी) सात्विकत्यागका करनेवाला (सत्वसमाविष्टः) आत्मज्ञानका हेतु जो अन्तःकरणकी शुद्धि तिससे संयुक्त (मेधावी) और नित्यानित्य वस्तुके विवेक करनेमें पूर्णप्रकार विचार करनेवाला (छिन्नसंशयः) सर्वप्रकारके संशयोंसे रहित जो प्राणी है वह(अकुशलम) अशुभ (कर्म) कर्मसे (न द्वेष्टि) द्वेष नहीं करता है और (कुशले) शुभकर्ममें (न अनुषज्जते) प्रीति नहीं रखता है अर्थात आसक्त नहीं होता । तात्पर्य यह है, कि दोनों प्रकारके कर्म उसकी दृष्टिमें एक समान रहते हैं इसलिये उदासीन होकर कर्मोंका सम्पादन करता रहता है । ॥ १० ॥

भावार्थः— अब श्रीभक्तजनमानसहंस वृष्णिवंशावतंस श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति त्रिगुणात्मक त्यागका वर्णन करते-

हुए और तीनों प्रकारके त्यागियोंकी अन्तिम दशा दिखलाते हुए उन पुरुषोंका वर्णन करते हैं जो गुणातीत हैं अर्थात् जो सत्व रज तम तीन महलवाली अट्टालिकाके ऊपरवाले छत्तेपर चढकर निर्मल आकाशकी शोभा देखते हुए शीतल मन्द सुगन्ध समीरका सुख अनुभव कररहे हैं अर्थात् जो कर्म, उपासना और ज्ञानकी समाप्ति कर विज्ञाननिकेतनमें अपने परम प्रिय सखा श्रीआनन्दकन्द व्रजचन्दके साथ भक्ति-रसका आनन्द लेरहे हैं ऐसे पुरुषोंके विषय भगवान् कहते हैं, कि [**न द्वेष्टयकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते**] ये अकुशल अर्थात् अशुभ कर्मसे द्वेष नहीं करते और कुशल अर्थात् शुभ कर्मसे अनुराग नहीं रखते दोनोंको समान समझते हैं। यदि किसी समय अकस्मात् शुभ वा अशुभ प्रारब्ध उदय होकर इनके सम्मुख आभी जावे तो हर्षशोकसे रहित हो उस कर्मके साथ बच्चोंके समान क्रीडा करने लगजाते हैं अर्थात् दोनोंको आनन्दपूर्वक भोग-लेते हैं। शुभ कर्मोंके भोगनेके लिये तो सर्वसाधारण अभिलाषी होरहे हैं पर अशुभ कर्मके भोग-भयसे सहस्रों योजन दूर भागते हैं पर ये गुणातीतपुरुष अशुभको भी भोगलेना अपना कर्त्तव्य और कार्य्य जानकर भोगलेते हैं अर्थात् कुशल वा अकुशल कर्मसे घृणा नहीं करते। जैसे सूर्य्यवंशावतंस महाराज हरिश्चन्द्रने चाण्डालके अधीन हो श्मशानमें मृतकोंका जलाना अंगीकार करलिया घृणा नहीं की और श्रीरघुकुलके राजपुरोधा योगमार्गप्रदर्शक श्रीमहर्षि वशिष्ठने वेश्याके पीछे तबला ठोकना दूषित कर्म नहीं समझा तथा जडभरत राजा रघुगणकी पालकी अपने कंधेपर ले चले जो उनके लिये महा

अकुशल कर्म था पर कुछ भी द्वेष नहीं किया । स्वयं विष्णु भगवान्‌ने भी तो भृगुके लातकी चोट सहली थी ।

इसी प्रकार गुणातीतपुरुष किसी प्रकारके मंगलमय पदार्थोंकी प्राप्तिसे भी अनुराग नहीं रखते । जैसे श्रीदशरथनन्दन भरतने राजतिलक मिलनेपर भी राजसे कुछ भी अनुराग नहीं रखा और सुदामा ब्राह्मणने त्रिलोकीका सुख मिलनेपर भी उसकी ओर दृष्टि उठाकर नहीं देखा ।

इसलिये भगवान् कहते हैं, कि ऐसा पुरुष [**त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः**] यथार्थ त्यागी होता है और आत्मज्ञान का हेतु, जो अन्तःकरणकी शुद्धि तिससे युक्त होता है इसलिये वह बुद्धिमान् होता है और सर्वप्रकारके संशयोंसे रहित होता है ।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि तीनों प्रकारके त्यागमें जो त्यागका अंकुर है वह भी स्वरूप करके अथवा फल करके उसके चित्तमें नहीं रहता अर्थात जिससे त्यागका भी त्याग होजाता है । क्योंकि उसके चित्तमें इस प्रकारके अहंकारका अभिनिवेश कभी भी नहीं होता, कि मैंने कर्मोंके फलका त्याग करदिया । सम्भव है, कि किसी त्यागीके चित्तमें ऐसा भी अहंकार उपज आवे, कि मैंने सहस्रों ज्योतिष्टोम, अग्निष्टोम, बाजपेय इत्यादि कर्मोंको करके रंचकमात्र भी फल नहीं चाहा है इसलिये मैं त्यागियोंमें उत्तम त्यागी हूं । यदि ऐसा अहंकार भी हृदयमें उपज आया तो अनर्थका कारण हुआ

इसीलिये जो त्यागका भी त्याग है वही यथार्थ त्याग है । ऐसे त्यागीके विषय भगवान् कहरहे हैं, कि वह कुशल वा अकुशल कर्मसे तनक भी राग द्वेष नहीं रखता । फिर वह प्राणी सत्वगुण समाविष्ट कर्मोंसे अर्थात् आत्मज्ञानका कारण जो अन्तःकरणकी शुद्धि तिससे युक्त है और सदा आत्मज्ञानमें विहार करता है ।

इस प्रकार अन्तःकरणकी शुद्धिसे जिसने आत्मका और अनात्मका यथार्थ विवेक लाभ किया है इसलिये जो मेधावी होरहा है अर्थात् जिसकी मेधा बारम्बार शम दमादि षट्सम्पत्ति तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासनादि चारों साधन तथा 'तत्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि चारों महावाक्योंके सारतत्त्वोंसे सुशोभित होजाती है और वह प्राणी छिन्नसंशय होजाता है तथा ब्रह्मभावको प्राप्त कर परमानन्दरूप सरोवरके शीतलजलमें स्नान करता रहता है जिसे कभी भी यह संदेह नहीं होता, कि ईश्वर है वा नहीं है ? जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति, क्रममुक्ति साक्षान्मुक्ति, सारूप्यमुक्ति और सायुज्यमुक्ति हैं वा नहीं ? और इस सृष्टिका आदि है वा यह अनादि है ? कोई इसका कर्ता है वा यह स्वयं है ? उत्पत्ति और प्रलय कहीं है वा नहीं है ? भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक इत्यादि सात लोक ऊपरके तथा अतल वितल, सुतल इत्यादि सात लोक नीचेके हैं वा नहीं हैं ? इन सब विषयोंका संशय जिसमें नहीं रहता वही छिन्नसंशय कहलाता है ।

पाठकोंको यहां एक दृष्टान्त इस विषयपर दिया जाता है—

एक पुरुषके पास एक अद्भुत स्वभावका अश्व था वह जिधर निकलता था उधरसे फिर लौटता नहीं था । वह अश्व वाला एक किसी

धनवान पुरुषके पास पहुंचा और बोला, कि आप यह मेरा अश्व लेलेवें। उसे धनवानने पूंछा इसका मूल्य क्या है और गुण क्या है? घोडे वालेने कहा एक सहस्र मुद्रा तो इसका मूल्य है और इसका स्वभाव यह है, कि जिधर जाता है उधरसे फिर लौटता नहीं है। धनवान बोला यह अश्व मेरे कामका नहीं है इसे मैं नहीं लूंगा क्योंकि केवल सौ योजन मेरा राज्य है। जब यह सौ कोससे आगे निकल जावेगा तो फिर नहीं लौटनेके कारण मेरे कामका नहीं रहेगा। इतना सुन घोडेवाला उससे अधिक धनवानके पास गया और उससे भी इसी प्रकारकी वार्त्ताएं हुईं तब उस धनवानने भी कहदिया, कि नहीं भाई! यह घोडा मेरे कामका नहीं। क्योंकि केवल एक सहस्र योजन मेरा राज्य है। जब यह सहस्र योजनसे आगे निकल जायगा तो मेरे कामका नहीं रहेगा। एवम्प्रकार घोडेवाला बहुतेरे बडेसे बडे नरेशोंके पास होता हुआ और अपने घोडेका स्वभाव बतलाता हुआ फिरता रहा पर किसीनें उस घोडेको मोल लेना स्वीकार नहीं किया तब अन्तमें वह उस देशके चक्रवर्त्ती महाराजके पास पहुंचा जब उससे पूर्ववत बातें हुईं तो चक्रवर्त्तीने अपने प्रधानमन्त्रीसे कहा, कि इस अश्वको मोल लेलो और किसी प्रकारकी शंका मत करो! क्योंकि चाहे यह दूरसे दूर चला-जावे लौटे वा न लौटे इसकी कुछ परवा नहीं। जहां कहीं यह रहेगा मेरा ही अश्व कहलावेगा क्योंकि सर्वत्र मेरा ही राज्य है।

इसी प्रकार जिस प्राणीकी बुद्धि विशाल है और जिसका अन्तःकरणरूप अश्व लोकालोकपर्यन्त दौड जाता है वही चक्रवर्त्तीके समान

दशों दिशाओंको अपनेमें देख रहा है, छिन्नसंशय होकर जहां चाहता है चला जाता है, वही यथार्थ त्यागी है, सत्त्वगुण विशिष्ट होनेका परिणाम पायेहुआ है अर्थात् परम मेधावी होकर आत्मज्ञानके लाभ करनेसे सर्वप्रकारके कुशल और अकुशल कर्मोंमें छिन्नसंशय होकर प्रवेश करजाता है पर पद्मपत्रवत् उन कर्मोंका लेशमात्र भी उसे स्पर्श नहीं करता इसीलिये वह जीवन्मुक्त है और भगवच्चरणारविन्दोंका परम अनुरागी है उसीके द्वारा वह ब्रह्म ग्राह्य है।

प्रमाण० श्रु०— " ॐ लोभमोहं भयं दर्पं कामं क्रोधं च किल्बिषम् । शीतोष्णं क्षुत्पिपासं च संकल्पं च विकल्पकम् ॥ न ब्रह्मकुलदर्पं च न मुक्तिं ग्रंथसंचयम । न भयं सुखदुःखं च तथा मानापमानयोः ॥ एतद्भावविनिर्मुक्तं तद्ग्राह्यं ब्रह्म तत्परमिति " (तेजोबिन्दूप० श्रु०१२, १३) अर्थ स्पष्ट है ।

तात्पर्य्य यह है, कि लोभ, मोह इत्यादि जो अकुशल तत्त्व हैं तथा (ब्रह्मकुलदर्प) ब्राह्मणकुलमें जन्म लेनेका गौरव वा अहंकार, मुक्तिप्रदान करनेवाले ग्रंथोंका संचय करना अर्थात् पढना इत्यादि जो कुशल तत्त्व हैं इन दोनोंसे किसी प्रकारका राग वा द्वेष न करके जो सर्वप्रकारके भावोंसे मुक्त होगया है उसीके द्वारा वह परब्रह्म ग्राह्य है अन्यसे नहीं ॥ १० ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें यह दिखलाते हैं, कि जो प्राणी देहाभिमानी है वह त्यागी नहीं होसकता क्योंकि जो कर्मफलका त्यागनेवाला है वही यथार्थ त्यागी होसकता है ।

मू० — न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११

पदच्छेदः— हि (यतः) देहभृता (देहधारिणा । शरीरिणा) अशेषतः (साकल्येन) कर्माणि (यज्ञदानादि कार्य्याणि) त्यक्तुम् (हातुम) न शक्यम् (प्राणयंत्रणा भयान्न क्षमम्) यः (अधिकारी) तु, कर्मफलत्यागी (कर्मफलत्यागशीलः) सः त्यागी (यथार्थतः सर्वकर्मपरित्यागी। सन्न्यासी) इति (एवम्) अभिधीयते (निगद्यते) ॥ ११ ॥

पदार्थः— (हि) निश्चयकर (देहभृता) देहधारीसे (अशेषतः) संपूर्ण (कर्माणि) कर्मोंका (त्यक्तुम) त्याग होना (न शक्यम) शक्य नहीं है (तु) किन्तु (यः) जो प्राणी (कर्मफलत्यागी) कर्मफलका त्याग करनेवाला है (सः त्यागी) वही त्यागी है (इत्यभिधीयते) ऐसा कहाजाता है अर्थात वही पुरुप त्यागीके नामसे सुशोभित कियाजाता है ॥ ११ ॥

भावार्थः— श्रीआनन्दकन्द ब्रजचन्द्र अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि [न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः] जो लोग देहधारी हैं उनसे सब कर्मोंका त्याग होना सम्भव नहीं है अर्थात जिनको अपनी देहके साथ स्नेह बनाहुआ है, जिसके पालन पोषणके लिये नाना प्रकारके स्वादु अन्नोंका ग्रहण करते हैं, भिन्न प्रकारके वस्त्र और आभूषणोंसे अपने शरीरको अलंकृत करते हैं, अनेक प्रकारके सुगन्वित द्रव्योंसे अपनेको सुगन्धित करते रहते हैं ऐसे

पुरुषोंसे अशेष कर्मोंका त्याग होना असम्भव है । फिर उनको अपनी देहके संग ऐसा अभिमान बनाहुआ है, कि मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं ब्रह्मचारी हूं, गृहस्थ हूं, वानप्रस्थ हूं वा संन्यासी हूं इस- लिये मुझको अपने वर्णाश्रमके धर्मानुसार यज्ञादि कर्मोंका सम्पादन करना आवश्यक है तथा अमुक शत्रुके नाश करनेकेलिये आजसे मैं श्येनयज्ञ का अवश्य सम्पादन करूंगा और अपने अमुक मित्रको पुत्र प्राप्त होनेकेलिये पुत्रेष्टि यज्ञका भी सम्पादन कराऊंगा इत्यादि राग द्वेष जिसके हृदयमें बनेहुए हैं वही देहभृत् कहाजाता है । ऐसोंसे कर्मोंका एकबारगी त्याग होना सर्वथा असंभव है । क्योंकि जबतक इस लोकसे स्वर्गलोक पर्य्यन्तकी कामनाएं शरीरके साथ बनी रहेंगी तबतक कर्मोंसे छुटकारा मिलना कठिन है इस विषयको भगवान्ने पिछले अध्यायोंमें बार-बार कथन किया है । अब इस अठारहवें अध्यायके इस ११वें श्लोकमें उपसंहारमात्र करतेहुए संक्षिप्तरूपसे अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि उक्त प्रकारके देहाभिमानीसे कर्मोंका त्याग हो ही नहीं सक्ता वह तो कर्मबन्धनमें सदा पडा ही रहेगा और दुःख सुख भोगता ही रहेगा । पर [यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागी- त्यभिधीयते] जो कर्मफलका त्याग करनेवाला है वही यथार्थ त्यागी कहाजाता है । अर्थात जो केवल लोकसंग्रहार्थ कर्मोंका सम्पादन करता है पर आप उनके फलोंसे कुछ प्रयोजन नहीं रखता अर्थात जिसै अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त होगयी है, जो शरीरयात्रानिर्वाहार्थ कर्मोंका करनेवाला है, अन्य किसी कामनासे प्रयोजन नहीं रखता, अरु सब कर्मोंको भगवत्में अर्पण करता चलाजाता है वही यथार्थ

त्यागी पुकाराजाता है। क्योंकि भगवतमें कर्मोंका अर्पण करदेना ही यथार्थ त्याग है ॥ ११ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा, कि भगवन् ! शरीर त्यागनेके पश्चात् शुभाशुभ कर्मोंके बंधन बलात्कार किसको बांधते हैं ? और किसको नहीं बांधते ? अर्थात् वे कौन हैं जो कर्मोंके चक्करमें पडकर भिन्न २ योनियोंमें दौड़े फिरते हैं ? और वे कौन हैं जो कर्मोंसे मुक्त होजाते हैं ? इसके उत्तरमें भगवान् बोले—

मू०— अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥
॥ १२ ॥

पदच्छेदः— अत्यागिनाम् (कर्माननुष्ठायिनाम् । संन्यासरहितानाम् गौणसन्न्यासिनामिति वा) प्रेत्य (मरणानन्तरम् । देहत्यागादूर्ध्वम् । परलोके) कर्मणः (कार्यस्य) अनिष्टम् (पापाचरणत्वात् प्रतिकूलवेदनीयं नरतिर्यगादिलक्षणम्) इष्टम् (पुण्याचरणत्वात् अनुकूलवेदनीयम् देवगन्धर्वादिलक्षणम्) च (तथा) मिश्रम् (पापपुण्य द्वयस्य मिश्रमिष्टानिष्टसंयुक्तं मनुष्यलक्षणम्) त्रिविधम् (त्रिप्रकारकम्) भवति (जायते) तु (किन्तु) संन्यासिनाम् (कर्मफलत्यागिनाम् । परमहंसपरिव्राजकानाम्) क्वचित् (कुत्रापि । कस्मिन्नपि स्थाने । कस्यामपि दशायाम्) न (पूर्वोक्तं किमपि फलं न भवति) ॥ १२ ॥

पदार्थः— (अत्यागिनाम्) कर्मके नहीं त्यागनेवालोंको (प्रेत्य) मरनेके पश्चात् उनको (कर्मणः) कर्मका (अनिष्टम्) अप्रिय (इष्टम्) प्रिय (च) और (मिश्रम्) प्रिय अप्रिय-संयुक्त (त्रिविधम) तीन प्रकारका (फलम) फल (भवति) प्राप्त होता है (तु) किन्तु (संन्यासिनाम्) त्यागियोंको (क्वचित्) कहीं (न) [भवति] कुछ भी फल नहीं होता है अर्थात् किसी प्रकारका फल बाधा नहीं करता ॥ १२ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो कर्मफलोंके भेद और उनसे बांधे-जाने तथा मुक्त होनेवालोंके विषय भगवानसे पूछा है तिसके उत्तरमें यदुकुलकमलदिवाकर करुणासागर भगवान कृष्णचन्द्र कहते हैं, कि **[अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्]** अनिष्ट, इष्ट, और मिश्र ये तीन प्रकारके कर्मफल निश्चित कियेहुए हैं।

अनिष्ट— उन कर्मफलोंको कहते हैं जिसे प्राणी अपने सम्मुख आतेहुए नहीं देखना चाहता अर्थात् जिसकी कभी भी इच्छा नहीं रखता । जैसे रौरव कुंभीपाकादि नाना प्रकारके नरक अथवा शूकर, कूकर, चांडालादि नाना प्रकारकी योनियां, ज्वर, विशूचिकादि नाना प्रकारके रोग, जिनके प्राप्त होते ही यह जीव अत्यन्त दुःखी होजाता है । ये सब अनिष्टफल कहलाते हैं ।

इष्टम— उस कर्मफलको कहते हैं जो अपने अनुकूल हो और जिसे सम्मुख आते हुए देख प्राणी परम प्रसन्नताको प्राप्त होजावे । जैसे इन्द्रलोक, बृहस्पतिलोक इत्यादि लोकोंके भोग अर्थात देव, गन्धर्व, यक्षादि योनियोंकी प्राप्ति और उनके सुख ।

मिश्रम— उन कर्म फलोंको कहते हैं जो शुभ और अशुभ दोनोंके मेलसे उत्पन्न होते हैं। जैसे मनुष्य इत्यादि योनि और उनके दुःख, सुख इत्यादि भोग।

अब भगवान् कहते हैं, कि उक्त तीनों प्रकारके फल [**भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्**] शरीर त्याग करनेके पश्चात उन लोगोंको प्राप्त होते हैं जो अत्यागी हैं पर जो संन्यासी हैं उन्हें इन फलोंमें एक भी नहीं भोगना पड़ता पर जिन्होंने देहाभिमानके कारण कर्मोंका फल त्याग नहीं किया अर्थात् सकामकर्मोंका सम्पादन किया है, इसी कारण वे बार-बार मनुष्ययोनिमें उत्पन्न होकर दुःख सुख भोगा करते हैं। और जो संन्यासी हैं वे इन फलोंसे मुक्त होजाते हैं।

भगवान्‌ने जो इस श्लोकमें अत्यागी शब्दका प्रयोग किया है तिसके अनेक तात्पर्य्य हैं। प्रथम तो यह, कि अज्ञानताके कारण जिन पुरुषोंको अपने शरीर तथा अपने पुत्र, कलत्र, धन, सम्पत्ति इत्यादिमें अभिनिवेश बनाहुआ है इस कारण अपने तथा अपने कुटुम्बियोंके वा इष्टमित्रोंके कल्याणार्थ नाना प्रकारके काम्यकर्मोंका सम्पादन कर फलकी प्राप्तिकी दृढ़ इच्छा रखते हैं इसीलिये उक्त तीनों प्रकारके फलमें फंसकर दुःख सुख भोगा करते हैं।

दूसरे वे हैं जिन्होंने निष्काम कर्मोंका सम्पादन करना तो आरंभ किया पर उसकी पूर्त्ति न होनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि होनेके पहलेही शरीर त्याग करचुके हैं इसलिये उक्त तीनों प्रकारके कर्मफलोंमें फंस जाया करते हैं।

तीसरे वे हैं जिन्होंने निष्कामकर्मोंके सम्पादनसे अन्तःकरणकी शुद्धि तो प्राप्त करली पर ज्ञानकी सप्त भूमिकाओंकी समाप्तिसे पहले मृत्युके वश होगये ।

चौथे वे हैं जिन्हें अन्तःकरणकी शुद्धि भी लाभ होगयी और ज्ञानकी सप्त भूमिकाएं भी समाप्त होचुकीं पर अन्तिम भूमिका ' तुरीया ' की समाप्तिमें कुछ कच्चापन अर्थात् परिपक्वता न होनेके कारण तुरीयातीत पदवीको न पहुंचनेसे ब्रह्मज्ञान द्वारा अत्यन्त उग्र किसी संचित कर्मका नाश न कर सके इसलिये मृत्युके समय वह उग्र कर्म सम्मुख आ पडनेसे अन्तःकरणकी शान्तिमें किंचित् चंचलता का स्फुरण होगया ।

उक्त चारों प्रकारके प्राणी अत्यागी कहलाते हैं और उनको शरीर छूटनेके पश्चात् उक्त तीनों फलोंमें किसी प्रकारके फलका भोग स्वल्पकालके लिये अथवा किंचित् विशेष कालके लिये भोगना पडता है इसीलिये भगवानने इस श्लोकमें " प्रेत्य " शब्दका प्रयोग किया है ।

अब भगवान् कहते हैं, कि " न तु संन्यासिनां क्वचित् " अर्थात् संन्यासियोंको शरीर छूटनेके पश्चात् उक्त तीनों फलोंमेंसे किसी एकको भी नहीं भोगना पडता अर्थात् जिन लोगोंने संन्यासकी अन्तिम दशा प्राप्त करली है और कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस, तुरीयातीत और अवधूतकी अन्तिम पदवी तक क्रमशः पहुंचगये हैं एवं अपने शरीरको मृतकके समान जानकर कुछ भी अभि-

निवेश नहीं रखा है उनको तीनोंमें किसी प्रकारका फल नहीं भोगना पडता । क्योंकि उनमें अपने शरीरका अभिनिवेश लेशमात्र भी नहीं रहता ।

पाठकोंके बोध निमित्त सन्न्यासके अनेक अंगोंका वर्णन अ० ५ श्लो० ६ में और इस १८ वें अ० के श्लोक १ में करदियागया है । अब इसमें जो कुछ विशेषता रहगयी है वह यहां दिखलायीजाती है । प्रमाण । श्रु०— " वैराग्यसन्न्यासी ज्ञानसंन्यासी ज्ञानवैराग्यसन्न्यासी कर्मसंन्यासीति चातुर्विध्यमुपागतः । "

अर्थ— वैराग्यसन्न्यासी, ज्ञानसन्न्यासी, ज्ञानवैराग्यसन्न्यासी और कर्मसन्न्यासी ये चार प्रकारके सन्न्यासी होते हैं वे यों हैं—

" तद्यथेति दृष्टानुश्रविकविषयवैतृष्णयमेत्य प्राक्पुण्यकर्मविशेषात्सन्न्यस्तः स वैराग्यसन्न्यासी "

१. वैराग्यसन्न्यासी— देखेहुए और सुनेहुए विषयों अर्थात् इस लोक और परलोकके विषयोंकी तृष्णासे रहित होकर पूर्वजन्मार्जित विशेष पुण्यकर्मकी प्रेरणासे जो संन्यस्तको प्राप्त हुआ है वह वैराग्यसन्न्यासी कहाजाता है ।

श्रु०—" ॐ शास्त्रज्ञानात्पापपुण्यलोकानुभवश्रवणात्प्रपंचोपरतो देहवासनां शास्त्रवासनां लोकवासनां त्यक्त्वा वमनान्नमिव प्रवृत्तिं सर्वं हेयं मत्त्वा साधनचतुष्टयसपन्नो यः संन्यस्यति स एव ज्ञानसंन्यासी "

२. ज्ञानसंन्यासी— शास्त्र और ज्ञानके द्वारा पाप और पुण्यके लोकोंका अर्थात् नरक और स्वर्गके दुःख सुखका अनुभव सुन करके प्रपंचसे उपरामको प्राप्त होकर देहवासना, शास्त्रवासना और लोकवासना से रहित होकर वमन कियेहुए अन्नके समान सबोंको परित्याग करदेनेके योग्य जानकर जो प्राणी श्रवण, मननादि साधनचतुष्टयसे सम्पन्न होकर सबोंको परित्याग करदेता है वही निश्चय करके ज्ञान-सन्न्यासी कहलाता है ।

श्रु० " ॐ क्रमेण सर्वमभ्यस्य सर्वमनुभूय ज्ञान वैराग्याभ्यां स्वरूपानुसन्धानेन देहमात्रावशिष्टः संन्यस्य जातरूपधरो भवति स ज्ञानवैराग्यसन्न्यासी " ।

३.— ज्ञानवैराग्यसंन्यासी— क्रमशः सर्वप्रकारकी क्रियाओंका अभ्यास और सब प्रकारके शास्त्रोंका अनुभव करके ज्ञानवैराग्य द्वारा अपने स्वरूपके अनुसन्धान मात्रसे देहमात्र ही अवशिष्ट रहगयी है जिसको उसे भी त्याग करके अत्यन्त सुन्दर तेजोमय आत्मस्वरूपको धारण किया है जिसने ऐसा संन्यासी ज्ञानवैराग्यसंन्यासी कहा जाता है ।

श्रु०— ॐ ब्रह्मचर्य्यं समाप्य गृही भूत्वा वानप्रस्थाश्रममेत्य वैराग्याभावेऽप्याश्रमक्रमानुसारेण यः संन्यस्यति सः कर्म-संन्यासी "

४. कर्मसंन्यासी—ब्रह्मचर्य्य आश्रमकी समाप्ति करके गृहस्थमें निवास करनेके पश्चात् वानप्रस्थ आश्रमको प्राप्त होकर वैराग्यके

अभाव होनेपर भी जो आश्रमके क्रमानुसार चतुर्थ आश्रमको ग्रहण करता है वहै कर्मसन्यासी कहाजाता है ।

श्रु०— "से संन्यासः षड्विधो भवति कुटीचकबहूदकहंस-परमहंसतुरीयातीतावधूताश्चेति"

अर्थ—तिस कर्मसंन्यासके ६ भेद हैं— (१) कुटीचक (२) बहूदक (३) हंस (४) परमहंस (५) तुरीयातीत (६) अवधूत ।

अब इनका वर्णन विलग-विलग कियाजाता है—

श्रु०— " ॐ कुटीचकः शिखायज्ञोपवीती दण्डकमण्डलुधरः कौपीनशाटीकंथाधरः पिठरखनित्रशिक्यादिमात्रसाधनपर एकत्रान्नादनपरः श्वेतोर्ध्वपुण्ड्रधारी त्रिदण्डः ।"

१. कुटीचक— शिखा, यज्ञोपवीत, दण्डकमंडलु, कौपीन, शाटी (गांती) गुदड़ी, खप्पड, खन्ती, मौंजी धारण कियेहुए एक स्थानमें बैठकर अन्नभोजन करनेवाला तथा त्रिदण्डका धारण करनेवाला कुटीचक कहाजाता है ।

श्रु०— " बहूदकः शिखादिकन्थाधरस्त्रिपुण्ड्रधारी कुटीचकवत्, सर्वसमो मधुकरवृत्त्याष्टकवलाशी ॥"

२. बहूदक— कुटीचकके समान ही शिखा, यज्ञोपवीत, कन्था इत्यादि धारण कियेहुए सबको समानरूपसे देखताहुआ मधुकरवृत्तिसे केवल आठ कवल अन्नका भोजन करनेवाला बहूदक कहाजाता है । अर्थात् मधुकरके सदृश जिस गृहस्थाश्रमरूप कमलके पास पहुंचजावे वहां केवल आठ ग्रास अन्नका भोजन करले अधिक नहीं ।

श्रु०—"हंसो जटाधारी त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्रधारी असंक्लृप्तमाधूकरान्नाशी कौपीनखण्डतुण्डधारी ।"

३. हंस— जटा और त्रिपुण्डका धारण करनेवाला बिना इच्छाकिये आपसेआप प्राप्तहुई माधुकरी ग्रहण करनेवाला तथा कौपीनखंड और शृंगका धारण करनेवाला 'हंस' कहलाता है ।

श्रु०—"परमहंसः शिखायज्ञोपवीतरहितः पंचगृहेषु करपात्री एककौपीनधारी शाटीमेकामेकं वैणवं दण्डमेकशाटीधरो वा भस्मोद्धूलनपरः सर्वत्यागी ।

४. परमहंस— शिखा और यज्ञोपवीतरहित होकर पांच गृहोंमें जा, करपरभिक्षामांगनेवाला, एक कौपीन, एक गांती तथा एक बांस का दण्ड रखनेवाला एवम् भस्म रमानेवाला और सब कुछ त्यागदेने वाला परमहंस कहाजाता है ।

श्रु०— तुरीयातीतो गोमुखवृत्त्या फलाहारी अन्नाहारीचेद्गृहत्रये देहमात्रावशिष्टो दिगम्बरः कुणपवच्छरीरवृत्तिकः"

५. तुरीयातीत – सर्व प्रकारसे त्यागी तीन ही घरमें गोमुखवृत्तिसे फल वा अन्नका आहार करनेवाला एवं देहमात्र ही अवशिष्ट रहगयी है जिसको तथा दशों दिशाओंको ही अपना वस्त्र समझकर नग्न रहनेवाला मृतकके सदृश अपनी शरीरवृत्तिको रखा है जिसने वही 'तुरीयातीतसन्न्यासी' कहाजाता है ।

श्रु०— " अवधूतस्त्वनियमः पतिताभिशस्तवर्जनपूर्वकं सर्ववर्णेष्वजगरवृत्याहारपरः स्वरूपानुसन्धानपरः जगत्तावदिदं नाहं सवृक्षतृणपर्वतं यद्वा ह्यजडमत्यन्तं तस्यां कथमहं विभुः " (संन्यासो०)

६. अवधूत— एक ठौर पडा हुआ किसीको किसी प्रकारका बिना क्लेश दिये हुए अजगरवृत्तिसे सब वर्णोंके हाथका अन्न भक्षण कर लेता है तथा वृक्ष, पर्वत इत्यादिके सहित जो यह दृश्यमात्र जगत् है तिसमें मैं नहीं हूं क्योंकि मैं जो चैतन्य सर्वव्यापक हूं सो इनमें क्यों जाऊं ? इस प्रकार जो संसृतिद्वन्द्वोंसे रहित होकर और अपने देहानुसन्धानको भी त्यागकर भगवत्में तदाकार होरहा है वही अवधूत कहाजाता है।

इन श्रुतियोंसे सिद्ध होता है, कि संन्यासियोंमें सबसे उत्तम अवधूतकी अवस्था है। भगवानने जो इस श्लोकमें ' न तु सन्न्यासिनां क्वचित ' कहा है तिसका मुख्य तात्पर्य यही है, कि जो संन्यासी अवधूतकी अवस्था तक पहुंचगये हैं उनको इष्ट, अनिष्ट और मिश्रकर्म बाधा नहीं करते।

परमहंसकी अवस्थातक किसी कारणवशात् शान्तवृत्तिमें विकार उत्पन्न होनेका भय है। जैसे परमहंस जडभरतको शरीर छोडते समय एक मृगशावकमें वृत्ति रहनेके कारण मृगयोनिमें जानापडा। यह कथा प्रसिद्ध है इसलिये अधिक नहीं लिखीगयी ॥ १२ ॥

इतना सुन अर्जुनने, भगवानसे यों पूछा, कि हे करुणासिन्धु ! इन इष्ट, अनिष्ट और मिश्र कर्मोंकी समाप्तिके लिये कौन-कौनसे मुख्य कारण हैं सो विलग २ समझाकर कहो ! इतना सुन भगवान् बोले।

मू०— पञ्चेमानि महाबाहो ! कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥
॥ १३ ॥

पदच्छेदः— महाबाहो ! (विशालभुजशालिन् !) सर्व-कर्मणाम् (सर्वेषां नित्यनैमित्तिककाम्यानां कर्मणाम्) सिद्धये (निष्पत्तये) इमानि (वक्ष्यमाणानि) पंच, कारणानि (हेतुभूतानि । निर्वर्त्तकानि) मे (मम परमात्मनः सर्वज्ञस्य वाक्यात्) निबोध जानीहि । बुध्यस्व) कृतान्ते (कृतं कर्मोच्यते तत्स्थान्तः समाप्तिर्यस्मिन् तस्मिन् कृतान्ते) सांख्ये (संख्यायन्ते ज्ञेयपदार्था यस्मिन् तत् सांख्यम् वेदान्तः तस्मिन्) प्रोक्तानि (कथितानि) ॥ ३१ ॥

पदार्थः— (महाबाहो !) हे महाबाहो ! (सर्वकर्मणाम्) सब कर्मोंकी (सिद्धये) सिद्धिकेलिये (इमानि) ये वक्ष्यमाण (पञ्च) पांच (कारणानि) कारण (मे) मेरे वचनसे (निबोध) समझले (कृतान्ते) ये पांचों सब कर्मकी समाप्तिवाले तत्त्वज्ञानके प्रतिपादक (सांख्ये) वेदान्त शास्त्रमें (प्रोक्तानि) कहेगये हैं ॥ १३ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवानसे पूछा, कि इष्ट, अनिष्ट और मिश्र इन तीनों प्रकारके कर्मोंको अन्त करडालनेकेलिये अर्थात् कर्मोंसे मुक्त हो निष्कर्म होजानेकेलिये एवं सन्न्यासतत्त्वकी प्राप्तिकेलिये कितने और कौन-कौनसे कारण हैं ? इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं, कि [पञ्चेमानि महाबाहो कारणानि

निबोध मे] हे विशाल पराक्रमवाला अर्जुन! कर्मोंकी निष्पत्यवस्था प्राप्त करनेकेलिये ये जो पांच कारण हैं सो मेरे द्वारा समझले। अर्थात् नित्य, नैमित्तिक, काम्यादि कर्मोंको करते-करते उनको अन्त करडालनेकेलिये तीनों प्रकारके फलोंसे छूट आत्मज्ञानतक पहुंचजानेकेलिये अथवा अवधूतकी अवस्थाको प्राप्त करनेकेलिये जो मुख्य पांच कारण हैं उनको मैं बिलग-बिलग कहकर तुझे समझाता हूं तू एकाग्र चित्त होकर श्रवण कर!।

भगवान्‌के कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि जो अत्यागी हैं, कर्मफांसमें फंसेहुए हैं, अज्ञानताका आवरण जिनके अन्तःकरणपर पड़ाहुआ है वे इन कारणोंके समझनेके अधिकारी नहीं हैं। पर अर्जुन जो उत्तम कुरुवंशमें उत्पन्न हुआ है और संन्यासतत्त्वके जाननेके विषय उसके हृदयमें एक अपूर्वरुचि उत्पन्न होआयी है इसी कारण जिसने इस अध्यायके आरम्भ होते ही पहले ही श्लोकमें पूछा है, कि " सन्न्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् " हे विशाल पराक्रमयुत भुजावाले भगवन्! मैं संन्यासतत्त्वको आपके द्वारा जानना चाहता हूं। तिसके उत्तर में भगवान् इस तत्त्वका वर्णन करते हुए अब इस श्लोकमें उन कारणोंके बतलानेकी प्रतिज्ञा कररहे हैं जिनके साधनसे, साधक कर्मोंकी समाप्ति कर अवधूत अवस्थाको प्राप्त हो इष्ट, अनिष्ट और मिश्र कर्मोंके बन्धनसे छूट जाता है।

यदि शंका हो, कि ये पांचों कारण जो भगवान् कहेंगे वे प्रथम ही प्रथम अर्जुनके प्रति कहेंगे अथवा इनका वर्णन किसी अन्य ग्रन्थमें भी है? तो इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं, कि [सांख्ये कृतान्ते

प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्] सब कर्मोंकी सिद्धिकेलिये अर्थात् उनको उनकी निष्पत्यवस्था तक पहुंचादेनेकेलिये जो पांच कारण हैं सो हे अर्जुन! मैं तुझसे पहले-पहल नहीं कहता हूं वरु " कृतान्त-विशेषण " युक्त जो सांख्यशास्त्र उसमें ये पांचों पूर्वहीसे वर्णन कियेहुए हैं।

अब जानना चाहिये, कि ' सांख्ये ' ' कृतान्ते ' कहनेसे भगवानका क्या तात्पर्य्य है? तहां सांख्य ' विशेष्य ' है और कृतान्त ' विशेषण ' है। सांख्य किसे कहते हैं? सो इस ग्रन्थमें बारम्बार वर्णन करआये हैं। (देखो अ० २ श्लो० ३९ और अ० ५ श्लो० ४) अर्थात् जिस शास्त्रमें श्रवण, मनन, निदिध्यासन, सम, सन्तोष, विचारादि ज्ञानके साधनोंका वर्णन बिचारणा, तनुमानसा इत्यादि ज्ञानकी सात भूमिकाओंके सहित किया हुआ है एवं सन्न्यास-तत्त्वको जो पूर्ण करवा देता है उसे सांख्य कहते हैं इसी लिये भगवानने यहां सांख्यके विशेषणमें कृतान्त शब्दका प्रयोग किया है। अर्थात् सांख्यशास्त्र कैसा है? तो कृतान्त है।

तहां कृत शब्दका अर्थ यों है, कि " कृ+कर्म्मणि+क्तः क्रियते इति कृतम " अर्थात् इस पुरुषके पुरुषार्थ द्वारा जितने कर्म सम्पादन किये जाते हैं उनको कृत कहते हैं तिन कर्मोंका जहां अन्त होता हो उसे कृतान्त कहते हैं। अर्थात् कर्मोंका अन्त करके आत्म-ज्ञानकी प्राप्तिके उपाय जिस शास्त्रमें पायेजावें उसका नाम कृतान्त है सो केवल सांख्यशास्त्र है जहां कर्मोंका अन्त अर्थात् कर्मोंकी समाप्ति पायी जाती है।

अर्थात् वेदान्तशास्त्र जो अद्वितीयब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाला है एवं परमार्थतत्त्व जो ज्ञान तिसका प्रतिपादन करनेवाला है तहां कर्मोंकी समाप्ति होजाती हैं। सो भगवान् पहले भी कहआये हैं, कि "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" अर्थात् सब कर्म ज्ञानमें जाकर समाप्त होजाते हैं इसी कारण अवधूतोंको इष्ट, अनिष्ट और मिश्र तीनों प्रकारके फलोंमें किसी प्रकारका फल भोगना नहीं पडता वे तो जीवन्मुक्तिकी प्राप्तिके पश्चात् विदेहमुक्ति लाभ कर सच्चिदानन्दस्वरूप ही होजाते हैं और परमानन्दके प्रफुल्लित पुष्पोंसे परिपूर्ण भगवत्प्रेमकी वाटिकामें विहार करने लगजाते हैं।

प्रिय पाठको! पहले भी कहआये हैं, कि यह अठारहवां अध्याय संपूर्ण गीताशास्त्रका उपसंहारमात्र है और सन्न्यासतत्त्व भी सर्वकर्मोंका उपसंहार ही है इसलिये इस अध्यायमें भगवान्ने अर्जुनके पूछनेपर सन्न्यासके गूढतत्त्वोंका वर्णन किया है जिसका समझना सर्वसाधारणके लिये कठिन है। जैसे किसी एक छोटे मत्कुणकेलिये किसी सागरका थाह पाना दुस्तर हैं ऐसे स्वल्पबुद्धिवालोंके लिये यह संन्यासतत्त्व भी अगम्य है। पर ईश्वरकृपासे गुरुकी सेवा करते-करते जिनके हृदयमें कुछ विरागका अंकुर उदय होआया है और पुरुषार्थका जल पटाते-पटाते वह अंकुर दृढ हो वृक्षका स्वरूप बन कर्म और उपासनाकी शाखा प्रशाखाओंसे सुशोभित होगया है वे ही इस संन्या-

* जिन ढूंढा तिन पाइयां गहरे पानी पैठ ॥

* बवहरे इश्क गोताजन रसां खुदरा बकारे ऊ, के याबी आं दुरे ताबां चो दाशद वक्त तो यावर। (देखो हंसहिंडोल)

सरूप फलका रसास्वादन करसकते हैं। पर बुद्धिमानोंको चाहिये, कि थकथकाकरे उत्साहहीन होकर चुप बैठ न रहें अपने पुरुषार्थका बल लगावें संभव है, कि किसी न किसी समय इस तत्त्व तक पहुंचजावे ॥ १३

अब भगवान् अगले श्लोकमें कर्मोंकी निष्पत्त्यवस्था तक पहुं-चनेके पांचों कारणोंका वर्णन करते हैं—

मू०— अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १४ ॥

पदच्छेदः— अधिष्ठानम् (इच्छाद्वेषसुखदुःखज्ञानादीना-मभिव्यक्तेराश्रयः शरीरम्) तथा, कर्त्ता (बुद्ध्याद्युपाध्यनुविधायकः । अहं करोमीत्यहंकारवान्) च (तथा) पृथग्विधम् (नानाविधम्) करणम् (ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च मनो बुद्धिश्चेति द्वादशेन्द्रियम्) विविधाः (अनेकविधाः) पृथक् (असंकीर्णाः भिन्नाः) चेष्टा (प्राणापानादिवायुव्यापाराः) च, अत्र (चतुर्षु) पञ्चमम् (पंचसंख्यापूरकम्) दैवम् (भाग्यम् । प्रागर्जितशुभाशुभम् । पापपुण्यरूपं तत्तत्करणानुग्राहकसूर्य्यादिदेवतारूपम्) एव (निश्चयेन) [अस्ति] ॥ १४ ॥

पदार्थः— (अधिष्ठानम्) इच्छा, द्वेष, दुःख, सुख, चेतना इत्यादि (तथा) तथा (कर्त्ता) बुद्धि आदि उपाधियोंको अपने-अपने ठौरपर स्थिर रखनेवाला जो यह अहंकार (च) और (पृथग्विधम्) नाना प्रकारकी (करणम्) मनबुद्धिसहित कर्मेन्द्रियां

और ज्ञानेन्द्रियां (च) पुनः (विविधाः) भिन्न २ प्रकारके (पृथक्) भिन्न २ (चेष्टा) प्राणापानादि वायुके व्यापार (च) एवम् (अत्र) इन (चतुर्षु) चारोंमें (पंचमम) जो पांचवां (दैवम्) इन्द्रियोंका देवता वा प्रारब्ध है (एव) निश्चय करके पांचवां कारण है ॥ १४ ॥

भावार्थः— भवसिंधुसमुत्तरणसेतु यादवकुलकेतु वाञ्छातिरिक्तप्रद देवदेवाधिपति भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति कर्मोंकी निष्पत्त्यवस्था अर्थात् उनके सिद्ध होजानेके पांचों कारणोंका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्**] अधिष्ठान, कर्त्ता और विविध प्रकारके करण ये तीन कारण कर्मोंकी सिद्धि करनेके लिये मुख्य हैं। अर्थात् इच्छा, द्वेष, दुःख सुख, शुभाशुभ, चेतना इत्यादिके उत्पन्न होनेका अवलम्ब जो यह पांचभौतिक शरीर है वही 'कर्मसिद्धिका' पहला कारण अधिष्ठान नामसे प्रसिद्ध है अर्थात् बुरे-भले सर्वप्रकारके कर्मोंके निवास करनेका स्थान और फिर तहांसे प्रकट हो-होकर सर्वत्र फलोंको फैलादेनेका स्थान यह शरीर ही है। क्योंकि यदि यह न हो अर्थात् इसका होना रुकजावे तब तो प्राणी मुक्त ही होजावे फिर तो वह किसी प्रकारके कर्मफलोंसे बद्ध हो ही नहीं सकता। अर्थात् कर्मोंकी आरम्भावस्था यहां ही से प्रकट होती है। जिसी समय प्राणीको यह शरीर प्राप्त होता है उसी समयसे कर्मोंके बखेडे आरम्भ होजाते हैं अर्थात् पहले कर्मोंकी आरम्भावस्था होती है फिर घटावस्था आती है पश्चात् परिचयावस्था आकर निष्पत्यवस्थामें समाप्ति होजाती

है । प्रमाण— " आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च । निष्पत्तिः सर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्टयम् " (हठयो०) अर्थ स्पष्ट है ।

प्रत्येक कर्मोंकी सिद्धिके लिये ये ही चार अवस्थाएं नियत हैं इन चारों अवस्थाओंको अधिष्ठान, कर्म, करण और चेष्टा इन चारों कारणोंसे क्रमशः सम्बन्ध है । इसलिये पाठकोंके बोधार्थ प्रथम अधिष्ठानके साथ 'आरम्भावस्था' का वर्णन कियाजाता है—

१. अधिष्ठान— पंचभूतोंके मेलसे जो यह रोमचर्मादि सप्तधातुरचित शरीर है यही सर्वकर्मोंके आरम्भका प्रथम कारण होनेसे इच्छा, द्वेष, दुःख, सुख, शुभ अशुभ, और चेतना अर्थात् जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय इत्यादिके निवास करनेका भंडार है और इन सबोंके व्यक्त होनेका अर्थात् प्रकट होनेका अवलम्ब है । क्योंकि यदि यह शरीर न हो तो इस आत्माके २१ मुखोंका वर्णन जो इस गीताके अ० १५ श्लोक २० में कर आये हैं उनका कहीं पता न लगे । इसलिये भगवान् सब शास्त्रोंका निचोड अर्जुनके प्रति प्रकट करते हुए कहते हैं, कि यह शरीर ही कर्मोंके सिद्ध होनेका प्रथम कारण अधिष्ठान कहलाता है ।

२. कर्त्ता— मन बुद्धिके सहित पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रियोंको अपने २ विषयमें प्रेरणा करनेवाला अथवा विषयोंकी ओर जानेसे रोकनेवाला जो अहंकार-तत्त्व है जिसके विषय पहले बार-बार ठौर-ठौरपर वर्णन कर आये हैं सो ही कर्मोंकी निष्पत्त्यवस्थाकेलिये दूसरा कारण 'कर्त्ता' कहाजाता । यदि यह शक्ति न होवे तो यह प्राणी पागलसा देख पडेगा और इसके जितने कार्य होंगे सब पागल-

पनेके समझे जावेंगे । उस प्राणीको इसकी स्मृति कभी भी नहीं रहेगी कि कल मैंने क्या किया था? कहां गया था? क्या ग्राह्य किया था? क्या त्याग किया था ? और आज फिर क्या करना चाहिये ? जैसे देवदत्त रविवारको अपने कुटुम्बियों और इष्टमित्रोंके घर जाकर यों कह आया, कि कल सोमवारको मैं आपलोगोंको भोजन कराऊंगा । सोमवारको सूर्य्योदय होते ही उसे कुछ स्मरण न रहा । न तो उसने कुछ अन्न तयार किया, न जलका प्रबन्ध किया और न उनके बैठनेके लिये किसी स्थानका प्रबन्ध किया । अब भोजनके समय निमन्त्रित व्यक्ति देवदत्तके घर आगये और देखा, कि देवदत्त खर्राटा लेरहा है जगाकर जेवनारके विषय पूछा तो देवदत्त उनको देख चुप होरहा और कहने लगा, कि आपलोग कहां आये हैं ? बस ! अब तो ये सब उसे पागल अवश्य कहेंगे । यदि इस प्रकार प्रतिदिन देवदत्त दसबीस ग्रामोंमें जाकर निमन्त्रण दे आया करे और फिर भूल जाया करे तो उसके पागलपनेकी अधिकता अवश्य पायी जावेगी ।

अब बुद्धिमान समझ सकते हैं, कि स्मरण रखनेवाली शक्ति 'अहंकार'के अभाव होनेसे देवदत्तमें जो भोजन करानेवाले व्यापारका कर्त्तापन पाया जाता था वह एक बारगी जाता रहा इसलिये कर्मकी सिद्धि नहीं हुई । इसी कारण भगवान कहते हैं, कि कर्मोंकी सिद्धिका दूसरा कारण अहंकार अर्थात कर्त्ता है । क्योंकि यह अहंकार ही मनुष्योंमें अपने स्वरूपकी स्मृतिका कारण है । किसी पाठशालाके शिक्षकको स्मरण है, कि मैं अमुक पाठशालाका शिक्षक हूं अतएव आज जाकर विद्यार्थियोंको शिक्षा दूं । मैं वकील हूं अमुक प्राणीके अभि-

योगमें जज साहबके इजलासपर जाकर यथार्थ न्याय करवाडालूं। मैं योगी हूं अपने अभ्याससे अपने योगकी मात्रा बढाऊँ। मैं कत्थक हूं अमुक प्राणीके उत्सवमें जाकर गान कर आऊं इत्यादि २। तात्पर्य यह है, कि यह अहंकार ही कर्त्तारूप होकर कर्मोंकी सिद्धिका दूसरा कारण है।

३. करण— पांचों कर्मेन्द्रिय और पांचों ज्ञानेन्द्रिय अपने राजा और मन्त्री बुद्धिके साथ मिलकर सब कर्मोंका सम्पादन करती हैं। इन्हींके द्वारा पाप-पुण्यका साधन होता है।

यहांतक जो भगवानने कर्मकी सिद्धिकेलिये अधिष्ठान, कर्त्ता और करण तीन कारण बताये वे अनात्मरूप हैं अर्थात वे शुद्ध चैतन्य निर्मल आत्मा नहीं हैं वरु आत्माका बिम्बमात इनपर पडरहा है। जैसे किसी लोहपिण्डपर अग्निका बिम्बमात्र पडता है तो उसे लोग आग ही समझते हैं पर वह आग नहीं है। इसी प्रकार ये तीनों कारण वस्तुतः आत्मा नहीं हैं पर आत्माके बिम्ब पडनेसे चेतनके सदृश कार्य्य कररहे हैं।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्**] विविध प्रकारकी चेष्टा तो चौथा कारण और इन चारोंमें दैव पांचवां कारण है।

४. चेष्टा— प्राण अपानादि पंच-प्राणोंकी शक्तियां जो प्रथम कहेहुए कारणोंको जीवित रखनेवाली हैं उन ही का नाम (चौथा

कारण) चेष्टा है। यदि ये पांचों इस शरीरमें प्रवाह न करें तो यह शरीर मृतक होजावे फिर तो इसमें किसी प्रकारके कार्य्य करनेकी चेष्टा न रहे। इसलिये भगवान्‌ने पंचप्राणोंको चेष्टाके नामसे पुकारा है।

५. दैव— ऊपर कहेहुए कारणोंके अधिष्टातृदेव 'दैव' कहलाते हैं जैसे मनके ब्रह्मा, बुद्धिके विष्णु, अहंकारके शिव, नेत्रोंके आदित्य, नासिकाके अश्विनीकुमार, करणोंके दशों दिक्पाल और हाथोंके इन्द्रादि देव कहलाते हैं। क्योंकि ये देवता ही इनको सर्वप्रकारके कर्मोंके सम्पादन करनेकी सामर्थ्य प्रदान करते हैं।

दूसरा अर्थ दैवका यह भी है, कि इस प्राणीने पूर्वजन्मोंमें जो शुभाशुभ कर्मोंका सम्पादन किया है उनका फल प्रारब्धरूप होकर इस शरीरमें सब कर्मोंकी प्रेरणा करता है इसलिये इस प्रारब्धको भी दैव के नामसे पुकारते हैं ॥ १४ ॥

अब भगवान् कहते हैं—

मू०— शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ १५

पदच्छेदः—नरः (मनुष्यः) शरीरवाङ्मनोभिः (शरीरेण वचनेन मनसा वा) यत्, न्याय्यम् (न्यायोचितम्। धर्म्यम्। शास्त्रीयम्। न्यायसहितम्) वा (अथवा) विपरीतम् (अन्याय्यम्। शास्त्रविरुद्धम्। न्यायप्रतिकूलम्) वा, कर्म (यज्ञादिकम्) प्रारभते (निर्वर्त्तयति) तस्य (सर्वस्यैव कर्मणः) एते (पूर्वोक्ताः) पंच (देहकर्तृकरणचेष्टादैवादयः) हेतवः (कारणस्वरूपाः) ॥ १५

पदार्थः— (नरः) मनुष्य (शरीरवाङ्मनोभिः) शरीर, वचन और मनसे (यत्) जो (न्याय्यम् वा) न्याययुक्त अथवा (विपरीतम् वा) उसके विपरीत अन्याययुक्त (कर्म) कर्मको (प्रारभते) आरम्भ करता है (तस्य) तिस धर्मअधर्मस्वरूप कर्मके (एते) ये ही (पञ्च) पांच (हेतवः) कारण हैं ॥१५॥

भावार्थः— अब भक्तचितचोर श्रीनवलकिशोर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनसे कहते हैं, कि हे अर्जुन ! [**शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः**] मनुष्य अपने शरीर, वचन और मनसे जो कर्म प्रारंभ करता है अर्थात् कायिक, वाचिक और मानसिक जो तीन प्रकारके कर्म हैं वे सदा मनुष्यके साथ-साथ लगेहुए हैं । क्योंकि यह मनुष्य चुपचाप एक क्षण भी बैठ नहीं सकता और कर्मसे रहित नहीं होसकता सो पहले कहा जाचुका है, कि " न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् " (अ० ३ श्लो० ५) इसलिये कभी तो कायासे, कभी मनसे और कभी वचनसे कुछ न कुछ करता ही रहता है ।

जैसे चलना, फिरना, उठना, बैठना, हंसना, रोना, खाना, पीना, मल मूत्रका परित्याग एवं हारना, जीतना, युद्धकरना, नृत्य करना इत्यादि कायिककर्म हैं और बोलना, स्तुति करना, निन्दा करना, गाना, पढना, मंत्रोंका जप करना, सत्य वा मिथ्या भाषण करना इत्यादि वाचिक कर्म हैं फिर इच्छा, राग, द्वेष, मद, मोह मत्सर अहंकार, हानि लाभका विचार, शत्रुओंके नाश, विद्या, धन, यश, कीर्ति, मान मर्यादाकी इच्छा ये सब मानसिक कर्म हैं ये तीनों

प्रकारके कर्म मनुष्योंको अहर्निश अपने फंदेमें फँसाये रहते हैं इन सबोंमें मुख्य मानसिक है जिसके द्वारा वाचिक और कायिक उत्पन्न होते हैं। तहां प्रमाण श्रुतिः—"ॐ यन्मसा मनुते तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति" अर्थात् जो कुछ प्राणी मनन करता है उसे वचनसे बोलता है फिर शरीरसे करता है। फिर ऐसा भी कहआये हैं, कि "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः" अर्थात् मोक्ष, बन्धन और शुभाशुभकर्मोंके सुख दुःखरूप फलोंके भोगनेका कारण भी मन ही है इसलिये भगवान् कहते हैं, कि किसी प्रकारका कर्म क्यों न हो अर्थात् [न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः] न्याययुक्त शास्त्रद्वारा विहित कर्म हो वा तिससे विपरीत अन्याययुक्त निषिद्ध कर्म हो सबोंके कारण अधिष्ठान, कर्त्ता, करण, चेष्टा और दैव ये ही पांचों हैं।

शंका— पहले तो भगवान् इसी शरीरको सर्वप्रकारके कर्मोंकी सिद्धिका प्रथम कारण 'अधिष्ठान' कह आये हैं और अब इस श्लोकमें शारीरिक, वाचिक और मानसिक तीन प्रकारके कर्मोंका कथन करनेसे शरीर जो अधिष्ठान, वह वाचिक और कायिक कर्मोंका कारण नहीं समझा जाता क्योंकि शारीरिक कर्म विलग कहनेसे कायिक, मानसिक, विलग समझे जाते हैं ऐसा विरोध क्यों !

समाधान— भगवान्के वचनोंमें बिरोध नहीं है क्योंकि इस श्लोकमें तो भगवान्ने 'करणका' विशेष सम्बन्ध प्रत्येक अवयवोंसे दूसरे स्वरूपमें दिखलाकर उन ही पांचों कारणोंको पुष्ट करदिया है। जैसे शरीरसे अधिष्ठान, और नरसे कर्त्ता, वचन और मनसे कारण,

प्रारभते शब्दसे चेष्टा, 'न्याय्यं वा विपरीतं वा' कहनेसे दैव अर्थात् धर्मअधर्मरूप प्रारब्धका संबन्ध दिखलाया है। तात्पर्य यह है, कि सामान्य सम्बन्ध तो सब कर्मोंका सब कारणोंसे है पर विशेष सम्बन्ध सब कर्मोंका जो इन पांचों कारणोंसे है उसे इस श्लोकमें संकेत द्वारा दिखला दिया है जिसे केवल कुशाग्रबुद्धिवाले बुद्धिमान् ग्रहण करसकते हैं और समझ सकते हैं। पर यह रहस्य साधारण प्राणीकी समझमें आना कठिन है इसलिये शंका मत करो।

किसी ब्रह्मनिष्ठ वा श्रोत्रियके पास जाकर समझलो। क्योंकि आत्माका संबन्ध इन कर्मोंसे वा इनके कारणोंसे नहीं है यह आत्मा तो सदा निर्लेप और साक्षीमात्र है ॥ १५ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें यह दिखलाते हैं, कि जो लोग आत्माको इन कर्म वा कारणोंसे लिप्त समझ रहे हैं वे निरे मूर्ख हैं—

मू०— तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥
॥ १६ ॥

पदच्छेदः— तत्र (तस्मिन कर्मणि) एवं सति (यथोक्तैः पञ्चभिः अधिष्ठानादिभिः सम्पाद्ये) यः (प्राणी) केवलम (एकम्) तु (निश्चयेन) आत्मानम (नित्यशुद्ध प्रकाशशील निष्क्रियमुदासीनमाधात्मानम्) कर्त्तारम (कर्तृत्वाश्रयम) पश्यति (अवलोकयति) सः (नित्य-निष्क्रियात्मकर्तृत्वदर्शी) दुर्मतिः (दुष्टा विवेक-विरोधिना पापेन मलिना मतिर्यस्य सः) अकृतबुद्धित्वात् (असंस्कृत-मतित्वात्) न (नैव) पश्यति (पारमार्थ्येन अवलोकयति) ॥१६॥

पदार्थः— (तत्र) तिन कर्मोंके विषय (एवं सति) ऐसा होनेपर अर्थात् अधिष्ठानादि पांचों कारणोंके द्वारा कर्मोंके सिद्ध होने पर (यः) जो मूढ प्राणी (केवलम्) केवल एक (तु) ही (आत्मानम्) आत्माको (कर्त्तारम्) कर्तृत्वरूपसे (पश्यति) देखता है (सः) वह निष्क्रिय आत्मामें कर्तृत्वको देखनेवाला (दुर्मतिः) दुर्बुद्धि (अकृतबुद्धित्वात्) बुद्धिकी मलीनताके कारण (न) यथार्थदृष्टिसे नहीं (पश्यति) देखता है ॥ १६ ॥

भावार्थः— आनन्दसाम्राज्यसम्राट् समस्तवेदान्तसिद्धान्त-प्रतिपादक निखिलजगदधिपति भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आत्माको उक्त कर्मोंके पांचों कारणोंसे सम्बन्धरहित दिखलातेहुए कहते हैं, कि [**तत्रैवं सति कर्त्तारं आत्मानं केवलं तु यः**] जो प्राणी उक्तप्रकार कर्मोंकी सिद्धिके होतेहुए भी केवल एक आत्माको कर्त्ता देखता है वह भूलमें पडाहुआ है।

क्योंकि भगवान्का अभिप्राय यह है, कि यह आत्मा तो निष्क्रिय, निष्कलंक, निर्विकार, निर्मल और सबोंसे निःसंग रहनेसे साक्षीमात्र होनेके कारण किसी कर्मसे लिप्त नहीं होता। जैसे' आकाश ' धूम, मेघमाला, विद्युत् इत्यादिके विकारोंसे विकृत नहीं होता सदा एक रस निर्लेप रहता है। फिर जैसे आलोक्ययंत्रका काच (Lens) काले, पीले, लाल और हरे रंगोंके बिम्बको ग्रहण करनेपर भी काला, लाल वा हरा नहीं होता सदा निर्मल रहता है ऐसे यह आत्मा पिछले श्लोकोंमें कहेहुए पांचों कारणोंके तथा कायिक, वाचिक, मानसिक, विधि और निषेध कर्मोंके संग रहतेहुए भी आकाशवत् सदा निर्लेप रहता है जैसे दीपक

ब्राह्मण और चांडालके घरोंमें एक समान प्रकाश करता है ऐसे न्याय अथवा अन्याययुक्त सर्वप्रकारके कर्मोंको यद्यपि समानरूपसे प्रकाश करता है तथापि किसी प्रकारके कर्मोंसे लिप्त नहीं होता और जन्म मरणमें नहीं फँसता सदा एक रस रहता है ।

प्रमाण श्रु०– " न जायते म्रियते न शुष्यते न दह्यति न कम्पते न भिद्यते नच्छिद्यते निर्गुणः साक्षीभृतः । शुद्धो निरवयवात्मा केवलः सूक्ष्मो निष्कलो निरञ्जनो निरभिमानः शब्दस्पर्शरसरूप-गन्धवर्जितो निर्विकल्पो निराकांक्षः सर्वव्यापी सोऽचिन्त्योऽव-र्णश्च पुनात्यशुद्धान्यपूतानि निष्क्रियः संस्कारो नास्ति संस्कारो नास्ति " (देखोआत्मोपनिष० श्रु० ३)

अर्थ– न जन्मता है, न मरता है, न सूखता है, न जलता है, न काँपता है, न किसी शस्त्रसे बेधा जाता है, न छेदा जाता है, निर्गुण है और सबका साक्षीमात्र है शुद्ध है, अवयवोंसे रहित है, केवल है अर्थात सजातीय-विजातीय-भेदसे शून्य है, सर्वप्रकारकी कलाओंसे रहित है, निरंजन है, निरभिमान है, शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध इत्यादिसे वर्जित है, निर्विकल्प है अर्थात संकल्पविकल्परहित है, सर्वप्रकारकी कांक्षा-ओंसे वर्जित है, सर्वत्र व्यापक है ज्ञानेन्द्रियोंसे चिन्ता कियेजाने योग्य नहीं है, वर्णोंसे रहित है, चांडालोंको और पापियोंको शुद्ध करनेवाला है पर इतना करनेपर भी निष्क्रिय है अर्थात क्रियारहित है । पूर्वसंस्काररूप नहीं है संस्काररूप नहीं है अर्थात् पूर्वजन्मार्जित शुभाशुभफलोंका देनेवाला जो पांचवां कारण दैव सोभी नहीं है ।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः**] ऐसे निर्विकल्प, सब उपाधियोंसे रहित, निष्क्रिय और केवल अर्थात् सजातीयविजातीयरहित आत्माको जो प्राणी अकृतबुद्धि है अर्थात् जिसकी बुद्धि वेद, शास्त्र और गुरुके द्वारा शिक्षा नहीं पायी हुई है वह कर्त्ता रूप देखता है ऐसा देखनेवाला दुर्मति है यथार्थ रूपसे नहीं देखता ।

भगवानके कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि जैसे अज्ञानी बालक तीव्रगामी रथपर वा रेलगाडीपर बैठाहुआ आसपासके वृक्षोंको भागताहुआ समझता है और बालबुद्धि होनेके कारण अपनेको एक ठौर बैठाहुआ मानता है इसी प्रकार जो ज्ञानरहित है वह निर्विकार आत्माको पूर्वश्लोकोंमें कथन कियेहुए पांचों कारणोंके साथ कर्मोंका सम्पादन करताहुआ मानता है क्योंकि वह निर्बुद्धि है । इस विषयपर एक दृष्टान्त देकर समझायाजाता है—

एक श्वान अपने मुखमें एक रोटी लियेहुए नदीके तटपर चला जाता था उसने अपना बिम्ब (Reflection) उस जलमें देखा और यों समझा, कि दूसरा श्वान रोटी लिये जारहा है ऐसा समझ उस श्वानसे रोटी छीनलेनेके लिये जलमें कूदा और भौंकने लगा, जिस कारण अपने मुखकी भी रोटी गँवायी और शीतकाल होनेके कारण मारे ठण्डके अचेत होगया इसी प्रकार अज्ञानी जन आत्माके बिम्बको कर्ता मानकर दुःख उठाते हैं । पर जो बुद्धिमान् हैं वे सदा आत्माको निष्क्रिय और निःसंग जानकर अपने अन्तःकरणपर उसका बिम्बमात्र

समझते हैं जिससे उनके सम्पूर्ण कार्य सिद्ध होते हैं और दुःखसे रहित होकर शरीरयात्राकी समाप्ति करते हैं ।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि आत्मा सदा निसंःग है केवल निर्बुद्धि इसको पूर्व कथन कियेहुए पांचों कारणोंमें लिप्त मानते हैं ॥ १६ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें यह दिखलाते हैं, कि जो बुद्धिमान् आत्माको अकर्त्ता मानता है वह शुभाशुभकर्मोंसे छूटकर मुक्त होजाता है ।

मू०— यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥
॥ १७ ॥

पदच्छेदः— यस्य (सदुपदेशसंस्कृतबुद्धेः) अहंकृतः (शास्त्राचार्य्यसदुपदेशसंस्कृतमतित्वात अहं कर्त्ता) भावः (इत्येवंरूपः प्रत्ययः) न (नास्ति) यस्य, बुद्धिः [तथा] (सच्छास्त्रोपदेशपरिष्कृता मतिः) [शुभाशुभकर्मणि] (मंगलेऽमंगले वा कार्ये) न (नैव) लिप्यते (सज्जते । लिप्ता भवति) सः (परमार्थदर्शी ! सुमतिः) इमान्, लोकान् (प्राणिनः । संसारिजीवान्) हत्वा (हिंसित्वा । नाशयित्वा । हननं कृत्वा) अपि, न (नैव) हन्ति, न, निबध्यते (हिंसाजन्याधर्मेण सम्बद्धो भवति) ॥ १७ ॥

पदार्थः— (यस्य) जिसको (अहंकृतः) मैं करता हूं ऐसा (भावः) कर्तृत्वाभिमान (न) नहीं छूगया है [तथा] (यस्य)

जिसकी (बुद्धिः) निर्मल बुद्धि (न) [शुभाशुभ कर्ममें नहीं] (लिप्यते) लिपटती है (सः) वही (इमान्) इन (लोकान्) मनुष्योंको (हत्वा) मारकर (अपि) भी (न हन्ति) न मारता है (न निबध्यते) और न हिंसाके पापोंसे बांधाजाता है ॥ १७ ॥

भावार्थः— अब लोकाभिराम राजीवनयन कारुणयरूप यादवेन्द्र भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आत्माको कर्त्ता नहीं माननेवाले बुद्धिमानोंके विषय कहते हैं, कि [**यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते**] जिस प्राणीमें अहंकृतभाव नहीं है इसलिये जिसकी बुद्धि कर्मोंके फलोंसे लिप्त नहीं होती वही यथार्थ तत्वका जाननेवाला है। अर्थात् जिसने निश्चय करलिया है और अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त होनेके कारण भली भांति समझलिया है, कि मैं जो निष्क्रिय और केवलात्मा सब प्रकारके शुभाशुभसे रहित हूं पूर्वकथित अधिष्ठानादि पांचों कारणोंसे सम्बन्ध नहीं रखता इसी कारण कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मोंसे लेपायमान नहीं होता और तिनके फल इष्ट, अनिष्ट और मिश्रसे भी बद्ध नहीं होता वही यथार्थ ज्ञानी है और जो कर्मोंमें अभिनिवेश रखता हुआ यों समझता है, कि मैं ही करनेवाला हूँ वह मूढ है सो भगवान् पहले भी कहआये हैं, कि " अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते " (देखो अ० ३ श्लो० २७) अर्थात् जो अहंकारके वशीभूत होकर विमूढात्मा होरहा है और यथार्थ आत्मतत्त्वका विवेकी नहीं है शास्त्र और गुरु द्वारा शिक्षित न होकर अकृतबुद्धि है वही अपनेको कर्त्ता मानकर इष्ट, अनिष्ट और मिश्रके पाशमें फंसजाता है पर जो तत्त्वदर्शी निरहंकार होकर इन फलोंसे

लेपायमान नहीं होता वह [**हत्वापि स इमांल्लोकान्न हंति न निबध्यते**] इन सब लोकोंको मारकर भी नहीं मरता और न हिंसाके दोषसे लिप्त होता है। इस विषयको भगवान् अ० २ श्लो० १९, २० में पूर्णप्रकार समझाआये हैं इसलिये पुनः इस विषयपर अधिक व्याख्यान करनेकी आवश्यकता नहीं देखीगयी। सर्वप्रकारकी शंकाओंका समाधान उक्त श्लोकोंमे होचुका है। भगवानने यहां इस श्लोकको इस विषयका उपसंहारमात्र ही रखा है। इस श्लोकका यथार्थ तत्त्व वे ही समझेंगे जिनको चैतन्य समाधिकी प्राप्ति होगयी है ॥ १७ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें यह दिखलाते हैं, कि इन सब प्रकारके कर्मोंका प्रेरक कौन है? और किसके आश्रय ये सब सम्पादन होते रहते हैं?

मू०— ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

पदच्छेदः— ज्ञानम् (ज्ञायते यथार्थतः पदार्थो येन तत्। क्रियाः) ज्ञेयम् (इष्टसाधनंकर्म। तज्ज्ञानरूपाक्रियाकर्मभूतघटपटादिकम्) परिज्ञाता (एतज्ज्ञानाश्रयः) त्रिविधा (त्रिप्रकारा) कर्मचोदना (कर्मप्रवृत्तिहेतुः) करणम् (साधकतमम् वाह्यं श्रोत्राद्याभ्यन्तरं बुद्ध्यादि) कर्म (कर्तुः क्रियाया आप्तुमिष्टतमम्) कर्त्ता (क्रियासम्पादकः) इति (एवम्) त्रिविधः (त्रिप्रकारः कर्मसंग्रहः (क्रियाश्रयः) ॥ १८ ॥

पदार्थः— (ज्ञानम्) प्रत्यक्ष वा अनुमानादि प्रमाणोंके द्वारा अन्तःकरणके पटपर वस्तुतस्तुके यथार्थरूपका आविर्भूत होजाना जो ज्ञान है

सो ज्ञान तथा (ज्ञेयम) स्वयं वह वस्तु जो अन्तःकरणमें उत्पन्न हो-आती है सो जो ज्ञेय और (परिज्ञाता) तिस ज्ञेयका जाननेवला जो परिज्ञाता है (त्रिविधा) ये तीनों (कर्मचोदना) कर्मके प्रेरक हैं अर्थात् जाननेकी क्रिया, जाननेकी वस्तु और जाननेवाला ये तीनों कर्मके प्रेरक हैं। फिर (करणम्) जिसके द्वारा कर्म सम्पादन कियाजाता है (कर्म) जो क्रिया कीगयी है ऐसा जो कर्म फिर (कर्त्ता) उस क्रियाका करनेवाला (इति) ये (त्रिविधः) तीन प्रकारके (कर्मसंग्रहः) कर्म संग्रह कहलाते हैं अर्थात कर्त्ता, कर्म और करण ये तीनों क्रियाओंके अवलंब हैं ॥ १८ ॥

भावार्थः— यदुकुलतिलक सत्यसंकल्प कंसारि भगवान् सच्चिदानन्द श्रीकृष्णचन्द्र सर्वप्रकारके कर्मोंका व्याख्यान करतेहुए अब उन कर्मोंके प्रेरक और आश्रयके विषय परिचय करातेहुए अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि [**ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना**] ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता ये तीनों कर्मोंके प्रेरक हैं अर्थात जितने शुभाशुभ कर्म प्राणीके शरीर, मन और वचनसे उत्पन्न होते हैं, अधिष्ठानादि पांचों कारणोंके अवलम्बसे उद्भूत होते हैं तथा इष्ट अनिष्ट और मिश्र तीन प्रकारके फलोंको उत्पन्न कर जीवमात्रसे भुगवाया करते हैं तिन सर्वप्रकारके कर्मोंके प्रेरक ये ही ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता हैं । अर्थात जाननेकी क्रिया, जाननेकी वस्तु और जानने-वाला ये तीन यदि न हों तो शरीर ऐसे जडवत पडा रहे जैसे पत्थर, शुष्ककाष्ठ, स्वर्ण, पीतल वा ताम्रादि । पर यह प्राणी जो चैतन्य है जडवत् पडा नहीं रहसकता । चलना, फिरना, खाना, पीना, गाना,

बजाना इत्यादि किसी न किसी कर्मको करता ही रहता है पर बिना किसीकी प्रेरणाके किसी भी क्रियाकी उत्पत्ति नहीं होसकती । तहां ज्ञान यह प्रथम प्रेरक है ।

ये ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय कर्मके प्रेरक कैसे हैं सो पाठकोंके बोधार्थ यहां दिखलादिया जाता है ।

प्रत्यक्ष वा अनुमानादि प्रमाणोंके द्वारा अन्तःकरणके पटपर सूक्ष्म-

---

प्रमाणके ६ भेद हैं— प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि ।

१. **प्रत्यक्षप्रमाण—** प्रत्यक्षप्रमाण (इन्द्रियजन्यज्ञान) के करण (श्रोत्र, नेत्र, रसना, घ्राण इत्यादि) के कार्यको प्रत्यक्षप्रमाण कहते हैं । जैसे घट, पट, मधुर, अम्ल, सुगन्धित द्रव्य इत्यादि ये प्रत्यक्षप्रमाणके विषय हैं ।

२. **अनुमानप्रमाण—** अनुमिति प्रमा (लिङ्गजन्यज्ञान) के करण मन, बुद्धि इत्यादिके कार्यको अनुमानप्रमाण कहते हैं । जैसे धूमसे अग्निका ज्ञान इत्यादि अर्थात् लिंग जो धूम तिससे साध्य जो अग्नि तिसका ज्ञान होना जैसे ' पर्वतोवह्निमान् ' कहनेसे किसी पर्वतपर धूम निकलतेहुए यह अनुमान करलेना, कि यहां आग होगी । क्योंकि महानस (पाकशाला) इत्यादिके धूमसे पहले अग्निका होना निश्चय कर रखा है इसलिये पर्वतके धूमसे भी पर्वतमें अग्निका होना निश्चय होता है चाहे वहां अग्नि हो वा न हो । सम्भव है, कि केवल वाष्प ही निकलरहा हो ।

३. **शब्दप्रमाण—** शब्दप्रमाके करण जो वेद शास्त्रोंके वचन उनको शब्दप्रमाण कहते हैं । सो दो प्रकारका है व्यावहारिक और पारमार्थिक । तहां व्यावहारिकके दो भेद हैं लौकिक जैसे ' नीलो घटः ' । वैदिक जैसे वज्रहस्तः पुरन्दरः और पारमार्थिक तो ब्रह्मबोधकवाक्यको कहते हैं जैसे ' तत्त्वमसि ' ।

४. **उपमानप्रमाण—** उपमितिप्रमाके करणको अर्थात् तत्तत्सदृश वस्तुके ज्ञानको उपमानप्रमाण कहते हैं । जैसे गवय (नीलगाय) में गो (गाय) का सादृश्य ज्ञान अथवा खच्चरमें अश्वका सादृश्यज्ञान ।

वा स्थूल वस्तु और पदार्थोंके यथार्थ रूपका आविर्भूत होजाना ज्ञान

५. **अर्थापत्तिप्रमाण**— उपपादक कल्पनाके हेतु उपपाद्यज्ञानका अर्थापत्ति प्रमाण कहतेहैं : अर्थात् जिसके अभावसे जिसका अभाव होवे उसको उपपादक कहते हैं । जैसे देवदत्त स्थूलकाय है पर दिनको भोजन नहीं करता सम्भव है, कि वह रात्रिको पुष्कल भोजन कर लेता होगा । क्योंकि बिना भोजन किये शरीरकी स्थूलता संभव नहीं है इसलिये स्थूलता उपपाद्य है और रात्रि-भोजन उपपादक है तिसके भी दो भेद हैं दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति । जैसे देवदत्तको स्थूल देखकर रात्रिके भोजनके अर्थका ज्ञान करना दृष्टार्थापत्ति है और श्रुत अर्थकी अनुपपत्तिसे अर्थात् सुनीहुई वस्तुके अभावसे उपपादककी कल्पना करलेनेको श्रुतार्थापत्ति कहते हैं । जैसे घरमें देवदत्त नहीं है इतना सुनकर देवदत्तके बाहर रहनेका ज्ञान होता है ।

६. **अनुपलब्धिप्रमाण**— अभावकी प्रमाके असाधारण कारणको अनुपलब्धि प्रमाण कहते हैं । जैसे कोई प्राणी 'घटको' वादविवादसे 'पट' सिद्ध कियाचाहे तो नहीं होसकता अर्थात् घटमें जो पटका अभाव है उसीको अनुपलब्धिप्रमाण कहते हैं । सो अभाव दो प्रकारका है अन्योन्याभाव और संसर्गाभाव । तहां संसर्गाभावके चार भेद हैं प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, सामयिकाभाव और अत्यन्ताभाव इनका वर्णन अ० २ श्लोक १६ में होचुका है ।

अब इन छवों प्रमाणोंमें **चार्वाक**— केवल प्रत्यक्ष प्रमाण मानता है ।

कणाद वैशेषिकन्यायकर्त्ता— प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण मानता है ।

सांख्यकर्ता कपिलदेव— प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण मानते हैं ।

न्यायदर्शनकर्त्ता गौतम— प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान ये चार प्रमाण मानता है ।

पूर्वमीमांसाका कर्त्ता जैमिनीय— प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान और अर्थापत्ति ये पांच मानता है ।

कहा जाता है । स्थूल जैसे घट, पट पर्वत, वृक्ष, फल, फूल, अग्नि, जल, पृथ्वी इत्यादि । सूक्ष्म जैसे सुख, दुःख, शोक, मान, अपमान, स्तुति, निन्दा इत्यादि । यद्यपि ये सब स्वयं ज्ञेय जाननेके पदार्थ कहलाते हैं तथापि जब ये ही ज्ञेय नेत्रोंके आलोक्य यंत्र (Lens) होकर अन्तःकरणके पटपर पडते हैं अर्थात् प्राणीके सम्मुख होते हैं तब इनके स्वरूप और व्यवहारोंका जो विम्ब अन्तःकरणपर पड-जाता है तब 'मन' उनके रूपका मनन करने लगता है और बुद्धि छवों प्रमाणोंके द्वारा निश्चय करलेती है, कि यह अमुक वस्तु है और इसका निमित्त वा उपादन-कारण यह है और इनका यथार्थ व्यवहार यों है तब उसीको ज्ञान कहते हैं। जैसे किसी प्राणीके सम्मुख जब एक घट उपस्थित होजाता है तब उसके आकारको देखकर वह प्राणी यों समझता है, कि मृत्तिका इसका उपादान-कारण है और कुलाल तथा चक्र इसके निमित्तकारण हैं एवं इसमें नीर वा क्षीर जो भराजाता है वह इसका व्यवहार है इसी प्रकारके बोधका नाम ज्ञान कहलाता है ।

तत्पश्चात् घट्रूप ज्ञेयको देखकर प्राणीके अन्तःकरणमें जब इसका ज्ञान उत्पन्न हुआ तब उस प्राणीने अपने भृत्यको यह आज्ञा दी, कि जा और इस घटमें जल भरला ! वह भृत्य झट जल

उत्तरमीमांसाके कर्ता व्यासदेव— छवों प्रमाण मानते हैं।

इस गंभीर विषयके जाननेकेलिये षट्शास्त्रोंका अध्ययन करना चाहिये अथवा किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके समीप जाकर इस विषयको समझलेना चाहिये । ग्रन्थके विस्तार होनेके भयसे यहां सांगोपांग वर्णन नहीं कियागया दिग्दर्शनमात्र करदिया गया है ।

भरलाया। अब विचार करना चाहिये, कि यहां घट भरानेवाला स्वामी और भरनेवाला भृत्य दोनों ज्ञाताके नामसे पुकारेगये। अर्थात् ज्ञेय जो घट, ज्ञान जो जल भरनेका कार्य्य और ज्ञाता जो जल भरनेवाला ये सब एक संग मिलकर कूपसे जल निकालनेवाली क्रियाके प्रेरक हुए। क्योंकि ये तीनों यदि एक दूसरेके सम्मुख न हों तो कूपसे जल निकालनेवाली क्रिया कभी भी सिद्ध नहीं होसकती अर्थात् जहां ये तीनों ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय न होगें तहां किसी भी प्रकारके कर्मकी प्रेरणा नहीं होसकती। पाताललोकसे लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त जितने सात्विक, राजस और तामस कर्म होरहे हैं सबोंकी प्रेरणा इन ही ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय द्वारा होरही है। इसीलिये भगवान्ने इन तीनोंको इस श्लोकमें " त्रिविधा कर्मचोदना " कहकर पुकारा है।

अब भगवान कहते हैं, कि [**करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः**] करण, कर्म और कर्त्ता ये तीनों कर्मसंग्रह कहलाते हैं। तहां साधनभूत द्रव्यादिको अर्थात् जिसके द्वारा कर्म सम्पादन किया जावे और जिसके बिना कर्मकी पूर्त्ति न होसके उसे करण कहते हैं जैसे कुठार, खड्ग, तंत्रवाय, लेखिनी इत्यादि जिनके द्वारा काष्ठोंका काटना, युद्ध करना, कपड़ा बुनना, शास्त्र पुराण लिखना इत्यादि क्रियाओंका साधन होता हैं। यहां करण शब्द सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण इन तीन कारकोंका भी उपलक्षण है तात्पर्य यह है, कि इन तीनोंके सहित करण और स्वतः वह कर्म अर्थात् कर्त्तापुरुषको अपनी क्रिया द्वारा प्राप्त होनेका जो इष्ट है फिर स्वयं कर्त्ता अर्थात् उस क्रियाका

अनुष्ठान करनेवाला ये तीनों कर्मसंग्रह अर्थात् कर्मसमुच्चय, कर्म-समष्टि वा कर्माश्रय कहे जाते हैं। जैसे देवदत्तने खड्गसे युद्धका सम्पादन किया। यहां देवदत्त कर्त्ता, खड्ग करण और युद्ध कर्मके नामसे पुकारे जावेंगे। ये तीनों मिलकर संपूर्ण युद्धव्यवहारके समुच्चय, समष्टि वा आश्रय हैं।

तहां कर्मके चार भेद हैं— उत्पाद्य, आप्य, संस्कार्य और विकार्य। उत्पत्तिके योग्य जो कर्म है उसे उत्पाद्य कहते हैं। जैसे कूप खोदकर जलका निकालना उत्पाद्य है। जो कर्म पूर्वसे ही सिद्ध है उसे आप्य कहते हैं। जैसे हंसना, रोना, निद्रा लेना, मल मूत्र परित्याग करना इत्यादि

जो कर्म गुणाधान मलापकर्षरूप होवे अर्थात् जिसका गुणमात्र रखलियाजावे और मल निकाल दिया जावे उसे संस्कार्य कहते हैं। जैसे दूधसे घृत वा माखन निकालकर उसकी कांजीको दूर फेंकदेना अथवा मृतकके पांचभौतिक शरीरको जलाकर उसकी आत्माको देव-यान वा पितृयान मार्ग होकर जानेका अधिकारी बनालेना।

विकार्य— उसे कहते हैं जो आवान्तर अवस्थाको प्राप्त हुआहो। जैसे जलसे हिम, इक्षुदंडसे गुड, शर्करा इत्यादि, स्वर्णसे कुण्डल, कंकण इत्यादि और मृत्तिकासे घट, ढक्कनआदि इन सब कर्मोंका समुच्चय ये कर्त्ता, कर्म और करण हैं जिनके बिना उक्तप्रकारके किसी भी कर्मकी स्थिति नहीं रहसकती।

भगवानने इस श्लोकमें कर्मको प्रेरक और आश्रय दिखलाते हुए ज्ञान, ज्ञेय, परिज्ञाता, करण, कर्म, और कर्त्ता छवों गूढ विषयोंका वर्णन करदिया। इन विषयोंपर बार-बार विचार करनेसे मनुष्य

तत्त्ववेत्ता होजाता है और लौकिक कर्मोंका परित्याग कर पारलौकिक कर्मोंका अनुष्ठाता बनजाता है एवं उसके हृदयमें यह निश्चय होजाता है, कि निष्फल कर्मोंका साधन करते-करते अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त कर इन कर्मोंके फल इष्ट, अनिष्ट और मिश्रसे अवश्य छूटजाऊंगा और अपने ज्ञेय भगवत्स्वरूपको अवश्य प्राप्त करूंगा ॥१८

अब भगवान् उक्त छओंमें ज्ञान, कर्म और कर्त्ताको मुख्य जानकर गुणभेदसे तीनोंके वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा अगले श्लोकमें करते हैं—

मु०— ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९

पदच्छेदः— गुणसंख्याने (गुणाः सत्वादयः सम्यक्कार्यभेदेन ख्यायन्ते प्रतिपाद्यन्तेऽस्मिन्निति गुणसंख्यानं कपिलकृतं सांख्यशास्त्रम् तस्मिन्) ज्ञानम् (ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम् । इष्टानिष्टबोधः) च (तथा) कर्म (क्रिया) च (पुनः) कर्ता (क्रियाश्रयः । स्वतन्त्रः) गुणभेदतः (सत्वादिगुणत्रयभेदेन) त्रिधा (त्रिविधः) एव (निश्चयेन) प्रोच्यते (कथ्यते) तानि (ज्ञानकर्तृकर्माणि) अपि, यथावत् (यथायोग्यम् । यथाशास्त्रम्) शृणु (वक्ष्यमाणोपदेशे चित्तम् समाधाय आकर्णय) ॥ १९ ॥

पदार्थः— (गुणसंख्याने) सांख्यशास्त्रमें (ज्ञानम्) ज्ञान अर्थात् जाननेकी क्रिया (च) और (कर्म) कर्म अर्थात् कर्त्ताके करनेका इष्ट (च) तथा (कर्ता) करनेवाला ये तीनों (गुणभेदेन) सत्वादि गुणभेदसे (त्रिधा) तीन प्रकारके (एव)

ही (प्रोच्यते) कहेजाते हैं (तानि) तिन सबोंको (अपि) भी (यथावत्) यथायोग्य (शृणु) हे अर्जुन ! श्रवण कर ॥ १९

भावार्थः— निखिलभुवनपरिपालनबद्धपरिकर जगदुदयविभववलयलीलाधर भगवान श्रीकृष्णचन्द्र पिछले श्लोकमें कथन कियेहुए ज्ञान, ज्ञेय, परिज्ञाता, कर्म, करण और कर्त्ताके विषय अर्जुनके प्रति पूर्णप्रकार व्याख्या कर आये हैं अब उनही छवोंमें ज्ञान, कर्म और कर्त्ता तीनोंको मुख्य जानकर इनके त्रिगुणात्मक होनेका भेद वर्णन करते हुए कहते हैं, कि [ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः । प्रोच्यते] ज्ञान, कर्म और कर्त्ता ये तीनों सत्व, राजसादि गुणोंके भेदसे तीन प्रकारके कहेगये हैं । कहां गये हैं ? तो कहते हैं, कि [गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि] गुणोंकी संख्या करनेवाले श्रीकपिलदेवविरचित सांख्यशास्त्रमें कथन कियेगये हैं सो जिस प्रकार कथन कियेगये हैं तिनको हे अर्जुन ! ज्योंका त्यों सुन ।

ज्ञान, ज्ञेय इत्यादि छवों तत्त्वोंमें केवल तीन ही लेनेका कारण यह है, कि शेष जो तीन करण, ज्ञेय और ज्ञाता हैं ये इन ही तीनोंके अन्तर्गत हैं। अर्थात ज्ञाता, कर्त्ताके अन्तर्गत है ज्ञेय, ज्ञानके अन्तर्गत है और करण कर्मके अन्तर्गत है । क्योंकि तीनोंको तीनोंका अवलम्ब है इसलिये भगवान अत्युक्ति जानकर केवल ज्ञान, कर्म और कर्त्ताका त्रिगुणात्मक होना कहते हैं ।

अब ये तीन तत्त्व उन तीनोंके अन्तर्गत कैसे हैं ? और क्यों हैं ? सो भी सुनलो ! ज्ञानके अन्तर्गत ज्ञेय तो यों है, कि जिस गुणसे विशिष्ट ज्ञेय होगा अर्थात सात्विक राजसादिमें जिस गुणकी प्रधानता ज्ञेयमें

होगी उसी प्रकारका ज्ञाता होगा। जैसे वेद सम्मुख रहनेसे ज्ञात वेदपाठी पण्डित, वीणा सम्मुख रहनेसे ज्ञाता वाद्यविशारद और बार सम्मुख रहनेसे हिंसा करनेवाला बधिक बन जावेगा॥

अब करण कर्मके अन्तर्गत कैसे है? सो कहते हैं करण उसे कहते हैं जिसके द्वारा कर्म सम्पादन किया जावे। अर्थात् जिस गुणसे विशिष्ट करण होगा तदात्मक कर्म भी होगा। जैसे नासिकासे सुगन्ध दुर्गन्धके ग्रहण करनेका कर्म छोड अन्य कुछ नहीं होसकता। श्रोत्रसे भले बुरे शब्दोंके सुननेका कर्म छोड अन्य कुछ नहीं होसक्ता। इसी प्रकार जिस प्रकारकी अन्य इन्द्रियां होंगी उसी प्रकारके कर्म भी होंगे इन्द्रियां करण हैं वह पहले भी कथन कर आये हैं इसलिये सात्त्विकके करण सात्त्विक, राजसके राजस और तामसके तामस करण होंगे

अब 'परिज्ञाता' ज्ञाताके अन्दर कैसे है? यह जान लेना भी आवश्यक है इसलिये कहते हैं, कि जबतक कर्त्ताके अन्तःकरणमें किसी वस्तुके जानलेनेकी शक्ति नहीं होगी तबतक वह उस कर्मका सम्पादन करनेवाला कर्त्ता नहीं होसकता। जैसे गायकके अन्तःकरणमें गानेकी शक्ति यदि नहीं होगी तो वह गानविद्याका परिज्ञाता होकर गान क्रियाके सम्पादन करनेका कर्त्ता नहीं होसक्ता। इसलिये परिज्ञाताको कर्त्ताके अन्तर्गत रखा।

यदि इस अनुलोमका विलोम भी करदिया जावे अर्थात् ज्ञान ज्ञेयके अन्तर्गत, कर्म, करणके अन्तर्गत और परिज्ञाता, कर्त्ताके अन्तर्गत कहाजावे तो भी कोई हानि नहीं है।

तात्पर्य यह है, कि इन छवोंमें किसी तीनके गुणोंका वर्णन करनेसे छवोंका वर्णन होजाता है। इसीलिये भगवान्‌ने अत्युक्ति जान कर छवोंका कथन करना उचित नहीं जाना।

भगवान्‌ने जो इस श्लोकमें ' गुणसंख्याने ' कहा तहां उनका तात्पर्य यह है, कि हे अर्जुन ! मैं तुझको यह विषय पहलेपहल नहीं कहता हूं वरु ' गुणसंख्यान ' गुणोंकी प्रसंख्या बतानेवाला जो महर्षि कपिलदेवकृत सांख्यशास्त्र है तिसमें जिस प्रकार इन गुणोंका वर्णन किया हुआ है मैं उसी प्रकार तुझसे कहता हूं।

बहुतेरे टीकाकार इस सांख्यशास्त्रको यों कहकर दूषित करते हैं, कि " कापिलं शास्त्रं परमार्थब्रह्मैकत्वविषये न प्रमाणम् " अर्थात् परमार्थब्रह्मकी एकताके विषय यह ग्रन्थ प्रमाण नहीं है पर ऐसा लिखना एक प्रकारका पक्षपात सिद्ध करता है सांख्य और वेदान्त इन दोनों शास्त्रोंके पठन-पाठन करनेवाले परस्पर एक दूसरेसे विरोध रखते हैं ऐसा रागद्वेष रखना पूर्ण विद्वानोंका काम नहीं है। मैं मुक्तकंठसे कहसकता हूँ, कि सांख्यशास्त्रने भी परमार्थतत्त्व ब्रह्मका भी प्रतिपादन किया है। जैसा, कि मैं अपनी अल्पबुद्धिके अनुसार इस गीताशास्त्रके अ० १३ श्लो० ६, ७ में वेदान्त और सांख्य दोनोंके विरोधको मिटा आया हूं ॥ १६ ॥

यहांतक भगवान्‌ने ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता इन तीनों त्रिकोंका वर्णन लौकिक व्यवहारोंको दरशातेहुए किया। अब इन पारलौकिक तत्त्वोंमें इनके सात्विकादि त्रिगुणात्मक होनेका स्वरूप दिखलातेहुए

प्रथम सात्विक, राजस, और तामस ज्ञानका वर्णन अगले तीन श्लोकोंमें करते हैं ।

मू०— सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम् ॥२०

पदच्छेदः— विभक्तेषु (पृथग्भूतेषु । अनेकनामरूपगुणाभिन्नेषु) सर्वभूतेषु (अव्यक्तादिस्थावरान्तेषु सकलप्राणिषु) येन (ज्ञानेन) एकम् (अद्वितीयम) अविभक्तम (विभागशून्यम) अव्ययम् (अविनाशिनम । विनाशरहितम। कूटस्थम् नित्यम) भावम् (परमार्थतत्त्वम् सच्चिदानन्दरूपम) ईक्षते (पश्यति । साक्षात्करोति) तत्, ज्ञानम् (अद्वैतात्मदर्शनम । यथार्थज्ञानम) सात्विकम्, विद्धि (जानीहि) ॥ २० ॥

पदार्थः— हे अर्जुन ! (विभक्तेषु) परस्पर भेदवाले (सर्वभूतेषु) सब भूतोंमें (अविभक्तम्) अभिन्न, सर्वव्यापक (एकम) अद्वितीय (अव्ययम्) निर्विकार, कूटस्थ, नित्य (भावम्) परमार्थतत्त्व सच्चिदानन्दस्वरूप (येन) जिस ज्ञानसे (ईक्षते) देखाजाता है (तत्) उस (ज्ञानम) ज्ञानको (सात्विकम्) सात्विक ज्ञान (विद्धि) जानो ॥ ॥ २० ॥

भावार्थः— परमानन्दागार निखिलभुवनाधार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता इस प्रथम त्रिकका प्रथम भाव ज्ञानके सात्विक स्वरूपका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते] जिस ज्ञानसे

सर्व भूतोंमें एक अव्यय भाव देखा जाता है वह सात्विक ज्ञान है अर्थात् ब्रह्मासे लेकर तृण पर्य्यन्त सबमें जो आत्माको एक-रस व्यापक जानता है और ऐसा जानकर शत्रु, मित्र, हानि, लाभ, दुःख, सुख इत्यादिके सम्मुख होनेपर भी स्थिरचित्त रहकर चलाय-मान नहीं होता वही सात्विक ज्ञानी है। जैसा, कि भगवान् अपने मुखारविन्दसे अर्जुनके प्रति पहले भी कहआये हैं, कि " **समः शत्रौ च मित्रे च** " (अ० १२ श्लो० १८) " **समं पश्यन् हि सर्वत्र** " (अ० १३ श्लो० २८) " **समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः** " (अ० १४ श्लो० २४) एकाग्रचित्त होकर फिर एक बार इन श्लोकोंको अवलोकन करनेसे और उनके गूढ अर्थोंपर विचार करनेसे पाठकोंको यह अवश्य बोध होजावेगा, कि सात्विक-ज्ञान वह रत्न है, जिसे लाभ करलेनेसे यह जीव ब्रह्मत्वको प्राप्त होजाता है अर्थात् भगवत्स्वरूप होजाता है फिर तो शेष रहा ही क्या ? जिसको वह अपनेसे विलग अथवा एक दूसरी वस्तुको परस्पर विलग देखे। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि [**अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम्**] जिसने जिस ज्ञानसे विभक्त वस्तु-ओंमें अविभक्तका बोध प्राप्त करलिया उसी ज्ञानको हे अर्जुन ! तू सात्विक जान।

तात्पर्य्य यह है, कि जितनी वस्तु* 'स्वजाति, विजाति और स्वगतभेदसे भिन्न २ भास रहीं हैं वे यथार्थमें भिन्न नहीं हैं। सब एक ही स्वरूप हैं केवल परमाणुओंके मेलका आवान्तरभेद होगया

* इन तीनोंका वर्णन अ० ९ श्लोक १६ में होचुका है।

है। सो परमाणु सबमें समानरूपसे व्याप रहा है और तिस परमाणुमें ब्रह्मसत्ता समानरूपसे व्यापतीहुई अन्तःकरणकी विचित्रताके कारण विभिन्न रूपोंमें देखी जारही है। यदि अन्तःकरण सब भिन्न-भिन्न रूपोंको एक परमाणुरूप देखकर ब्रह्मसत्ताकी व्यापकता दीखने लगजावे तो उसकी विचित्रता मिटकर शान्तिकी प्राप्ति होवे। फिर तो अन्तःकरण सब विभक्त वस्तुओंको अविभक्त देखे। अर्थात् भिन्न-भिन्न पदार्थोंको एकरूप देखे। जब ऐसा सात्त्विक ज्ञान अपनी पूर्ण कलाके ऊपर पहुंचजाता है तब यह प्राणी विज्ञानका आनन्द लूटने लगता है, दरिद्रसे चक्रवर्ती बनजाता है और मग्न होकर यों कहने लगजाता है, कि श्रु०— " ॐ केवलं तुर्यरूपोऽस्मि तुर्यातीतोस्मि केवलः। सदा चैतन्यरूपोऽस्मि चिदानन्दमयोऽस्म्यहम्॥ आत्मानन्दस्वरूपोऽहं ह्ययमात्मा सदाशिवः। आत्मप्रकाशरूपोऽस्मि ह्यात्मज्योतीरसोऽस्म्यहम्। आदिमध्यान्तहीनोऽस्मि आकाशसदृशोऽस्म्यहम्। देहभावविहीनोऽस्मि चिन्ताहीनोस्मि सर्वदा। चित्तवृत्तिविहीनोऽहं चिदात्मैकरसोऽस्म्यहम्। " (तेजविन्दूपनिषत् प्रथम अध्याय श्रु० ४, ६, १०, १९) अर्थस्पष्ट है।

संक्षिप्त तात्पर्य यह है, कि इस सात्त्विक ज्ञानके अभ्याससे प्राणीको ऐसा बोध होजाता है, कि मैं तुरीय, चैतन्य और चिदानन्दरूप हूं आत्मानन्द, सत्यानन्द, आत्माराम और आत्मस्वरूप हूं और सदा कल्याणस्वरूप हूं। आत्मप्रकाशस्वरूप, आत्मज्योति, आदि, मध्य और अन्तसे हीन सदा एकरस आकाशके समान हूं। देहभावसे विहीन हूं अर्थात् देहको भी आत्मा ही देखता हूं आत्मासे इतर नहीं देखता

और सदा चिन्तारहित हूं, नाना प्रकारकी चित्तवृत्तियोंसे रहित हूं, चिदात्मा हूं और एकरस हूं।

भगवान्‌ने जो इस श्लोकमें " अविभक्तं विभक्तेषु " कहा है इसका मुख्य तात्पर्य यही है, कि जितनी वस्तुवस्तु साधारण ज्ञान-वालोंकी दृष्टिमें विभक्त हैं अर्थात विलग-विलग हैं वे सब सात्विक ज्ञानवालोंकी दृष्टिमें एक समान हैं। प्रमाण श्रुतिः— " ॐ यथा शुद्धसुवर्णस्य कटकमुकुटांगदादिभेदः। यथा समुद्रसलिलस्य स्थूलसूक्ष्मतरंगफेनबुद्बुदकरकलवणपाषाणाद्यनन्तभेदाः। यथा भूमेः पर्वतवृक्षतृणगुल्मलताद्यनन्तःवस्तुभेदः। तथैवाद्वैतपर-मानन्दलक्षणपरब्रह्मणो मम सर्वाद्वैतमुपपन्नं भवत्येव।"

(महानारायणोपनिषत् श्रु० २ में देखो)

अर्थ—श्रीपितामह ब्रह्मदेवके पूछनेपर श्रीमहानारायण विष्णुभगवान कहते हैं, कि जैसे एक शुद्ध सुवर्णके कंकण, मुकुट, बिजावट इत्यादि अनेक भेद देखेजाते हैं, जैसे एक समुद्रजलके तरंग, फेन, बुल-बुल, कौडी, शंख, सीपी, लवण, पाषाण इत्यादि अनेक भेद हैं, जैसे एक पृथिवीके वृक्ष, तृण, झाडी, लता इत्यादि अनेक भेद हैं।

ऐसे ही ब्रह्मलोकसे लेकर पाताल पर्य्यन्त जितनी वस्तुवस्तु हैं सब मुझ अद्वैत परमानन्दब्रह्मसे निश्चय करके अद्वैतरूपमें उत्पन्न होती हैं। तात्पर्य यह है, कि जैसे एक सुवर्ण नाना प्रकारके आभू-षणोंमें व्यापक है एक ही समुद्रजल तरंग बुद्बुदादिमें व्यापक है और एक ही पृथिवी पर्वत और वृक्षादिमें व्यापक है ऐसे ही सात्विक ज्ञानीकी दृष्टिमें ऐसा निश्चय होजाता है, कि ब्रह्मलोकसे पाताललेक

तककी वस्तुवस्तुमें एक ही सच्चिदानन्द अद्वैत परब्रह्म है। केवल अन्तः-करण और बाह्यकरण दोनोंके विकारसे सामान्य पुरुषोंको भिन्न-भिन्न रूप भासरहा है। तात्पर्य यह है, कि स्वजाति, विजाति और स्वगतभेद से रहित जो सब उच्च नीचको समान दृष्टिसे देखता है वही यथार्थ सात्विक ज्ञानवाला है। जैसा, कि भगवान् पहिले भी कह आये हैं, कि "विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः" (अ० ५, श्लो० १८)

इस श्लोकमें जो भगवानने 'भावमव्ययम्' शब्दका प्रयोग किया है इसका मुख्य तात्पर्य यह है, कि जैसे अव्यय जो सच्चि-दानन्द परब्रह्मस्वरूप परमात्मा भूत, भविष्य और वर्त्तमान तीनों कालमें एक रस रहता है ऐसे ब्रह्मलोकसे पाताल पर्यन्तकी वस्तुवस्तु भी अव्यय रूप हैं अर्थात् तीनों कालमें एक रस हैं।

शंका— यह मायाकृत सृष्टि जिसे विद्वान् नश्वर कहते चले-आरहे हैं तिसको तुम तीनों कालमें सदा एक-रस कैसे कहते हो?

समाधान— "पृथिवी नित्या परमाणुरूपा" पृथिवी नित्य है और परमाणु रूप है। "दोधूयमानास्तिष्ठन्ति प्रलये परमाणवः" सारी सृष्टिकी वस्तुवस्तु प्रलयकालमें नष्ट होकर केवल उनके परमाणु बिखर कर रहजाते हैं अर्थात पृथिवीके परमाणु जलमें, जलके अग्निमें, अग्निके वायुमें और वायुके आकाशमें लय होकर रहजाते हैं। फिर जब सृष्टिकी रचना आरम्भ होती है तब ये बिखरेहुए पर-माणु द्व्यणुक और त्रसरेणु इत्यादि रूपमें होतेहुए घन होकर

भिन्न-भिन्न स्वरूपमें बनजाते हैं। अर्थात् जिस प्रकार पूर्व-सृष्टिमें रहते हैं वैसे ही फिर बनजाते हैं तहां वेदका भी वचन है—

" ॐ अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्यमिषतो वशी सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् "।

इस विषयका वर्णन अ० २ श्लो० २८ में पूर्णप्रकार करदियागया, जिससे यह सिद्ध कियागया है, कि ये ब्रह्मलोकसे पाताल पर्यन्त तककी दृष्ट और श्रुत वस्तुतस्तु परमाणुओंके मेलसे बनजाती हैं और फिर नष्ट होकर परमाणुरूप ही रहजाती हैं इसलिये रूप करके ये नश्वर हैं पर प्रवाह करके अव्यय हैं। क्योंकि ये बहुत सूक्ष्म हैं।

"जालांतरे गते रश्मौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
तस्य त्रिंशत्तमो भागः परमाणुः स उच्यते ॥"

इसीलिये भगवानने इस श्लोकमें 'भावमव्ययम्' कहकर प्रयोग किया और यह जनादिया, कि सात्विक ज्ञानवाले इनको प्रवाह करके अव्यय जानते हैं। जैसे किसी ग्रामको जलादो तो उसकी सब वस्तुतस्तु जलकर प्रथम भस्मस्वरूप होजावेंगी फिर वह भस्म वायुमें लय होतीहुई आकाशमें लय होजावेगी। फिर उस स्थानपर पूर्वकी बडी-बडी विशाल वस्तुओंका पता ही नहीं लगेगा, वे कहां गईं और क्या हुईं? पर सात्विक ज्ञानवालेको तो यही बोध होगा, कि वे सब परमाणुरूपमें वर्त्तमान हैं और वर्त्तमान रहेंगी केवल इनका तिरोभाव होगया है। इसी प्रकारसे देखनेको अव्ययभावमें देखना कहते हैं। सो सात्विकज्ञानका कार्य्य है। शंका मत करो ॥ २० ॥

अब भगवान अगले श्लोकमें राजसज्ञानका वर्णन करते हैं—

मू०— पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१

पदच्छेदः— पृथक्त्वेन (पार्थक्येन प्रतिदेहं भिन्नत्वेन) तु (किन्तु) सर्वेषु (सकलेषु) भूतेषु (प्राणिषु) पृथग्विधान् (प्रतिदेहं भिन्नान्) नानाभावान् (सजातीयेषु मनुष्यादिषु भिन्नप्रकारान्) यत्, ज्ञानम्, वेत्ति (जानाति । विषयीकरोति) तत्, ज्ञानम्, राजसम्, विद्धि (जानीहि) ॥ २१ ॥

पदार्थः— हे अर्जुन ! (तु) किन्तु (पृथक्त्वेन) पृथक् रूपसे (सर्वेषु) सम्पूर्ण (भूतेषु) प्राणियोंके (पृथग्विधान्) भिन्न-भिन्न (नानाभावान) नाना प्रकारके भावोंको (यत्) जो (ज्ञानम) ज्ञान (वेत्ति) जानता है (तत) उस (ज्ञानम्) ज्ञानको (राजसम्) राजस (विद्धि) समझ ॥ २१ ॥

अर्थात् जिस ज्ञान द्वारा सब वस्तुओंमें भिन्नता देखीजाती है उसको राजस ज्ञान जानो ।

भावार्थः— रमामानसहंस वृष्णिवंशावतंस भगवान श्रीकृष्णचन्द्र राजसी ज्ञानका परिचय कराते हुए कहते हैं, कि [पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् । वेत्ति सर्वेषु भूतेषु] पृथक्-पृथक् करके भिन्न-भिन्न प्रकारके बहुतेरे भावोंको जिस ज्ञान द्वारा प्राणी जानता है अर्थात्

सब भूतोंमें भिन्नता समझता है, एक रूप नहीं जानता वही राजसी ज्ञान है। तात्पर्य यह है, कि इन दिनों बहुतेरे प्राणी अपनेको बुद्धिमान् समझकर यों कहा करते हैं, कि यदि सबमें आत्मा एक समान होता तो जहां एक मनुष्यके मस्तिष्कमें व्यथा होती तहां सारे ब्रह्माण्डके मनुष्योंके मस्तकमें व्यथा होजाती, एक मनुष्य पंगु होजाता तो सब पंगु होजाते, एक अंधा होता तो सब अंधे होजाते एक गूंगा होता तो सब गूंगे होजाते पर ऐसा नहीं होता है। इसलिये प्रत्यक्ष देखा जाता है, कि सब जीव पृथक्-पृथक् हैं। सात्विक ज्ञानवाले जो सबको एक समान समझ रहे हैं वह उनकी नितान्त भूल है।

एवम् प्रकार सात्विकज्ञान वालोंपर लांछन लगाकर अपनेको बुद्धिमान् कहकर जो सर्वत्र पृथक् भाव समझ रहे हैं ऐसा समझना राजसज्ञानवालोंकी अपनी ही भूल है क्योंकि यह उनका वचन किसी उदाहरण वा दृष्टान्तसे सिद्ध नहीं होता देखो! गंगोत्तरीसे गंगाकी धारा निकालकर समुद्रमें जामिलती है उसकी लम्बाई कमसेकम १९००सौ मीलकी है। तहां इनके सिद्धान्तके अनुसार यदि उस गंगाके प्रवल प्रवाहमें एक किसी ठौरपर बुदबुदे पडजावें तो उसी क्षण संपूर्ण गंगाजलमें गंगोत्तरीसे लेकर समुद्रतक बुदबुदोंका पडजाना उचित था पर ऐसा नहीं देखा जाता। क्योंकि जल तो एक ही है और सर्वत्र एक ही जलका लगाव है। अथवा इस १९००सौ मीलके प्रवाहके अन्तर्गत किसी एक स्थानसे एक घट भर कर निकाललो तो वह गंगाजल ही समझा जावेगा। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न ठौरसे एक सहस्र गंगाजलके घट भरकर निकाललो और एक घटके जलसे मद्य बनाकर और तिस मद्यको

पीकर मत्त होजाओ तो क्या सहस्रों घट मद्य ही होजावेंगे और उनके पीनेसे प्राणी मत्त होजावेंगे ? कदापि नहीं फिर देखो ! कि संपूर्ण पृथिवीमंडलका समुद्र तो एक ही है। फिर इन पृथग्भाव देखनेवालोंके सिद्धान्तके अनुसार समुद्रमें झंझावात (तूफान) के झकोड़ोंसे यदि एक नौका डूबजावे तो समुद्रभरकी नौकाओंका डूबजाना उचित था पर ऐसा नहीं होता ।

इसी प्रकार सहस्रों दृष्टान्त देखनेमें आवेंगे, कि जो वस्तु महान और विशाल है उसके किसी एक भी अवयवमें विकार होनेसे संपूर्ण अवयवीमें विकार नहीं होता । अधिक क्या कहाजावे इस सिद्धान्तके विरुद्ध ऐसा देखाजाता है, कि जब एक ही मनुष्यके मस्तकमें व्यथा होती है तो वह व्यथा उसके हृदय, हाथ, पांव इत्यादि अवयवोंमें नहीं होती इसलिये ऐसा कहना, कि आत्माके एक होनेसे एककी व्यथासे सबको व्यथित होजाना चाहिये था इसीलिये आत्मा एक नहीं है भिन्न है ऐसा कहना भूल है और यह उनका तर्क, कुतर्क है और निर्मूल है । इसलिये भगवान् कहते हैं, कि [**तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्**] हे अर्जुन ! तू ऐसे पृथक् २ समझनेवालेको 'राजसज्ञान' जान ! अर्थात् जो लोग ऐसा समझरहे हैं, कि मेरा आत्मा दुःखी है, मेरे छोटे भाईका आत्मा दुःखी है, मैं धनवान हूं, मेरा मित्र दरिद्र है और यह आत्मा परमात्मासे विलग है फिर देव, राक्षस, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, पर्वत, फल, फूल, नदी, नाले इत्यादिके आत्मा पृथक्-पृथक् हैं ऐसा समझनेवालोंका ज्ञान राजसीज्ञान है । क्योंकि किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठकी

संगतिद्वारा आत्मज्ञानकी प्राप्ति नहीं हुई अपनी आंखोंपर अंगुली डालकर भ्रमात्मक दृष्टिद्वारा देखनेसे जैसे एक चन्द्रमा दस-बीस होकरे भिन्न भासता है ऐसे राजसज्ञानवाले प्राणियोंके अन्तःकरणरूप नेत्रमें अज्ञानताकी अंगुली पडजानेसे एक आत्मा सहस्रों आत्मा होकर भासरहा है इसलिये इनका ज्ञान राजसी ज्ञान है यथार्थ नहीं है। यथा श्रुतिः—

" ॐ एक एव हि भूतात्मा भूते २ व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्" (ब्रह्मविन्दूपनिषद् श्रु० १२)

अर्थ— निश्चय करके एक ही भूतात्मा भिन्न-भिन्न भूतोंमें व्यवस्थित है सो एक ही आत्मा बहुत होकर ऐसे भासता है जैसे जलकी लहरोंमें एक ही चन्द्रमा बहुत होकरे भासता है पर वह बहुत नहीं एक ही है। भिन्न २ समझना भ्रमात्मक बोध है इसलिये इसे राजसज्ञान कहते हैं।

शंका— सृष्टिकी जितनी वस्तु विलग-विलग बनी हुई हैं वे सब प्रत्यक्षमें विलग २ देखी जारही हैं अर्थात् उनका विलग २ होना प्रत्यक्षप्रमाणसे सिद्ध है इसलिये ऐसे बोधवालेको मिथ्या लांछन लगाकर भगवान् दूषित क्यों करते हैं ?

समाधान— प्रत्यक्षप्रमाणको केवल नास्तिक मानते हैं शास्त्रवेत्ता नहीं मानते। क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाणमें इन्द्रिय जन्य दोषोंकी प्राप्ति देखीजाती है। जैसे सूर्य्यमण्डल और चन्द्रमण्डल सुनहरी और रुपहली रोटियोंके समान केवल वितस्तमात्रकी गोलाईमें भासते हैं जो प्रत्यक्ष दृष्टिदोषजनित भ्रमात्मक बोध है। क्योंकि यथार्थमें वे वितस्तमात्र नहीं हैं वरु उनकी गोलाई सहस्रों

योजनकी है इसी प्रकार वृक्ष और पर्वतोंसे रहित किसी सुनसान विस्तृत भूमिपर अथवा किसी सागरकी नौकापर वा किसी पर्वतके शृंगपर खडे होकर देखो तो ऐसा बोध होगा, कि चारों ओरसे आकाश पृथ्वीसे लगा हुआ है। अज्ञानी ऐसा समझेंगे. कि मैं चलते २ उस स्थानपर पहुंचकर आकाशको छूलूंगा पर ऐसा नहीं यह प्रत्यक्षप्रमाण भी दृष्टिसे दूषित है।

फिर देखो कभी-कभी घरमें बैठे रहो तो जो नगाडा तुम्हारे घरसे पूर्वकी ओर बजरहा है उसका शब्द पश्चिमकी ओरसे सुन पडता है यहँ 'प्रत्यक्ष' श्रोत्रजन्यदोपसे दूषित है। यह तो मैंने वाह्यकरणके दोषोंके उदाहरण दिये जिससे प्रत्यक्षका खंडन होता है। अब अन्तःकरणदोष-जन्य प्रत्यक्षको भी सुनो! कभी-कभी जब दिग्भ्रम होजाता है तो प्राणीको पूर्वका पश्चिम वा उत्तरका दक्खिन जान पडता है यह अन्तःकरणदोषसे दूषित 'प्रत्यक्ष' है इसलिये बुद्धिमान प्रत्यक्षका विश्वास नहीं करते।

श्रीशंकराचार्यके गुरु गौडपादाचार्य्यने भी अपनी कारिकामें द्वैत देखना अर्थात् भिन्न-भिन्न देखना अन्तःकरणदोषजनित अर्थात् मनका दोष माना है। प्रमाण— "**मनो दृश्यमिदं द्वैतं यत्किंचित्सचराचरम्। मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते**" (माण्डूक्यो० गौडपादीयकारिका तृतीय प्रकरण श्लो० ३१—११०) अर्थात् जो कुछ जड चेतन भिन्न-भिन्न करके द्वैतरूपसे भास रहे हैं वे मनोदृश्यदोषसे भासते हैं अर्थात् मनके दोषसे भासते हैं और जब वह मन अमनीभावको प्राप्त होता है तब कहीं द्वैतका पता भी नहीं लगता अर्थात् जिस प्राणीका ज्ञान मनोदृश्यसे दूषित है वह राजसी ज्ञान है। और

जो मनके अभाव होजानेसे अद्वैतबुद्धिकी प्राप्ति है वह सात्विक ज्ञान है। शंका मत करो! ॥ २१ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें तामस ज्ञानका वर्णन करते हैं—

मू० — यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

पदच्छेदः— तु (किन्तु) यत् (ज्ञानम्) एकस्मिन्, कार्ये (विकारभूते देहे) कृत्स्नवत् (सर्ववत्। सम्पूर्णमिव) सक्तम् (लीनम्। एतावानेवात्मा ईश्वरो वा नातः परमस्तीति लग्नम्) अहैतुकम् (हेतुरुपपत्तिस्तद्रहितम्) अतत्त्वार्थवत् (परमार्थावलम्बनरहितम्। अयथार्थविषयकम्) च (पुनः) अल्पम् (तुच्छम्। आत्मनो नित्यत्वविभुत्वाविषयीकरणात् अतिस्वल्पम्) तत् (ज्ञानम्) तामसम्, उदाहृतम् (कथितम्) ॥ २२ ॥

पदार्थः— (तु) किन्तु हे अर्जुन ! (यत्) जो ज्ञान (एकस्मिन्) एक ही (कार्य्ये) कार्यमें (कृत्स्नवत्) सकलभावको लियेहुए (सक्तम्) अनुरक्त है (अहैतुकम्) इसलिये युक्तिरहित है (अतत्वार्थवत्) यथार्थ अर्थका बोधक नहीं है (च) और (अल्पम्) तुच्छस्वरूप है (तत्) ऐसा ज्ञान (तामसम्) तामसी (उदाहृतम्) कहागया है ॥ २२ ॥

भावार्थः— फुल्लेन्दीवरकान्तवदन सकलसुषमासदन श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति तामसीज्ञानका वर्णन करते हुए कहते हैं, कि [**यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्य्ये सक्तम-**

हैतुकम्] जो ज्ञान सकल भावोंको लियेहुए बिना किसी हेतुके किसी एक ही कार्यमें आसक्त है अर्थात् प्रत्यक्ष अनुमान इत्यादि अनेक प्रमाणोंसे भी जिसकी उपपत्ति नहीं होसकती और सिद्धान्तको नहीं पहुंच सकता ऐसे किसी एक कार्यमें देहमें अथवा किसी अन्य भूतमें जो आसक्त हो अर्थात् सबको एक ही में समझ कर उसीमें लय होजावे और ऐसा समझे, कि इससे इतर अन्य कुछ भी नहीं है फिर वह एक ही पदार्थ किस प्रकारका हो, कि [अतत्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्] अतत्वार्थ हो और अल्प भी हो अर्थात्कार्य, देह वा भूतमें जिसकी आसक्ति हुई हो और वह किसी विशेष तत्वयुक्त अर्थका सम्पादन करनेवाला न हो इसी कारण अल्प हो अर्थात् तुच्छ हो तो ऐसे ज्ञानको 'तामसज्ञान' कहते हैं। जैसे किसीने अपनी देहको सुन्दर समझकर ऐसा अहंकार करलिया, कि मेरे शरीरसे बढकर कोई दूसरा शरीर सुन्दर नहीं है, सारी सुन्दरताई मेरे ही शरीरमें सिमट कर इकट्ठी होगयी है। अथवा यों समझलेवे, कि मुझसे बढकर कोई बुद्धिमान नहीं है संसारमें डेढ बुद्धि है जिससे आधीमें तो संसार है और एक समूची बुद्धि मुझमें है इसलिये यह मेरा शरीर बुद्धिका भण्डार ही है। अर्थात् अपने शरीरको वा इसी प्रकार दूसरे किसीके शरीरको संसारभरके शरीरोंसे परम सुन्दर वा परम बुद्धिमान् समझलेना तामसी ज्ञान है।

इसी प्रकार किसीने सुन-सुनाकर बिना गुरु वा शास्त्रो- पदेशके सारतत्वसे रहित गोगापीर, लोनाचमारी, बूढाबाबू वा ज्ञखड्डूबाबाका पिंड बनाकर अपने घरके सामनेके वृक्षके नीचे

स्थापित कर यों समझ लिया, कि जितनी देवत्वकी शक्तियां इस ब्रह्माण्डमें हैं सब इसी पिंडमें रम रही हैं इससे इतर दूसरा कुछ नहीं है तो ऐसे ज्ञानको तामसी ज्ञान कहते हैं ।

इन दिनों प्रायः ऐसा देखाजाता है, कि विजयादशमीके उत्सव में बहुतेरे प्राणी श्रीदुर्गाजी वा कालीदेवीकी मूर्ति बनाकरे जब नदीमें प्रवाह करदेनेके लिये बाजे गाजेके साथ बड़ी चहलपहल और बड़ी घूमधामसे लेचलते हैं और जहां किसी चौराहेपर ऐसी दो चार मूर्त्तियोंका मिलाप होजाता है तो प्रत्येक प्राणी दूसरेकी मूर्त्तिको तुच्छ और अपनी मूर्त्तिको विशेष समझकर आगे बढ़ा लेजाना चाहता है जिसके लिये लाठियां चलती हैं और बहुतेरोंके मस्तक फूटजाया करते हैं जिस कारण गवर्नमेंट सरकार इंग्लिशिया की पुलिस इनके साथ रहती है। इसी प्रकारके दंगे मुसलमानोंके मुहर्रमके उत्सवोंमें भी देखेजाते हैं ऐसे पुरुषोंका ज्ञान तामसी ज्ञान है ।

फिर लीजिये और सुनिये! इन दिनों बहुतेरे वैष्णवमतवाले आचार्य्य इत्यादि शिवके मन्दिरमें नहीं जाते और अपने मन्दिरको श्रेष्ठ और अन्य देवमन्दिरोंको तुच्छ समझते हैं एवं भस्मको अग्निका मल बताया करते हैं । अपने सालग्रामको दूसरेके सालग्रामसे श्रेष्ठ बताते हैं । ऐसे ज्ञानको तामसी ज्ञान कहते हैं ।

शंका— अपने देवमें विशेष ज्ञान रखना तो उपासनाकी उत्तम रीतिके अन्तर्गत है क्योंकि उपासकको चाहिये, कि अपने उपास्यको परमदेव परब्रह्म सच्चिदानन्द समझे फिर ऐसी समझको तामसी ज्ञान

क्यों कहते हो ? ऐसा कहनेसे तो उपासनाका खंडन होजाता है। क्योंकि जिसने राम वा कृष्णकी उपासना की वह शिवमन्दिरमें क्या करने जावेगा ? यथार्थ तो यह है, कि "एको देवः केशवो वा शिवो वा" एक देवकी उपासना करनी चाहिये केशवकी वा शिवकी फिर ऐसी अनन्यभक्तिको तामसी ज्ञान कहना अनुचित देख पडता है भगवान् इसी गीतामें कहआये हैं, कि "अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः" (अ० ८ श्लो० १४) "अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते" (अ० ६ श्लो० २२) अर्थात् जो अनन्यचेतस है, जिसकी अनन्य भक्ति है और अपने उपास्यको छोड अन्य कुछ नहीं जानता उसीको भगवान् योगक्षेम देते हैं और उसीको बडी सुगमतासे मिलते हैं फिर ऐसे ज्ञानको तामसी ज्ञान कहकर भगवान् अपने वचनोंको आप ही इस श्लोक द्वारा क्यों खंडन कररहे हैं ?

समाधान— अरे प्रतिवादी ! तूने तो इस तत्त्वको समझा ही नहीं ! तुमने मोतीके साथ गुंजा पिरोदिया। अजी ! उपासना ही सात्विक ज्ञानका कार्य्य है और " अतत्त्वार्थ " कार्य्यमें " कृत्स्नवदेकस्मिन् " देखना तामसीज्ञानका कार्य्य है क्योंकि उपासनाके विषय स्वयं भगवान्का यह वचन है, कि " यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति " देखो (अ० ६ श्लो० ३०) अर्थात् जो सब भूतोंमें मुझको देखता और मुझमें सबको देखता है वह मेरा भक्त सदा मेरे समीप है मैं उससे विलग नहीं होता हूं। जैसे गोस्वामी तुलसीदासजीने वृन्दावनमें जाकर जब कृष्णमूर्त्तिको नमस्कार करना

चाहा तो किसीने यह दोहा पढदिया, कि " अपने-अपने इष्टको नमन करें सब कोय। इष्ट विहीना परशुराम नवै सो मूरख होय ॥" यह सुनकर तुलसीदासजीने यों कहा, कि " क्या वरणों छवि आजकी भले बने हो नाथ। तुलसी मस्तक तब नवे धनुष-बाण लो हाथ ॥" इतना कहते ही कैसी आश्चर्यमयी लीला हुई, कि " मुरली मुकुट दुरायके धनुष बाण ले हाथ। सेवककी रुचि राखि वे नाथ भये रघुनाथ " अब विचारकी दृष्टिसे देखो, कि तुलसीदासजीने उपासनाका पक्ष भी रखलिया और अपने उपास्यको सर्वमूर्त्तियोंमें दिखलाकर भगवान्के वचनको सिद्ध भी करदिया, कि " यो मां पश्यति सर्वत्र " इसी ज्ञानको सात्विकज्ञान कहते हैं और यही उपासनातत्त्वको दृढ करनेवाला है।

यहां इस श्लोकमें जो कहा, कि " कृत्स्नवदेकस्मिन् " तथा " अतत्त्वार्थवदल्पं च " अर्थात् ब्रह्मतत्त्वरहित, तुच्छ और एक ही कार्यमें जो सर्ववत् देखता है पर अपने उस एक कार्य्यको सर्वमें नहीं देखता वरु अन्य सब भूतोंसे घृणा करता है यह तामसज्ञान है। जैसे इन दिनों भिन्न-भिन्न मतवाले अपने मतकी प्रशंसा और दूसरेके मतकी निन्दा कियाकरते हैं यह तामसज्ञान है। यदि वे सब मतमतान्तरोंको अपने मतमें और अपने मतको सबमें देखते होते तब तो उनका ज्ञान सात्विकज्ञान कहाजाता। इस विषयपरे मैं एक कपोलकल्पित दृष्टान्त देकर तुम्हें इस अर्थको समझादेता हूं। किसी ग्राममें दो भाई थे दोनोंमें परस्पर द्वेष होजानेके कारण दोनोंने

अपने पैतृक धनको दो समभागोंमें बांट लिया और उसीके साथ अपने गुरुमहाराजको भी दो सम भागमें बांटकर दाहिने अंगको एकने और बायें अंगको दूसरेने अपना-अपना पूज्य अंग समझा। अकस्मात् श्री गुरुमहाराज उनमेंसे एकके घर आगये। जब वह जल लेकर पाद-प्रक्षालनके लिये पहुंचा तो गुरुमहाराजने अपना दाहिना पैर उसके आगे करदिया उसने जलभरे लोटेसे पांच सात लोटा मारा और कहा, कि यह पैर तो उसका है मेरा 'पांव' दीजिये फिर वह उनका बायां पैर पखारने लगा इतनेमें उसके भाईने यह सुना कि मेरे पांवको दो चार लोटे लगगये हैं फिर तो वह भी दौडा आया और बायें पैरमें दो चार लोटे लगादिये अब क्या था गुरु महाराज चलते हुए और फिर वहां आनेका नाम भी नहीं लिया।

इन दोनों मूर्खोंके ज्ञानको तामसी ज्ञान कहना चाहिये। क्योंकि "कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्य्ये सक्तमहैतुकम्, अतत्त्वार्थ, और अल्प इन चारों दोषोंसे दूषित हैं। अर्थात् संपूर्ण गुरुकी महिमाको एक ही पांवमें देखना और उसीमें आसक्ति रखना जिसका कुछ भी हेतु नहीं है और यथार्थ तत्त्वसे रहित है फिर अल्प है अर्थात् अत्यन्त तुच्छ बुद्धिसे संयुक्त है। इसलिये हे प्रतिवादी! यह सिद्ध होता है, कि उपासनातत्त्व और तामसी ज्ञानके तत्त्वमें पृथ्वी और आकाश का अन्तर है अतएव शंका मत कर! ॥ २२ ॥

अब भगवान् सात्विक, राजस और तामस कर्मोंका वर्णन अगले श्लोकमें करते हैं—

मू०— नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३

पदच्छेदः— अफलप्रेप्सुना (निष्कामेन । फलप्राप्तिकामनाशून्येन कर्त्रा) संगरहितम् (अभिनिवेशशून्यम् । आसक्तिवर्जितम्) अरागद्वेषतः (रागः इष्टे प्रीतिः द्वेषः अनिष्टेप्रीतिः इति रागद्वेषौ ताभ्यां शून्यतया) यत्, नियतम् (नित्यम्) कर्म (यागतपोदानादि) कृतम् (अनुष्ठितम्) तत् (कर्म) सात्त्विकम् उच्यते (कथ्यते) ॥ २३ ॥

पदार्थः— (अफलप्रेप्सुना) निष्काम पुरुषके द्वारा (संगरहितम्) संगरहित (अरागद्वेषतः) रागद्वेषसे रहित (यत्) जो (नियतम्) नित्य (कर्म) अग्निहोत्रादि कर्म (कृतम्) किया-जाता है (तत्) वह (सात्त्विकम्) सात्विक (उच्यते) कहाजाता है ॥ २३ ॥

भावार्थः— घुंघरारे केशवारे ब्रजके दुलारे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि [नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम्] जो कर्म वेदशास्त्रानुसार विहित है, नित्य है, अहंकारसे रहित है तथा जो राग और द्वेषसे रहित होकर किया जाता है एवं [अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विक मुच्यते] फलके नहीं चाहनेवाले बुद्धिमानोंके द्वारा जो सम्पादन कियाजाता है वही सात्विक कर्म कहाजाता है ।

इस विषयको भगवान् इस गीताशास्त्रमें ठौर २ पर विधिपूर्वक वर्णन करते चले आये हैं जैसे "विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्च-

रति निःस्पृहः " (अ० २ श्लो० ७१) अर्थात् जो पुरुष सब प्राप्त वा अप्राप्त कामनाओंको त्यागकर अपने शरीरके जीवित रहनेकी अभिलाषासे तथा सुखकी वृद्धिकी इच्छासे रहित भोगोंको भोगतेहुए भी उनकी ममतासे शून्य होकर सर्वप्रकारके अहंकारोंसे वर्जित हो आनन्दपूर्वक विचरता है वही पुरुष शान्तिको प्राप्त होता है ऐसे ही पुरुषोंकेलिये भगवानने इस अध्यायके इस श्लोकमें ' संगरहितम् ' और ' अफलप्रेप्सुना ' पदोंका प्रयोग किया है।

फिर कहआये हैं, कि " तस्मादसक्तः सततं कार्यकर्म समाचर " (अ० ३ श्लो० १६) अर्थात् हे अर्जुन ! इसी कारण तू फलोंकी कामनासे रहित होकर सदा अवश्य करनेयोग्य नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको शास्त्रानुसार सम्पादन कियाकर क्योंकि ईश्वरचरणानुरागी पुरुष सर्व प्रकारके फलोंकी इच्छा छोड केवल भगवत्प्राप्ति निमित्त कर्मोंका आचरण करताहुआ मोक्ष परम पदको प्राप्त करलेता है।

इसी तात्पर्यको दिखानेके लिये इस २२ वें श्लोकमें ' नियतम् ' शब्दका प्रयोग किया है फिर इसी तात्पर्यको भगवानने अ० ५ श्लो० १२ में यों दिखाया है, कि " युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम " (देखो० अ० ५ श्लो १२) अर्थात् जो प्राणी परमेश्वरकी निष्ठामें सदा लीन है वह कर्मफलको त्याग करके अन्तःकरणकी शुद्धिद्वारा भगवत्स्वरूपकी प्राप्ति करनेवाली निष्ठासे भरीहुई शान्तिको प्राप्त करता है पर जो प्राणी इसके प्रतिकूल चंचलचित्त होकर सकामकर्म करताहुआ भगवत्से बहिर्मुख है वह कामकी प्रेरणासे कर्मफलमें आसक्त होकर सदाकेलिये कर्मफलसे बांधाजाता है।

फिर कहा है, कि " प्रजहाति यदा कामान् " (अ० २ श्लो० ५५) " अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते " (अ० १७ श्लो० ११) " गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः " (अ० ४ श्लो० २३) " अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः " (अ० ६ श्लो० १) " मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा " (अ० ३ श्लो ३१)

ऐसे २ अनेक वचन भगवान्‌ने इस गीताशास्त्रमें कथन किये हैं जिनसे यही सिद्ध होता है, कि अहंकार तथा रागद्वेष रहित, फलकी वांछा त्यागनेवाले प्राणीसे जो नियतकर्म संध्या, हवन, तर्पण इत्यादि कियेजाते हैं तिन कर्मोंको सात्त्विक कर्म कहते हैं।

यह २३ वां श्लोक ऊपर कथन किये हुए सब वचनोंका उपसंहारमात्र है इसलिये पाठकोंको चाहिये, कि पिछले सब वचनोंको भलीभांति एकाग्रचित्त होकर पढें और फलाकांक्षासे रहित हो सात्त्विक कर्मोंका सम्पादन किया करें ॥ २३ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें राजसकर्मका वर्णन करते हैं—

मू०— यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

पदच्छेदः— तु (किन्तु) कामेप्सुना (फलकामनासहितेन कर्त्रा) अहंकारेण (अहं कर्त्तेत्यभिनिवेशशालिना । कर्तृत्वाभिमानयुक्तेन) वा, पुनः (भूयो भूयः) बहुलायासम् (अतिश्रमसाध्यम् । बहुक्लेशसहम) यत्, कर्म (काम्यं कर्म) क्रियते (अनुष्ठीयते) तत्, राजसम्, उदाहृतम (उक्तम) ॥ २४ ॥

पदार्थः—[हे अर्जुन !] (तु) किन्तु (कामेप्सुना) फलाभिलाषी पुरुषसे (वा) वा (साहंकारेण) अहंकार करके (वा, पुनः) अथवा बार २ (बहुलायासम्) बहुत परिश्रमसाध्य (यत्) जो (कर्म) कर्म (क्रियेत) कियाजाता है (तत्) वह (राजसम्) राजसी (उदाहृतम्) कहागया है ॥ २४ ॥

भावार्थः— भक्तचितचोर नवलकिशोर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति राजस कर्मका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः] जो कर्म, फलकी इच्छा करनेवालोंके द्वारा अहंकारके साथ कियाजाता है अथवा बार-बार [क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्] बहुत परिश्रमके साथ कियाजाता है वह कर्म 'राजस' कहागया है । अर्थात् जो प्राणी अहंकारी है और अपनेको कर्त्ता मान रहा है वह मूढ है जैसा, कि भगवान् पहले कहआये हैं, कि "अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते" (देखो अ० ३ श्लो० २७) तथा फलकी भी इच्छा रखनेवाला है और तिस इच्छाके कारण बड़े परिश्रमके साथ बार-बार कर्मोंका सम्पादन किया करता है तो उसके कर्मको राजस कर्म कहना चाहिये । जैसे किसीने पुत्रकी कामनासे पुत्रेष्टियज्ञ कराया और ऐसा समझा, कि मैंने पुष्कल द्रव्य व्यय करके यह यज्ञ कराया है अतएव मुझे अवश्य पुत्र लाभ होगा पर अहंकारके वश कामनाके मद्यको पीये हुए यों चाहता है, कि आज मैंने यज्ञकी पूर्त्ति कराद्री हैं बस कल्ह मेरी स्त्रीको गर्भ रहजावे । परन्तु दो चार मास गर्भ न रहनेसे उन्होंने फिर पुत्रेष्टि यज्ञका सम्पादन

कराया। इसी प्रकार द्वेषवश किसी अपने पडोसीके नाश करदेनेके-लिये बडे परिश्रमके साथ श्येनयज्ञ करवाया और यह चाहा, कि आज यज्ञकी समाप्ति हुई कल मेरा पडोसी मरजावे। जब दोचार महीने वह न मरा, तो फिर दूसरा श्येनयज्ञ कराया। एवं प्रकार बडे परिश्रमके साथ दो-दो चार-चार मासके पश्चात् अपनी कामनाकी प्रबलताके कारण यज्ञोंका सम्पादन करवाता रहा पर उसे न तो पुत्र हुआ और न पडोसीका नाश ही हुआ। फिर इसने बार-बार यज्ञ करना आरंभ करादिया। ऐसे कर्म करनेवालोंका कर्म बहुलायाससयुक्त 'राजसकर्म' कहा जाता है। क्योंकि सम्पादन करनेवालेने इसको अहंकारसहित कामनाकी प्राप्तिके निमित्त बडे परिश्रमसे किया।

शंका— बार-बार पुत्रेष्टि और श्येनयज्ञ करनेसे यदि किसी भी कामनाकी सिद्धि न हुई और शत्रुका नाश नहीं हुआ तो यज्ञोंका प्रभाव क्या होगया? फिर तो यज्ञ करना निरर्थक है।

समाधान— यज्ञ तो निरर्थक कभी भी नहीं होसकता परन्तु कैसा भी प्रभावशाली पुरुष क्यों न हो, कैसा भी प्रभावोत्पादक कर्मको क्यों न करे यदि अहंकारयुक्त करेगा तो अहंकारके विकारसे फलोंमें शून्यता आही जावेगी। क्योंकि उस सच्चिदानन्द आनन्दकन्दको अहंकार ऐसा विकार नहीं सह सकता यदि प्राणी अहंकारयुक्त कार्य न करके भगवत्में अर्पण करे तो अवश्य भगवान् उन फलोंको देसकता है क्योंकि फलका देनेवाला भी तो वही है कर्म स्वयम् जड है। कर्मोंमें फल देनेकी शक्ति नहीं है फलदाता परमात्मा ही है।

इसी कारण अहंकारके प्रवेश करजानेसे चाहे सहस्रों बार किसी कर्मको क्यों न करे फलकी शून्यता ही रहेगी। जब, कि श्रुतियोंके प्रमाणसे यह देखा जाता है, कि जहां २ जब-जब किसी देवताने भी अहंकार किया है तब-तब निष्फलता हुई है भगवान्‌ने उस अहंकारको नाश-कर चूर २ करडाला है।

श्रुतियोंसे यह सिद्ध होता है, कि जब अग्नि, वायु आदि देवों में अपनी-अपनी शक्तिका अहंकार होजाय: तब भगवान् इनके अहं-कारको नाश करनेके निमित्त यक्षका अवतार लेकर देवलोकमें कूद पड़ा पश्चात् देवताओंने अग्निसे पूछा, कि तुम जानते हो, कि यह यक्ष कौन है ? तब अग्निदेवने कहा, कि मैं समीप जाकर पूछ आता हूं। प्रमाण श्रु०— "ॐ तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत् कोऽसीति अग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति" (केनो० श्रु० १७ ख० २) "तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्या-मिति"। (केन० श्रु० १८) "तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति तदुप-प्रेयाय। सर्वं जवेन तन्न शशाक"। (केन० १८) अथ वायुमब्रुवन् वायवेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति" (केन० १९) तद-भ्यद्रवत्तमभ्यवदत् कोऽसीति वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति"। (केन० २१) तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्वमाददीयं यदिदं पृथिव्यामिति" (केन श्रु० २२) तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति तदुपप्रेयाय सर्वं जवेन तन्न शशाक।"
(केन श्रु० २३)

अर्थ— जब यह अग्निदेव दौडताहुआ उस यक्षके समीप पहुंचा तब यक्षने उससे पूछा, कि तू कौन है ? तब अग्नि बोला, कि अग्नि वा जातवेदा नाम करके मैं प्रसिद्ध हूं। यक्षने पूछा, कि तुझमें कौनसी शक्ति है और क्या करसकता है ? अग्निदेवने उत्तर दिया, कि मैं पृथिवीमें जो कुछ है सबको अल्पकालमें भस्म करसकता हूं। पश्चात् यक्षने एक छोटासा तृण (तिनका) अग्निके सामने रखदिया और कहा, कि तू इसको जलादे! अग्निदेवने उस तृणके समीप पहुंच कर अपनी सारी शक्ति लगादी पर उस तृणको न जलासका।

जब इस प्रकार लज्जित होकर लौटगया तो देवताओंने वायुसे पूछा, कि हे वायुदेव! तुम जानते हो यह यक्ष कौन है ? वायुदेव भी दौडकर यक्षके समीप गया तब यक्षने पूछा तू कौन है ? उसने कहा मैं वायु वा मातरिश्वा नामसे प्रसिद्ध हूं। यक्षने पूछा तुझमें कौनसी शक्ति है ? वायुने कहा, कि मैं पर्वत, वृक्ष इत्यादि जो कुछ इस पृथ्वीपर हैं सबको अपने बलसे धारण किये हुए हूं और इनको उठाकर एक ठौरसे दूसरे ठौर फेंक देसकता हूं। उस यक्षने एक तृण सामने, रखदिया और कहा, कि इसको उठाले! वायुने उस तृणके समीप पहुंच अपनी सारी शक्ति लगादी परे उस तृणको भी न उठासका। अरे प्रतिवादी! तू इन श्रुतियोंके प्रमाणोंसे विचार सकता है, कि जब वायु और अग्निमें अहंकारके कारण उनकी शक्ति न रही; शक्तियोंका नाश होगया तब कब संभव है, कि जिस यज्ञकी पूर्त्ति करनेमें वा हविके ग्रहण करनेमें तथा उस हविको आकाश तक लेजानेमें जो ये अग्नि और वायुदेव ही प्रधान हैं वह यज्ञ अहंकारियोंको

अपना फल दिखला सकें ? इसीलिये हे प्रतिवादी ! तू स्मरण रख, कि अहंकार किसी प्रकारके बलको उत्पन्न नहीं होनेदेता । शंका मत कर !

शंका— अहंकार करनेसे फलकी शून्यता होजावे तो होजावे पर अहंकार न करके यदि 'बहुलायास' करके अर्थात बहुत परिश्रम करके बार-बार यज्ञोंका सम्पादन करे तो क्या उसका फल नहीं होगा ? यदि होगा तो तुमने ऐसा क्यों कहा, कि बार-बार पुत्रेष्टि वा श्येनयज्ञसे न पुत्र ही उत्पन्न हुआ और न शत्रु ही का नाश हुआ ?

समाधान— मैं पहले भी कह आया हूं कि कर्म स्वयं जड हैं फल नहीं देसकते फलका देनेवाला वही सच्चिदानन्द आनन्दघन है इसलिये यदि कामनावाले भी कर्मोंका फल भगवदाधीन समझें तो इष्ट, अनिष्ट और मिश्र फलोंको लाभ करसक्ते हैं । दूसरी बात यह है, कि यदि कर्मको स्वयं फल देनेवाला भी समझो तो जब तक वे कर्म विपाकको प्राप्त नहीं होंगे अर्थात पक नहीं जावेंगे तबतक उनका फल प्राप्त नहीं होसकता । जैसे कोई प्राणी अपने खेतमें आज रसालका बीज बोदेवे और कल रसालका फल खाया चाहे तो नहीं खासकता चाहे सहस्रों घट जल ना अमृत ही क्यों न पटावे पर फल नहीं मिलसकता और उसका इतना परिश्रम करना निरर्थक होजावेगा । भगवान्ने 'बहुलायास' करके शीघ्र फल चाहनेवालोंके कर्मोंकी गणना राजस कर्ममें की है । शंका मत करो ! ॥ २४ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें तामस कर्मका वर्णन करते हैं।

मू०— अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

पदच्छेदः— च (पुनः) अनुबन्धम (अनुबध्यत इत्यनुबन्धम् । पश्चाद्भावि यद्वस्तु तम् । पश्चादुत्पाद्यशुभम्) क्षयम् (शरीरसामर्थ्यस्य विनाशम) हिंसाम् (मनोवाक्कायैः भूतानां पीडनम्) पौरुषम् (पुरुषार्थम् । शक्नोमीदं कर्मकर्तुमित्येवमात्मसामर्थ्यम्) अनवेक्ष्य (आरम्भतः प्रागविविच्य) मोहात् (अविवेकात् । अज्ञानात्) यत्, (यागादिकम्) कर्म, आरभ्यते, तत् (कर्म) तामसम् (तमोगुणात्मकम्) उच्यते (निगद्यते) ॥ २५

पदार्थः— (अनुबन्धम्) कर्म करनेके पश्चात् बांधलेनेवाले फलको (क्षयम्) शारीरिक सामर्थ्यके नाशको (हिंसाम्) हिंसाको (च) और (पौरुषम्) अपने बलको (अनपेक्ष्य) न देखकर अर्थात् न विचारकर (मोहात्) अज्ञानतासे (यत्) जो (कर्म) कर्म (आरभ्यते) आरम्भ कियाजाता है (तत्) वह (तामसम्) तामसी (उच्यते) कहाजाता है ॥ २५ ॥

भावार्थः— त्रिभुवनोत्पत्तिस्थितिसंहारहेतु अपारसंसारपारोत्तरणसेतु भगवान श्रीकृष्णचन्द्र तामसी कर्मका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्**] कर्मोंके अनुबन्ध अर्थात् कर्म करनेके पश्चात् उनकी बांध-

लेनेवाली शक्तिको, अपनी शरीरसामर्थ्यके नाशको, हिंसाको और अपने शरीरबलको न देखकर अर्थात् न विचारकर जो कर्म किया-जाता है वह तामस है। अर्थात् कर्मोंका स्वभाव है, कि सम्पादन होजानेके पश्चात् अपनी सामर्थ्यरूप रस्सीसे कर्त्ताको जकडकर ऐसे बांध लेते हैं जैसे किसी घरमें चोरी करनेवाले चोरको पुलिसवाले झट बांधलेते हैं। तात्पर्य यह है, कि कारागार वा फांसी द्वारा शरीर नष्ट होजावेगा हिंसा करनेसे अमुक प्राणीको नाना प्रकारकी पीडा पहुंचेगी तथा इस कर्मके करनेका पुरुषार्थ मुझमें है वा नहीं इन बातोंको बिना बिचारे जो प्राणी [**मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते**] अज्ञानतावश अनुचितकर्म करने लगजाता है उस कर्मको तामसकर्म कहते हैं।

इस वर्त्तमान कालमें सहस्रों वरु लाखों अज्ञानी परिणामका विचार न करके नाना प्रकारके तामसी कर्मोंमें लगेरहते हैं मद्यपान, उत्कोच (रिश्वत) वेश्यागमन, परस्त्रीहरण, परगृहदाह, कन्याविक्रय, द्यूत, चोरी, डाका, विश्वासघात, मिथ्या अभियोग, मिथ्या साक्षी, निन्दा इत्यादि अनगिनत जघन्य आचरणोंका सम्पादन कर चेष्टाहीन, संस्कारहीन, कान्तिहीन, धनहीन तथा अनेक प्रकारके रोगोंका यजमान बनकर असमयमें ही मृत्युके भोग लगजाते हैं अथवा कारागार शूली वा फांसीको निमन्त्रण देकर अपने घर बुलालेते हैं।

तात्पर्य यह है, कि ऐसे दुःखदायी परिणामवाले कर्मोंको तामसी कर्म कहते हैं। जो परिणाम शोचे बिना किसी भी काममें हाथ डालने-पर कर्ताको बांधकर अशुभस्थानोंमें पटक देते हैं। इसलिये बुद्धिमानोंको

चाहिये, कि कर्मोंका अनुबन्ध और क्षय कर्म करनेके पहलेसे बिचारलेवें। क्योंकि कर्म सम्पादन होजानेके पश्चात् फलसे बचना दुस्तर है अतएव तामसी कर्मोंका तो एक बारगी परित्याग करदें। यदि कुछ राजसकर्मका लेश रहगया है तो उसे भी श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ तथा वेदशास्त्रोंके उपदेश द्वारा धीरे२ परित्याग करतेहुए सात्विक कर्मोंको निष्काम होकर सम्पान कियाकरें।

शंका— पहले तो तुमने यों कथन किया, कि कर्म जड हैं ये स्वयं किसी प्रकारका दण्ड नहीं देसकते। दण्ड देनेवाला परेमात्मा है और अब कहते हो, कि ये कर्म मनुष्योंको बांधलेते हैं ? ऐसा पूर्वा-पर विरोध क्यों ?

समाधान— अजी– प्रतिवादी ! मुझे तुम्हारी समझपर हँसी आती है तुम श्लोकोंके मर्मोंको भलीभांति तो नहीं समझसकते। देखो ! मैंने अभी २ उदाहरण दिया है, कि जैसे सिपाही चोरको बांधलेता है ऐसे कर्म भी कर्त्ताको बांधलेता है पर पुलिसको बांधलेनेके अतिरिक्त कारागार इत्यादि दण्ड देनेका अधिकार नहीं है केवल बांधकर न्याय-कर्त्ताके पास पहुंचादेनेका अधिकार है। न्यायकर्त्ता उसे दण्ड देवे वा छोडदेवे इसी दृष्टान्तसे तुमको समझजाना चाहिये, कि कर्म केवल बांधता है दण्ड नहीं देता अथवा जैसे किसीके ऋण चुकानेमें नीलामी घरके ऊपर चपरासी नोटिस चिपका आता है फिर हाकिम जाकर उसको नीलाम करता है ऐसे कर्म केवल नोटिस चिपकानेवाला है नीलाम करने वाला नहीं है। शंका मत करो ॥ २५ ॥

अब भगवान् अगले तीन श्लोकोंमें सात्विक, राजस और तामस कर्त्ताओंका वर्णन करते हुए कहते हैं।

मू०— मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्विक उच्यते
॥ २६ ॥

पदच्छेदः— मुक्तसंगः (त्यक्तकर्मफलाभिलाषः) अनहंवादी (कर्तृत्वाभिनिवेशशून्यः) धृत्युत्साहसमन्वितः (विघ्नाद्युपस्थितावपि चित्तवृत्तेर्वैकल्यराहित्यम् । स्वधर्मानुष्ठाने हर्षोद्यमस्ताभ्यां युक्तः) सिद्ध्यसिद्ध्योः (कृतकर्मफलप्राप्तिः । विहितक्रियाफलानवाप्तिस्तयोः) निर्विकारः (विकाररहितः । हर्षविषादशून्यः) कर्त्ता (क्रियासम्पादकः । निष्कामकर्मानुष्ठायी) सात्विकः, उच्यते (कथ्यते) ॥ २६ ॥

पदार्थः— (मुक्तसंगः) संगरहित (अनहंवादी) कर्तृत्वाभिमानसे रहित (धृत्युत्साहसमन्वितः) धीरता और उत्सुकतासे सम्पन्न (सिद्ध्यसिद्ध्योः) सिद्धि और असिद्धि होनेपर (निर्विकारः) जो हर्ष विषादसे शून्य है (कर्त्ता) इस प्रकारका कर्त्ता (सात्विकः) सात्विक (उच्यते) कहाजाता है ॥ २६ ॥

भावार्थः— षोडशशृंगारकलाधर विघ्नपरिखण्डनबद्धपरिकर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र सात्विक कर्त्ताका वर्णन करते हुए कहते हैं, कि [मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः] जो कर्मोंका सम्पादन करनेवाला कर्त्ता फलकी कामनासे रहित है और कर्तृत्वाभिमानको मुखपर लानेवाला नहीं है, धैर्य और उत्साहसे युक्त है अर्थात् कैसे भी विशालसे विशाल यज्ञोंका सम्पादन क्यों न करे, कठोरसे कठोर तपका साधन क्यों न करे, सहस्रों इष्टा-

पूर्त्त क्यों न करडाले, अपना सर्वस्व दान क्यों न करदेवे, सकल तीर्थोंमें भ्रमण क्यों न कर आवे, किसीके उपकार निमित्त अपना प्राण तक क्यों न समर्पण करदेवे पर रत्तीमात्र भी फलकी कांक्षा न करे। फिर अनहंवादी हो अर्थात मैंने यह कार्य किया ऐसा अहंकारमय वचन तनक भी जिह्वापर न लावे, किसी कार्यकी पूर्ति करते समय सहस्रों विघ्न बाधाएं शिरपर क्यों न आजावें, दशों दिशाओंसे सर्व प्रकारकी आपत्तियां क्यों न घेरलेवें, मित्र, 'शत्रु' क्यों न होजावें, सर्वस्व क्यों न लुटजावे, मृत्यु भी सामने खडीहुई क्यों न देखपडे पर अपने नियत कार्य्यकी पूर्तिमें धीरताको न छोडे और जैसे होगा वैसे मैं इस कर्मकी पूर्ति करलूंगा इस प्रकार उत्साहसे युक्त हो और [सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्विक उच्यते] कर्म की सिद्धि वा असिद्धिमें जो निर्विकार रहे वही सात्विक कर्त्ता कहा जाता है। अर्थात कर्मकी सिद्धि होजानेपर जिसके मुखपर प्रसन्नताकी प्रतिभा न झलके और असिद्ध होनेपर उदासीनतासे शुष्क न हो चिन्ता की ज्वालासे मुखमण्डल काला न पडजावे ऐसे कर्त्ताको सात्विक कर्त्ता कहते हैं।

इस श्लोकमें भगवानने मुक्तसंगः, अनहंवादी, धृत्युत्साहसमन्वितः, सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः ये पांच विशेषण वर्णन किये हैं। तहां मुक्तसंग और अनहंवादी तो ऐसा हो जैसा पांडवकुलशिरोमणि महाराज युधिष्ठिरने महाभारत ऐसे युद्धकेद्वारा राज्यकी प्राप्तिकेपश्चात् राजसूययज्ञका सम्पादन कर फिर सब त्याग यों कहा, कि मैंने कुछ भी नहीं किया इसलिये बनको तपके निमित्त जाता हूं।

फिर सब भाइयोंके सहित द्रौपदीको संग लेकर बनको गमन कर गये । यथा— " उत्सृज्याभरणान्यंगाज्जग्रहे वल्कलान्युत । भीमार्ज्जुनयमाश्चैव द्रौपदी च यशस्विनी " (महाभा० प्रस्था० प० अ० १ श्लो० २०) अर्थ स्पष्ट है ।

तात्पर्य यह है, कि युधिष्ठिर पांचों भाइयोंने द्रौपदी सहित अपने आभूषणोंको उतार वल्कल वसन धारण कर बनको चले गये ।

फिर धृत्युत्साहसमन्वित तो ऐसा हो जैसा, कि महाराज हरिश्चन्द्र संपूर्ण राज्य ब्राह्मणको दान दे चांडालके घर चाकरीकर मृतक फूंकनेका कार्य करतेहुए अपने पुत्रको मृतक देखतेहुए भी अपने कार्यसे न टल अर्थात् विना कर लिये फूंकने न दिया बडे धैर्य और उत्साहके साथ अपने स्वामीका कार्य सम्पादन करतेरहे । धैर्यसे तनक भी न टले किसीने ठीक कहा है, कि— " चन्द्र टरे सूरजटरे टरे जगत् व्यवहार । पै दृढ श्रीहरिश्चन्द्रको टरे न सत्य विचार ॥ "

फिर " सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः" कार्यकी सिद्धि वा असिद्धिमें ऐसा निर्विकार हो, कि मुखपर प्रसन्नता वा अप्रसन्नताका तनक भी चिन्ह न देखपडे । जैसा, कि रघुकुलमणि श्रीरामचन्द्र अपने राज्याभिषेकका मंगलमय समाचार सुनकर न तो प्रसन्नहुए और न बनवास सुनकर अप्रसन्न हुए अर्थात् अपनी मातासे बनगमनकी आज्ञा पानेपर भी जिनके मुखकमलपर उदासीनता नहीं छायी थी दोनों दशाओंमें समान ही रहे थे यथा— " न वनं गंतुकामस्य त्यजतश्च वसुन्धराम् । सर्वलोकातिगस्येव लक्ष्यते चित्तविक्रिया ॥ "

(वाल्मीकिरामायण अयोध्याकांड सर्ग १९ श्लो० ३३)

अर्थ— सम्पूर्ण वसुन्धराके राज्यको परित्याग कर बन जानेवाले श्रीरघुकुलमणि रामचन्द्रके मुखारविन्दपरे सर्वलोकत्यागी योगीके समान किसी प्रकारका विकार नहीं लखागया ।

फिर गोस्वामी तुलसीदासजी भी कहते हैं—"**प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्लौ वनवासदुःखतः । मुखाम्बुजश्रीः रघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मंजुलमंगलप्रदा ॥**" (अयोध्याकांड)

अर्थ— राज्याभिषेककी वार्त्ता सुनकर जो प्रसन्नताको न प्राप्त हुई और बनवासके दुःखको श्रवण कर जिस मुखकमलकी छबि उदासीनतासे न मुरझायी ऐसी जो कोशलकिशोर श्रीरामचन्द्रजीके मुखारविन्दकी श्री अर्थात् शोभा वह सदा मंजुल मंगलकी देनेवाली होवे ।

उपर्युक्त इतिहास सर्वत्र प्रसिद्ध है झोंपडीसे अटारीतकके निवासी जानते हैं इसलिये विस्तारके भयसे यहां संकेत मात्र करदियागया ॥२६॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें राजस कर्त्ताका स्वरूप दिखलाते हैं—

मू०— रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७

पदच्छेदः— रागी (विषयवासनावासितान्तःकरणः । विषयलोलुपः) कर्मफलप्रेप्सुः (कर्मफलाभिलाषी । सकामकर्मानुष्ठायी) लुब्धः (परद्रव्ये सञ्जाततृष्णः । परार्थलोभी) हिंसात्मकः (मनोवाक्कायैः परपीडनसमर्थः) अशुचिः (वाह्याभ्यन्तरशौचविहीनः । अपवित्रः) हर्षशोकान्वितः (कर्मफलप्राप्तिजन्यचिन्हमुखविकाशादिः ।

कर्मफलालब्धिजन्यचिन्हमुखमालिन्यम्) कर्ता (ताभ्यां सहितः) राजसः, परिकीर्तितः (कथितः) ॥ २७ ॥

पदार्थः— (रागी) विषयमें अनुरक्त (कर्मफलप्रेप्सुः) कर्मफलोंकी अभिलाषा करनेवाला (लुब्धः) परद्रव्य-लोलुप (हिंसात्मकः) हिंसा स्वभाववाला (अशुचिः) अपवित्र (हर्षशोकसमन्वितः) हर्ष शोक युक्त (कर्ता) जो कर्त्ता है वह (राजसः) राजसी कर्त्ता (परिकीर्तितः) कहागया है ॥ २७ ॥

भावार्थः— भक्तनयनपथगामी त्रैलोक्यस्वामी आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र राजस कर्त्ताका लक्षण वर्णन करते हुए कहते हैं, कि [रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः] जो विषय-वासनामें अनुराग रखनेवाला, कामी (कर्मफलमें प्रीति रखनेवाला) है, लोभी है, हिंसामें रत रहनेवाला है और अपवित्र है अर्थात् किसी कर्मके करते समय भिन्न-भिन्न विषयोंकी प्राप्तिका प्रयोजन हृदयमें रखकर सकाम कर्मोंका सम्पादन करनेवाला है तथा लोभके झगडोंसे जिसका चित्त डावांडोल होरहा है संतोषका उत्तम सुख जिसे प्राप्त नहीं है। जैसे घृतकी आहुति पडनेसे अग्निकी ज्वाला अधिक भडकती जाती है ऐसे धन सम्पत्तिकी प्राप्तिसे जिसकी स्पृहा बडी प्रबलताके साथ भडकती जाती है और जो अपने अर्थसाधन करनेके निमित्त परायेको पीडा देनेमें सदा तत्पर रहता है इसी कारण वह सदा अपवित्र आचरणवाला है । शारीरिक शौच और आर्थिक शौच दोनोंकी परवा नहीं रखता । फिर [हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः] कर्मफलकी प्राप्ति

होजानेसे प्रसन्नताको प्राप्त होता है और अप्राप्ति होनेसे शोकको प्राप्त होता है ऐसा कर्त्ता राजसी कर्त्ता कहाजाता है।

इस विषयका वर्णन पिछले अध्यायोंमें ठौर-ठौरपर होचुका है इसलिये यहां संक्षिप्त कियागया ॥ २७ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें तामसी कर्त्ताका स्वरूप दिखलाते हैं—

मू०— अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

पदच्छेदः— अयुक्तः (असमाहितः । अनवहितान्तःकरणः) प्राकृतः (असंस्कृतबुद्धिः । शास्त्रसंस्कारशून्यः । विवेकशून्यः) स्तब्धः (श्रेष्ठगुरुमातृपितृप्रभृतिषु विनयहीनः) शठः (खलः । परवंचनशीलः । सामर्थ्यवंचकः) नैष्कृतिकः (अन्यथावादी । निष्ठुरस्वभावः । ममोपकारीति तस्मिन् स्वकीयमुपकारित्वभ्रममुत्पाद्य परवृत्तिं परिहृत्य स्वकीयस्वार्थसाधकः) अलसः (कर्तव्यकार्याप्रवृत्तिशीलः) विषादी (सदा खिन्नमानसः) च (तथा) दीर्घसूत्री (चिरेण कार्यसम्पादकः) कर्ता, तामसः, उच्यते (कथ्यते) ॥ २८ ॥

पदार्थः— अयुक्तः (अपने कर्तव्यमें अयुक्त) प्राकृतः विवेक शून्य (स्तब्धः) अविनीत (शठः) खल (नैष्कृतिकः) दूसरेका अनादर करनेवाला, नीचस्वभाववाला, किसीका उपकार नहीं माननेवाला, परायेकी वृत्तिकी हानि करदेनेवाला (अलसः) आलसी (विषादी) कर्म करनेमें खिन्न मानस (च) और (दीर्घसूत्री)

बहुत देरसे कार्य करनेवाला (कर्त्ता) जो कर्ता है सो (तामसः) तामसी कर्ता (उच्यते) कहलाता है ॥ २८ ॥

भावार्थः— भवाम्बुधिकर्णधार भक्तहृदयहार करुणागार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र तामसी कर्ताके लक्षण बतातेहुए कहते हैं, कि [**अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः**] जो कर्मका करनेवाला अयुक्त अर्थात् समाहितचित्त नहीं है प्राकृत अर्थात् विवेक शून्य है, स्तब्ध अर्थात् विनयहीन उद्दण्ड है, शठ अर्थात् खलस्वभाव है, नैष्कृतिक अर्थात् किसीके उपकारको न मानकर समय पडनेपर उसका उलटा अपकार करनेवाला है अर्थात् उसकी वृत्ति-को छेदन करनेवाला है और आलसी है वह **तामसीकर्ता** कहाजाता है ॥

भगवानके कहनेका तात्पर्य यह है, कि जैसे कोई वाणविद्याका जाननेवाला किसी लक्ष्यको वेधते समय अपनी चञ्चलताके कारण उस लक्ष्यपर ध्यान न रखकर अपने लक्ष्यको तो न बेधे किसी अन्य पदार्थको वेध देवे उसे अयुक्त कहते हैं । अथवा जैसे मूर्ख अश्वारोही अश्वकी वागडोरोंपर ध्यान न देकर दायें-बायेंकी वस्तुओंको न बचाता हुआ घोडेको जिसी तिसी ओर दौडाताहुआ लेजावे अथवा अश्व उसके वशमें न रहकर अपने मार्गको छोड जिधर-तिधर चलाजावे ऐसे अश्वारोहीको अयुक्त कहते हैं ।

तात्पर्य यह है, कि जो प्राणी अयुक्त है उसकी इन्द्रियां दुष्ट होजाती हैं और उसके वशमें नहीं रहती यथा श्रु०— "ॐ यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा । तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः " (कठोप० श्रु० ५) अर्थ— जो प्राणी विज्ञानरहित है सदा

अयुक्त मन है उसकी इन्द्रियां उसके वशमें ऐसे नहीं रहतीं जैसे दुष्टघोडे सारथीके वशमें नहीं रहते इसीलिये जो कर्त्ता अयुक्तमानस है उसे तामसकर्त्ता कहना चाहिये।

अब कहते हैं, कि जो पुरुष 'प्राकृत' है अर्थात शास्त्र वा गुरुओंकी शिक्षाद्वारा जिसकी बुद्धि संस्कारको प्राप्त नहीं हुई बालकोंकी बुद्धिके समान कच्ची रहगयी है, इसीलिये जो हानि लाभको नहीं समझसकता है। विचार शून्य होनेके कारण भले-बुरे परिणामपर ध्यान न देकर झट किसी कर्मका सम्पादन करडालता है उसे 'प्राकृत' कहते हैं। ऐसे कर्त्ताको भी तामस कर्त्ता कहना चाहिये।

फिर कहते हैं, कि जो स्तब्ध होवे अर्थात् उद्दण्डके समान मस्तकको ऊंचा कियेहुए माता, पिता, गुरु इत्यादि महान् पुरुषोंके सामने विनययुक्त न हो, कठोर वचनोंका उच्चारणकर अपने शारीरिक बलके अभिमानसे शुष्क काठके समान नम्रतासे रहित हो, बुद्धिमानोंसे रोकेजानेपर भी हठात् जो मनमें आवे करडाले ऐसे कर्त्ताको भी तामसकर्त्ता कहते हैं।

इसी प्रकार जो 'शठ' है अर्थात् किसी कर्मके साधनमें अपनी सामर्थ्यपर ध्यान नहीं रखता तथा परायेको धोखा देकर उसकी वस्तु-वस्तु ठगलेना अपनी चतुराई समझता है, चाहे परायेको उसके दुष्टकर्मोंके द्वारा कितना भी दुःख क्यों न प्राप्त होजावे इसकी भी परवा नहीं करता, परायेकी सीमामें बलात्कार अपनी सीमा बना ही डालता है। फिर जिसके हृदयमें आर्जवका लेश भी नहीं है, कपटसे भरीहुई बातोंके द्वारा यथार्थवस्तुको प्रकट न करे मिथ्यात्वका प्रकाश करताहुआ भले पुरुषोंको

धोखामें डालदेता है। यथा— "प्राक् पादयोः पतति खादति पृष्ठ-मांसं कर्णे कलं किमपि रौति शनैर्विचित्रम। छिद्रं निरूप्य सहसा प्रविशत्यशंकः सर्वं खलस्य चरितं मशकः करोति "

इस श्लोकमें खलोंको (मशक) मच्छरके समान दुष्ट स्वभाव-वाला कहा है अर्थात जब उसे कोई स्वार्थ साधन करना होता है तो पहले पैरोंपर आगिरता है और पीछेसे मांसतक खालेनेकी इच्छा करता है फिर कानके समीप आकर लोपडी-चोपडी बातें करता है थोडा थोडा विचित्र प्रकारसे रोता भी है और छिद्रोंको देखकर निःशंक होकर बलात्कार घुसजाता है अर्थात परायेके दोषोंको पूर्णप्रकार निश्च-यकर ढूंढता रहता है। तात्पर्य यह है, कि खलोंके स्वभावको मशक सिद्धकर दिखलादेता है।

ऐसे स्वभाववालोंको शठ कहते हैं इसीलिये भगवान्ने ऐसे कर्त्ताको तामसी कर्त्ता कहकर पुकारा है।

नैष्कृतिकः— फिर जो प्राणी ' नैष्कृतिक ' है अर्थात किसीका उपकार न मानकर उसका अपमान करने वाला है, परायेकी वृत्तिको हानि पहुंचानेवाला है, अन्यायी है, परायेका द्रव्य लेकर पचाजाने वाला है इस कारण जिसके रोम २ प्रायश्चित्तके योग्य होरहे हैं और जो पिशुनता, कुटिलता, दुष्टता और दुर्जनतासे पूर्ण है ऐसे प्राणीको भी तामसी कर्त्ता कहते हैं।

अलसः— अधिक क्या कहाजावे उपरोक्त अवगुणोंसे विशिष्ट जो प्राणी आलस्य युक्त है, किसी उत्तम कार्यके करते समय आलसी बनजाता

है, उत्साहसे हीन रहता है, दो घडी दिन चढे तक खर्राटा मारता रहता है, संध्यादि नित्यकर्मोंका कभी नाम भी नहीं लेता, हिमऋतुमें स्नान तक नहीं करता और किसी देवमन्दिरमें जाते समय भगत बनजाता है। यहां तक आलसी है, कि मुखसे बोलनेमें भी पूर्ण शब्दका उच्चारण नहीं करता है *पी. पो. फि. सो. की मण्डलीमें रहता है ऐसे तन्द्रालु, मन्द और मंथर कर्त्ताकी गणना तामसी कर्त्तामें कीजाती है। नीतिका वचन है, कि "आलस्यो हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः ॥"

अब भगवान् कहते हैं, कि [**विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते**] जो प्राणी जिस कामके करनेमें विषाद करता है अर्थात् नाक सिकोडता है और दीर्घसूत्री है अर्थात् सहस्रों शंकाओंसे युक्त होनेके कारण जिस कार्य्यको एक दिवसमें पूर्ण करना हो मास भरमें भी उसकी पूर्त्ति नहीं करता ऐसे व्यर्थ कालयापन करनेवाले चिरंक्रिय कर्त्ताको तामसी कर्त्ता कहते हैं ॥ २८ ॥

अब भगवान् सात्त्विक, राजस और तामस तीनों प्रकारकी बुद्धि तथा धृतिके वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा अगले श्लोकमें करते हैं—

*पी. फे. फि. सो.—दश पांच आलसी किसी घरमें शयन किये हुये थे उस घरमें अकस्मात् आग लगी और एककी पीठपर आगकी चिनगारी गिरी तो वह मारे आलस्यके 'पीठपर आग गिरी' इतना न बोलकर केवल पी. बोला, दूसरा मारे आलस्यके 'पोंछकर फेंक दो' इतना न बोलकर केवल पो. बोला तीसरा 'फिर कर सोजाओ' इतना न बोलकर मारे आलस्यके केवल फि. सो. बोला। तात्पर्य यह है, कि आलसियोंकी मंडलीमें पी. पो. फि. सो. की बोली चलती है इसलिये वे आलसी कहलाते हैं।

मू०— बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ! ॥ २९॥

पदच्छेदः— धनंजय ! (हे अर्जुन !) बुद्धेः (निश्चयात्मिका वृत्तेः) च (पुनः) धृतेः (धैर्य्यस्य । धारणायाः ।) गुणतः (सत्वादिगुणत्रैविध्येन) त्रिविधम् (त्रिप्रकारम्) एव (निश्चयेन) अशेषेण (साकल्येन । समग्रतया) पृथक्त्वेन (हेयोपादेयविचारेण) प्रोच्यमानम् (कथ्यमानम्) शृणु ! (आकर्णय) ॥ २९ ॥

पदार्थः— (धनञ्जय !) हे अर्जुन ! (बुद्धेः) बुद्धिका (च) और (धृतेः) धैर्यका (गुणतः) गुणक्रमसे (त्रिविधम्) तीन प्रकारके (एव) ही (भेदम्) भेदको (अशेषेण) समग्ररूपसे जो मेरेद्वारा (पृथक्त्वेन) पृथक्-पृथक् (प्रोच्यमानम्) कहने योग्य है सो (शृणु) सुन ॥ २९ ॥

भावार्थः— श्रीमधुसुरनरकनिकन्दन नन्दनन्दन भगवान श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति सात्विक, राजस और तामस बुद्धि एवं धृति के विषय वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करतेहुए कहते हैं, कि [बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु] हे अर्जुन ! गुणोंके भेदसे बुद्धि और धृति दोनोंके त्रिगुणात्मक होनेके विषय सुन ! अर्थात् बुद्धि जो निश्चयात्मिका वृत्ति है जिसके द्वारा प्राणी सर्वप्रकारके विषयोंका ठीक-ठीक निश्चय करता है और जिसके पांच लक्षण अध्याय १२ श्लो० ८ में तुमको सुना आया हूं । फिर धृति

जिसके द्वारा प्राणी निर्भय होकरे स्थिरतापूर्वक किसी कर्मके साधन करनेमें आपत्तियोंके सम्मुख होनेपर भी व्यग्र होकर अपने निश्चितकार्यको नहीं छोडता, कर ही डालता है तिसपर भी तेरे हृदय में दृढ करनेके लिये तिन दोनोंके त्रिगुणात्मक होनेके विषय मैं तुझसे कहता हूं सुन ! अर्थात् सात्विक, राजस, तामस बुद्धि और सात्विक, राजस, तामस धृतिका वर्णन सुन ! ऐसा मत समझ, कि मैं इनके कहनेमें आलस्य करूंगा ऐसा नहीं ! वरु [**प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय !**] हे धनञ्जय ! पृथक्-पृथक् करके इसके संपूर्ण अंगोंको जो कहनेके योग्य हैं मैं पूर्ण प्रकार स्वच्छरूपसे तुझे कहसुनाऊंगा इसलिये एकाग्रचित्त हो श्रवण कर !

शंका— भगवान् तो अभी पिछले श्लोकमें ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय और कर्ता, कर्म, करण इन दो त्रिकोंके सात्विक, राजस और तामस होने का वर्णन कररहे थे तिस प्रकरणको छोड अब बुद्धि और धृतिका वर्णन क्यों करने लगे ? ऐसा करनेसे भगवान्के वचनमें प्रकरणान्तर होनेका दोष क्यों नहीं लगेगा ?

समाधान— अजी ! मैं तुमको कहां तक समझाऊं जिस विषयको मैंने पुनः पुनः पिछले १७ अध्यायोंमें स्वच्छरीतिसे समझादिया है फिर भी तुमने शंका आरम्भ करदी । देखो ! जब तक बुद्धि और धृति ज्ञाता वा कर्ताके पास न हों तब तक वह ज्ञेय वा कर्मके यथार्थस्वरूपको नहीं समझसकता है और न धीरतापूर्वक उसे सम्पादन करसकता है। क्योंकि

यह तामसी स्वभाव है, कि किसी कर्मके करते समय जब प्राणीको किसी प्रकारकी आपत्तिसे सामना करना पडता है तो घबराकर अपना धीरज छोडदेता है और धीरजके छूटजानेसे बुद्धि व्याकुल होजाती है, बुद्धिके व्याकुल होजानेसे कर्मकी पूर्त्ति नहीं होसकती, और कर्मकी पूर्ति न होनेसे कर्त्ताका परिश्रम निष्फल जाता है इसलिये ज्ञाता वा कर्त्ता दोनोंको बुद्धिमान् वा धैर्यवान् होना चाहिये । इसी कारण कर्त्ता वा ज्ञाताको इन दोनों तत्त्वोंसे घनिष्ट सम्बन्ध है अतएव यहां भगवान्का वचन प्रकरणान्तर नहीं है । शंका मत करो !

पाठकोंपर विदित होवे, कि भगवानने बुद्धि और धृति इन ही दोनोंका वर्णन करना एकसाथ क्यों आरंभ किया ? तो जानना चाहिये, कि बुद्धि जबतक कुशाग्र न हो तबतक वेद, शास्त्र और गुरुवचनोंका मर्म समझना दुर्लभ होनेसे आत्मज्ञान वा ब्रह्मज्ञानका पूर्ण बोध नहीं होसकता । फिर वह बुद्धि जबतक धृतिसे गृहीत न हो तबतक शीत, उष्ण, दुःख, सुख, जय, अजय, हानि, लाभ और मान अपमानमें स्थिर रहकर अपने कार्यकी पूर्ति नहीं करसकती इसलिये बुद्धिको धृतिगृहीत होना आवश्यक है । एवं श्रुति भी यों कहती है । प्रमाण श्रु०— " **एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते । दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः** " (कठोपनिषद् श्रु० १२.)

अर्थ— यह जो गूढ आत्मा सब भूतोंमें व्यापक है वह यों नहीं प्रकाशमान होता केवल सूक्ष्मदर्शियोंकी सूक्ष्मबुद्धिके अग्रभागसे ही देखाजाता है । ऐसी जो सूक्ष्मबुद्धि है वह धृतियुक्त होनी चाहिये क्योंकि जिस समय किसी बहुत बडी आपत्तिका सामना करना पडता

है उस समय कैसी भी सूक्ष्मबुद्धि क्यों न हो चंचल होकर बिखरजाती है। बुद्धिके बिखरनेसे उसके पांचों गुण एकाएकी लुप्त होते चले जाते हैं इनके लुप्त होनेसे सात्विक कार्य्योंका सम्पादन नहीं होसकता और सात्विक कार्य्योंके सम्पादन न होनेसे आत्मज्ञान ब्रह्म-ज्ञान अर्थात् भगवत्की प्राप्ति दुर्लभ है। क्योंकि भगवान् स्वयं अपने मुखारविन्दसे कहआये हैं, कि "**मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय**" (अ० १२ श्लो० ८) इसलिये बुद्धिके साथ धृति भी आवश्यक ही है इसलिये कर्त्ता वा ज्ञाताकी बुद्धि धृतिगृहीत होनी चाहिये।

यहां जो भगवान्ने 'बुद्धेर्भेदं' पदका प्रयोग किया तहां यह भी विचार करने योग्य है, कि बुद्धिसे केवल बुद्धिकी वृत्तिका प्रयोजन है अथवा संपूर्ण अन्तःकरणसे प्रयोजन है? यदि बुद्धिकी वृत्तिमात्रका प्रयोजन है तो 'ज्ञानको' इससे विलग समझना चाहिये और यदि अन्तःकरणका प्रयोजन हो तो 'कर्त्ता'को इससे विलग समझना चाहिये। क्योंकि यदि इन दोनोंसे इन दोनोंको विलग न समझेंगे तो पुनरुक्ति दोषकी प्राप्ति होगी। ज्ञान और कर्त्ता दोनोंके सात्विकादि त्रिगुणात्मक भेदको भगवान् पिछले श्लोकमें वर्णन करआये हैं फिर बुद्धि करके उसी ज्ञान और कर्ताका वर्णन करना उचित नहीं है इसलिये कुशाग्रबुद्धिवाले बुद्धिमानोंको जानना चाहिये, कि न तो यहां बुद्धिवृत्तिसे तात्पर्य है और न अन्तःकरणसे तात्पर्य है केवल बुद्धितत्त्वसे तात्पर्य है जो स्वयं प्रकाशमान है।

पूर्वमें जो कर्त्ता शब्दका प्रयोग करआये हैं तहां केवल अन्तःकरणउपहितचिदाभाससे तात्पर्य है और यहां जो बुद्धि शब्द कहा है तिसने

केवल अन्तःकरणकी उपाधिमात्रका प्रयोजन है इसलिये यहां भगवानने बुद्धि और धृति दो शब्दोंका प्रयोग किया है इनसे ज्ञानात्मक और क्रियात्मक दोनोंकी पुष्टि होती है इनके न होनेसे प्राणी जडवत् होजावेगा और पूर्व कथन कियेहुए दोनों त्रिकोंका कहीं पता भी नहीं लगेगा इस कारणसे भी यहां भगवानका कहना प्रकरणान्तर नहीं समझना चाहिये । इस गूढ तत्त्वका समझना सामान्य पुरुषोंके लिये दुर्लभ है इसलिये उचित है, कि किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठकी सेवामें जाकर इन तत्त्वोंको समझे जैसा, कि भगवान् पहले आज्ञा देआये हैं, कि " तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया " (देखो अ० ४ श्लोक ३४) श्रुति भी कहती है, कि " उत्तिष्ठ जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत " (कठोपनिषद्) ॥ २९ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें सात्विकी बुद्धिका स्वरूप वर्णन करतेहुए कहते हैं ।

मू०—प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी ॥
॥ ३० ॥

पदच्छेदः— पार्थ ! (हे पृथापुत्रार्जुन !) या, बुद्धिः (संस्कृता मतिः) प्रवृत्तिम् (बन्धकारणम् । कर्ममार्गम) च (तथा) निवृत्तिम (मोक्षकारणम् । सन्न्यासमार्गम्) च (पुनः) कार्य्याकार्ये (कर्त्तव्याकर्त्तव्ये । विहितप्रतिषिद्धे) भयाभये (भीत्यभीतौ । भयोपस्थितानुपस्थिते) बन्धम् (संसृतिद्वन्द्वासक्तिम् । संसारबन्ध-

नम् मनसो निबंधनम् प्रवृत्तिमार्गाश्रयणे अज्ञानविलसितकर्तृत्वाद्य-भिमानरतम) **मोक्षम्** (अपवर्गम् । परमां गतिम् । परमं पदम् । निवृत्तिमार्गे तत्त्वज्ञानेन अज्ञानस्य तत्कार्यस्य चाभावस्तम) **वेत्ति** (जानाति) **सा** (प्रमाणजनितनिश्चयवती बुद्धिः) **सात्त्विकी** (सत्वगुणविशिष्टा) ॥ ३० ॥

पदार्थः— (**पार्थ !**) हे पृथापुत्र अर्जुन ! (**या**) जो (**बुद्धिः**) बुद्धि (**प्रवृत्तिम्**) प्रवृत्तिमार्ग (**च**) और (**निवृत्तिम्**) निवृत्तिमार्गको (**च**) फिर (**कार्य्याकार्य्ये**) कर्तव्य अकर्तव्य (**भयाभये**) भय, अभय (**बन्धम्**) बन्धन (**च**) और (**मोक्षम**) मोक्षको (**वेत्ति**) जानती है (**सा**) वही बुद्धि (**सात्विकी**) सात्विकी है ॥ ३० ॥

भावार्थः— आनन्दामृतवर्षक सकलदुःखापकर्षक भगवान श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति सात्विकी बुद्धिका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्या-कार्ये भयाभये**] जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्तिमार्गको तथा कार्याकार्य और भयाभयको भली भांति जानती है अर्थात् जिस बुद्धि-द्वारा प्राणी पूर्णप्रकार जानलेता है; कि इतने कर्म प्रवृत्तिमार्गके हैं और इतने कर्म निवृत्तिमार्गके हैं ।तात्पर्य यह है, कि ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासियोंके कौन-कौनसे विहितकर्म हैं ? और कौन-कौनसे निषिद्धकर्म हैं? तिनको वेद, शास्त्र तथा गुरुद्वारा सांगोपांग समझलेता है ? जैसे ब्रह्मचारियोंकेलिये गुरुकुलमें वेदाध्ययन करना,गुरु-चरणकी शुश्रूषा करना, मौञ्जी मेखला और कौपीन धारण

कियेहुए भिक्षा द्वारा निर्वाह करतेहुए वेदवेदान्तोंकी समाप्ति करडालना विहितकर्म हैं और अष्ट प्रकारके मैथुनमें किसी एक प्रकारका भी मैथुन करना निषिद्ध है । वे अष्ट प्रकारके मैथुन कौन हैं ? सो कहते हैं—

" स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिवृत्तिरेवच ॥
एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम ॥ "

अर्थ— स्त्रीका स्मरण करना, उसके साथ कामसे भरीहुई बातोंका उच्चारण करना, आलिंगन, चुम्बन इत्यादि करना, स्त्रीको टक लगाकर देखना, गोपनीय बातोंका भाषण करना, कामका संकल्प करना फिर निवृत्त होना ये आठप्रकारके मैथुन हैं ये सब ब्रह्मचारियोंकेलिये निषिद्ध हैं । फिर मनुने भी कहा है—

" वर्जयेन्मधुमांसं च गन्धमाल्यरसांस्त्रियः ।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥
अभ्यंगमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम् ।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम् ।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमपमानं परस्य च ॥
एकःशयी न सर्वत्र, न रेतः स्कंदयेत् कचित् ।
कामाद्धि स्कंदयेद्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥ "

अर्थ— मधु, मांस, गन्ध, पुष्प, रस, स्त्री, विकृतपदार्थ तथा प्राणिहिंसन, तैलादि लगाना, आंखोंमें अञ्जन, जूती, छत्रधारण, काम, क्रोध, लोभ, नाचना, गाना, बजाना, द्युत (जूआ) जनवाद (मनुष्योंके साथ व्यर्थ बकवाद करना) परदोषवाद, मिथ्याभाषण, स्त्रियोंको अनुरागसहित देखना, आलिंगन, दूसरेका अपमान छोडदे। सर्वत्र एकाकी (इकला) शयन न करे, इच्छासे शुक्रपात न करे क्योंकि इच्छासे शुक्रपात करनेवालेका व्रत भंग होजाता है।

फिर जैसे गृहस्थोंके लिये अपनी स्त्रीके संग ऋतुमती होनेपर पुत्रके प्रयोजनसे कामक्रीडाका सम्पादन करना और तिससे उत्पन्न हुए पुत्रको विद्यादि पढाना और उनको अपने कुटुम्बियोंके सहित अर्थशौचसे अर्थात उचित रीतिसे उपार्जन कियेहुए धनद्वारा पालन पोषण करना तथा यज्ञ, दान, इष्टापूर्त इत्यादि कर्मोंका सम्पादन करना विहितकर्म है और इनके प्रतिकूल अनुचित रीतिसे द्रव्य उपार्जन करके मद्यपान, परस्त्रीसंग तथा परायेकी हिंसादि करना अविहित कर्म है।

इसी प्रकार वानप्रस्थोंके धर्मको सुनो! “ पुत्रेषु दारां समर्प्य व्रजेत ” अपनी स्त्रीको पुत्रकी रक्षामें समर्पण करके अलग होजावे यह तो मुख्य धर्म है और गौण यह है, कि स्त्रीको संग भी लिये जावे पर मैथुनादि कर्मसे वर्जित हो ब्रह्मचारीके समान रहे शरीरके भिन्न २ अंगोंके केशोंका छेदन न करावे तप और ब्रह्मोपासनसे युक्त हो। ऐसा वानप्रस्थ अपने धर्मका सच्चा पालन करनेवाला होता है।

" वानप्रस्थाश्रमं वक्ष्ये तत् शृणवन्तु महर्षयः ।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा ॥
वानप्रस्थो ब्रह्मचारी साग्निः सोपासनः क्षमी ।
अफालकृष्टेनाग्नींश्च पितृदेवातिथींस्तथा ॥
भृत्यांस्तु तर्पयेत् श्मश्रुजटालोमभृदात्मवान् ।
दान्तस्त्रिषवणस्नायी निवृत्तश्च प्रतिग्रहात् ॥
स्वाध्यायवान् ध्यानशीलः सर्वभूतहिते रतः ।
अह्नो मासस्य षणणां वा कुर्य्याद्वान्नपरिग्रहम् ॥
कृत्यं त्यजेदाश्वयुजे नयेत् कालं वृतादिना ।
पक्षे मासे तु वाश्नीयादन्तोलूखलिको भवेत् ॥
चान्द्रायणी स्वपेद्भूमौ कर्म कुर्य्यात् फलादिना ।
ग्रीष्मे पंचाग्निमध्यस्थो वर्षायां स्थण्डिले शयः ॥
आर्द्रवासस्तु हेमन्ते योगाभ्यासाद्दिनं नयेत् ॥ "
(गरुडपुराणे अ० १०२) अर्थ स्पष्ट है ।

तात्पर्य यह है, कि वानप्रस्थ गृहस्थ आश्रमके सम्पूर्ण कार्य्योंका परित्याग कर ब्रह्मोपासनाके निमित्त वनमें जा रहे और बिना हलसे जोतीहुई भूमिसे अर्थात् बनके अन्न, फल, फूल, कंद, मूल इत्यादिसे देवपूजन तथा अतिथिसत्कार इत्यादि कर्मोंका सम्पादन करतारहे और जटाधारण कियेहुए परोपकारी, प्रतिग्रहसे शून्य पञ्चाग्नि वा जल-शयन इत्यादि तपका साधन करनेवाला योगी होवे । ये वानप्रस्थके मुख्य धर्म हैं ।

भगवान्‌ने जो इस श्लोकमें ' प्रवृत्ति ' शब्दका प्रयोग किया है उससे ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थ इन ही तीनोंके विहित-धर्मसे तात्पर्य्य है । अब निवृत्ति शब्दके प्रयोग करनेसे संन्यासीके धर्म्मोंके दिखलानेका तात्पर्य है । तहां संन्यासियोंके मुख्य धर्म क्या हैं ? तिनका वर्णन पूर्णप्रकार इसी अध्यायके श्लो १० और ११ में किया जाचुका है । अब उनके लिये निषेध क्या है ? सो दिखलाते हैं—

प्रमाण—" अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन ।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥
क्रुद्धन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतं वदेत् ॥
अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥
न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया ॥
नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित । "
(मनु० अ० ६ श्लोक ४७ से ५६ तक)

अर्थ—अतिवाद अर्थात किसीके बकबादको सहन करे, किसीका भी अपमान न करे, इस देहका आश्रय करके किसीसे बैर न करे, अपने ऊपर क्रोध करनेवालेपर क्रोध न करे, जो कोई अपनेको दुर्वचन कहे उसके साथ मंगलमय मीठा वचन बोले, पांचों ज्ञानेन्द्रिय, मन तथा बुद्धि इन सातोंके विषयके ग्रहण निमित्त किसीके साथ वचन न बोले अर्थात किसीके देखनेकी इच्छा वा स्पर्श करनेकी

वा किसीसे बात करनेकी इच्छा, सुगंधित वस्तुओंके सूंघनेकी इच्छा, राग, वा सुरीली तानोंके श्रवण करनेकी इच्छा, मनःकामनाओंकी पूर्त्तिकी इच्छा वा बुद्धि द्वारा जाननेकी इच्छाके तात्पर्यसे बातें न करे, झूठ न बोले, आत्मज्ञानमें रत हो आसनोंको लगा बैठे, किसी वस्तुकी अपेक्षा न रखे यहांतक, कि दंड, कमंडलुकी भी विशेष अपेक्षा न करे, निरामिष हो आत्मज्ञानकी सहायता द्वारा आनन्द पूर्वक संसारमें बिचरे, भूकम्पादि किसी प्रकारके उत्पातके फलोंका कथन करके अथवा राजनैतिक कर्मोंसे वा शास्त्रार्थ करके भिक्षा उपार्जन न करे। इतने कर्म संन्यासियोंके लिये निषिद्ध कहेजाते हैं।

अब यहां इस श्लोकमें 'प्रवृत्तिं च' और 'निवृत्तिं च' पदके दो प्रकारके अर्थ होसकते हैं। प्रथम तो यह है, कि प्रत्येक वर्णाश्रममें जितने विधि वा निषेध कर्म हैं अर्थात 'प्रवृत्तिसे' विधि और 'निवृत्तिसे' निषेध इन दोनोंको जो बुरा जानती है उसे सात्विकबुद्धि कहते हैं। दूसरा अर्थ यह है, कि 'प्रवृत्ति' जो संसृतिव्यवहार और 'निवृत्ति' लोकव्यवहारोंसे रहित होकर केवल भगवतके मार्गान्वेषणमें रहना अन्य किसी कार्यको भूलकर भी नहीं करना।

तात्पर्य यह है, कि प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनोंकेलिये क्या कार्य और क्या अकार्य है? उनको पूर्णप्रकार जानना सात्विक बुद्धिका कार्य है। इसीलिये भगवान आगे कहते हैं, कि "कार्याकार्ये" अर्थात् कार्य और अकार्यकी जाननेवाली जो बुद्धि है तथा 'भयाभये' भय और अभय दोनोंकी जनानेवाली जो बुद्धि तहां भय जो भिन्न २

गर्भोंमें निवास करनेका दुःख तथा "जरामरणदुःखदोषानुदर्शन" जिसका वर्णन अ० १३ श्लो० ८ में करआये हैं भयके नामसे पुकारे जाते हैं और सब छोडछाड मोक्षपदकी जो प्राप्ति है उसे निर्भयके नामसे पुकारते हैं इन दोनों भय और निर्भयको जो बुद्धि भलिभांति देखती रहती है भयसे बचाकर निर्भय पदकी ओर लेजाती है अर्थात् मुक्त करडालती है उसे सात्विक बुद्धि कहते हैं ।

अब भगवान् कहते हैं, कि इतना ही नहीं वरु [**बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ ! सात्विकी**] हे पार्थ ! जो बन्ध और मोक्षकी जानने वाली है वही सात्विकी बुद्धि है । इस बन्ध और मोक्षका वर्णन इस गीतामें ठौर-ठौरपर किया जाचुका है इसलिये यहां कहना आवश्यक नहीं है ॥ ३० ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें राजसीबुद्धिका वर्णन करतेहुए कहते हैं—

मू०— यया धर्ममधर्मं च कार्य्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१

पदच्छेदः— पार्थ ! (हे पृथापुत्रार्जुन !) यया (बुद्ध्या) धर्मम् (श्रुतिस्मृतिशास्त्रविहिताग्निहोत्रादिकर्म) च (पुनः) अधर्मम् (शास्त्रनिषिद्ध हिंसादि कर्म) कार्य्यम् (कर्तव्यम्) अकार्य्यम् (अकर्तव्यम) अयथावत् (न यथावत् । न याथार्थ्येन । न सर्वतो निर्णयेन) प्रजानाति (विषयीकरोति) सा, बुद्धिः राजसी (रजोगुणनिर्वृता । रजोगुणात्मिका) ॥ ३२ ॥

पदार्थः— (पार्थ!) हे पृथापुत्र अर्जुन! (यया) जिस बुद्धिसे (धर्मम्) धर्म (च) तथा (अधर्मम्) अधर्म (कार्य्यम्) कार्य्य (च) और (अकार्यम्) अकार्य्यको (एव) निश्चय करके (अयथावत्) उलटापुलटा (प्रजानाति) जानती है (सा) वह (बुद्धिः) बुद्धि (राजसी) राजसी है ॥ ३१ ॥

भावार्थः— अब श्रीघनश्याम भक्तनयनाभिराम सकल-सुखधाम भगवान श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति राजसी बुद्धिका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च**] धर्म, अधर्म, कार्य और अकार्यको जिस बुद्धिसे प्राणी निश्चय करके [**अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ! राजसी**] अयथावत् अर्थात् उलटा पुलटा जानता है अर्थात् संशयग्रस्त हो ठीक नहीं समझता, कि यह सत्य है वा असत्य तात्पर्य यह, कि धर्मको अधर्म कार्यको अकार्य विधिको निषेध और सुमार्गको कुमार्ग और कुमार्गको सुमार्ग, न्यायको अन्याय और अन्यायको न्याय, मित्रको शत्रु और शत्रुको मित्र, अहिंसाको हिंसा और हिंसाको अहिंसा, सत्यको असत्य और असत्यको सत्य, ब्रह्मचर्यको व्यभिचार और व्यभिचारको ब्रह्मचर्य उच्चको नीच और नीचको उच्च, अमृतको विष और विषको अमृत, चेतनको जड और जडको चेतन, दयाको मोह और मोहको दया स्तुतिको निन्दा और निन्दाको स्तुति जानता है वही बुद्धि राजसी बुद्धि है। अर्थात् जिस बुद्धि द्वारा भले बुरेका ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर सकता ऐसी बुद्धिको राजसी बुद्धि कहते हैं ॥ ३१ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें तामसी बुद्धिका वर्णन करते हैं—

मू०— अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥
॥ ३२ ॥

पदच्छेदः— पार्थ ! (पृथापुत्रार्जुन !) तमसा (विशेषदर्शनप्रतिकूलेन । तमोदोषेण । अविवेकेन) आवृता (आच्छादिता । वेष्टिता) या, बुद्धिः, अधर्मम (शास्त्रप्रतिषिद्धम् । हिंसादिकम्) धर्मम् (शास्त्रविहितम) इति (एवम) मन्यते (जानाति) च (पुनः) सर्वार्थान (सकलान् ज्ञेयपदार्थान्) विपरीतान् (सुखहेतूनपिदुःखहेतून्) [मन्यते] सा (विपर्य्ययदोषशालिनी बुद्धिः) तामसी (तमोगुणनिर्वृता) [ज्ञेया] ॥ ३२ ॥

पदार्थः— (पार्थ !) हे पार्थ ! (तमसा) तमोदोषसे (आवृता) आच्छादित (या) जो (बुद्धिः) बुद्धि (अधर्मम्) हिंसादि अधर्मको (धर्मम्) धर्म है (इति) इस प्रकारसे (मन्यते) मानती है (च) और (सर्वार्थान) सब वस्तुओंको (विपरीतान्) विपरीत [मन्यते] अन्यथाभावसे देखती है (सा) वह बुद्धि । (तामसी) तामसी समझीजाती है ॥ ३२ ॥

भावार्थः— अज्ञानतिमिरदिवाकर विविधज्ञानरत्नाकर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र तामसी बुद्धिका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता] जो बुद्धिअज्ञानके

अन्धकारसे ढकीहुई अधर्मको धर्म मानती है अर्थात् भिन्न-भिन्न भूत, प्रेत, पिशाचादिको देवता मानकर उनके सम्मुख विविधप्रकारके जीवोंकी हिंसा करना धर्म समझती है, अपने शरीरसे रुधिर निकालकर ब्रह्मपिशाचादिको तर्पण करवाती है, मद्य मांसको पवित्र समझकर ग्रहण करवाती है, प्रजाका रुधिर चूस-चूस कर 'कर' लेना धर्म बताती है, उग्रदण्डसे प्रजाको दुखी करना न्याय समझती है सत्य-भाषणवालोंको कारागार भिजवाती है, संध्या, पूजा इत्यादिको समयकी हानि करना जानती है, और नाटक इत्यादि तथा अन्य प्रकारके रंगरलियोंमें मिथ्या समय बितादेनेको आनन्दकी प्राप्ति समझती है अर्थात् परम दुःखमूल विषयको सुखमूल जानती है । और [**सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ ! तामसी**] सब अर्थोंको विपरीत समझती है सो बुद्धि हे पार्थ ! तामसी कहीजाती है ।

भगवान्‌के कहनेका तात्पर्य यह है, कि जो पुरुष अज्ञानी है, उलूकके समान ज्ञानरूप सूर्यके परम प्रकाशमें जिसकी आंखें अन्धी होजाती हैं और मोह रूप घोर अंधकाररात्रिमें जिसकी आंखें खुल-जाती हैं इस कारण जो पुरुष सर्वप्रकारके लौकिक, पारलौकिक, शारीरिक और आत्मिक व्यवहारोंको उलटा समझने लगजाता है, दुःखको सुख, अहितको हित, शुभको अशुभ, उचितको अनुचित, हानिको लाभ, रोगोत्पादक कर्मोंको भोग, अखाद्यको खाद्य और निन्दाको स्तुति समझता है ऐसेकी बुद्धिको तामसी कहते हैं ।

शंका— पूर्वमें जो राजसी बुद्धि कह आये हैं और अब इस श्लोकमें जो तामसी बुद्धिका वर्णन करते हैं इन दोनोंमें तो किसी

प्रकारका अन्तर नहीं देखपडता ! क्योंकि पूर्वश्लोकमें भी राजसी बुद्धिका वर्णन करते हुए 'धर्ममधर्मं च' कहकर यों दिखलाया, कि जो धर्म और अधर्मको नहीं पहचानती वह राजसी बुद्धि है और फिर इस श्लोकमें भी यही, कहरहे हैं, कि " अधर्मं धर्ममिति या " जो अधर्मको धर्म मानती है वह बुद्धि तामसी है फिर इन दोनोंमें अन्तर क्या रेहा ? इसलिये इस श्लोकमें अत्युक्तिका दोष क्यों नहीं लगाया जावेगा ?

समाधान— इन दोनों श्लोकोंको समझनेकेलिये कुशाग्रबुद्धि होनी चाहिये सामान्य पुरुषोंकेलिये इनका भेद समझना क्लेशकर है। क्योंकि भगवान्‌ने तो पिछले श्लोकमें 'अयथावत्' शब्दका प्रयोग करके यह दिखलादिया, कि जो बुद्धि वस्तुको ज्योंकीत्यों नहीं जानती है अर्थात् संशयग्रस्त होकर याथातथ्य उसके रूपको नहीं समझती है उस बुद्धिको राजसी बुद्धि कहते हैं और इस श्लोकमें तो 'सर्वार्थान् विपरीतान्' कहकर निश्चय करदेते हैं, कि जो अधर्मको धर्म ही जानती है उसके जाननेमें संशय नहीं है अर्थात् संशयको तो किसी समय अन्तःकरणसे हटा सकते हैं पर 'निश्चयको' हटाना कठिन है इसलिये राजसी बुद्धि तो किसी समय संशयके हटजानेसे यथावत् देख सकती है जैसे नेत्रके सामने तृणकी ओट पडनेसे जो पर्वतको नहीं देखरहा है उसका तृण हटानेसे वह पर्वतको देखेगा पर जिस प्राणीकी पीठकी ओर पर्वत है वह पर्वतको नहीं देख सकता क्योंकि उसकी दृष्टिशक्ति वस्तुसे विपरीत है इसलिये जो प्राणी 'अयथावत्' और 'विपरीत' दोनों शब्दोंके भेदको जानता है वही

इन दोनों श्लोकोंके अन्तरको भलीभांति समझ सकेगा। शंका मत करो ॥ ३२ ॥

भगवान्‌ने जो श्लोक २९ में बुद्धि और धृति दोनोंके त्रिगुणात्मकस्वरूपके वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की थी सो यहां तक उनका स्वरूप दिखलाचुके अब अगले तीन श्लोकोंमें तीनों प्रकारकी धृतिका स्वरूप दिखलाना आरम्भ करते हैं—

मू०— धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

पदच्छेदः— पार्थ! (हे पृथापुत्रार्जुन!) योगेन (चित्तवृत्तिनिरोधेन) अव्यभिचारिण्या (नित्यसमाध्यनुगतया) यया (रजस्तमःकार्यविषयैः अनाकृष्टरूपया अचंचलया) धृत्या (धैर्येण। धारणया) मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः (मनसः प्राणस्य वाह्याभ्यन्तरेन्द्रियाणाञ्च क्रियाः) धारयते (नित्यमुन्मार्गान्निवारयति धारणां करोति) सा, धृतिः सात्विकी (सत्वगुणात्मिका) [विद्धि] ॥ ३३

पदार्थः— (पार्थ!) हे पार्थ! (योगेन) चित्तनिरोधरूप योगके द्वारा (यया) जिस (अव्यभिचारिण्या) अचंचला (धृत्या) धृतिसे (मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः) मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाएं (धारयते) धारण करते हैं अर्थात् अपने वशमें रखते हैं (सा) उस (धृतिः) धृतिको (सात्विकी) सात्विकी जान ॥ ३३ ॥

भावार्थः— परमतत्ववेत्ता भक्तक्लेशछेत्ता श्रीआनन्दकन्द ब्रज-चन्द अर्जुनके प्रति सात्विक धृतिका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः**] जिस धृतिसे अपने मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको प्राणी धारण करलेता है अर्थात् अपने वशमें करलेता है उसी धृतिको सात्विकी धृति कहनी चाहिये।

तहां मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रिया क्या क्या हैं ? सो पाठकोंके बोधार्थ दिखलादिये जाते हैं:—

मन— मनकी भिन्न-भिन्न क्रियाओंका वर्णन अ० ६ श्लो० २६, ३४ अ० ७ श्लो० ४ अ० १२ श्लो० ८ अ० १७ श्लो० १६ में देखलेना। यहां पुनरुक्ति करना आवश्यक नहीं देखा गया।

प्राण— इसका वर्णन अ० ४ श्लो० २७, ३० अ० ५ श्लो० २७, २८ में होचुका है देखलेना। यहां प्राण कहनेसे पांचों प्राणोंको समझना चाहिये क्योंकि यहां प्राण शब्द अपान, व्यान, समानादिका उपलक्षण है।

इन्द्रियोंकी क्रियाएं जो देखना, सुनना, सुंघना, स्वादलेना, छूना, करना, दौडना, मल मूत्र विसर्जन इत्यादि हैं सर्व साधारणको ज्ञात हैं। ये इन्द्रियां मनके अधीन हैं इन इन्द्रियोंकी क्रियाको मनकी क्रियासे अन्योन्य सम्बन्ध है क्योंकि जहां मन जाता है तहां ही उसके साथ-साथ ये इन्द्रियां भी जाती हैं अथवा इन्द्रियां जिधर

जाती हैं उधर अपने राजा 'मनको' साथ कर लेती हैं। जैसे मधु-मक्खियां मधुकरराजके साथ अथवा मधुकरराज, मधुमक्खियोंके साथ एक किसी ओर जाता है ऐसे मन और इन्द्रियोंकी चालको भी जानना। फिर उस मनकी क्रियाको प्राणकी क्रियाके साथ अनोन्य सम्बन्ध है। प्रमाण— "दुग्धाम्बुवत् सम्मिलितावुभौ तौ तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ हि। यतो मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिर्यतो मरुत्तत्र मनः प्रवृत्तिः॥ तत्रैकनाशादपरस्य नाश एकप्रवृत्तेरपरप्रवृत्तिः। अध्वस्तयोश्चेन्द्रियवर्गवृत्तिः प्रध्वस्तयोर्मोक्षपदस्य सिद्धिः"

(हठयोग० ४, २४, २५)

अर्थ— क्षीर और नीरके समान एक सग ये दोनों मन और मरुत् मिलेहुए तुल्यक्रियावाले हैं। जहां-जहां मन है तहां-तहां मरुत् अर्थात् प्राण है और जहां-जहां मरुत् है तहां-तहां मनकी प्रवृत्ति है इसलिये एकका नाश होनेसे दूसरेका भी नाश और एककी प्रवृत्ति होनेसे दूसरेकी भी प्रवृत्ति होती है। इन दोनोंके अध्वस्त अर्थात् वहिर्मुख होनेसे सब इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति होती है अर्थात् सब इन्द्रियां अपनी-अपनी क्रिया करने लगजाती हैं और प्रध्वस्त होनेसे अर्थात् अन्तर्मुख होजानेसे मोक्षकी सिद्धि होती है।

अब उक्त प्रमाणोंसे सिद्ध होता है, कि इन्द्रियोंकी क्रिया मनसे और मनकी क्रिया प्राणसे अन्योन्य संबंध रखती है इसीलिये इन सबोंकी चाल एकसंग मिलकर एक ही ओर जाती है इस कारण बहिर्मुख होनेसे संसारके द्वन्द्वोंमें ये सब फंस जाती हैं और अन्तर्मुख होनेसे आत्मतत्त्वमें लय होजाती हैं इसीलिये भगवान्‌ने इन तीनोंको

एक संग कर इस श्लोकमें " **मनःप्राणेन्द्रियक्रियः** " वाक्यका प्रयोग किया है ।

भगवान्‌के कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि जिस धृतिसे ज्ञानी इन तीनोंकी क्रियाओंको वहिर्मुख न होने देकर अर्थात चञ्चल न करके स्थिर कर रखता है उस धृतिका नाम सात्विकी है ऐसी धृति कहांसे उत्पन्न होती है और इसमें क्या विशेषता है ? सो दिखलतेहुए भगवान कहते हैं, कि [**योगेनाऽव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ! सात्विकी**] योगसे तो इसकी उत्पत्ति है और अव्यभिचारिणी होना इसका विशेष गुण है । तात्पर्य यह है, कि हठयोग, राजयोग, मंत्रयोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, लययोग, प्रेमयोग इत्यादि योगों से किसी एक योग द्वारा जिसनें अपनी चित्तवृत्तिको एकाग्र करलिया है उसीकी धृति **अव्यभिचारिणी** होती है अर्थात दारुणदुःख सम्मुख होनेपर भी जो अपने स्थानसे नहीं टलती । जैसा, कि प्रह्लाद और मोरध्वजने अपनी धृति दिखलायी है । अर्थात तप्त तैलमें डुवाये जानेका, पहाडसे फेंक दिये जानेका, वासुकीसे डसवा दिये जानेका, हाथीके पैरोंके नीचे कुचलवादिये जानेका दुःख सम्मुख आतेहुए देख प्रह्लाद अपनी भक्तिसे न टला और अपने पितासे यों कहा, कि—

" नागिनसे डंसावो चाहे सागरधंसावो चूर-चूर करवावो जल-वाओ चांडालसे, गजराजसे पिचावो चाहे शूली खिंचवावो टूक २ करवावो हां खड्ग विकरालसे। विषघोलके पिलावो चाहे पर्वतसे गिरावो चरणजूती सिलावो पिताजू मेरी खालसे, हंसस्वरूप प्रह्लाद विनय मानो हाय नेह ना छुडावो मेरे प्यारे नन्दलालसे। "

अब महाराज मोरध्वजकी धृतिकी ओर भी अवलोकन कीजिये कि साधुकेलिये 'आरा' लेकर अपने पुत्रको दो टुकडे करते हुए आंखोंमें आंसूतक न लाये। यह इतिहास सर्वत्र प्रसिद्ध है यदि देखना हो तो हंसनाद द्वितीय भागमें देखलेना।

भगवान्‌के कहनेका संक्षिप्त तात्पर्य यह है, कि जो धृति योगबलसे उत्पन्न होकरे मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको ठीक २ स्थिररूपसे अव्यभिचारिणी अर्थात् अपने स्थानसे विचलित नहीं होती सो धृति सात्विकी कहलाती है ॥ ३३ ॥

अब भगवान् राजसी धृति दिखलातेहुए कहते हैं—

मू०— यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन!।
प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥
॥ ३४ ॥

पदच्छेदः— अर्जुन! (हे अवदातचरितत्वेन शुभ्रस्वरूपार्जुन! तु, प्रसंगेन (कर्तृत्वाद्यभिनिवेशेन) फलाकांक्षी (स्वर्गादिफलेच्छुः) यया, धृत्याः, धर्मकामार्थान (धर्मंकाममर्थं च) धारयते (नित्यं कर्तव्यतया निश्चिनोति) पार्थ! (हे पृथापुत्र!) सा, धृतिः (धैर्यम्) राजसी (रजोगुणनिर्वृत्ता) ॥ ३४ ॥

पदार्थः— (अर्जुन!) हे विशुद्धचरित अर्जुन! (तु) किन्तु (प्रसंगेन) कर्तृत्वादि अभिनिवेशसे (फलाकांक्षी) फलाभिलाषी होकर (यया) जिस (धृत्या) धृतिसे (धर्मकामार्थान) धर्म, काम और अर्थको प्राणी (धारयते) धारण करता है (पार्थ!) हे पार्थ! (सा) वह (धृतिः) धृति (राजसी) राजसी है ॥ ३४

भावार्थः— कलिकलुषनिवारक, सर्वदुःखापहारक भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र राजसी धृतिका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**यया तु धर्मकामार्थान्धृत्याधारयतेऽर्जुन ! प्रसंगेन फलाकांक्षी**] प्रसंग अर्थात् कर्मोंके साथ अभिनिवेश रखनेवाला कर्माभिमानी जिस धृतिसे **धर्म, काम** और **अर्थ** तीनोंको अपने हृदयमें धारण करता है अर्थात् मैं जो अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम तथा अन्य प्रकारके यज्ञ, दान और तपका साधन करनेवाला हूं तिनके जो फल हैं उनसे मेरे धर्म, काम और अर्थ तीनों सिद्ध होजावें ऐसा अभिनिवेश रखनेवाला अर्थात् जिसके मनमें अहर्निश यही धारणा बनीहुई है, कि मेरे यज्ञादिरूप धर्मके जो स्वर्गादि फल हैं, कामना जो संसारके विषय हैं तथा अर्थ जो धन सम्पत्ति हैं ये सदाकेलिये बनेरहें ऐसी जो धृति है तिसके विषय भगवान् कहते हैं, कि [**धृतिः सा पार्थ ! राजसी**] हे पार्थ ! सो धृति राजसी कहीजाती है ॥ ३४ ॥

अब भगवान् तामसीधृतिका वर्णन करते हैं—

मू०— यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ ! तामसी ॥ ३५ ॥

पदच्छेदः— पार्थ ! (पृथापुत्रार्जुन !) दुर्मेधाः (दुष्टा निषिद्धा बुद्धिर्यस्य) **यया** (धृत्या) स्वप्नम (निद्राम) भयम् (त्रासम) शोकम (इष्टवियोगनिमित्तं संतापम) विषादम् (खेदम । इन्द्रियावसादम) मदम (गर्वम् । धनादित उन्मादम) न विमुञ्चति (न त्यजति) सा, धृतिः, तामसी (तमोगुणनिर्वृता । तमोगुणात्मिका) [ज्ञेया] ॥ ३५ ॥

पदार्थः— (पार्थ !) हे पृथाका पुत्र अर्जुन ! (दुर्मेधाः) दुष्टबुद्धिवाला मनुष्य (यया) जिस (धृत्या) धृतिसे (स्वप्नम) निद्रा (भयम) भय, डर (शोकम्) चिन्ता (च) और (विषादम) दुःखको (मदम्) घमण्ड, धनादिकके उन्मादको (एव) भी (न मुञ्चति) नहीं छोडता अर्थात् धारण किये रहता है (सा) वह (धृतिः) धारणा (तामसी) तामसी जाननी चाहिये ॥ ३५ ॥

भावार्थः— अब सर्वसुखमूल प्रेमसरितकूल भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति तामसी धृतिका वर्णन करते हुए कहते हैं, कि [**यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च**] जिस धृतिसे, स्वप्न, भय, शोक, विषाद और मद अर्थात् स्वप्न जो निद्राकी दशा है, ऐसी दशामें अहर्निश पडे रहना समय कुसमयका विचार न करके खर्राटा लेते रहना जो महानिन्दित कर्म है फिर भय अर्थात “ रौद्रशक्त्या तु जनितं चित्तवैक्लव्यदं भयम ” भयंकर वस्तुओंको देखकर जो चित्तकी व्याकुलता होती है अर्थात व्याघ्र भूत, प्रेत पिशाचादिको सम्मुख आते हुए देखकर अथवा अग्निका कोप वा जलका कोप देखकर जो प्राणी घबडाजाता है तिसे भय कहते हैं । फिर शोक अर्थात् ‘ इष्ट वियोगनिमित्तसन्तापम ’ पुत्र, कलत्र, मित्र, धन, सम्पत्ति इत्यादिके नष्ट होजानेसे जो चित्तकी दशा होती है उसे शोक कहते हैं । फिर “विषाद” किसी अर्थकी पूर्त्ति न होनेसे जो चित्तको खेदकी प्राप्ति होती है उसे विषाद कहते हैं । फिर मदम् अर्थात् “ अहं महात्मा धनवान मत्तुल्यः कोऽस्ति भूतले । इति यज्जायते चित्ते मदः प्रोक्तं स कोविदैः ”

अर्थात् वशिष्ठ, भरद्वाज, अंगिरा, याज्ञवल्क्यादि महात्माओंसे भी अधिक महत्ववाला हूं और कुबेर अथवा चक्रवर्ती नरेशोंसे भी अधिक धनवान् हूं मेरे समान दूसरा कौन भूमण्डलपर है? इस प्रकारकी चित्तदशाको विद्वान् 'मद' कहते हैं।

ये जो उपर्युक्त स्वप्न, भय, शोक, विषाद और मद पांच प्रकार के विशेष विकार हैं [न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ! तामसी] इनको जो दुर्बुद्धि बडी दृढताके साथ पकडे रहता है यहां तक, कि प्राण-नाश होनेपर भी नहीं छोडता ऐसी मूर्खोंकी धृतिको तामसी धृति कहते हैं ॥ ३५ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकके पूर्वार्द्धमें तीनों प्रकारके सुखोंके वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करतेहुए उसके उत्तरार्द्ध अर्थात् पिछले आधे श्लोकसे सात्विकादि सुखोंका स्वरूप दिखलाना आरंभ करते हैं—

मू०— सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तञ्च निगच्छति ॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥
॥ ३६, ३७ ॥

पदच्छेदः— भरतर्षभ ! (भरतवंशावतंसार्जुन !) तु (पुनः) इदानीम (अधुना) मे (ममेश्वरवाक्यात) त्रिविधम (सत्वादित्रैगुण्येन त्रिप्रकारम) सुखम (अनुकूलवेदनीयम् । आनन्दम) शृणु (श्रुतिगोचरं कुरु) यत्र (यस्मिन् सुखे) अभ्यासात् (अध्यात्मशास्त्रपरिचयात्) रमते (परितृप्यति । रतिं लभते) च (पुनः) दुःखा-

न्तम् (क्लेशावसानम्) निगच्छति (प्राप्नोति) यत् [हे अर्जुन !] तत् (समाधिजन्यं सुखम्) अग्रे (ज्ञानवैराग्यसमाध्यारम्भे बहुक्लेश-साधकतया) विषम् (गरलम्) इव, परिणामे (ज्ञानवैराग्यसमाधि-परिपाकदशायाम्) अमृतोपमम् (सुधोपममतितृप्तिप्रीतिकरम्) आत्म-बुद्धिप्रसादजम् (आत्मनो बुद्धिः आत्मबुद्धिः तस्याः प्रसादः निद्राल-स्यादिराहित्यम् नैर्मल्यं तस्माज्जातम्) तत्, सुखम्, सात्विकम् प्रोक्तम् (कथितम्) ॥ ३६, ३७ ॥

पदार्थः— (**भरतर्षभ** !) हे भरतकुलभूषण अर्जुन ! (**तु**) फिर (**इदानीम्**) इस समय (**मे**) मेरे वचनद्वारा (**त्रिविधम्**) तीनोंप्रकारके (**सुखम्**) सुखोंका वर्णन (**शृणु**) सुन ! (**यत्र**) जिस समाधिसुखमें (**अभ्यासात्**) साधक भजन, मनन इत्यादिके अभ्याससे (**रमते**) परितृप्त होता है (**च**) और (**दुःखा-न्तम्**) दुःखके अन्तको (**निगच्छति**) लाभ करता है अर्थात् फिर दुःखी नहीं होता है (**यत्**) ! जिस कारणसे (**तत्**) वह समाधिसुख (**अग्रे**) प्रारम्भमें (**विषम्**) अत्यन्त क्लेशसाध्य होनेके कारण विषके (**इव**) समान दुःखदायी होता है (**परि-णामे**) पर परिणाममें (**अमृतोपमम्**) अमृतके सदृश प्रीतिकारक अर्थात् सुखदायी होता है (**आत्मबुद्धिप्रसादजम्**) आत्माको ग्रहण करने वाली बुद्धिकी प्रसन्नतासे उत्पन्न (**तत्, सुखम्**) सो समाधि-सुख (**सात्विकम्**) सात्विक (**प्रोक्तम्**) कहागया है ॥ ३६,३७ ॥

भावार्थः— सर्वसुखदायक यदुकुलनायक भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्र सात्विक, राजस और तामस तीनों प्रकारके सुखोंके वर्णन

करनेकी प्रतिज्ञा करतेहुए कहते हैं, कि [**सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ**] हे भरतकुलशिरोमणि अर्जुन ! सात्विक, राजस और तामस तीनों प्रकारके सुखोंका वर्णन अब मैं तेरे सम्मुख करता हूं सो सुन !

पूर्वश्लोकमें तीनों प्रकारकी बुद्धि और धृतिका वर्णन करतेहुए अब भगवान् जो इन श्लोकोंमें सुखके वर्णनका आरम्भ करते हैं इससे ऐसा नहीं समझना चाहिये, कि बुद्धि और धृतिके पश्चात् सुखका वर्णन करना प्रकरणविरुद्ध है वरु ऐसा समझना चाहिये, कि जिस प्राणीमें बुद्धि और धृति दोनों निवास करेंगी उसके हृदयमें सुख अवश्य उत्पन्न होगा ऐसा न हो, कि सुखके भ्रमसे राजसी और तामसी सुखोंमें प्राणी लिपट जावे इसलिये भगवान् तीनोंका विलग-विलग वर्णन करतेहुए राजस तामस सुखका त्याग और सात्विक-सुखका ग्रहण करनेके तात्पर्यसे कहते हैं, कि [**अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति**] नाना प्रकारके अभ्याससे जिस सुखको प्राप्त कर प्राणी रमण करता है और जिसकी प्राप्तिसे तीनों प्रकारके दुःखोंका अन्त होजाता है अर्थात् दुःखका लेशमात्र भी नहीं रहता वही यथार्थ सुख है।

तात्पर्य यह है, कि पहले प्राणी अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य, क्षमा, धृति, दया, आर्जव, मिताहार, शौच, तप, संतोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वरपूजन, सिद्धान्तवाक्यश्रवण, ह्री, मति, जप, हवन, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधिका बहुत

कालतक अभ्यास करता है फिर अभ्यास करते-करते जब अभ्यासकी पूर्त्ति होजाती है तब वह सुख जो असीम है लाभ होता है अर्थात् हठयोग, राजयोग, मन्त्रयोग, प्रेमयोग इत्यादिके अंगोंका साधन करते-करते आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःखसे छूटकर उस आनन्दमय परब्रह्म जगदीश्वरको प्राप्त होजाता है जहांसे फिर लौटकर इस संसाररूप दुःख सागरमें ऊब डूब नहीं करना पडता जन्म, जरा और मरणके दुःखका एक बारगी नाश होजाता है ऐसे सुखको सात्विक कहना चाहिये। इसीलिये भगवान् कहते हैं, कि [**यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्**] जो पहले विषके समान ज्ञात होता है और परिणाममें अमृतके समान सुखदायी होजाता है वही सात्त्विक सुख है । क्योंकि जितने यथार्थ सुखके पदार्थ हैं उनकी प्राप्तिकेलिये पहले कठोर साधनोंका अभ्यास करना पडता है उस अभ्यासके समय नाना प्रकारके क्लेशोंका सामना करना पडता है । जैसे पूर्व कथन कियेहुए भाषणमें सत्य भाषण जो एक प्रकारका अमूल्य रत्न है उसके साधनमें मनुष्यको नाना प्रकारकी आपत्तियोंसे सामना करना पडता है । फिर अन्तमें अपूर्व सुखको लाभ करता है अर्थात् ब्रह्मानन्दको लाभ करता है स्वयं सच्चिदानन्द भगवान् भी जिसका संग नहीं छोडता सदा उसके संग निवास करता है । जैसे पाताललोकनिवासी राजा बलिने सत्यका अभ्यास किया और यह प्रतिज्ञा की, कि वामन महाराजको तीन पग पृथ्वी प्रदान करूंगा यद्यपि उसके गुरु शुक्राचार्यने यों समझाया, कि " **त्रिभिः क्रमैरिमांल्लोकान् विश्वकायःक्रमिष्यति । सर्वस्वं विष्णवे दत्वा मूढ !**

वर्त्तिष्यसे कथम्" (श्रीमद्भागवत स्कंध ८ अ० १९ श्लो० ३३)
अर्थ– हे मूढ ! तीन पैरसे विश्वरूप भगवान इन लोकोंको माप लेवेंगे, इस प्रकार उस विष्णुको सबकुछ देकर तू कहां रहेगा ।

शुक्राचार्यके मुखसे इतना वचन सुनकर राजा बलि जानगया, कि मेरे आचार्यने जो कुछ कहा है वह कदापि मिथ्या नहीं होसकता पर अब मुझे चाहे वनमें जाकर भिक्षासे जीवन निर्वाह करना पडे तो पडे पर मैं अपने वचनसे विचलित नहीं होसकता क्योंकि मैं तो सत्यप्रतिज्ञ बनचुका हूं ।

एवं प्रकार जब विष्णुने विराट्रूप धारण कर दो पगोंके द्वारा आकाशसे पाताल पर्य्यन्त नापलिया और तीसरे पगकेलिये बलिके पास कुछ भी देनेके निमित्त नहीं रहा तब भगवान्से बोला– "यद्युत्तम-श्लोक ! भवान्ममेरितं वचो व्यलीकं सुरवर्य मन्यते । करोम्युतं तन्न भवेत्प्रलंभनं पदं तृतीयं कुरु शीर्ष्णि मे निजम्" ॥

(श्रीमद्भागवत स्कन्द ८ अ० २२ श्लो० २)

अर्थ– हे उत्तमश्लोक ! सुरश्रेष्ठ ! यदि आप मेरे वचनको सत्य मानते हो तो जिससे मेरी प्रतिज्ञा भंग न हो मेरे शिरपर तीसरा पैर रखकर नाप लीजिये ।

अब बुद्धिमान् विचार करेंगे, कि धर्मके अनेक अंगोंमें केवल एक अंग सत्यका पालन करतेहुए बलिके हृदयकी क्या दशा हुई होगी ? अर्थात् विषके समान दुःख देनेवाली दशा आरंभमें आपडी

पर इसका परिणाम ऐसा हुआ, कि भगवान्‌ने सदा उसके साथ निवास करनेकी प्रतिज्ञा करली। प्रमाण— " **रक्षिष्ये सर्वतोऽहं-त्वां सानुगं सपरिच्छदम। सदा सन्निहितं वीर ! तत्र मां द्रक्ष्यते भवान** " (श्रीमद्भागवत स्कंद ८ अ० २२ श्लो० ३५)

अर्थ— तुम्हारे अनुचरे, परिकरे, और मुसाहिब सहित तुम्हारी हम रक्षा करेंगे हे वीर ! तुम हमको सदा ही अपने निकट देखोगे।

इसीलिये भगवान् कहते हैं, कि " **अमृतोपमम्** " अन्तमें जो अमृत के तुल्य सुखदायी है जैसे, कि बलिको प्रथम क्लेश उठाकर पश्चात् भगवान्‌के नित्य दर्शनका अमूल्य सुख प्राप्त हुआ ऐसे ही नाना-प्रकारके धर्मसूचककर्म पहले तो कठिन और कडुए जानपडते हैं पीछे उनका फल अत्यन्त सरस और मीठा प्राप्त होता है। जैसे छोटे-छोटे बच्चोंको पाठशालाओंमें जाकर गुरुके समीप विद्या उपार्जन करना अत्यन्त कठिन जानपडता है यहां तक, कि आरंभमें तो वे फांसीसे भी अधिक क्लेश समझते हैं पर जब विद्या उपार्जन करलेते हैं तब उसके फल धन, सम्पत्ति, यश और बडी-बडी पदवियोंको प्राप्तकर आनन्द लाभ करते हैं और परम सुखी होजाते हैं। ऐसे सुखके विषय भगवान् कहते हैं, कि [**तत्सुखं सात्विकं प्रोक्तमात्म-बुद्धिप्रसादजम्**] सो सुख सात्विक होगया है और आत्मज्ञानसे उत्पन्न प्रसादका देनेवाला है अर्थात् यम, नियम इत्यादि क्लेशकर कर्मोंके साधनके पश्चात् जिससे आत्मज्ञानकी प्राप्ति होती है तिस आत्मज्ञानसे जो प्राणी परम प्रसन्नताको लाभ करता है अर्थात् परम सुखी होजाता है कृतकृत्य होजाता है फिर

उसे कुछ करना नहीं पडता । ऐसी अवस्थाको प्रसादकी अवस्था कहते हैं अर्थात् परमसुखकी अवस्था कहते हैं इस 'प्रसाद' का वर्णन अ० २ श्लोक ६५ अ० १७ श्लोक १६ में करआये हैं देखलेना

॥ ३६, ३७ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें राजसी सुखका स्वरूप दिखलाते हैं—

मू०— विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥
॥ ३८ ॥

पदच्छेद:— यत्, तत् (सुखम्) विषयेन्द्रियसंयोगात् (विषयाणां शब्दादीनामिन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां सम्बन्धात्) [समुत्पन्नम्] अग्रे (आरम्भे) अमृतोपमम (मानसेन्द्रियसंयमक्लेशाभावात सुधावत्सुखकरम्) परिणामे (परिपाके । निष्पत्यवस्थायाम्) विषमिव (गरलमिव) तत् (अज्ञानजन्यम्) सुखम्, राजसम् (रजोगुणात्मकम्) स्मृतम् (कथितम्) ॥ ३८ ॥

पदार्थ:— (यत) जो, कि (तत) वह सुख (विषयेन्द्रियसंयोगात्) शब्दादिविषय एवं इन्द्रियोंके संयोगसे (अग्रे) पहले (अमृतोपमम) अमृतके समान सुखद (परिणामे) और परिणाममें (विषम) हलाहलके (इव) समान दुःखद है (तत) वह (सुखम्) सुख (राजसम्) राजस (स्मृतम्) कहागया है ॥ ३८ ॥

भावार्थ:— भवबारिधिमन्दर सबविधिसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति राजससुखका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि

[विषयेन्द्रियसंयोगात् यत्तदग्रेऽमृतोपमम्] विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे जो सुख पहले अमृतके समान स्वादु जान पडता है अर्थात् कामसे उत्पन्न जो विविध प्रकारकी षोडशियोंके संग रमण करनेका सुख है। तात्पर्य यह कि रूप, रस, गंध, स्पर्श इत्यादि जो पांचों विषय हैं ये जब अपनी इन्द्रिय नेत्र, जिह्वा, नासिका इत्यादिके संग मिलकर विषयसुखका उत्पादन करते हैं उसको राजसी सुख कहना चाहिये।

इस विषयसुखके भिन्न-भिन्न रूपोंको दिखलानेके लिये प्रसिद्ध पद्माकर कविके दो कवित्त यहां लिखदिये जाते हैं—

"गुलगुली गिलमें गलीचा है गुनीजन हैं,
चांदनी है चिक हैं चिरागनकी माला हैं।
कहै पद्माकर त्यों गजक गिजा हैं सजी,
सेज है सुराही है सुरा है और प्याला हैं॥
शिशिरके पालाको न व्यापत कसाला तिन्हें,
जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं।
तान तुक ताला हैं विनोदके रसाला हैं,
सुवाला हैं दुशाला हैं विशाला चित्रशाला हैं॥
सोरहे शृंगार कै नवेलीके सहेलिहू,
कीन्ही केलि मन्दिरमें केलपित केरे हैं।
कहै पद्माकर सुपास ही गुलाबपास,
खासे खसखास खसबोइनके ढेरे हैं॥
त्यों गुलाबनीरनसों हीरनके हौज भरे,

दम्पतिमिलापहित आरती उजेरे हैं।
चोखी चांदनीपर चौरस चमेलिनके,
चन्दनकी चौकी चारु चांदीके चँगेरे हैं ॥"

ये जो उपर्युक्त विषय दिखलाये गये हैं वे आरम्भमें तो अमृतके समान सुखदायी देख पडते हैं और प्राणियोंको जागृत अवस्थामें परितृप्त करनेवाले हैं। यथा श्रुतिः— "ॐ स एव मायापरिमोहितात्मा शरीरमास्थाय करोति सर्वम्। स्त्रियन्नपानादिविचित्रभोगैः स एव जाग्रत्परितृप्तिमेति" (कैवल्योप० श्रु० १२)

अर्थ— इस प्रकार यह जीवात्मा मायासे मोहित होकर शरीरमें रहकर सब कुछ करता है स्त्री, अन्न, पान इत्यादि विचित्र भोगोंसे जाग्रत अवस्थामें इन्द्रियोंके वशीभूत होकर परम प्रसन्नता अर्थात् सुखको प्राप्त होता है।

पर परिणाममें ये सबके सब दुःखदायी हैं इसीलिये भगवान् कहते हैं, कि [परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्] परिणाम में जो विषके समान घोर दुःखदायी है वही राजसीसुख कहा जाता है।

यह कैसे दुःखदायी है ? सो भी सुनो ! तहां सुन्दरदास भी कहते हैं—

कामिनीकी देह अति कहिये सघनवन,
जहां सु तौ जाय कोऊ भूलिके परत है।
कुंजर है गति कटि केहरिको भय यामें,
बेनी कारी नागिनसी फनको धरत है ॥

कुच हैं पहार जहां काम चोर बैठो तहां,
साधिके कटाक्ष-बान प्राणको हरत है।
सुन्दर कहत एक और अति भय तामें,
राक्षसी वदन खांव-खांव ही करत है ॥"

मुख्य तात्पर्य यह है, कि जिसकी बुद्धि राजसी है उसे राजसी धृतिका भी संग है वही इस राजसी सुखको सुख समझता है पर जो बुद्धिमान् हैं और जिनकी सात्विक बुद्धि वा धृति हैं वे इस शरीरको परम अपवित्र और हाड-मांसका लोथडा जानकर इसे तिरस्कार करदेते हैं कामादि सुखोंकी इच्छा नहीं करते, सांसारिक सुखको तो क्या स्वर्गादि सुखोंका भी तिरस्कार करदेते हैं।

देखो ! इक्ष्वाकुवंशोद्भव राजा बृहद्रथ अपने राज्यका परित्याग कर जब वनमें तप करने गया उस समय महर्षि शाकायन्यने उसकी बुद्धिकी परीक्षा निमित्त उसके समीप आकर कहा, कि इस लोकके स्त्री-भोगादि जितने सुख हैं तथा स्वर्गके अप्सरादि तथा नन्दनवन के जितने सुख हैं सब मुझसे मांगले। तिसके उत्तरमें राजाने कहा-

श्रु०— " ॐ भगवन्नस्थिचर्मस्नायुमज्जामांसशुक्रशोणित-श्लेष्माश्रुदूषिका विण्मूत्रवातपित्तकफसंघाते ॥ दुर्गन्धे निःसारेऽस्मिन् शरीरे किं कामोपभोगैः कामक्रोधलोभमोहभयविषादेर्ष्येष्टवियोगानिष्टसंयोगक्षुत्पिपासाजरामृत्युरोगशोकाद्यैरभिहतेऽस्मिन् शरीरे किं कामोपभोगैः "(मैत्र्युप० प्रपाठक १ श्रु० ३ में देखो)

अर्थ— राजा बृहद्रथने महर्षि शाकायन्यसे कहा, कि हे भगवन्! कामोपभोग अर्थात् जिस स्त्रीसुखके विषय आपने मुझसे कहा, कि

मांग वह स्त्री यथार्थमें क्या है, कि हाड, चाम, स्नायु, मज्जा, मांस शुक्र, शोणित, कफ, नेत्रमल (कांची) मलमूत्र, वात, पित्त, कफका भण्डार है, दुर्गन्धसे पूर्ण है, साररहित है ऐसे शरीरके साथ कामोपभोगसे क्या लाभ ? फिर यह शरीर कैसा है, कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, विषाद, ईर्ष्या, इष्टवियोग, अनिष्टसंप्रयोग अर्थात् जिसकी चाहना करते हैं उस सुखका वियोग और जिसकी नहीं चाहना करते हैं ऐसे दुःखका संयोग भूख, प्यास, वृद्धता, मरण, रोग, शोकादि अवगुणोंसे नष्ट होरहा है तिस शरीरके साथ कामोपभोगसे क्या लाभ? कुछ भी नहीं।

फिर इस स्त्रीसुखके विषय रघुकुलतिलक श्रीरामचन्द्रजी महर्षि श्रीवशिष्ठजीसे यों कहते हैं—

" केशकज्जलधारिण्यो दुःस्पर्शा लोचनप्रियाः ।
दुष्कृताग्निशिखानार्यो दहन्ति तृणवन्नरम् ॥ "

अर्थ— जैसे अग्निशिखाके अग्रभागकी कालिमा अथवा जाज्वल्यमान दीपशिखाकी कालिमा दूरसे देखनेमें तो नेत्रोंको अतिप्रिय होती है पर स्पर्श करनेसे दुःखदायी होती है ऐसे ही काले २ केशरूप अग्निशिखा अर्थात कालिमाकी धारण करनेवाली जो महा क्लेश देनेवाली स्त्रीरूप अग्नि है सो नेत्रोंको सुखरूप तो है पर स्पर्श करते ही एकवारगी भस्म करडालती है।

" जन्मपल्वलमत्स्यानां चित्तकर्दमचारिणाम् ।
पुंसां दुर्वासनारज्जु नारी वडिशपिण्डिका ॥ "

अर्थ— विषयकी छोटी २ सरिताओंमें जन्मलेकर चित्तके कीचडमें चलने वाले पुरुषरूप मत्स्योंके फंसानेकेलिये उनकी दुर्वासनारूप तग्गी (डोरी) है जिसमें स्त्रीरूप वंसी (मत्स्यवेधिनी) लगीहुई है। अर्थात् जैसे लोहे की वंसी बडे २ मत्स्योंको फंसाकर मारडालती है ऐसे स्त्रीरूप वंसी पुरुषरूप मत्स्योंको फंसाकर मारडालती है ।

" कामनाम्ना किरातेन विकीर्णा मुग्धचेतसाम् ।
नार्यो नरविहंगानामंगवन्धनवागुरा ॥ "

अर्थ— कामरूप भीलने अज्ञानी पुरुषरूप पक्षियोंको फंसानेकेलिये नारीरूप अनेक जाल फैला रक्खे हैं ।

इन वचनोंसे सिद्ध होता है, कि ये विषयसुख आरम्भमें तो सुखदायी हैं पर अन्तमें बिषके रुमान नाश करडालने वाले हैं । ॥ ३८ ॥

अब भगवान अगले श्लोकमें तामसी सुखका स्वरूप दिखलाते हैं—

मू०— यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

पदच्छेदः— यत्, सुखम्, अग्रे (प्रथमारम्भे) च (पुनः) अनुबन्धे (तत्सम्बन्धप्रयोजनादिसम्पादने परिणामे वा) आत्मनः (बुद्धेः । विवेकज्ञानस्य । अन्तःकरणस्य) मोहनम् (मोहकारकम्) च (तथा) निद्रालस्यप्रमादोत्थम् (स्वप्नं कार्य्यसम्पादने उत्साहराहित्यं कर्तव्यार्थानवधानता तेभ्यः सञ्जातम्) तत्, तामसम्, उदाहृतम् (उक्तम्) ॥ ३९ ॥

पदार्थः— (यत्) जो (सुखम्) सुख (अग्रे) पहले आरम्भमें (च) और (अनुबन्धे) प्रबन्ध करते समय वा परिणाममें (आत्मनः) अपनेको अर्थात् अपनी बुद्धिको (मोहनम्) मोहनेवाला है (च) तथा (निद्रालस्यप्रमादोत्थम) निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न जो सुख है (तत्) वह (तामसम) तामस (उदाहृतम) कहागया है ॥ ३६ ॥

भावार्थः— सकलद्वन्दनिकन्दन श्रीयदुनन्दन भगवान् कृष्णचन्द्र तामसीसुखका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः**] जो सुख पहले अर्थात् आरम्भमें अथवा उस सुखकी प्राप्ति करनेके निमित्त नाना प्रकारके प्रबन्ध करते समय वा परिणाममें अपनी बुद्धि वा अन्तःकरणको मोहमें डालनेवाला है उसे तामसी सुख कहते हैं।

मोहका स्वरूप पहले इस गीताके भिन्न श्लोकोंमें दिखलाआये हैं फिर यहां पाठकोंके बोधार्थ मोहका संक्षिप्तरूप दिखलायाजाता है—

प्रमाण— "लोभः पापस्य बीजोऽयं मोहो मूलन्तु तस्य हि ।
असत्यं तस्य च स्कन्धं माया शाखा सुविस्तरः ॥
दम्भकौटिल्यपत्राणि कुकृत्या पुष्पितः सदा ।
पैशुन्यं तस्य सौगन्ध्यमज्ञानं फलमेव हि ।
दम्भपाषण्डचौराश्च कूटाः क्रूराश्च पापिनः ।
पक्षिणो मोहवृक्षस्य माया शाखा समाश्रिताः"
(पद्मपुराण भूमिखं० ११ अ०)

अर्थ— मोहरूप जो कोई एक महा भयंकर वृक्ष है जो मायाकी शाखा प्रशाखाओंसे विस्तारको पायेहुआ है अर्थात् मोह वृक्ष है उसका 'कन्धा' असत्य है, दंभ और कुटिलता पत्ते हैं, कुकर्मरूप फूल जिसमें खिलते रहते हैं, जिन पुष्पोंकी सुगन्ध पिशुनता है और फल जिसका अज्ञानता है एवं छल, पाखंड, चोरी, कपट क्रूरतारूप पक्षी इस मोहरूप वृक्षकी मायामयी शाखाओंपर निवास कियेहुए हैं।

कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जिस प्राणीकी बुद्धि मोहाक्रान्त है उसके शरीरमें असत्यता, कुटिलता, पिशुनता, क्रूरता इत्यादि अवगुण अवश्य निवास करते हैं इन ही अवगुणोंके द्वारा वह नाना प्रकारके सुखोंकी प्राप्तिकी इच्छा करता है। जैसे चोर चोरीके धनसे धनवान् होनेके सुखकी आशा करता रहता है इसलिये चौरकर्म सम्पादन करनेके जितने प्रबन्ध हैं उनके साधनमें लगारहता है इसी प्रकार अन्य अवगुणोंकेद्वारा मोहमें पडकर किसी समय मनुष्य सुखकी इच्छा करता है बस इच्छा करते ही मोहमें पडकर नाना प्रकारके उक्त विकारोंको आरम्भ करके उनके प्रबन्ध करनेमें पूर्णप्रकार उद्यत होकर अन्तमें मोहको ही प्राप्त होजाता है अर्थात् जिस सुखके आरम्भ, मध्य और अन्त तीनोंमें मोहरूपी वृक्षकी ठंढी-ठंढी छाया लगरही है अर्थात् सर्वप्रकारके विकारोंसे जो सुख भराहुआ है जिस ठंढी हवके लगनेसे भगवान् कहते हैं, कि [**निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्**] निद्रा, आलस्य और प्रमाद मनुष्यके शरीरमें एकत्र होजाते हैं तिनसे उत्पन्न हुआ जो सुख सो तामसी सुख कहागया है।

बडी विचित्रता तो इस तामससुखमें यह है, कि यदि किसी अज्ञानीको यह सुख प्राप्त भी होजावे तो क्षणिक ठहरता है। स्वल्पकालमें नाश होकर तीनों प्रकारके तापोंको उत्पन्न करदेता है। जैसे चोर किसीका धन चुराकर मद्यपान, वेश्यागमन इत्यादिका आनन्द विलासिता उस धनकेद्वारा मास दो मास प्राप्त करता रहा पर जिस समय राजाके दूतने उसको चोरीमें पकडलिया तो फिर सब तापोंका मूल जो कारागार तिसमें भेजागया अर्थात् स्वल्पसुखकेलिये चिरकाल पर्यन्त दुःख भोगता रहा।

श्रुतिके प्रमाणसे पाठकोंके बोधार्थ यहां यह दिखलादियाजाता है, कि इस तामसी सुखके उत्पन्न करनेवाले तमोगुणके कितने प्रकारके विकार इस शरीरमें निवास करते हैं अर्थात् तामसविकार कितने हैं। श्रुति— " **अथान्यत्राप्युक्तं संमोहो भयं विषादो निद्रातन्द्राप्रमादो जरा शोकः क्षुत्पिपासा कार्पण्यं क्रोधो नास्तिक्यमज्ञानं मात्सर्यं नैष्कारुण्यं मूढत्वं निर्वीडत्वं निराकृतित्वमुद्धतत्वमसमत्वमिति तामसानि**" (मैत्र्युप० श्रु० ५) अर्थ स्पष्ट है।

इस श्रुतिमें मोह, भय, विषाद इत्यादि जो २१ अवगुण कहे गये हैं ये सब तामसी हैं। बुद्धिमानोंको चाहिये, कि इन विकारोंसे बहुत दूर भागें। इनके द्वारा संयोगवशात् किसी समय कैसा भी मनको प्रसन्न करनेवाला सुख क्यों न उत्पन्न हो? उसका विश्वास न करें वरु राजस और तामस दोनों प्रकारके सुखोंका परित्यागकर सात्विक सुखके ग्रहण करनेका यत्न करें।

यद्यपि सात्विक सुख आरंभमें नाना प्रकारके क्लेशोंको उत्पन्न करता है पर उन क्लेशोंसे घृणा न करके तितीक्षाद्वारा उसकी कठिनाइयोंको सहन कर उसके यत्नमें लगेरहें जिससे मधुपके समान भगवच्चरणारविन्दोंके मधुर मकरन्दके पान करनेके अधिकारी होजावें ॥ ३९ ॥

अब भगवान अगले श्लोकमें यह कहते हैं, कि ब्रह्मलोकसे पाताल पर्य्यन्त जितने देव, देवी, मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि हैं सबके सब प्रकृतिके इन ही गुणोंसे बंधेहुए हैं कोई भी इन तीनोंसे विलग नहीं है—

मू०— न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ ४०

पदच्छेदः— यत्, सत्वम् (प्राणिजातम् । जंगमं वा स्थावरादि) प्रकृतिजैः (सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः तस्याःसमुत्थैः) एभिः, त्रिभिः (त्रिसंख्याविशिष्टैः) गुणैः (सत्वरजस्तमोभिः) मुक्तम् (रहितम्) स्यात् (भवेत्) तत्, पृथिव्याम् (संसारे) वा (अथवा) दिवि (स्वर्गलोके) देवेषु (सुरेषु) वा, पुनः, न अस्ति ॥ ४० ॥

पदार्थः— (पुनः) फिर (यत्) जो (सत्वम्) प्राणी (प्रकृतिजैः) प्रकृतिजन्य (एभिः) इन (त्रिभिः) तीनों (गुणैः) गुणोंसे (मुक्तम्) रहित (स्यात्) होवे (तत्) ऐसा कोई भी जीव (पृथिव्याम्) इस पृथ्वीपर (वा) वा

(दिवि) स्वर्गमें (वा) अथवा (देवेषु) देवताओंमें (न) नहीं (अस्ति) विद्यमान है ॥ ४० ॥

भावार्थः— त्रिगुणातीत परमपुनीत अच्युतानन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र प्रकृतिके गुणोंका विस्तार दिखलातेहुए कहते हैं, कि **[न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः । सत्वम्]** पृथिवीपर मनुष्य, पशु, पक्षी, कीटादि चौरासीलक्ष योनियोंमें अथवा स्वर्गमें निवास करनेवाले देवताओंमें कोई प्राणी ऐसा नहीं है जो **[प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः]** प्रकृतिके सत, रज और तम इन तीनों गुणोंसे रहित हो अर्थात् सत्यलोक, तपलोक, महर्लोक, जनलोक, स्वर्लोक, भुवर्लोक, भूलोक तथा अतल, वितल, सुतल, धरातलादि नीचेके सातों लोकोंमें ब्रह्मासे लेकर पिपीलिका पर्यन्त कोई प्राणी ऐसा नहीं है जो इन तीनों गुणोंसे रहित हो ।

कहनेका तात्पर्य यह है, कि प्राणीमात्रमें इन तीनों गुणोंका प्रवेश है पर किसीमें सत्वगुण, किसीमें रजोगुण और किसीमें तमोगुणकी प्रधानता है ।

प्रत्येक गुणकी यदि सोलह २ कलाएं बनायी जावें तो संभव है, कि किसीमें सत्वगुणकी कला अधिक, रजोगुणकी तिससे कम और तमोगुणकी कला तिससे भी कम होवे पर ऐसा नहीं होसकता, कि किसी प्राणीमें सत्वगुण ही सोलह कलासे निवास करता हो और अन्य गुणोंका समावेश रत्तीमात्र भी न हो । इसलिये किसीको भी इन तीनों गुणोंसे रहित नहीं कहसकते ॥ ४० ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें इनहीं तीनों गुणोंसे उत्पन्न चारों वर्णोंके कर्मोंकी विभिन्नता दिखलाते हैं—

मू०— ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ! ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

पदच्छेदः— [हे] **परन्तप** ! (बाह्याभ्यन्तरशत्रुतापन अर्जुन !) **ब्राह्मणक्षत्रियविशाम्** (ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानाम्) **च** (पुनः) **शूद्राणाम्** (सेवाधर्मपराणां चतुर्थवर्णानाम्) **कर्माणि**, **स्वभावप्रभवैः** (सात्विकादिस्वभावः प्रादुर्भवति येभ्यस्तैः । पूर्वजन्मसंस्कारात् प्रादुर्भूतैः) **गुणैः** (सत्त्वादिभिः) **प्रविभक्तानि** (परस्परविलक्षणानि) ॥ ४१ ॥

पदार्थः— (परन्तप !) हे शत्रुतापन अर्जुन ! (ब्राह्मणक्षत्रियविशाम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य (च) और (शूद्राणाम्) शूद्रोंके (कर्माणि) कर्म (स्वभावप्रभवैः) अपने-अपने स्वभावसे अर्थात् पूर्वजन्मार्जित संस्कार द्वारा उत्पन्न (गुणैः) गुणोंसे (प्रविभक्तानि) पृथक्-पृथक् विभक्त कियेगये हैं ॥ ४१ ॥

भावार्थः— अब कलिमलविध्वंसकारी सर्वसन्तापहारी गोकुलविहारी भगवान श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति पूर्वजन्मार्जित स्वभावसे उत्पन्न गुणोंके अनुसार चारों वर्णोंके कर्मोंकी विभिन्नता अर्थात चारों गुणोंका विभाग करतेहुए यों कहते हैं, कि [**ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ! कर्माणि**] हे बाह्य और आभ्यन्तर शत्रुओंका नाश करनेवाला अर्जुन ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य

और शूद्र इन चारोंके जो कर्म हैं वे [**प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः**] उनके स्वभावसे उत्पन्न गुणोंके अनुसार विभक्त कियेगये हैं। इनका वर्णन अ० ४ श्लो० १३ में होचुका है। परअब इस स्थानमें भी पाठकोंके बोधार्थ संक्षिप्तरूपसे इनका वर्णन करदियाजाता है।

ये जो चार वर्ण कथन कियेगये इनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों द्विज कहलाते हैं इन तीनोंको वेद पढनेका तथा विविध प्रकारके यज्ञोंके सम्पादन करनेका अधिकार दियागया है। प्रमाण-- '**अधीयीरंस्त्रयोवर्णाः स्वकर्मस्था द्विजातयः** ' (मनु) अर्थात् अपने-अपने कर्ममें स्थित जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य द्विजाति कहलाते हैं वे वेदोंको पढें। इससे यह सिद्ध होता है, कि तीन ही वर्णोंको वेद पढनेका अधिकार है शूद्रको नहीं उनको तो केवल ब्राह्मणोंके द्वारा वेदकी आज्ञा सुनकर तदनुसार चलनेका अधिकार है।

वर्त्तमान कालमें बहुतेरे धर्मावलम्बी यों कहा करते हैं, कि वेद सब वर्णोंकेलिये है कोई वर्ण इसके अध्ययनसे रोका नहीं गया है तहां अपना पक्ष सिद्ध करनेकेलिये वेदहीका वचन प्रमाणमें देते हैं वह वचन यह है— " **ॐ यथेमां वाचं कल्याणी मा वदानि जनेभ्यः । ब्रह्मराजन्याभ्याᳫं शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च ॥** " (शु० य० अ० २६ मं० २)

अर्थ-- मैं जो यह कल्याणमय वचन कहता हूं वह सबोंकेलिये कहता हूं अर्थात् ब्राह्मणकेलिये, क्षत्रियके वैश्यकेलिये और शूद्रकेलिये अपने लिये तथा परायेके लिये। यहां अन्यधर्मावलम्बी 'शूद्राय' पदको देखकर यों अर्थ करते हैं, कि यह वेद शूद्रोंके पढनेकेलिये भी है पर

यदि उनसे पूछा जावे, कि पढनेकेलिये तुम किस शब्दका अर्थ लगाते हो तो चुप होजाते हैं। यदि वेदका प्रयोजन यहां पढनेसे होता तो अवश्य '**पठनाय**' वा '**अध्ययनाय**' पदका प्रयोग कियाजाता पर इस मंत्रमें कोई पद ऐसा नहीं है, कि जिससे ऐसा अर्थ निकाला जावे, कि वेद शूद्रोंके पढनेकेलिये है वरु ऐसा कहना चाहिये, कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अपने, पराये, पौल्कस, अन्त्यज, म्लेच्छ इत्यादि सबोंके कल्याणकेलिये है पढनेकेलिये नहीं। इसीलिये यहां '**वाचम्**' शब्दके विशेषणमें '**कल्याणी**' शब्दका प्रयोग किया गया है और ऐसा करना योग्य है। क्योंकि जिस कार्य्यकेलिये जो वचन होता है उसी प्रकारका विशेषण उसके साथ लगाया करते हैं और अनुमानसे यह सिद्ध करलेते हैं, कि यह वचन इस कार्यकेलिये है जैसे बिछावन सोनेकेलिये, अन्न भोजनकेलिये, पानी पीनेकेलिये, अश्व इत्यादि चढनेकेलिये और शस्त्र लडनेकेलिये इत्यादि। तात्पर्य यह है, कि वस्तु वस्तुके बोलने ही से यह अनुमान होजाता है, कि यह वस्तु अमुक कार्यके लिये है इसीलिये इस मंत्रमें '**वाचं कल्याणी मा वदानि**' कहने हीसे यह अनुमान होता है, कि यह सुननेके लिये है यदि पढनेके लिये प्रयोजन होता तो '**इमम् वेदम्**' ऐसा प्रयोग रहता। इससे सिद्ध होता है, कि वेद शूद्रों वरु शूद्रोंसे भी नीच प्राणियोंके कल्याणकेलिये है पढनेकेलिये नहीं।

दूसरी बात यह है, कि पूर्वजन्मार्जित संस्कारके अनुसार ही मनुष्योंके अन्तःकरणकी बनावट होती है अर्थात् जिसने पूर्वजन्ममें सत्वगुणका अभ्यास किया है, जिसकी बुद्धि, धृति इत्यादि सात्विक

होचुकी हैं वह सत्वगुणकी प्रधानताके कारण ब्रह्मत्वका लक्षण लियेहुए उत्पन्न होगा अर्थात् " **सात्विकस्य सत्वप्रधानस्य ब्राह्मणस्य शमोदमस्तप इत्यादीनि कर्माणि** " सत्वगुणकी प्रधानतासे सात्विक स्वभाववाले ब्राह्मणोंके कर्म केवल शम, दम, तितीक्षादि बनाये गये हैं। इसी प्रकार " **सत्वोपसर्जनरजःप्रधानस्य क्षत्रियस्य शौर्य तेजप्रभृतीनि कर्माणि** " सत्वगुणकी अप्रधानता और रजोगुणकी प्रधानतासे क्षत्रियका स्वाभाविक कर्म शौर्य और तेज इत्यादि द्वारा युद्धादिका सम्पादन करना और अपने तेजसे प्रजाको वशीभूत रखना इत्यादि क्षात्र-धर्म है। इसी प्रकार "**तमउप-सर्जनरजःप्रधानस्य वैश्यस्य कृष्यादीनि कर्माणि** " तमोगुणकी अप्रधानता और रजकी प्रधानतासे वैश्यके कृषि, गोरक्षा, वाणिज्यादि स्वाभाविक कर्म हैं। "**रज उपसर्जनतमःप्रधानस्य शूद्रस्य शुश्रूषैव** " रजोगुणकी अप्रधानता और तमोगुणकी प्रधानतासे शूद्रोंके स्वाभाविक कर्म शेष तीन वर्णोंकी सेवा करना ही है।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि इन चारोंमें ये चारों प्रकारके कर्म स्वभावसिद्ध होंगे। जैसे व्याघ्रमें उछलकर जीवोंको मारडालना, बानर में एक डालीसे दूसरी डालीपरे कूदजाना, कुत्तोंका अंधेरी रात में किसीको भी देखकर भोंकना, अश्वमें मार्गोंपर दौड़जाना, मछली में जलका तैरजाना, पक्षियोंमें आकाशपरे आरोहण करजाना इत्यादि स्वभावसिद्ध कर्म हैं। इसी प्रकार ब्राह्मणोंमें ब्रह्मविद्याकी ओर, क्षत्रियोंमें युद्धकी ओर, वैश्योंमें वाणिज्यकी ओर तथा शूद्रोंमें नाना प्रकारकी सेवाओंकी ओर झुकना स्वभावसिद्ध कर्म है।

यदि कोई शूद्र वेदोंको पढकर गलेमें यज्ञोपवीत रखकर ब्राह्मण बनजावे तो बनजावे पर ब्रह्मनिष्ठ तीन कालमें नहीं होसकता। श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ होना केवल ब्राह्मणोंके ही मस्तिष्कका कार्य है। पर यहां यह बात तो मानने योग्य है, कि शूद्र भी अपने सेवाकर्ममें निष्ठा रखकर द्विजोंकी सेवा करे तो उन्नति करते-करते किसी न किसी जन्ममें वह ब्राह्मण होसकता है। जैसे दासीपुत्र नारद ब्रह्मर्षियोंका जूठन खाते-खाते ब्रह्मपुत्र बनगये। अथवा नीचे वर्णका कोई पुरुष पूर्णप्रकार तप करे तो ब्रह्मत्वको पासकता है। जैसे विश्वामित्र राजर्षिसे ब्रह्मर्षि कहलाये पर ऐसा नहीं होसकता है, कि चट गलेमें सूत डाला और पट ब्राह्मण बनगये। इसीलिये भगवान इस श्लोकमें कहते हैं, कि "**कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः**" इन चारों वर्णोंके कर्म उनके पूर्वजन्मार्जित संस्कारजन्य स्वभावसे उत्पन्न गुणोंके अनुसार विलग विलग करदिये गये हैं।

कैसे करदियेगये हैं? सो आपस्तम्बसूत्रद्वारा यहां दिखलादिया जाता है—"**चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रास्तेषां पूर्वपूर्वो जन्मतः श्रेयान् स्वकर्म ब्राह्मणस्याऽध्ययनमध्यापनं यज्ञो याजनं दानं प्रतिग्रहणम्। एतान्येव क्षत्रियस्याध्यापनयाजनप्रतिग्रहणानीति-परिहार्य युद्धदण्डाधिकानि। क्षत्रियवद्वैश्यस्य दण्डयुद्धवर्जं कृषि-गोरक्षवाणिज्याधिकम्। परिचर्य्या शूद्रस्येतरेषां वर्णानामिति**"

अर्थ— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जो चार वर्ण हैं इनमें जन्मकी अपेक्षा पूर्वसे पूर्व श्रेष्ठ हैं अर्थात् शूद्रसे वैश्य, वैश्यसे क्षत्रिय और क्षत्रियसे ब्राह्मण जाति करके श्रेष्ठ होता है। तहां अध्ययन

(वेदपढना) अध्यापन (पढाना) यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान-देना और दान लेना ये छवों कर्म ब्राह्मणके हैं । क्षत्रियोंकेलिये पढाना, यज्ञ कराना, दानलेना इन तीन कर्मोंको छोड केवल अध्ययन, यजन और दानके साथ युद्ध और दण्ड अधिक हैं अर्थात वेद पढना, यज्ञ करना, दान देना, युद्ध करना और दण्ड देना ये पांच कर्म क्षत्रियोंके हैं और वैश्योंकेलिये क्षत्रियोंके समान वेद पढना, यज्ञ करना, और दान देना इन तीन कर्मोंके साथ कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य ये तीन कर्म अधिक हैं अर्थात् अध्ययन, यजन, दान, कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य ये छै कर्म वैश्योंके हैं और शूद्रोंकेलिये इन तीनों वर्णोंकी सेवा करना मुख्यधर्म है ।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि उक्तप्रकार चारों वर्णोंके कर्म उनके स्वभावजनित गुणोंके अनुसार विभक्त कियेहुए हैं ।

शंका— ब्रह्मण और शूद्रमें वह कौनसा विशेष भेद है, कि ब्राह्मण वेद पढने और यजन, याजनादि करनेका अधिकारी है और दूसरा नहीं है । देखनेमें जातित्व करके दोनोंके नेत्र, नांक, कान, हाथ, पांव, रुधिर, चर्म, मांस एक ही रंगके होते हैं फिर शूद्र वेद पढनेसे क्यों रोकाजाता है । क्या पढानेसे शूद्रको वेद पढना नहीं आवेगा । इन दिनों तो प्रत्यक्ष देखाजाता है, कि बहुतेरे इतर जातिके जन भी वेद पढते हैं और समझते हैं ।

समाधान— यद्यपि दोनों शरीरकी अपेक्षा एक समान देख-पडते हैं पर वेदका उच्चारण उदात्त, अनुदात्त और स्वरितके साथ जिस प्रकार ब्राह्मणके मुखसे मधुरताको लियेहुए सुन पडेगा ऐसे शूद्रके मुखसे कदापि उच्चारण नहीं होसकता । जैसे कोयल और

काकके बच्चे एक समान एक ही रंग-रूपके होते हैं पर बोलनेके समय जो मधुरता कोयलके कंठमें है वह काकके कंठमें नहीं होसकती।

फिर देखो ! काबुली दाडिम और तुम्हारे हिन्दुस्तानकी छोटी-मोटी वाटिकाके दाडिमफल एकही रूपके होते हैं पर उनके भीतर कितना अन्तर है ? बिदानाको मुखमें दो और सबको निगल जाओ एक भी बीजका पता नहीं मिलेगा और हिन्दुस्तानी दाडिमका दाना मुखमें दो तो सब बीज ही बीज देख पडेंगे। फिर देखो बम्बई आम और बिज्जू आम दोनों एक ही हैं पर उन दोनोंके भीतर कितना अन्तर है ? देखनेमें तो दोनों एकही रूपके हैं पर एकके भीतर मीठापन और दूसरेके भीतर खट्टापन इस प्रकार व्याप रहा है, कि तुम खट्टे आमको कभी मीठा नहीं करसकते और मीठे बम्बई आमको खट्टा नहीं करसकते। इसी प्रकार द्विजोंमें और शूद्रोंमें अन्तःकरणका भेद जानो। जिन ब्रह्मवेत्ताओंने ब्रह्मत्व प्राप्त किया था उनके अन्तःकरणका बिम्ब उनकी सन्तानमें उतरता हुआ चला आरहा है जो गोत्रके नामसे प्रसिद्ध है। यह तीन कालमें भी सम्भव नहीं है, कि तुम शूद्रके अन्तःकरणको ब्राह्मणका अन्तःकरण बना सको इसीको संस्कारप्रभव गुण कहते हैं जो जातित्वका भेद दिखला रहा है। पाठशालामें एकही समय समान काल पर्यन्त एक ब्राह्मण और एक शूद्रको वेद पढाइये तो उच्चारण करते समय आपको प्रत्यक्ष होजावेगा, कि यह ब्राह्मण है, यह शूद्र है। इसी प्रकार वेदोंके अर्थ समझनेमें भी दोनोंका भेद जानना चाहिये। अर्थात जो अर्थकी गंभीरता ब्राह्मणकी समझमें आवेगी वह शूद्रमें नहीं। जैसे बेली, चमेली, गुलाब, मोगरा मदनवान, रायबेल

इत्यादि पुष्पोंकी गंध मनुष्यकी नासिकाको आनन्द दायिनी होगी ऐसे पशुओंकी नासिकाको नहीं। यदि यह कहो, कि बहुतेरे ब्राह्मण न तो वेद पढते हैं और न संध्या इत्यादि कर्म करते हैं फिर उनको ब्राह्मण क्यों कहते हो ? तो उत्तर यह है, कि शास्त्रोंकी आज्ञानुसार तो ऐसे ब्राह्मणको जातिसे बाहर करदेनेकी आज्ञा है। यथा मनुः— " नानुतिष्ठति यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् । स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः " अर्थात् जो प्रातः सायं संध्या नहीं करता ऐसे ब्राह्मणको सर्वद्विजकर्मोंसे निकालदेना चाहिये। यदि कोई शूद्र इस प्रकारका निकल पडे, कि वह श्रोत्रिय भी हो और ब्रह्मनिष्ठ भी हो तो जानना चाहिये, कि इसमें कोई विशेष कारण है। जैसे कबीर तन्तुवाय (जुलाहा) वाल्मीक व्याधा और वाल्मीक श्वपच इत्यादि जो ब्रह्मनिष्ठ होगये इनमें कबीर और वाल्मीक व्याधा तो जन्मसे ही ब्राह्मण थे संयोगवशात् बचपनमें ही जुलाहा और व्याधाके हाथ लगगये थे। और वाल्मीक श्वपच जिनके चरणोंको महाराज युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें कृष्णचन्द्रने अपने हाथोंसे पखारा था और जिनके भोजन करनेसे ही पांचजन्यशंख बोल उठा था सो सात जन्मों के ब्राह्मण थे। तनक चूकके कारण थोडे दिनोंकेलिये श्वपचके शरीरमें आगये थे। कहनेका तात्पर्य यह है, कि जहां शूद्रमें ब्रह्मत्व देखो वहां कोई विशेष कारण समझो और जहां ब्राह्मणमें शूद्रत्व देखो उसको ब्राह्मण-जातिसे बाहर करदो पर तीन कालमें भी ऐसा नहीं होसकता, कि शूद्रके गलेमें यज्ञोपवीत डालदेवें और वह ब्राह्मण बनजावे।

इन दिनों बहुतेरे अन्यमतावलम्बी प्रतिदिन सहस्रों शूद्रोंके गलेमें यज्ञोपवीत डाल-डालकर ब्राह्मण बनालेते हैं पर उनमें ब्राह्मणत्वकी गन्धमात्र भी नहीं है। हां! यदि इनमें भी कोई कबीर वा बाल्मीकके समान तपस्वी वा योगी होजावे तो जाति करके तो ब्राह्मण नहीं कहेंगे पर ब्रह्मविद् अवश्य कहेंगे। क्योंकि जातित्वमें तो वशिष्ठ, कश्यप इत्यादि बडे-बडे महर्षियोंका रुधिर चला आरहा है इसलिये उसमें ब्रह्मज्ञान वा ब्राह्मणत्वका कोई अंग पाया जावे वा न पायाजावे पर जातित्व करके वह ब्राह्मण कहाजाता है। संसृति-व्यवहारमें तो इन चारों जातियोंकी विभिन्नता स्वभावसिद्ध है और स्वभावसे ही ये चारों जाति पहचाने जाते हैं।

जैसे कर्णने परशुरामके पास जाकर अपनेको ब्राह्मण कह धनुर्विद्या प्राप्त की थी पर अन्तमें उसे परशुरामने पहचानली, कि यह क्षत्रिय है, क्योंकि एक समय बनमें जाकर परशुराम कर्णके जंघे पर सोगये थे उस समय बडे २ चींटोंने कर्णके जंघेको खा-खाकर रुधिर बहादिया पर कर्णने परशुरामकी निद्रा टूटजानेके भयसे अपना जंघा नहीं उठाया वरु उन चींटोंका डंक सहता रहा। जगनेपर जब यह दशा परशुरामने देखी तो बाण लेकर खडे होगये और कहा— सच२ बता, कि तू कौन है ? तू ब्राह्मण नहीं है क्षत्रिय है। यदि सत्य नहीं कहेगा तो इसी बाणसे तुझे धराशायी करदूंगा फिर कर्णने कहदिया, कि भगवन् ! मैं क्षत्रिय हूं ब्राह्मण नहीं हूं। इससे सिद्ध होता है, कि जाति स्वभावसे ही पहचानी जाती है और इन चारोंमें भेद अवश्य है। शंका मत करो !

यह विभिन्नता भगवान्ने स्मार्त्तमतसे दिखलायी है पर भागवत् धर्ममें कोई जाति क्यों न हो भगवत्शरण आनेसे भगवत्स्वरूपमें अपने अन्तःकरणको प्रेमपूर्वक लय कर भगवत्स्वरूपको प्राप्त होसकता है उसकेलिये जातिका भेद नहीं है। नारदने अपने भक्तिसूत्रमें कहा है, कि " न तत्र जातिकुलभेदाः " ॥ ४१ ॥

यहां इस श्लोकके व्याख्यानमें तो इन चारों वर्णोंके सामान्य व्यावहारिक अर्थात् लौकिक कर्म दिखलाये गये अब भगवान् अगले तीन श्लोकोंमें इनके शेष पारलौकिक कर्म दिखलाते हैं—

मू०— शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥
॥ ४२ ॥

पदच्छेद:— शमः (अन्तःकरणविनिग्रहः) दमः (श्रोत्रादिबाह्येन्द्रियाणां दमनम्) तपः (मौनकृच्छ्रचान्द्रायणादि विविधकायक्लेशः) शौचम् (बाह्यं मृज्जलाभ्यां देहसंस्कारमाभ्यन्तरमन्तःकरणशुद्धिः) क्षान्तिः (क्षमाशीलता । सहिष्णुता) आर्जवम् (कौटिल्यदोषशून्यत्वम् । कोमलत्वम्) एव, च (पुनः) ज्ञानम् (षडंगसहितवेदार्थावगाहिनी अन्तःकरणवृत्तिः। आत्मबोधः) विज्ञानम् (कर्मकाण्डे यज्ञादिक्रियाकौशलं ज्ञानकाण्डे ब्रह्मात्मैक्यबोधो वा) आस्तिक्यम् (वेदोक्तेषु कर्मसु विश्वासः । ब्रह्मास्तित्वे निश्चयात्मिका निष्ठा । परलोकोऽस्तीति बुद्धिः) स्वभावजम् (स्वाभाविकम् । प्राकृतिकम्) ब्रह्मकर्म (ब्राह्मणस्यकर्म) ॥ ४२ ॥

पदार्थः— (**शमः**) चित्तशान्ति (**दमः**) इन्द्रिय-निग्रह (**तपः**) तपस्या (**शौचम्**) वाह्याभ्यन्तरशुद्धि (**क्षान्तिः**) क्षमाशीलता (**आर्जवम्**) सरलता (**एव च**) तथा (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**विज्ञानम्**) विज्ञान (**आस्तिक्यम्**) और आस्तिक्य (**स्वभावजम्**) स्वभावसे ही सिद्ध (**ब्रह्मकर्म**) ब्राह्मणोंके कर्म हैं ॥ ४२ ॥

भावार्थः— सर्वगुणागारे सकलसुषमासार भगवान् श्री कृष्णचन्द्र ब्राह्मणोंके विशेष कर्मोंका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च**] शम, दम, तप, शौच, शान्ति और आर्जवके साथ [**ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्**] ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य ब्राह्मणोंके स्वभावसे ही सिद्ध कर्म हैं।

यहां जो भगवानने कर्म शब्द एक वचनमें रखा है उसे बहु-वचन करके अर्थ करना चाहिये। आर्ष-ग्रन्थोंमें और वेदोंमें इस-प्रकारका शिष्टाचार है, कि कभी-कभी एक वचनके स्थानपर बहुवचन और बहुवचनके स्थानपर एक वचनका प्रयोग कियाकरते हैं।

इसलिये आजकलके विद्वान इसे अशुद्ध वा प्रमाद न समझेंगे। इस श्लोकमें शम, दम आदि जो नव अंग कथन कियेगये हैं उनका वर्णन अ० ३ श्लो० १०, १८ अ० ४ श्लो० ७ अ० ५ श्लो० १७ अ० ६ श्लो० ८ अ० १० श्लो० ४ अ० १३ श्लो० ७ अ० १६ श्लो० ३ अ० १७ श्लो० १३, १४, १५ में होचुका है इसलिये यहां पुनरुक्ति करनेकी आवश्यकता नहीं देखीगयी।

भगवानके कहनेका तात्पर्य यह है, कि जो भाग्यवान् पुरुष अनेक जन्मोंके शुभ कर्मोंके साधनद्वारा द्विजोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण-कुलमें उत्पन्न हुआ है उसे चाहिये, कि शम, दमादि नवों अंगोंके साधनमें अपनी शरीरयात्राकी समाप्ति करे। क्योंकि जब यह अमूल्य रत्न हाथसे गिर जावेगा तो फिर इसका हाथ लगना अत्यन्त कठिन है इसलिये उक्त नवों विशेष कर्मोंमें यदि दो एकका भी साधन पूर्णप्रकार होजावे तो क्या कहना है ?।

जिसने यह शरीर पाकर मद्यपान, वेश्यागमन तथा अन्य दुष्कर्मोंमें अपना अमूल्य समय गँवा दिया उसे अवश्यमेव नीच योनियोंमें गिरना पडेगा। प्रमाण श्रु०— " ॐ कपूयाचरणाभ्यासात् कपूयां योनिमापद्येरन् कूकरयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा "

अर्थ— बुरे आचरणोंके अभ्याससे प्राणी नीच योनियोंमें उत्पन्न होता है अर्थात् कूकर, शूकर वा चाण्डाल योनियोंमें गिरजाता है। फिर जो बुद्धिहीन इतने ऊंचे स्थानपर चढकर नीचे गिरा तो फिर उसका कहां ठिकाना लगसकता है ? क्योंकि न जाने फिर वह इस शरीरको कल्प-कल्पान्त पर्यन्त पावेगा वा नहीं पावेगा।

भगवान श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनके मिससे यह श्लोक केवल ब्राह्मणोंके उद्धार निमित्त कथन कररहे हैं। यदि कोई यह शंका करे, कि विकराल कलिकालमें उक्त नवों कर्मोंका सँभालना कठिन है क्योंकि युग भी अपना प्रबल प्रभाव रखता है तो ऐसा कहना दुर्बल हृदयवालोंका कार्य्य है ब्राह्मणका नहीं। ब्राह्मण तो सदासे ऐसा बलवान होता आया है, कि जिसके सम्मुख कलियुगको कौन कहे सत्ययुग

भी अपना मस्तक झुकाता आता है फिर ब्राह्मणके सम्मुख कलियुग अपना बल क्या दिखलासकता है । ब्राह्मण चाहे तो फूत्कारमें ऐसे-ऐसे सहस्र कलियुगोंको धूलमें मिलादेवे । जिस ब्राह्मणके चरण-चिन्हको स्वयं भगवान् अपने हृदयमें धारण करते हैं उसके सामने कलियुग ऐसा तुच्छ युग क्या करसकता है ।

देखो! एक ब्राह्मणके छोटे बच्चे शृंगीने महाराज परीक्षितको शाप देदिया, कि तू सर्प डसनेसे मृत्युको प्राप्त होगा फिर महाराज परीक्षितने सहस्रों यत्न किये पर शृंगीका शाप न टला ।

देखो! ब्रह्मवैवर्त्त पुराणमें ब्राह्मणोंका महत्व किस प्रकार कथन कियागया है—

" पृथिव्यां यानि तीर्थानि तानि तीर्थानि सागरे ।
सागरे यानि तीर्थानि विप्रपादेषु तानि च ॥
विप्र पादोदकक्लिन्ना यावत्तिष्ठति मेदिनी ।
तावत् पुष्करपात्रेषु पिबन्ति पितरो जलम् ॥
विप्रपादोदकं पुण्यं भक्तियुक्तश्च यः पिबेत् ।
स स्नातः सर्वतीर्थेषु सर्व यज्ञेषु दीक्षितः ॥
महारोगी यदि पिबेत विप्रपादोदकं द्विज ! ।
मुच्यते सर्व्वरोगेभ्यो मासमेकन्तु भक्तितः " ॥

(ब्रह्मवै० अ० ११ श्लो० २६) अर्थ स्पष्ट है ।

अब बुद्धिमान् विचार करेंगे, कि ब्राह्मणके चरणोंमें इतना प्रभाव क्यों उत्पन्न हुआ तो अवश्य कहना पडेगा, कि इस गीताके इस

श्लोकमें जो शम दमादि नव कर्म कहेगये हैं उनके साधन करनेहीसे ऐसा महत्त्व उत्पन्न हुआ। फिर जो विप्र इन कर्मोंसे विहीन रहा तो जानो, कि वह कागदके हस्तीके समान नाममात्र कहाजाता है। संभव है, कि वह इस प्रकार कर्महीन होजानेसे आगे किसी नीच योनिमें जा गिरे। इसलिये ब्राह्मणोंको चाहिये, कि अपने द्विजत्वके कर्ममें प्रवीण रहकर संध्यादि महायज्ञ सम्पादन करते हुए इन नवों कर्मोंका भी अभ्यास करते रहें ॥ ४२ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें क्षत्रियोंका कर्म वर्णन करते हैं—

मू०— शौर्य्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

पदच्छेदः— शौर्य्यम् (शूरता। अतिबलशालिनामपि प्रहरणे प्रवर्त्तनम्) तेजः (दीप्तिः। परैरपराभवत्वप्रागल्भ्यम्। पराक्रमः) धृतिः (घोरविपदासम्पातेऽपि देहेन्द्रियसंघातस्यानुद्वेगः। धैर्य्यम्) दाक्ष्यम् (सद्यः समुद्भूतकार्येषु अव्यामोहेन प्रवर्त्तनम्। चतुरता। कुशलता) च (पुनः) युद्धे (संग्रामे) अपि, अपलायनम् (शस्त्रास्त्रप्रबलप्रहारेऽपि संग्रामान्नापसरणम्) दानम् (गोग्रहसुवर्णान्नादिषु स्वस्वत्वास्थापनपूर्वकविप्रादिस्वत्वोत्पादनम्) च (पुनः) ईश्वरभावः (प्रजापालनार्थं निजभृत्यादि सविधे स्वप्रभुशक्तिसमुद्दीपनम्। नियमनशक्तिः। ऐश्वर्य्यम्।) स्वभावजम् (स्वाभाविकम्।) क्षात्रम् (क्षत्रियजातेः। क्षतात् त्रायते इति क्षत्रम् तस्य इदं क्षात्रम्) कर्म (विहितं कर्म) ॥ ४३ ॥

पदार्थः— (शौर्य्यम) शूरता (तेजः) पराक्रम (धृतिः) धीरता (दाक्ष्यम) चतुरता (च) और (युद्धे) युद्धसे (अपि) भी (अपलायनम्) न भागजाना (दानम) दान (च) और (ईश्वरभावः) प्रजारक्षानिमित्त अपने प्रभुत्वको काममें लाना (स्वभावजम) स्वभावसिद्ध (क्षात्रम) क्षत्रियोंके (कर्म) कर्म हैं ॥ ४३ ॥

भावार्थः— सकलपापतापविमोचन पंकजलोचन यादवेन्द्र भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र क्षत्रियोंका कर्म वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [शौर्य्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्] शूरता, तेज, धृति, चतुरता और युद्धसे नहीं भागना अर्थात् कितना भी शस्त्रोंका प्रहार शरीरपर क्यों न होजावे पर शत्रुके सामने पीठ न दिखलाना, प्राण जाने तक युद्ध करते रहना तथा [दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्] दान और ईश्वरभाव ये सात कर्म क्षत्रियोंके स्वाभाविक हैं।

अब पाठकोंके कल्याण निमित्त इन सातों कर्मोंका स्वरूप विलग-विलगकर दिखलायाजाता है।

१. शौर्य्यम— (शूर+ ष्यञ् शूरस्य भावः । शक्तिः । वीर्यः) अर्थात् पुरुषोंमें जो अपने पुरुषार्थद्वारा कठिनसे कठिन कार्योंके सम्पादन करनेकेलिये परम प्रभुत्व, शक्ति वा वीर्य वर्त्तमान है जिसके द्वारा पुरुष पर्वतसे भी एक टक्कर लेसकता है उसीको शौर्य्य कहते हैं, जिस शक्तिसे रावणने कैलाश पर्वतको उठालिया, जिस शक्तिसे महावीर श्रीहनुमा-

न्जी सौ योजन समुद्रको लांघ गये, जिस शक्तिसे वीरशिरोमणि भीष्म-पितामह छः मास पर्यन्त बाणशय्यापर पडेरहे, जिस शक्तिसे वीर अभिमन्युने चक्रव्यूहमें प्रवेश कर प्राण अर्पण करदिया, जिस शक्तिसे अर्जुनने शिवके साथ युद्ध किया, जिस शक्तिसे वर्तमान कालमें भी (Spenser) स्पेन्सर इत्यादि वीर व्योमयान (Balloon) के द्वारा मीलों आकाशमें ऊपर चढजाते हैं और जिस शक्तिके द्वारा नये २ अविष्कार होते रहते हैं ऐसी शक्तिका नाम शौर्य है जो क्षत्रिय जातियोंमें स्वाभाविक ही पायाजाता है। यह शक्ति किसी अन्य जातिमें पायीजावे तो उसे भी क्षत्रियके समान कहसकते हैं।

क्षत्रियजाति अपने बाहुबलसे ही अर्थात् शौर्यसे ही अपनी आपत्तियोंका नाश करसकता है। प्रमाण—

"क्षत्रियो बाहुवीर्येण तरेदापदमात्मनः। धनेन वैश्यशूद्रौ तु जपहोमैर्द्विजोत्तमः" (मनु० अ० १० श्लो० ३४)

अर्थ— क्षत्रिय अपने बाहुबल अर्थात् शूरवीरतासे, वैश्य तथा शूद्र अपने धनके बलसे और ब्राह्मण जप और होमके बलसे अपनी आपत्तियोंका नाश करडालता है।

२.—— तेजः (तिज+भावे कर्णादौ असुन) दीप्ति, प्रभाव, पराक्रम, देहकान्ति, प्रागल्भ्य और पराभिभवसामर्थ्य को तेज कहते हैं। शौर्य और तेजमें इतना ही अन्तर है, कि शौर्य गुप्त-रूपसे शरीरमें निवास करता है और तेज प्रकटरूपसे निवास करता है। प्राणीके शरीर और मुखको देखकर अनुभव होजाता है, कि यह

तेजस्वी है। अतएव क्षत्रियोंमें शत्रुओंसे नहीं पराभव होनेके निमित्त जो पूर्ण वीरता है उसीका नाम 'तेज' है।

एक तेजस्वी वीर क्षत्रियको देखकर सहस्रों अन्य जाति मस्तक झुका देते हैं। तेजस्वियोंके नेत्रसे नेत्र मिलाकर स्थिर रखना कठिन है। जैसे व्याघ्र जो तेजस्वी है उसके सम्मुख उसकी आंखोंसे आंख मिलाकर स्थिर रखना लाखोंमें किसी एक तेजस्वी वीरका काम है। यह वार्ता जगत्प्रसिद्ध है, कि यदि किसी व्याघ्रके सम्मुख आंखसे आंख मिलाकर थोड़ी देरके लिये स्थिर रहआओ तो वह आघात नहीं करेगा लौटकर चलाजावेगा इसीका नाम तेज है क्षत्रियोंमें यह गुण स्वाभाविक होना चाहिये।

३. धृतिः— इसका वर्णन इसी अध्यायके पिछले श्लोक ३३, ३४ ३५में करदिया गया है इममें राजसी धृति जिसका वर्णन श्लो० ३४ में करआये हैं क्षत्रियोंमें स्वाभाविक होती है।

यदि उनमें सात्विकधृति भी आकर प्रवेश करजावे तो स्वर्णमें सुगन्ध होजावे फिर तो ऐसे क्षत्रियके विषय कहना ही क्या है। जिस समय मुसलमान बादशाह औरंगजेबने यह आज्ञा देदी थी, कि "व एक दस्त मसहफ व एक दस्त सैफ" अर्थात् एक हाथमें कुरान और एक हाथमें तलवार लेकर क्षत्रियोंसे बोले, कि सब कुरान शरीफ लेकर मुसलमान होजावें नहीं तो उनकी गर्दन तलवारसे काटलो। उस समय बहुतेरे वीर क्षत्रियोंने अपनी गर्दन तो देदी पर मुसलमान न हुए। फिर जिस समय चित्तौरगढमें क्षत्रिय और मुसलमानोंसे युद्ध होरहा था उस समय कुछ मुसलमान प्रबल होगये तब मुगलसम्राट्ने यह आज्ञा

देदी, कि जितने क्षत्रिय मारे गये हैं उनकी स्त्रियोंको मुसलमान अपनी स्त्री बनालेवें। यह सुनकर क्षत्रिय जातिकी सहस्रों स्त्रियोंने अग्नि जलाकर अपना२ शरीर भस्म करडाला पर मुसलमानोंके हाथ नहीं आयीं फिर जिस जातिकी स्त्रीमें इतनी धृति है उनके पुरुषका तो कहना ही क्या है ?

४. दाक्ष्यम्— अचानक जो कोई उलझाऊ कार्य सम्मुख उपस्थित होजावे तो बिना किसी प्रकारकी व्याकुलता वा घबराहटके उस कार्यमें लगकर बुद्धिमत्तासे निकाल लेजानेका नाम 'दाक्ष्य' है। जिसे चतुराईके नामसे भी पुकारते हैं।

इस प्रकारकी चतुराई विशेषकर क्षत्रियजातिमें पायी जाती है। इस गुणसे युक्त प्राणी धनी होजाता है। यथा— "**दक्षः श्रियमधिगच्छति पथ्याशी कल्पतां सुखमरोगी**।" अर्थात् जो दक्ष है वह लक्ष्मीको प्राप्त करता है और जो पथ्य भोजन करनेवाला है वह सुखी और नीरोग होता है। फिर कहा है, कि "**दाक्ष्यं सद्यः फलदं यदग्रतः**" दाक्ष्य जो चतुराई है वह अपने आगे आकर सद्य अर्थात् उसी क्षण फलकी देनेवाली होती है।

यह दक्षता बड़ी २ आपत्तियोंसे छुड़ालेती है। जैसे युधिष्ठिर पांचों भाई जो बड़े दक्ष थे लाक्षागृहसे सुरंग खोदकर निकल गये और अपना प्राण बचालिया।

इस गुणसे विभूषित पुरुष बड़े २ संग्रामोंमें विजय पाता है क्योंकि जो दक्ष है वह कभी किसी प्रकारका धोखा नहीं खाता ऐसे वीर और कार्यदक्षके सामने धूर्त्तोंकी कुछ नहीं चलती।

५. युद्धे अपलायनम्— युद्ध करते समय रणभूमिसे नहीं भागना क्षत्रियोंकेलिये अन्य सब कर्मोंसे विशेष और श्रेष्ठ कर्म है, कि शत्रुओंके दलमें पिल पडे तहां यदि घिरजावे तो भागनेका यत्न न करे और प्राण देदेवे ।

६. दानम्— इसका वर्णन अ० १७ श्लो० २० में होचुका है देखलेना। दानी होना क्षत्रियोंका स्वाभाविक कर्म है, हरिश्चन्द्र, कर्ण, दधीचि, रघु और शिविके समान बडे २ दानी इसी जातिमें होगये हैं। जिस हरिश्चन्द्रने स्वप्नके दानको भी दान समझा, जिस कर्णने भारका भार स्वर्ण नित्य दान करनेसे मुख न मोडा, देवासुरसंग्राममें जिस दधीचिने अपने जंघेकी हड्डी निकाल कर देदी और शिविने कबूतरकी ज़ान बचानेकेलिये अपने शरीरका मांस काटकर श्येन (बाज) को देदिया। कहनेका तात्पर्य यह है, कि जिस प्राणीमें दान करनेका गुण नहीं होगा वह परोपकारी भी नहीं होसकता ।

७. ईश्वरभावः— ईश्वरके सदृश भावका होना। जैसे जगत्की रक्षा करनेवाला ईश्वर लोकोंकी रक्षा-निमित्त अवतारोंको लेकर भक्तोंकी रक्षा और दुष्टोंको दण्ड दियाकरता है इसी प्रकार राजाका भी धर्म है, कि अपनी प्रजाकी रक्षा-निमित्त अपने भृत्योंके द्वारा अपने प्रभुत्वको काममें लावे। गो ब्राह्मणकी रक्षा और दुष्टोंको दण्ड दिया करे इसीको 'ईश्वरभाव' कहते हैं।

ये जो शौर्य, तेज इत्यादि नवों कर्म इस श्लोकमें कथन कियेगये वे क्षत्रियोंके स्वाभाविक कर्म हैं। जिस पुरुषमें ये गुण पायेजावें वह अवश्य क्षत्रिय-भूषण समझाजावेगा ॥ ४३ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें वैश्य और शूद्रोंका कर्म वर्णन करते हैं—

मू०— कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥
॥ ४४ ॥

पदच्छेदः— कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यम् (व्रीहियवाद्यन्नोत्पादनार्थं भूमिकर्षणं कृषिः, गोरक्ष्यं गवादिपशुपोषणम्, अन्नपात्रादिपदार्थक्रयविक्रयव्यापारः) **स्वभावजम्** (स्वाभाविकम्) **वैश्यकर्म** (वैश्यजातेः विहितं कर्म) **अपि** (पुनः) **शूद्राय** (शूद्रजातेः) **परिचर्यात्मकम्** (ब्राह्मणादिद्विजसेवनात्मकम्) **स्वभावजम्** (रजोगौणप्रधानतमःस्वभावात् समुत्पन्नम्) **कर्म** (कार्यम्) ॥ ४४ ॥

पदार्थः— (**कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यम्**) कृषि 'खेती करना' पशुपालन और वाणिज्य 'व्यापार' ये सब (**स्वभावजम्**) स्वाभाविक (**वैश्यकर्म**) वैश्यके कर्म हैं (**अपि**) और (**शूद्रस्य**) शूद्रकेलिये (**परिचर्यात्मकम्**) द्विजातिकी सेवा करना (**स्वभावजम्**) स्वाभाविक (**कर्म**) कर्म है ॥ ४४ ॥

भावार्थः— अब नवनीरदवपुधारी ब्रजभूमिचारी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति वैश्य और शूद्रोंके कर्म वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्**] कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य ये वैश्योंके स्वाभाविक कर्म हैं ।

तहां इन तीनोंमें गोरक्षा वैश्योंका प्रधान और श्रेष्ठ धर्म है पर वैश्योंमें यह धर्म अब नाममात्र ही रहगया है। कोई-कोई वैश्य क्षीर पीनेके लिये एक गाय अपने घरमें रखलेते हैं बस ! इतने मात्र को गोरक्षा समझते हैं पर यह तो गोरक्षा नहीं है इसका नाम तो पेटरक्षा रखना चाहिये । गोरक्षा वह है जैसा, कि महाराज दिलीपने करे दिखलायी है । अर्थात् जिसने गौकेलिये व्याघ्रके सम्मुख अपना प्राण समर्पण करदिया । प्रमाण यथा— "**तथेति गामुक्तवते दिलीपः सद्यः प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः । स न्यस्तशस्त्रो हरये स्वदेह-मुपानयत् पिण्डमिवामिषस्य**" (रघुवंशे)

अर्थ— इसी प्रकार ऐसी वाणी कहनेवाले सिंहके लिये उस दिलीपने अपनी देहको मांसके पिंडके समान सिंहके लिये समर्पण करदिया ।

वैश्योंको चाहिये, कि इसी प्रकार गोरक्षाके निमित्त अपना प्राण तक अर्पण कररक्खें । क्योंकि गउओंसे बछडोंकी उत्पत्ति होती है जो वृषभ होकर कृषिके काममें आते हैं।

कृषि शब्दका अर्थ धान, गेहूं, अरहर, चना, मूंग इत्यादि नहीं है वरु ' कृष कर्षणे ' धातुसे ' सर्वधातुभ्य इन ' और ' इगुपधात् कित् उणादिगणके इन दो सूत्रोंको लगानेसे कृषि पद बनता है अर्थात् हलोंका पृथिवीपर कर्षण (चास) करनेका नाम कृषि है । जिससे धान, गेहूं, अलसी, कपास इक्षुदण्ड (गन्ना) इत्यादि भिन्न-भिन्न जातिके अन्न उत्पन्न होतें हैं और इनसे वाणिज्य करनेका अवकाश मिलता है क्योंकि यदि ये अन्न न हों तो मनुष्यों

के भोजन, वस्त्र, गुड, शक्कर, चीनी, मिश्री, तेल इत्यादि नित्य व्यव-हारके पदार्थ उत्पन्न कहांसे हों ? फिर वाणिज्य किस वस्तुसे किया-जावेगा ? अर्थात गोरक्षासे वृषभोंकी वृद्धि, तिससे कृषि द्वारा नाना प्रकारके अन्न, तिन अन्नोंसे वाणिज्य, तिस वाणिज्यसे धनकी वृद्धि, तिस धनसे सकाम वा निष्काम यज्ञोंका सम्पादन तिससे अन्तः-करणकी शुद्धि, तिस अन्तःकरणकी शुद्धिसे आत्मज्ञान और तिससे कैवल्यपरमपद प्राप्ति होती है। इसी कारण वैश्योंको यदि कैवल्य परमपदके प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो गोरक्षा-धर्मका अवश्य पालन करें।

इसी कारण भगवानने इस श्लोकमें वैश्योंकेलिये कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य संसारसे उद्धार होनेके तीन ही कर्म बताये।

अब भगवान कहते हैं, कि [**परिचर्यात्मकं कर्म शूद्र-स्यापि स्वभावजम्**] शूद्रोंका स्वाभाविक कर्म परिचर्यात्मक है अर्थात जिन कर्मोंसे सेवा प्रकट हो उन कर्मोंका सम्पादन करना शूद्रोंका विशेष कर्म है। जैसे कूप खोदकर जल निकालना, घर बनाना, छप्पर छाना, कपडे बुनना, तेल पेरना, कपडे धोना, शरीरकी रक्षानिमित्त भिन्न २ प्रकारके कपडोंका सीना, गाडी हांकना, द्विजोंकी शुश्रूषा करना इत्यादि शूद्रोंके स्वाभाविक कर्म हैं।

शंका— शूद्रोंने ऐसा कौनसा अपराध किया है ? जिससे उनको सेवाहीका कार्य सौंपदियागया और यजन-याजन, विद्याध्ययन, पंच महायज्ञ इत्यादि कर्मोंसे विमुख रहगये इस प्रकार विमुख रक्खे जानेसे संसारसे उद्धार होना कठिन है। फिर ऐसा पक्षपात क्यों ? कि

द्विजाति तो यजन, याजन, अध्ययन अध्यापन, पूजन, भजन इत्यादि करके उद्धार पावें और शूद्र विमुख रहजावें।

समाधान— शूद्र तो अपनी सेवा शुश्रूषाद्वारा द्विजातियोंको यजन, याजन इत्यादिका अवकाश देकर उद्धार करानेवाले हैं फिर आप उनका उद्धार क्यों नहीं होगा ? अवश्य होगा। देखो! शरीर-यात्राका निर्वाह अन्न-वस्त्रके बिना नहीं होसकता। फिर यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीनों अन्न-वस्त्रके तैयार करनेमें अपना समय लगा-देवेंगे तो उनको यजन, याजनका समय ही नहीं मिलेगा। जिस समय वर्णोंका विभाग हुआ था उसी समय इन चारोंने परस्पर एकसंमति होकर अपनी रुचिसे भिन्न २ संसृतिकार्योंका सम्पादन अपने ऊपर स्वीकार करलिया जिस कारण एक दूसरेको परमात्मतत्त्वतक पहुंचनेका अवकाश मिलसके। यदि शूद्रोंकी सहायता द्विजोंको न मिले और वे अपनी शरीरयात्रा निमित्त अन्नके कूटने काटने तथा वस्त्रोंके धोनेधानेमें लगजावें तो यजन, याजनका अवकाश न मिलेगा। यदि शूद्रोंके द्वारा कोई मंदिर तयार न हो या मूर्ति न बनावें तो पूजा किसकी कीजावेगी ? यदि शूद्र नौका न खेवें तो आप गंगापार जाकर विश्वनाथकी पूजा कैसे करेंगे ? यदि शूद्र जंगलोंसे जलावन न काट लावें अथवा गाय बैलके गोबरको एकत्र कर उपले न बनावें तो आप अन्न तयार करके मूर्त्तिको भोग कैसे लगावेंगे ? यदि शूद्र लकडीका सिंहासन न बनावें तो आप अपनी मूर्त्ति किस स्थानपर पधरावेंगे ? तीर्थराज प्रयागमें त्रिवेणी स्नान करनेकी आज्ञा है तहां यदि नाई (हज्जाम) न हो तो आप अंगोंका मुण्डन किससे करायेंगे ?

सच तो यह है, कि शूद्र द्विजोंके सहायक हैं। वेद वाक्यमें जो यह लिखा हुआ है, "पद्भ्याꣳ शूद्रोऽजायत" इसका यही तात्पर्य है, कि यदि प्राणीको पैर न हो तो मुख बाहु और जंघे एक स्थानसे दूसरे स्थानको कैसे चलें ? इसलिये यह सिद्ध होता है, कि जैसे 'पद्' सम्पूर्ण शरीरको एक स्थानसे दूसरे स्थान तक पहुंचानेकेलिये सहायक हैं इसी प्रकार शूद्र भी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंकी शरीर-यात्राकी पूर्त्ति करवाकर इस लोकसे परलोक तक पहुंचा देनेकेलिये सहायक हैं।

तात्पर्य यह है, कि शूद्रोंके द्वारा द्विजातियोंको ब्रह्मकर्म सम्पादनमें जो सहायता मिलती है उस सहायताके बदले इन द्विजातियोंके ब्रह्मकर्मका एक अंश आपसे आप शूद्रोंको मिलजाता है। जैसे किसी ग्लाससे आप एक गागर भरिये तो जलका कुछ न कुछ अंश उस ग्लासको अवश्य मिलता है अथवा यदि किसी छोटे बर्तनमें घृत वा दूध रखकर बडे-बडे भांडोंको भरिये तो उन छोटे २ पात्रोंमें भी घृत और तैलका अंश अवश्य लिपट जाता है इसी प्रकार द्विजोंकी सेवा शुश्रूषाद्वारा सहायता करनेसे शूद्रोंको भी मोक्षका एक अंश अवश्य प्राप्त होता है। एवम्प्रकार थोडा-थोडा अंश प्राप्त करते-करते अनेक जन्मोंके पश्चात् शूद्र भी परमपदको लाभ कर-जाता है।

मनुष्योंमें इन चार विभागोंके होनेसे संसारके सब व्यवहार सुभीतेके साथ सम्पादन होते हैं और इन चारों वर्णोंमें एकके पीछे दूसरा

चलता हुआ परलोकमें पहुँच नाना प्रकारका सुख प्राप्त करता है। इसलिये शूद्रोंके उद्धारमें भी किसी प्रकारका सन्देह नहीं रहा।

शंका— क्या शूद्र न होते तो द्विजाति अपना काम अपने आप नहीं करसकते थे ?

समाधान— बहुतेरे कार्य ऐसे हैं, कि शूद्रोंको तो कौन पूछे शूद्रोंमें जो अन्त्यज हैं वे यदि अपनी जातिका कार्य छोडदेवें तो बहुत बडा विघ्न उत्पन्न होजावे। जैसे भंगी यदि मलका उठाना छोडदेवे तो (Municipality) के चेअरमैन साहबके शिरपर बडी भारी आपत्ति आजावे सारा शहर गंदा होजावे और प्रत्येक प्राणीको अपना-अपना मल अपने हाथसे उठाकर कोसों दूर फेंकनेमें बहुत काल लगजावे फिर सन्ध्या, गायत्री जप करनेकेलिये तो समय ही नहीं रहे। इसी कारण मनुष्योंने वर्णविभाग करते समय अपनी रुचि अनुसार सर्वप्रकारके कर्मोंको स्वीकारकर लिया जिसे वे अपना वर्णाश्रमधर्म समझकर आनन्दपूर्वक सम्पादन करते हैं। न उनको कोई ग्लानि होती है और न किसी प्रकारकी लज्जा आती है। क्योंकि परम्परासे उनके बापदादा इस कार्यको करते चलेआये हैं। अब यदि आप किसी दूसरे वर्णको कहिये, कि मेरा मल उठालेजा तो कदापि नहीं उठावेगा एवं जिस प्राणीने ब्रह्मवेत्ताके मलका उठाना अपने शिरपर स्वीकार करलिया अर्थात ऐसी नीचसे नीच सेवाद्वारा नगर निवासियोंको सुख देना अंगीकार करलिया तो उसके स्वर्ग जानेमें क्या सन्देह है ?

प्रिय नवशिक्षितो ! वर्णाश्रमके तोडनेका यत्न मत करो ! ऐसा करनेसे समय-समयपर हाथ मलकर पछताना पडेगा क्योंकि अपने-अपने कुटुम्ब बन्धु बान्धवकी सहायतामें परस्पर रत रहने ही से भगवत्की प्रसन्नता होती है ॥ ४४ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें इस विषयको दिखलानेकी प्रतिज्ञा करते हैं ।

मू०— स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥
॥ ४५ ॥

पदच्छेदः— नरः (मनुष्यः) स्वे (निजे) स्वे (निजे) कर्मणि (श्रुतिस्मृतीतिहासेषु स्वस्ववर्णाश्रमानुसारेण प्रतिपादितकर्मणि) अभिरतः (तत्परः) संसिद्धिम् (देहेन्द्रियसंघाताशुद्धिद्वायात सम्यग् ज्ञानोत्पत्तियोग्यताम) लभते (प्राप्नोति) स्वकर्मनिरतः (स्ववर्णाश्रमानुकूलकर्मणि स्थितः) यथा (येन प्रकारेण) सिद्धिम् (नैष्कर्म्यसिद्धिम् । परमात्मप्राप्तिरूपां मुक्तिम्) विन्दति (लभते) तत् (सिद्धिप्रकारम) शृणु (मनःसमाधायाकर्णय) ॥ ४५ ॥

पदार्थः— (नरः) मनुष्य (स्वे) अपने (स्वे) अपने (कर्मणि) कर्ममें (अभिरतः) आसक्त होकर (संसिद्धिम्) सिद्धिको (लभते) पाता है (स्वकर्मनिरतः) और अपने कर्ममें आसक्त पुरुष (यथा) जैसे (सिद्धिम्) सिद्धिको (विन्दति) लाभ करता है (तत्) सो (शृणु) सुन ॥ ४५ ॥

भावार्थः— सर्वशक्तिसम्पन्न वाञ्छातिरिक्तप्रद भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति चारों वर्णोंके विषय यों कहते हैं, कि [स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः] यह पुरुष अपने-अपने वर्णाश्रमके कर्ममें मन, वचन और कर्मसे लगाहुआ सिद्धि को प्राप्त होता है । अर्थात् जो ब्राह्मण है वह अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान, प्रतिग्रह, शम, दम, तप, शौच, क्षान्ति, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान, आस्तिक्य इत्यादि जिन कर्मोंका वर्णन करतेआरहे हैं तिन कर्मोंमें रत रहनेसे सिद्धिको प्राप्त होता है अर्थात् मोक्षको प्राप्त करताहुआ भगवत्में जा मिलता है ।

जो क्षत्रिय है वह अध्ययन, यजन, दान, युद्ध, दण्ड, शौर्य, तेज, धृति, दाक्ष्य, युद्धसे न हटना, ईश्वरभाव इत्यादि अपने कर्ममें जिन कर्मोंका वर्णन करते चलेआरहे हैं तिनमें रत रहनेसे संसार-बन्धनसे मोक्षको पाजाता है ।

जो वैश्य है वह अध्ययन, यजन, दान, कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य इत्यादि अपने कर्ममें रत रहनेसे भगवद्भक्ति लाभ करता है ।

फिर जो शूद्र है वह विविध प्रकारकी परिचर्या अर्थात् अपने ऊप-रवाले वर्णोंकी सेवा शुश्रूषा करताहुआ संसृतिबन्धनसे छूटजाता है ।

इतना सुन अर्जुनके हृदयमें यह शंका उत्पन्न हुई, कि पहले तो भगवान इस गीतामें ठौर-ठौरपर कर्मोंको बन्धनका कारण बता आये हैं और अब उन्हीं कर्मोंको मोक्षप्राप्तिका कारण बताते हैं ऐसा विरोध क्यों ? अन्तर्यामी भगवान अर्जुनके हृदयकी शंका जानगये और उसके निवारणार्थ यों बोले, कि [स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति

तच्छृणु] अपने २ कर्ममें लगेरहनेसे प्राणी जिस प्रकार सिद्धि लाभ करता है सो सुन ! कर्मके विषय बार२ कहा जाचुका है, कि सकाम-कर्म बन्धनके कारण होते हैं, निष्कामकर्म बन्धनके कारण नहीं होते वरु निष्काम कर्मोंसे अन्तःकरणकी शुद्धि लाभ होकर प्राणियोंको मोक्ष-पदकी प्राप्ति होती है । इसीलिये जो प्राणी अपने कर्मोंको भगवत्में अर्पण करडालता है उसीको सिद्धि होती है ॥ ४५ ॥

इसी विषयको भगवान अगले श्लोकमें भी वर्णन करते हैं—

मू०— यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥

पदच्छेदः— यतः (यस्मादानंदघनात्) भूतानाम (प्राणिनाम् । सर्वेषां चराचरजीवानाम) प्रवृत्तिः (उत्पत्तिः । उद्भवः) येन (सर्वज्ञेनेश्वरेण) सर्वम् (सकलम्) इदम् (जगत) ततम् (व्याप्तम) तम (परब्रह्मपरमात्मानम) स्वकर्मणा (पूर्वोक्तेन वर्णानुकूलकर्मणा) अभ्यर्च्य (सन्तर्प्य । प्रीणयित्वा) मानवः (मनुष्यः) सिद्धिम् (कर्मणः निष्पत्तिम । ज्ञाननिष्ठायोग्यतालक्षणां मुक्तिम) विन्दति (लभते) ॥ ४६ ॥

पदार्थः— (यतः) जिस आनन्दघन परेमात्मासे (भूतानाम्) सभी चराचर जीवोंकी (प्रवृत्तिः) उत्पत्ति होती है (येन) और जिससे (सर्वम) सारा (इदम्) यह जगत (ततम्) व्याप्त है (तम) उस परम प्रभुको (स्वकर्मणा) अपने कर्मसे (अभ्यर्च्य) प्रसन्न कर (मानवः) मनुष्य (सिद्धिम) सिद्धि (विन्दति) लाभ करता है ॥ ४६ ॥

भावार्थः— अब आनन्दसागर त्रिभुवनउजागर नटनागर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति चारों वर्णोंके कर्मोंकी सिद्धिका उपाय अर्थात कर्मबन्धनसे छूटजानेका मुख्य उपाय वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्**] जहांसे इन भूतोंकी उत्पत्ति होती है और जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है अर्थात् वह आनन्दघन सच्चिदानन्द परब्रह्म जगदीश्वर जिसके द्वारा ब्रह्मलोकसे लेकर पाताल पर्यन्तकी उत्पत्ति होती है और जिस करके यह सारा जगत इस प्रकार व्याप रहा है जैसे दूधमें घृत, तिलमें तेल, पुष्पमें गंध, जलमें शीतलता, अग्निमें उष्णता, रूपवानोंमें सुन्दरता और कमलमें कोमलता व्याप रही है। सो भगवानने अपने मुखारविन्दसे श्रुतियोंमें भी कहा है— " **ॐ मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्। मयि सर्वं लयं याति तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम् ॥ अणोरणीयानहमेव तद्वन्महानहं विश्वमिदं विचित्रम। पुरातनोऽहं पुरुषोऽहमीशो हिरण्मयोऽहं शिवरूपमस्मि** " (कैवल्योप० श्रु० १९, २०)

अर्थ— मुझहीसे यह संपूर्ण ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ है और मुझहीमें यह सब प्रतिष्ठित है अर्थात मेरेही द्वारा ये सब रचा पारहे हैं फिर अन्तकाल में भी सब मुझहीमें लय होजाते हैं सो अद्वैतब्रह्म मैं ही हूं, मैं ही अणुसे अणु अर्थात छोटेसे छोटा होकर व्याप रहा हूं अर्थात् छोटीमे छोटी पिपीलिकामें भी मैं ही हूं और बडेसे बडा विराट्रूप भी मैं ही हूं यह विचित्रता मुझमें ही है फिर मैं पुरातन अर्थात आदिपुरुष हूं, मैं ही (ईश) विष्णु (हिरण्मय) ब्रह्मा और (शिव) शंकर हूं।

कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि वही सच्चिदानन्द, फूलोंमें खिलखिला कर हँसरहा है, बुलबुलोंमें चहक रहा है, तन में, मनमें, घरमें, आंगनमें, शरीरके रोम-रोममें राजरहा है। देवमें, दनुजमें, मनुजमें, नागमें, कोयलमें, कीरमें, कपोतमें, बालमें, वृद्धमें, पुरुषमें, नारीमें, भूपमें, प्रजामें, नदीमें, नदमें, सागरमें, वृद्दामें, सुमेरु-गिरिके शृंगमें, अम्भोज औ भृंगमें, घनघमण्डमें, मारुत प्रचण्डमें, खड्ग औ दण्डमें, सूर्य्य औ चन्द्रमें, वरुण औ इन्द्रमें, कीट और पतंगमें, व्याघ्र और कुरंगमें अश्व और मतंगमें, पीत हरित रंगमें, प्रेमकी उमंगमें, यमुन और गंगमें, बुद्बुद औ तरंगमें, तबले मृदंगमें और वेला-मोरचंगमें एक रस व्यापरहा है।

ऐसे भगवान्को [**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः**] चारों वर्ण अपने-अपने कर्मोंसे अभ्यर्चना अर्थात सन्तृप्त करके सिद्धिको प्राप्त होजाते हैं अर्थात अपने सब कर्मोंको भगवत्में अर्पण करके और उन ही की स्तुति पूजा करके भगवद्भक्ति लाभ करते हैं।

देखो! रविदास चर्मकारने अपने जातिधर्मानुसार जूता बनाते-बनाते भगवत्को प्राप्त करलिया, धन्ना हज्जामने राजाका पांव दबाते दबाते भगवत्को लाभ करलिया, शबरी (भीलनी) ने जंगलकी लकड़ी काट-काट और पत्ते ढो-ढो साधुओंकी सेवा करते-करते रघुकुलमणि श्रीरामचन्द्रजीका दर्शनलाभ किया और स्वर्गको चलीगयी। प्रमाण— "तामुवाच ततो रामः शबरीं संशितव्रताम्। अर्चितोऽहं यथा

भद्रे ! गच्छ कामं यथासुखम् ॥ इत्येवमुक्ता जटिला चीर-कृष्णाजिनाम्बरा। अनुज्ञाता तु रामेण हुत्वात्मानं हुताशने॥ ज्वल-त्पावकसंकाशा स्वर्गमेव जगामह । दिव्याभरणसंयुक्ता दिव्य-माल्यानुलेपना " (वाल्मीकीय० अरण्य० श्लो० ३१, ३२, ३३)

अर्थ— रघुकुलनन्दन श्रीरघुनाथजीने तिस दृढव्रता शवरीको यों कहा, कि हे भद्रे ! मैं तुम्हारी सेवासे प्रसन्न हुआ अब तू सुख-सहित स्वर्गको चली जा। इतना सुनकर जटा, चीर, कृष्णमृग-चर्म धारण करनेवाली शवरीने अपनेको अग्निमें हवन करदिया और प्रज्वलित अग्निके समान स्वर्गको चलीगयी। स्वर्ग जाते समय उसके आभरण माला चन्दनादि पदार्थ सब दिव्य होगये।

फिरे निषाद जो जातिका मल्लाह था अपने जातिधर्म नौकाको खेवते-खेवते भगवान्के चरणोंको धो गंगापार उतार आप संसारसे पार होगया।

इन प्रमाणोंसे सिद्ध होता है, कि शूद्र भी यदि अपनी कर्म-परिचर्यामें रत हो तो वह भी स्वर्ग लाभ करता है।

इस श्लोकमें भगवान्के कहनेका मुख्य तात्पर्य यही है, कि जो कोई प्राणी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन निषाद और शवरीके समान अपने जातीय कर्ममें रत रहकर उनकर्मोंसे उस सच्चिदानन्द महद्ब्रह्म आनन्दघन जगदीश्वरकी अर्चना करेगा तो वह अवश्य परम सिद्धिको अर्थात् भगवत्को प्राप्त करेगा इसीलिये भगवान्ने इस श्लोकमें " तमभ्यर्च्य " वाक्यका प्रयोग किया है ॥ ४६ ॥

अब भगवान अगले श्लोकमें यह दिखलाते हैं, कि अपने-अपने वर्णोंका कर्म अपनेको सुखदायी है क्योंकि शूद्रका भी जो अपना जातिकर्म है वह उसके लिये द्विजातियोंके कर्मसे श्रेष्ठ है—

मू०— श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥
॥ ४७ ॥

पदच्छेदः— स्वनुष्ठितात् (मन्त्रदेवादिसर्वांगसम्पूर्णतापूर्वकं सम्यगाचरितात) परधर्मात (अन्यस्य कर्मणः) विगुणः (असम्यगनुष्ठितः । स्वल्पगुणः । सदोषः) स्वधर्मः (स्वस्य धर्मः । निजजातिविहितधर्मः) श्रेयान (प्रशस्यतरः) स्वभावनियतम (पूर्वोक्तसात्विकादित्रिविधस्वभावाज्जातम) कर्म, कुर्वन् (अनुतिष्ठन्) किल्विषम (पापम । क्लेशम । दुःखम) न (नैव) आप्नोति (प्राप्नोति) ॥ ४७ ॥

पदार्थः— (स्वनुष्ठितात्) सम्यक् अर्थात विधिपूर्वक आचरण कियेहुए (परधर्मात्) परायेके धर्मसे (विगुणः) दोष सहित भी (स्वधर्मः) अपनी जातिका धर्म (श्रेयान) श्रेष्ठ है (स्वभावनियतम्) क्योंकि स्वभावसिद्ध (कर्म) कर्मका आचरण (कुर्वन) करता हुआ पुरुष (किल्विषम्) पाप वा क्लेशको (न) नहीं (आप्नोति) प्राप्त करता है ॥ ४७ ॥

भावार्थः— वृन्दारकवृन्दवन्दितचरण सकलमंगलकरण अशरणशरण भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अपनी-अपनी जातिके धर्मकी

श्रेष्ठता दिखलातेहुए कहते हैं, कि [**श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्**] पराये के धर्मको सम्यक् प्रकार से अर्थात् सुश्रद्धा और सुविधिके साथ सम्पादन करनेकी अपेक्षा दोष सहित विधि रहित भी अपना जाति धर्म श्रेष्ठ है। अर्थात् शूद्र वैश्यका, वैश्य क्षत्रियका और क्षत्रिय ब्राह्मणका कर्म कितना भी विधिके साथ वेदमन्त्रोंके जप, देवताओंके आवाहन, विसर्जन तथा धूप, दीप, नैवेद्य इत्यादि परिग्रहोंके साथ क्यों न सम्पादन करे पर ऐसा करनेसे उसे कुछ भी लाभ नहीं होसकता क्योंकि वह भयावह है। अर्थात् परिणाममें दुःखदायी है और इससे प्रतिकूल अपनी जातिका धर्म चाहे नीचसे नीच भी क्यों न हो सर्वप्रकारकी वैदिकविधिसे रहित भी क्यों न हो, श्रेष्ठ है और परिणाममें सुखदायी है। जिसके विषय भगवान् अ० ३ श्लोक ३५ में कहआये हैं, कि "**स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः**" पराये धर्मकी अपेक्षा अपना धर्म करते-करते मरजाना श्रेष्ठ है क्योंकि परधर्म भयदायक होता है।

जैसे महाकारीका कीट रसालके फलमें और रसालका कीट महाकारीमें जा निवास करे तो दोनोंकी जान अवश्य चली जावेगी। क्योंकि एकका स्वभाव विषमें निवास करनेका है और दूसरेका अमृतमें। यद्यपि दोनों जातिके कीट ही हैं पर दोनोंके स्वभावमें विशाल अन्तर है इसलिये उनको अपने स्वभावसे विरुद्ध कार्यमें प्रवेश करनेसे प्राण जानेका भय है। इसी प्रकार ब्राह्मण आदि चारों वर्ण जातिके तो मनुष्य ही हैं पर स्वभावकरके चारोंके कर्मोंमें विभिन्नता है।

यदि एक नीचजातिवाला अपनी जातिकी मण्डली छोड ऊपरकी श्रेष्ठ जातिकी मण्डलीमें जा बैठे और तदनुसार कर्म भी करने लगजावे तो थोडे दिनकेलिये निर्वाह हो तो हो पर अन्तमें दरवाजेकी चोट भारी होजावेगी और दुःख सहना पडेगा।

इस विषयपर सर्वसाधारणके बोध निमित्त एक हास्यरसोत्पादक दृष्टान्त दियाजाता है। एक जातिके मुसलमान भाई जिनका नाम हजरत कुली था उन्होंने सुन लिया, कि ब्राह्मणोंको ब्राह्मणभोजनमें विविध प्रकारके स्वादु मिष्टान्नादि दियेजाते हैं। फिर क्या था उन्होंने विचार किया, कि चलो! मैं भी ब्राह्मण बनकर भोजन करआऊं। फिर मियांजी ब्राह्मणोंके समान लम्बी धोती, गलेमें यज्ञोपवीत, कक्षामें गीताकी पोथी, मस्तकमें त्रिपुण्ड्र धारण कर ब्राह्मणोंकी मण्डलीमें आबैठे और जैसे २ ब्राह्मणोंने यज्ञकुण्डमें घृतादिका हवन किया वैसे ही उन्होंने भी घृत उठाकर आगमें डालदिया। जैसे ब्राह्मणोंने अपने पैर धोये वैसे आपने भी धोये फिर ब्राह्मणोंके संग आसनपर जाबैठे भोजन करानेवाले वा भोजन करनेवालोंको इस बातका क्या पता था, कि यह कौन है? इसलिये आपने स्थिरतापूर्वक भोजन करना आरंभ किया जब भोजनके पदार्थ मांगनेकी आवश्यकता हुई तो आपने फरमाया, कि "धोती बबीं पोथी बबीं दर गले जुन्नार। हजरत कुली नाम मनम् पूरियां बयार" अर्थात् मेरी धोती देखो, पोथी देखो, यज्ञोपवीत देखो और मेरा नाम हजरत कुली है पूरियां लेआओ! अब क्या था उनकी ये भाषा सुनकर सबोंने जान लिया कि यह मुसलमान है बस इतना जानते ही सबके सब उठखडेहुए

किसीने तो गलेमें अंगुली डालकर वमन किया, बहुतेरोंने गोबर-बालू निगलकर अपनेको शुद्ध किया फिर तो घरवालोंने इनको घसीटकर दरवाजेपर लेजाकर मुक्कोंसे, चपेटोंसे और डंडोंसे पूरी खबर ली। जब आप वहांसे भागे और अपनी मंडलीमें आये तो मुसलमानोंने कहा, कहिये आपने भोजन तो इच्छापूर्वक किया होगा? "पूरी, मलाई, मेवा, मिठाईसे काफी आसूदगी हुई होगी?" आपने उत्तर दिया हां भाई! हिन्दुआ सब खिलाता तो खूब है पर दरवाजेकी चोट बडी भारी है।

मुख्य तात्पर्य इस दृष्टान्तसे यह है, कि अपने धर्मसे परायेका धर्म परिणाममें भयावह होता है।

इसीलिये भगवान् कहते हैं, कि [**स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्**] स्वभावसे नियत जो अपनी जातिका कर्म है उसके सम्पादन करनेसे कोई प्राणी किल्बिषको नहीं प्राप्तहोसकता। अर्थात् जन्मसे जो जिस जाति, कुल वा वंशमें उत्पन्न हुआ है और परंपरासे अर्थात् बाप-दादाके समयसे जिस कर्मका अभ्यास करता चला-आया है उसके मस्तिष्ककी बनावट उसी प्रकारकी होगी। "**आत्मा वै जायते पुत्रः**" इस वचनके अनुसार पुत्रका मस्तिष्क ठीक-ठीक उसी प्रकार होगा जैसा उसके बाप-दादाका मस्तिष्क था वरु यहां तक देखा-जाताहै और अच्छे विद्वान वैद्य और डाक्टरोंने यह सिद्धान्त निकाला है, कि बहुतसी बीमारियां भी बाप-दादाके कारणसे अर्थात् परम्परासे मनुष्योंके शरीरमें बनती चली आती हैं। इससे इस बातकी पूरी उपपत्ति मिलजाती है, कि परम्परासे जिसकी शारीरिक और मानसिक बनावट जैसी चलीआरही है वैसी ही बनती चलीजावेगी।

इसी शरीर तथा मनसे कर्मोंका भी सम्बन्ध है इसलिये जो जिस जातिमें उत्पन्न हुआ है वह परम्परा अभ्यासके कारण अपने स्वाभाविक कर्मके करनेसे किसी प्रकारके पाप, क्लेश वा दुःखको नहीं प्राप्त होगा। इसी कारण भगवानने इस श्लोकमें " कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् " वाक्यका प्रयोग किया है।

इस श्लोकद्वारा भगवान् अर्जुनके हृदयमें यह भी दृढ निश्चय कराहे हैं, कि युद्धकर्ममें यद्यपि नाना प्रकारकी हिंसाओंका संयोग सम्मुख आकर उपस्थित होता है इसीके प्रतिकूल ब्राह्मण वा सन्न्यासियोंको भिक्षा मांगकर अपना पालन पोषण करनेमें हिंसाका कहीं लेशमात्र भी नहीं पाया जाता। अर्थात् यद्यपि युद्ध हिंसायुक्त कर्म है और भिक्षाकर्म अदोष है तथापि क्षत्रियोंकेलिये तो युद्धकर्म ही श्रेष्ठ है। अतएव भीख मांगकर खानेकी अपेक्षा युद्धमें जूझकर मरजाना ही क्षत्रियोंके लिये श्रेयस्कर है। क्योंकि युद्धमें शरीर त्याग करदेनेसे वीर क्षत्रिय स्वर्ग लाभ करता है इसलिये हे अर्जुन! अपने स्वभावसिद्ध जातिकर्म युद्धका सम्पादन कर! परायेके धर्म और भिक्षादिकी ओर ध्यान मत दे! तेरा सर्वप्रकार कल्याण ही होगा, लोक वा परलोक दोनोंमें लाभ उठावेगा क्योंकि मैं तुझसे पहले ही कह आया हूं, कि " हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् " (अ० २ श्लो ३७) अर्थात् मारेजानेसे स्वर्गसुख और युद्ध-विजय करलेनेसे राज्यसुख लाभ करेगा ॥ ४७ ॥

इसी विषयका प्रतिपादन भगवान् अगले श्लोकमें करते हैं—

मू०— सहजं कर्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥ ४८॥

पदच्छेदः— कौन्तेय! (हे कुन्तीसुतार्जुन !) सहजम् स्वाभाविकम् । प्रागुक्तस्वभावजन्यम । स्ववर्णाश्रमानुरूपम्) सदोषम् (शास्त्रविहितहिंसादिदोषयुक्तम्) अपि, कर्म (ज्योतिष्टोमयुद्धादिकर्म) न (नैव) त्यजेत (परिहरेत । जह्यात) हि (यतः) सर्वारम्भाः (सर्वे च ते आरंभाः सर्वारम्भाः । सर्वकर्माणि) धूमेन (अग्निशिखया) अग्निः (अनलः) इव, दोषेण (त्रिगुणात्मकतया सामान्येन) आवृताः (व्याप्ताः) ॥ ४८ ॥

पदार्थः— (कौन्तेय!) हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! (सहजम्) स्वाभाविक (सदोषम्) दोषयुक्त (अपि) भी (कर्म) कर्म (न) नहीं (त्यजेत) त्याग करे (हि) क्योंकि (सर्वारम्भाः) सब कर्मोंका आरंभ (दोषेण) दोषरूप (धूमेन) धूमसे (अग्निः) आगके (इव) सदृश (आवृताः) युक्त है ॥ ४८ ॥

भावार्थः— पतितपावन भक्तमनभावन सकलपापविद्रावण भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति अपने दोषयुक्त धर्मको भी नहीं त्यागनेके तात्पर्यसे दृष्टान्त देतेहुए कहते हैं, कि [सहजं कर्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत] हे कुन्तीकापुत्र अर्जुन ! अपनी जातिका स्वाभाविक कर्म जो अपने शरीरके साथ-साथ

उत्पन्न हुआ है वह यदि दोषयुक्त भी हो तो भी त्यागने योग्य नहीं है। क्योंकि उसके त्यागदेनेसे शारीरिक आत्मिक, लौकिक और पारलौकिक सर्व प्रकारकी हानिकी उत्पत्तिका अवकाश मिलता है और मनुष्य चंचल-चित्त होकर " इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः " होजाता है उसके सब संसृति-व्यवहार रुकजाते हैं। इसलिये परलोक तो कोसों दूर रहे इस लोकमें भी सुखपूर्वक समय नहीं व्यतीत करसकता। इसीके विषय अग्निका दृष्टान्त देकर भगवान् कहते हैं, कि [**सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः**] जैसे अग्नि बलनेसे पहले धूमसे युक्त होती है ऐसे सर्वकर्मोंका 'आरंभ' दोषसे युक्त है। अर्थात् पाक इत्यादि बनानेके समय जब प्राणी जलावनमें अग्निका संस्कार करना चाहता है तो पहले पहल उसको धूम ही मिलता है अर्थात अग्निके बाल-नेसे पहले धुँआ धक्कडसे आंखोंको फोडना पडता है आंच जलाने-वालेको तो वर्षाकालमें लकडियोंके संग एक प्रकारका युद्ध ही करना पडता है। यद्यपि अग्नि बालनेसे पहले धूमका दुःख सहना होता है पर जब आंच प्रज्वलित होजाती है तब उससे विविध प्रकारके मिष्टान्न, पक्वान्न तयारकर भगवानको भी भोग लगाता है और उनका उच्छिष्ट आप भी भोजन करता है जिससे शारीरिक-पुष्टि बनीरहती है। इन्द्रियां अपने-अपने कार्य्योंमें सुखपूर्वक लगी रहती हैं। यदि प्राणी धूमके दुःखको न सहकर ईंधन न जलावे तो भूखा रेहना पडेगा, सब इन्द्रियां निर्बल होजावेंगी, बिछावनसे उठा भी न जावेगा। फिर स्नान, पूजन इत्यादि सम्पादन करनेकी शक्ति उसमें कुछ भी न रहेगी। न तो किसी प्रकारका यज्ञ ही करसकेगा और न युद्ध ही सम्पादन

करसकेगा। न वाणिज्यका साधन करसकेगा और न किसी प्रकारकी परिचर्या करसकेगा। इसीप्रकार स्वाभाविक कर्म आरंभमें दोषयुक्त भी हो तो भी अग्निके समान परित्याग करने योग्य नहीं है। संसारमें मूर्ख भी धूमसे क्लेश पाकर अग्निका परित्याग नहीं करते क्योंकि अग्नि बिना न तो पाक तयार होसकते हैं, न घरमें दीपक जलसकता है और न शीतकालमें शीत निवारण होसकता है। इसलिये अपना जातीयकर्म जो सहज और सुखदायी हो, लोक-परलोकको सुधारताहुआ भगवच्चरणारविन्द तक पहुंचादेनेवाला है उसे त्याग न करे। यह बात प्रसिद्ध है, कि कोई भी प्राणी अपने काणे पुत्रको छोडकर दूसरेके सुन्दर पुत्रको प्यार नहीं करसकता। इसी प्रकार अपना-अपना धर्म समझना चाहिये।

किसी-किसी टीकाकारने तो यों भी अर्थ किया है, कि संसारमें जितने कर्म हैं सबका आरंभ अग्निके धूमवत् दुःखदायी है यह अर्थ भी कुछ कालकेलिये मानने योग्य है। क्योंकि भगवान् स्वयं अपने मुखसे ही कहआये हैं, कि "गहना कर्मणो गतिः" (अ० ४ श्लो० १७) अर्थात कर्मकी गति दुर्विज्ञेय है। कर्म, अकर्म और विकर्मका जानना दुस्तर है इसलिये सब कर्मोंके आरंभको धूमके समान क्लेशकर कहना अनुचित नहीं है ॥ ४८ ॥

अब भगवान अगले श्लोकमें यह दिखलाते हैं, कि चारों वर्ण किस प्रकार अपने२ कर्मका साधन करतेहुए कर्मकी निष्पत्त्यवस्था अर्थात् नैष्कर्म्यसिद्धिको प्राप्त होसकते हैं ?

मु०— असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति ॥
॥ ४९ ॥

पदच्छेदः— [हे अर्जुन !] सर्वत्र (आसक्तिकारणेषु कामिनीकाञ्चनगृहादिष्वपि) असक्तबुद्धिः (असक्ता संगवर्जिता बुद्धिर्यस्य सः । सर्वैते पदार्था अहमेतेषां वेत्येवंविधाभिष्वंगरहिता बुद्धिर्यस्य सः) जितात्मा (जितं अन्तःकरणं येन सः । शान्तमानसः) विगतस्पृहः (विनष्टा स्पृहा यस्य सः । देहधारणकारणेषु अन्नपानादिभोगेष्वपीच्छारहितः) परमाम् (श्रेष्ठाम् । उत्तमाम) सन्न्यासेन (कर्मफलत्यागेन) नैष्कर्म्यसिद्धिम् (सर्वकर्मनिवृत्तिलक्षणां सत्वशुद्धिम् । ब्रह्मपदस्य सिद्धिम्) अधिगच्छति (प्राप्नोति) ॥ ४९ ॥

पदार्थः— (सर्वत्र) सब विषयोंमें (असक्तबुद्धिः) अनासक्त (जितात्मा) शान्तमानस और (विगतस्पृहः) इच्छारहित पुरुष (परमाम्) अत्युत्तम (सन्न्यासेन) सर्वकर्मफलत्यागसे (नैष्कर्म्यसिद्धिम्) नैष्कर्म्यसिद्धिको (अधिगच्छति) प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

भावार्थः— सर्वसुखसार जगदाधार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र कर्मकी निष्कर्मावस्था अर्थात् नैष्कर्म्यसिद्धिका उपाय बताते हुए कहते हैं, कि [असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः] जो प्राणी सर्वप्रकारके विषयोंसे आसक्तिरहित है अर्थात् किसी भी विषय में आसक्त नहीं होता, फिर जितात्मा है अर्थात् अपने अन्तःकरणको

सर्वप्रकारके प्रलोभनोंसे जीते हुए है और विगतस्पृह अर्थात किसी प्रकारकी लौकिक पारलौकिक सुखोंकी इच्छा नहीं करता वही नैष्कर्म्यसिद्धिका अधिकारी है।

यहां जो भगवानने असक्तबुद्धि पदका प्रयोग किया है उसके विषय श्रुति भी कहती है, कि— " ॐ अथ यद्वत्र कश्चिच्छून्यागारे कामिन्यः प्रविष्टः स्पृशतीन्द्रियार्थांस्तद्वद्यो न स्पृशति प्रविष्टान् स संन्यासी योगी चात्मयाजी चेति। "

(मैत्र्युप० श्रु० १०)

अर्थ— जैसे किसी शून्य गृहमें आयी हुई कामिनीके इन्द्रियार्थोंको जो प्राणी स्पर्श नहीं करता है उसी प्रकार जो विद्वान संयोगवशात् आयेहुए किसी कामोपभोगके पदार्थोंका स्पर्श नहीं करता है वही संन्यासी, योगी तथा आत्मयाजी है।

अर्थात् जो प्राणी किसी शून्य महलमें प्रवेश कीहुई शृंगारयुक्त सुन्दर कामिनीके भिन्न २ अंगोंको स्पर्श नहीं करता है वरु अर्जुनके समान एकान्तमें आयीहुयी उर्वशी ऐसी अप्सराका भी तिरस्कार करदेता है ऐसेको असक्तबुद्धि अर्थात् संन्यासी, योगी, आत्मयाजी और जितात्मा भी कहसक्ते हैं। क्योंकि बहुत पुरुषोंकी मंडलीमें तो व्यभिचारी और अजितात्मा भी ब्रह्मचारी और जितात्मा बनजाता है पर एकान्तस्थानमें अपने वशमें आयी हुई कामिनीको जो न स्पर्श करे वरु आंख उठाकर भी उसकी ओर न देखे वही यथार्थ असक्तबुद्धि और जितात्मा है।

अब भगवान् कहते हैं, कि ऐसा असक्तबुद्धि और जितात्मा निस्पृह भी हो तो क्या कहना है ? अर्थात् इस लोकसे परलोक तकके सुखोंको कूकरके उवान्तके समान जानता हुआ किसी प्रकारके सुखका संकल्पमात्र भी जिसके हृदयमें न उठे, चक्रवर्त्तीका राज्य भी उसके सम्मुख आवे तो आंख उठाकर न देखे। अथवा जो कुछ उसको प्राप्त हो उसकी वृद्धि करनेका यत्न न करे सन्तोषपूर्वक समय बितावे ऐसे उपर्युक्त तीनों गुणोंसे विशिष्ट प्राणी [**नैष्यकर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति**] संन्यास द्वारा अर्थात् काम्य-कर्मोंके परित्याग करदेनेसे **परमा नैष्कर्म्यसिद्धिको** अर्थात् कर्मकी निष्पत्त्यवस्थाको पहुंचजाता है। जिस अवस्थाका वर्णन भगवान् इसी अध्यायके श्लोक १३, १४ में कर आये हैं। अर्थात् जो प्राणी पांचों करणोंके द्वारा कर्मोंका सम्पादन आयुष्पर्यन्त करता चला जावेगा वह किसी न किसी समय संन्यासको लाभ करके कर्मकी निष्पत्त्यवस्थाको इस प्रकार प्राप्त करलेगा, कि फिर उसे इष्ट, अनिष्ट और मिश्र कर्म बांधा नहीं करेंगे।

यहां जो भगवान्ने '**संन्यासेन**' पदका प्रयोग किया है इसका मुख्य तात्पर्य यह है, कि संन्याससे परमा नैष्कर्म्यसिद्धि अर्थात् कैवल्य परमपदको प्राप्त होजावे।

यथा श्रुतिः— "ॐ संन्यासीति च सर्वधर्मान् परित्यज्य निर्ममो निरहंकारो भूत्वा ब्रह्मेष्टं शरणमुपगम्य तत्त्वमसि अहम्ब्रह्मास्मि सर्वं खल्विदम्ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चनेत्यादि महावा-

क्यानुभवज्ञानाद्ब्रह्मैवाहमस्मीतिनिश्चित्य निर्विकल्पसमाधिना स्वतन्त्रो यतिश्चरति स संन्यासी स मुक्तः स पूज्यः स योगी स परमहंसः सोऽवधूतः स ब्राह्मण इति " (निरालम्बोपनिषत्)

अर्थ— फिर संन्यास क्या है ? सो कहते हैं सर्व धर्मोंको परित्याग करके अर्थात् भगवत्में समर्पण करके फलकी ममता और कर्त्तव्यके अहंकारसे रहित हो ब्रह्मकी शरणमें प्राप्त होकर मैं ब्रह्म हूं, तू वही है, ये सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके पदार्थ जो इस जगत्में देखनेमें आते हैं सब ब्रह्मरूप हैं यहां एक ब्रह्मको छोड नाना अर्थात् बहुत कुछ भी नहीं है इन महावाक्योंके अर्थोंका ज्ञान अनुभव करके मैं ब्रह्म हूं। ऐसा निश्चय करके निर्विकल्पसमाधि द्वारा स्वतन्त्र होकर जो यति संसारमें विचरता है वही संन्यासी है, वही मुक्त है, वही पूज्य है, वही योगी है, वही परमहंस है, वही अवधूत है और वही ब्राह्मण है।

इस श्लोकका तात्पर्य यह है, कि जो प्राणी असक्तबुद्धि होगा वह जितात्मा और विगतस्पृह भी अवश्य होगा फिर भगवान् कहते हैं, कि ऐसे प्राणीको परमा नैष्कर्म्यसिद्धि लाभ होनेमें अर्थात् मुक्त होनेमें कुछ भी संदेह नहीं है।

नैष्कर्म्यसिद्धि तो साधारण सन्न्यासीको भी प्राप्त होजासकती है पर परमा अर्थात् परमश्रेष्ठ नैष्कर्म्यसिद्धि तो उसीको होगी जिसका आचरण पूर्व कथन कीहुई श्रुतिके अनुसार होगा ॥ ४९ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें यह बतलानेकी प्रतिज्ञा करते हैं, कि सिद्धिको प्राप्त हुआ मनुष्य किसप्रकार ब्रह्मको प्राप्त होता है ?

मू०— सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५०

पदच्छेदः— कौन्तेय ! (कुन्तीपुत्रार्जुन !) सिद्धिम् (सर्व-कर्मत्यागपर्यन्तां ज्ञानोत्पत्तियोग्यतारूपामन्तःकरणसंशुद्धिम्) प्राप्तः (लब्धः) यथा (येन प्रकारेण) ब्रह्म (ज्ञानमयमन्तर्यामिशुद्ध-स्वरूपं ब्रह्म) आप्नोति (लभते) तथा (तत्प्राप्तिप्रकारम्) मे (मम वाक्यात) समासेन (संक्षेपेण) एव (निश्चयेन) निबोध (जानीहि) या (सिद्धिः । अन्तःकरणशुद्धिः) ज्ञानस्य (श्रवण-मननानुशीलनोत्पन्नस्यात्मज्ञानस्य) परा (परिसमाप्तिरूपा । सर्वोत्कृष्टा) निष्ठा (ज्ञानस्य परा काष्ठा) [अस्ति] ॥ ५० ॥

पदार्थः— (कौन्तेय !) हे अर्जुन ! (सिद्धिम्) निष्काम कर्मसे सिद्धिको (प्राप्तः) प्राप्त हुआ पुरुष (यथा) जिस प्रकार (ब्रह्म) ब्रह्मको (आप्नोति) लाभ करता है (तथा) उस प्रकार (मे) मेरे वचन द्वारा (समासेन) संक्षेपसे (एव) ही (निबोध) जानले (या) जो (ज्ञानस्य) ज्ञानकी (परा) अन्तिम (निष्ठा) निष्ठा ' सीमा ' है ॥ ५० ॥

भावार्थः— अब भवबारिधिमन्दर सबविधिसुन्दर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति यह बताते हैं, कि सिद्धिको प्राप्तहुआ पुरुष किस प्रकार ब्रह्मको प्राप्त होजाता है ? तहां कहते हैं, कि [सिद्धिंप्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे] सिद्धिको प्राप्त हुआ पुरुष जिस प्रकार ब्रह्मको प्राप्त होता है सो तू मेरे द्वारा जानले ।

अब यहां यह विचार करने योग्य है, कि मनुष्य जो किसी प्रकारकी वस्तुको जानता है तो जाननेसे पहले उसके सम्मुख प्रत्यक्ष, अनुमान इत्यादि अनेक प्रमाण उपस्थित होजाते हैं, क्योंकि बिना प्रमाणोंके किसी वस्तुका जानना बन नहीं सकता। और जब तक अपनी इन्द्रियोंद्वारा किसी वस्तुको न देखे, न सुने, न स्पर्श करे और न अनुमान करे तबतक उसका ज्ञान तीन कालमें भी नहीं होसकता। जिस ब्रह्मके विषय भगवान भी बार-बारे इस गीता-शास्त्रमें कहते चले आरहे हैं और श्रुतियां भी यों कहरही हैं, कि—

"ॐ इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥ महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः" (कठो॰ श्रु॰ ११)

अर्थ— इन्द्रियोंसे परे उनके अर्थ हैं अर्थात विषय हैं और तिन अर्थोंसे परे मन है और मनसे परे बुद्धि है और बुद्धिसे आत्मा बहुत परे है और तिस महान आत्मासे परे अव्यक्त है और तिस अव्यक्तसे परे पुरुष है तिस पुरुषसे परे अन्य कुछ नहीं है क्योंकि वही ब्रह्म सीमा है और परा गति है।

उपरोक्त श्रुतियोंने उस परब्रह्मके विषय कुछ विधिमुख वर्णन किया पर दूसरी श्रुतियां तो निषेधमुख वर्णन कररही हैं तहां श्रुतिः—

"ॐ न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति न मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे" (केन॰ श्रु॰ ३)

अर्थ— न वहां आंख जाती है, न वचन जाता है, न मन जाता है, न जानती हूं और न अपने शिष्यके प्रति जनासकती हूं, सब जानीहुई वस्तुओंसे वह न्यारा है और नहीं जानीहुई वस्तुओंसे भी पीछे है अर्थात् न्यारा है ऐसा उन लोगोंसे सुनाजाता है जिन्होंने इसका व्याख्यान किया है।

अब बुद्धिमान् विचार करेंगे, कि जो 'ब्रह्म' मन, बुद्धि और वाणीसे परे है उसे ज्ञाता अपने ज्ञानद्वारा कैसे जानसकता है ? फिर भगवानका ऐसा कहना, कि सिद्धि प्राप्त कियाहुआ मनुष्य जैसे ब्रह्मको जानता है ऐसे हे अर्जुन! तू मुझसे सुन" नहीं बनता क्योंकि जिह्वासे ब्रह्मके स्वरूपका वर्णन करके सुनाना सांगोपांग हो ही नहीं सकता।

इसीलिये भगवान् कहते हैं, कि [**समासेनैव कौन्तेय! निष्ठा ज्ञानस्य या परा**] यह जो ज्ञानकी परानिष्ठा है अर्थात् परिसमाप्ति है सो मैं तुझसे संक्षेपतः कहूंगा। क्योंकि यथार्थमें तो वह अनिर्वचनीय है, अग्राह्य है, अद्वैत है, पर है, शान्त है और मंगलस्वरूप है। जैसे आकाशकी सीमा दशों दिशाओंमें कहीं भी नहीं है पर प्राणी अपने नेत्रसे दृष्टिदोषके कारण आकाशको पृथिवीसे मिलाहुआ जानकर आकाशकी भी सीमा है ऐसा समझता है क्योंकि स्वयं उसकी दृष्टि समाप्त होजाती है पर जो आन्तरिक-दृष्टि अर्थात् विचारसे देखो तो कई करोड योजन पर्यन्त भी आकाशकी सीमा नहीं है।

यहां जो भगवानने "**निष्ठा ज्ञानस्य या परा**" वाक्यका प्रयोग किया है तिसके साथ "**समासेन**" पदका भी उच्चारण किया है

अर्थात् संपूर्णतया नहीं वरु संक्षेपतः यह कहूँगा, कि नैष्कर्म्य सिद्धिको प्राप्त हुआ पुरुष किस प्रकार उस ब्रह्मको प्राप्त करता है? जो ज्ञानकी परा निष्ठा अर्थात् अन्तिम सीमा है।

यहां जो भगवान्ने 'ब्रह्मप्राप्ति' पदका उच्चारण किया तिस का तात्पर्य यह नहीं है, कि जैसे कोई प्राणी हीरा, लाल, पन्ना इत्यादि रत्नोंको कहींसे प्राप्त करता है अथवा मोतीको समुद्रसे डुबकियां मारकर लाता है ऐसे नैष्कर्म्य सिद्धिद्वारा ज्ञानके समुद्रमें गहरी डुबकियां लगाकर ब्रह्मरूप मोतीको प्राप्त करलावे ऐसा नहीं क्योंकि समुद्रमें डूबनेवाला, समुद्र और मोती ये तीनों पदार्थ विलग-विलग रहजाते हैं इसीलिये भगवान्का तात्पर्य्य यह है, कि लवणकी पुतली लवणके समुद्रमें थाह लानेकेलिये डुबादीजावे तो वह जाते-जाते समुद्रमें लय होजाती है यही लय होजाना उस पुतलीकेलिये समुद्रकी प्राप्ति कहीजावेगी। इसी प्रकार नैष्कर्म्यसिद्धि द्वारा ज्ञानी ब्रह्ममें लय होजावेगा। यही उसकी सीमा है और यही उसकी परा गति है ॥ ५०

इसलिये भगवान्ने यहां "निष्ठा ज्ञानस्य या परा" वाक्यका प्रयोग किया है क्योंकि जबतक ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेयकी त्रिपुटी बनी रहेगी तबतक ज्ञानकी परानिष्ठा नहीं कही जासकती। क्योंकि संभव है, कि किसी प्रकारकी उपाधि उत्पन्न होजानेसे ज्ञानीका ज्ञान बहिर्मुख होजावे अन्तर्मुख न रहे। पर जब ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय एक होजावेंगे अर्थात् लवणकी पुतली जब समुद्रमें मिलकर जल होजावेगी पुतली और समुद्रमें कुछ भी अन्तर नहीं रहेगा तब किसी प्रकारका भय नहीं है इसी प्रकार त्रिपुटीके टूटजाने अर्थात ज्ञाताको ज्ञेयमें मिलजानेसे

ब्रह्माकार वृत्ति बनजाती है, जीव और ब्रह्ममें कुछ भेद नहीं रहता उसी दशाको ज्ञानकी परा निष्ठा कहते हैं ।

अब इस प्रकारकी प्राप्ति किसको और कैसे होती है ? सो भगवान् अगले तीन श्लोकोंमें दिखलाते हैं ।

मू०— बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥
अहङ्कारं वलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्म्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
॥ ५१, ५२, ५३ ॥

पदच्छेदः— [हे अर्जुन !] विशुद्धया (सकलसंशयविपर्ययवर्जितया । निर्मलया) बुद्ध्या (अहं ब्रह्मास्मीति वेदान्तवाक्यजन्यब्रह्मात्मैक्यविषयिरया अन्तःकरणवृत्त्या) युक्तः (सदा तत्सहितः) धृत्या (धैर्येण) आत्मानम् (शरीरेन्द्रियसंघातम) नियम्य (शास्त्रनिषिद्धाचारान्निवार्य) च (पुनः) शब्दादीन् (शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् बन्धनहेतून्) विषयान् (विषध्नन्ते इन्द्रियाणि एष्विति विषयास्तान्) त्यक्त्वा (विहाय) च (पुनः) रागद्वेषौ, व्युदस्य (परित्यज्य) विविक्तसेवी (जनसंगशून्यं पवित्रं यद्वनगिरिकन्दरादि तत्सेवितुं शीलः) लघ्वाशी (लघ्वशनशीलः । परिमिताहारी) यतवाक्कायमानसः (यतानि वाक्कायमनांसि

यस्य सः । यमनियमासनादिसाधनसम्पन्नः) **नित्यम्** (सततम्) **ध्यानयोगपरः** (विजातीयवृत्तिव्यवधानशून्यात्माकारसजातीयवृत्तिप्रवाहस्तेन चेतसः सर्ववृत्तिनिवृत्तिकारणं योगस्तस्मिन् तत्परः) **वैराग्यम्** (ऐहिकवत्पारलौकिकविषयेषु वैतृष्ण्यम) **समुपाश्रितः** (सम्यक् स्थितः) **अहंकारम्** (महाकुलप्रसुतोहं महतां शिष्योऽतिविरक्तोहं नास्ति मादृशः कश्चिदित्यभिमानम) **बलम्** (श्रुतिस्मृतिशास्त्राविहितासदाग्रहम् । कामरागसहितं सामर्थ्यम) **दर्पम** (दर्पजन्यधर्मातिक्रमनिदानभूतो मदस्तम) **कामम्** (ऐहिकपारलौकिकविषयलिप्सा) **क्रोधम्,** (कोपम) **परिग्रहम** (शरीरार्थम प्राप्यभोगसाधनम्) **विमुच्य** (विहाय) **निर्ममः** (देहजीवनमात्रेऽपि ममत्वाभिमानशून्यः) **शान्तः** (चित्तविक्षेपरहितः) **ब्रह्मभूयाय** (ज्ञानसाधनपरिपाकक्रमेण ब्रह्मसाक्षात्काराय) **कल्पते** (योग्यो भवति) ॥ ५१, ५२, ५३ ॥

पदार्थः— (**विशुद्धया**) विशुद्ध (**बुद्ध्या**) बुद्धिसे (**युक्तः**) युक्त होकर (**धृत्या**) धैर्यशक्तिसे (**आत्मानम्**) चित्तको (**नियम्य**) रोककर (**च**) तथा (**शब्दादीन्**) शब्दादि (**विषयान्**) विषयोंको (**त्यक्त्वा**) त्याग कर (**च**) और (**रागद्वेषौ**) रागद्वेषको (**व्युदस्य**) छोडकर (**विविक्तसेवी**) एकान्तस्थान गिरिगुहादिमें निवास करने वाला (**लघ्वाशी**) लघु आहार करनेवाला (**यतवाक्कायमानसः**) वाणी, शरीर और चित्तको नियममें रखनेवाला (**नित्यम**) सर्वदा (**ध्यानयोगपरः**) ध्यानयोगमें तत्पर (**वैराग्यम**) वैराग्यको (**समुपाश्रितः**) प्राप्त हुआ (**अहंकारम्**) अहंकार (**बलम**) बल (**दर्पम्**) दर्प (**कामम्**) काम

(क्रोधम) क्रोध (परिग्रहम्) और परिग्रहको भी (.विमुच्य) छोडकर (निर्ममः) शरीरादिसे ममतारहित (शान्तः) शान्त पुरुष (ब्रह्मभूयाय) ब्रह्म साक्षात्कारके लिये (कल्पते) समर्थ होता है ॥ ५१, ५२, ५३ ॥

भावार्थः— अब भगवान् अरुण करुणालोचन भवभयमोचन कृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति यह दिखलाते हैं, कि किन-किन विशिष्टगुणोंसे विभूषित प्राणी ब्रह्मप्राप्तिके योग्य होता है ? तहां कहते हैं, कि [**बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च**] विशुद्धबुद्धिसे जो युक्त होकर सात्विकधृतिसे अपने अन्तःकरणको नियममें कियेहुआ अर्थात् निर्मल कुशाग्र सात्विकबुद्धिद्वारा सात्विकधृतिको धारण कियेहुआ है जिन दोनोंका वर्णन इसी अध्यायके श्लो० ३० और ३३में करआये हैं अर्थात् ऐसी बुद्धि जिससे प्रवृत्ति निवृत्ति, कार्य अकार्य, भय अभय, बन्ध और मोक्षको भलीभांति समझसकते हैं और तिस बुद्धिके साथ ऐसी धृति जिससे मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको योग-बलद्वारा दृढ कररखते हैं । तात्पर्य यह है, कि जो प्राणी एतम्प्रकार सात्विक धृति और बुद्धिसे युक्त है जिसकी बुद्धि कभी चंचल नहीं होती और अपने स्थानसे कभी भी नहीं टलती है जैसे लाक्षाका टुकडा अग्निसे पिघलकर कागद आदिमें चिपटजाता है ऐसे जिस प्राणीकी बुद्धि धृतिके साथ चिपटकर एकरूप होरही है ।

फिर वह प्राणी कैसा है ? कि [**शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च**] शब्द, स्पर्श, रूप रस, गन्ध इत्यादि विषयोंको एकबारगी परित्याग कियेहुआ है, भूलकर भी इनकी ओर

आंख उठाकर नहीं देखता और रागद्वेषको जिसने तिलांजलि देदी है, धोखेसे भी कभी किसीके साथ रागद्वेष नहीं करता " **शमः शत्रौ च मित्रे च** " भगवान्के इस वचनानुसार जो शत्रु और मित्रको समान-दृष्टिसे देखरहा है।

फिर कैसा है, कि [**विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्काय-मानसः**] एकान्तस्थान जैसे नदीका तट, किसी निर्जन वनमें वा गिरिगुहामें निवास करनेवाला है और कन्द, मूल, फल इत्यादि जो कुछ थोडा बहुत मिलजावे उसीका लघु आहारकर शरीरका निर्वाह करनेवाला है, कुछ नहीं मिलनेपर भी किसी बस्तीमें जाकर किसीको अपने आहारकेलिये नहीं सताता भूखा रहजाता है और जिसने अपने वचन, शरीर और मनको अपने वश कररखा है अर्थात् सच्चा त्रिदण्डी होरहा है फिर कैसा है, कि [**ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः**] ध्यानयोगमें तत्पर है और इस लोकसे परलोकतकके विषयोंसे विरक्त है अर्थात् " **तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्** " इस सूत्रके अनुसार भगवत्स्वरूपमें तैलधारावत अहर्निश अपने मन और बुद्धिको लगायेहुआ है और इस लोकमें यदि चक्र-वर्तीकी भी गद्दी मिलजावे तो उसे चलतेहुए मार्गमें पडेहुए चिथडोंके समान पैरोंसे मारकर अलग करनेवाला और परलोकमें इन्द्रादि देवोंके सुखको भी अत्यन्त घृणाकी दृष्टिसे देखताहुआ पलमात्र भी भोग-नेकी इच्छा नहीं करता है।

फिर कैसा हो, कि [**अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परि-ग्रहम्। विमुच्य**] अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोधादिसे रहित

और ' परिग्रह ' अर्थात् शरीरके सुखसाधननिमित्त आसन, वासन इत्यादि वस्तु-तस्तुओंमें सबोंको एकबारगी परित्याग करके [**निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते**] सर्वप्रकारकी ममतासे रहित अर्थात् पुत्र, कलत्र और धन, सम्पत्ति इत्यादि छोडकर एकान्तस्थानमें आया है. उनके दुःख, सुख, हानि, लाभकी चिन्तासे रहित एवम्प्रकार शान्ति प्राप्तकियेहुआ है वही प्राणी ब्रह्मकी प्राप्ति करनेके योग्य समझा जाता है ।

भगवानके कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि जो प्राणी विशुद्ध-बुद्धि हो, धैर्य्यसे अपनेको अपने वशमें रखता हो, शब्दादि विषयोंका त्यागी हो, रागद्वेषसे रहित हो, एकान्तसेवी हो, मिताहारी हो, शरीर, वचन और मन तीनोंपर अपना अधिकार रखता हो, ध्यानयोगमें नित्य तत्पर हो, ऐहिक और पारलौकिक कामनाओंसे रहित हो, अहंकार, बल, दर्प, काम और क्रोधसे रहित हो, त्यक्तपरिग्रह हो, ममतारहित हो, शान्त हो अर्थात् जिस प्राणीमें ये गुण पायेजावें वही ब्रह्मको प्राप्त करसकता है ।

प्रिय पाठको ! उपर्य्युक्त गुणोंमें यदि दो चार गुणोंकी न्यूनता भी हो तो भी प्राणीको ब्रह्मप्राप्ति करनेमें किसी प्रकारकी शंका नहीं है । जैसे विविक्तसेवी (बन इत्यादिमें जाकर रहना) त्यक्त-परिग्रह (आसन वासनका छोडदेना) लघ्वाशी होना वा कन्दमूल फला-हारपर निर्वाह करना इत्यादि गुण नहीं भी हों, अपने कुटुम्बियोंके साथ घरहीमें रहते और अपने घरहीको वन समझता रहे निर्मम

और निरहंकार रहे तो भी ब्रह्मकी प्राप्ति अवश्य करसकता है अर्थात् भगवत्स्वरूपके मिलनेका आनन्द लाभ करसकता है। देखो! राजा जनक, कबीर और नानक इत्यादि महात्माओंने सबके संग रहते ब्रह्मको प्राप्त करलिया। इन ५१, ५२ और ५३ श्लोकोंमें भगवान्ने जितने विषय वर्णनकिये हैं उनका व्याख्यान पूर्णप्रकार पिछले अध्यायोंमें करदिया गया है इसलिये यहां उपसंहारमात्र वर्णन कियागया है ॥ ५१, ५२, ५३ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें यह कहते हैं, कि ऐसा पुरुष किस स्वभावका होता है? और उनकी ओरसे क्या पुरस्कार पाता है—

मू०— ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

पदच्छेदः— ब्रह्मभूतः (ब्रह्मप्राप्तः। ब्रह्मण्यवस्थितः) प्रसन्नात्मा (शमदमादिसाधनाभ्यासेन प्रसन्नचित्तः) न (नैव) शोचति (सन्तप्यते। वैकल्यं प्राप्नोति) न कांक्षति (अप्राप्यं नाभिवाञ्छति) सर्वेषु (समस्तेषु) भूतेषु (चतुर्विधभूतेषु) समः (समानः। आत्मौपम्येन सुखदुःखानुभवी) पराम् (अत्युत्कृष्टाम्) मद्भक्तिम् (मयि परमात्मनि परानुरक्तिम्) लभते (प्राप्नोति) ॥ ५४ ॥

पदार्थः— (ब्रह्मभूतः) ब्रह्मस्वरूप हुआ पुरुष (प्रसन्नात्मा) प्रसन्नचित्त होकर (न) न (शोचति) नष्ट वस्तुका शोक करता है (न) और न (कांक्षति) अप्राप्य वस्तुकी अभिलाषा करता है वही (सर्वेषु) सब (भूतेषु) प्राणियोंमें (समः) समान दृष्टि रखता हुआ (पराम्) अत्युत्तमा (मद्भक्तिम्) प्रशस्यतरा मेरी भक्ति (लभते) लाभ करता है ॥ ५४ ॥

भावार्थः— भूरिकरुणाकर लोकाभिराम मनोहर भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति पूर्व श्लोकमें वर्णन किये हुए ब्रह्मभूत प्राणीके विषय कहते हैं, कि [**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति**] जो प्राणी ब्रह्मज्ञानका अभ्यास करते-करते ब्रह्मभूत होरहा है अर्थात् ब्रह्मस्वरूप ही होरहा है इस कारण अपने अन्तःकरणसे सदा प्रसन्न रहता है सो न किसी प्रकारके नष्टहुए पदार्थोंका शोक करता है और न किसी अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिकी इच्छा करता है। क्योंकि उसने प्रसादको प्राप्त किया हैं जिस प्रसादका वर्णन अ० २ श्लो० ६५ अ० १७ श्लो० १६ में कर आये हैं। तात्पर्य यह है, किजैसे दुर्वचन जो एक असह्य वाक्य है, जिसको कोई सुनना नहीं चाहता, जिसके श्रवण करते ही शरीरमें आगसी लगजाती है, रुधिर तप्त होजाता है, आंखें लाल-लाल होजाती हैं और मारे क्रोधके होंठ फडफडाने लगते हैं ऐसे दुर्वचन को प्राणी बडे आनन्दके साथ विवाहके समय सुनलेता है और सुन-कर आनन्द लाभ करता है। अब बुद्धिमान् विचारेंगे, कि इस प्रकार दुर्वचन सुनकर हर्षित होनेका कारण क्या है ? तो अवश्य कहना पडेगा, कि विवाहके समय प्राणीके अन्तःकरणमें पहले हीसे प्रसन्नता प्राप्त है जिसे ' मनःप्रसाद ' के नामसे पुकारते हैं फिर जब अल्प कालके प्रसाद प्राप्त होनेसे प्राणी ' दुर्वचन ' का कुछ भी शोच नहीं करते तो जिसने सदाकेलिये ब्रह्मभूत होनेके कारण अन्तःकरणका नित्य प्रसाद प्राप्त करलिया है वह क्यों किसी प्रकारके अनिष्टके सम्मुख होनेसे किसी प्रकारका शोक करेगा ?

देखो ! छोटे-छोटे बच्चे अपने मा-बापके बहुत दिनोंसे उपार्जन किये बहुमूल्य पदार्थोंको तोड डालते हैं तो उससे मा-बापको किसी प्रकारका शोक नहीं होता वरु प्रसन्नता ही होती है । क्योंकि उनके घरमें उनका बच्चा उनके मनःप्रसादका कारण है ।

कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जो प्रसन्नात्मा है वह चक्रवर्त्तीराज्यके खोजानेसे भी शोचको नहीं प्राप्त होता ।

अब भगवान् कहते हैं, कि " न कांक्षति " अर्थात् ऐसा " ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा " किसी वस्तुकी प्राप्तिकी इच्छा भी नहीं करता क्योंकि किसी वस्तुकी प्राप्ति भी तो प्रसन्नता ही के लिये है सो प्रसन्नता जब उसके हृदयको प्रथमसे ही प्राप्त है तो निरर्थक किसी कार्य्यकेलिये वह किसी वस्तुकी इच्छा क्यों करेगा ?

शंका— जब प्रसन्नात्मा किसी प्रकारकी इच्छा ही नहीं करता तो फिर मुक्तिकी इच्छा क्यों करेगा ?

समाधान— इसी शंकाके निवारणार्थ तो भगवान् पहले ही से ' ब्रह्मभूत ' शब्दका प्रयोग कररहे हैं क्योंकि जो ब्रह्मभूत है उसे तो मुक्ति पहले ही से प्राप्त है जभी तो वह प्रसन्नात्मा होरहा है । यदि ब्रह्मभूत होनेके कारण उसे मोक्ष प्राप्त नहीं होती तो वह प्रसन्नात्मा ही क्यों कहाजाता ? क्योंकि प्रसन्नता कहते हैं आनन्दको सो आनन्द ब्रह्मका स्वरूप ही है ब्रह्मसूत्रने भी उसे " आनन्दमयोऽभ्यासात् " कहकर पुकारा है अर्थात् वेद, वेदांग तथा विविधप्रकारके शास्त्रोंमें बार-बार आनन्दमय शब्दका प्रयोग देखनेसे वह ब्रह्म आनन्दमय ही कहाजाता है । फिर जैसे मद्यके घटको गंगा-

जीकी पवित्र धारामें डालदो तो वह मद्य भी शीतल गंगाजल हो जाता है। इसी प्रकार जब यह जीवरूप मद्यका घट ब्रह्मरूप शीतल गंगाजलसे मिलकर ब्रह्मभूत होगया तो इसे फिर किस मोक्ष वा मुक्तिकी प्राप्तिकी इच्छा होवे ? शंका मत करो !

अब भगवान कहते हैं, कि [**समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्**] ऐसा ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा प्राणी सबभूतोंमें समान दृष्टि रखताहुआ मेरी परमभक्तिको लाभ करता है अर्थात् जितने शत्रु, मित्र, ब्राह्मण, चाण्डाल, गौ, हस्ती, कूकर, शूकर, कीट, पतंग सबोंमें समान दृष्टि रखी है और जो अपने दुःख-सुखके समान सबोंके दुःख-सुखको समझरहा है। जैसा, कि भगवान् पहले कहआये हैं, कि " विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि " (अ० ५ श्लो० १८) ऐसा समदर्शी प्राणी अवश्यमेव मेरी ' पराभक्ति ' लाभ करता है।

शंका— जो प्राणी ब्रह्मभूत होकर प्रसन्नात्मा होताहुआ शोकरहित और सर्वप्रकारकी कांक्षाओंसे मुक्त होगया तो फिर " भक्ति " ऐसी कौनसी वस्तु रही जिसका लाभ करना उसे शेष रहगया। क्योंकि ब्रह्मभूत होने ही से वह ब्रह्माकार होगया फिर उसे भक्तिकी कौनसी आवश्यकता रही ? जिसके विषय भगवान्ने " लभते " शब्दका प्रयोग किया है।

समाधान— यहां जो भगवान्ने ' लभते ' शब्दका प्रयोग किया है वह वाचारम्भणविकारमात्र है। क्योंकि जब किसी

अनिर्वचनीय तत्वको जिह्वाद्वारा कोई प्राणी किसीसे कहेगा तो उसमें वचनका विकार अवश्य प्रवेश करेगा । क्योंकि " भक्ति " क्या है ? उसे महर्षि शाण्डिल्य अपने सूत्रमें कहते हैं, कि " सा परानुरक्तिरीश्वरे " अर्थात ईश्वरमें परम अनुरागका होना ही भक्ति है अनुराग प्रेमको कहते हैं । तहां नारदका भी वचन है, कि " अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् " प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है क्योंकि " मूकास्वादनवत " जैसे गूंगा खट्टी मीठी वस्तुओंके स्वादका वर्णन नहीं करसकता ऐसे प्रेमका वर्णन करना दुर्लभ है तिस अनिर्वचनीय प्रेमको भगवान् अर्जुनके प्रति कहना चाहते हैं इस लिये ' लभते ' शब्दका प्रयोग किया है ।

यहां ऐसा नहीं समझना चाहिये, कि जैसे कोई प्राणी किसी अप्राप्त वस्तु को जो उसे पहलेसे प्राप्त नहीं है लाभ करता है । नहीं! ऐसा नहीं! प्रेम तो वह तत्त्व है जो प्राणीके साथ-साथ उत्पन्न हुआ है वरु इस प्रेमको सृष्टिका मूल कहना चाहिये । यदि प्रेम न होवे तो स्त्री पुरुषका संयोग नहीं होसकता, यदि दम्पतिसंयोग न हुआ तो प्रजाकी उत्पत्ति नहीं होसकती, जब प्रजाकी उत्पत्ति न हुई तो सृष्टिका एक कार्य्य भी नहीं चलसकता । सृष्टि अपने नदी, नद, पर्व्वत, वृत्त इत्यादि जड पदार्थोंको लियेहुए सुनसान पडी रहेगी फिर तो न कहीं आनन्दका अनुभव होगा और न किसी प्रकारका बोध ही होगा सर्वत्र जडता व्यापती रहेगी इसलिये भगवान् स्वयं प्रेमस्वरूप होकरे चैतन्यमात्रमें प्रवेश करगया है। इस कारण प्राणियोंको जिस किसी भी वस्तु-तस्तुसे कुछदिन संग होजाता है तो उससे प्रेम होही जाता है इसी कारण पुत्र,

कलत्र, धन, सम्पत्ति इत्यादिका प्रेम संसारमें विख्यात है । केवल भेद इतना है, कि जैसे किसीके पास सूतकी डोरी हो उसे बकरीके गलेमें बांधे अथवा हाथीके सूंडमें बांधे इसी प्रकार इस चैतन्यके पास जो इसका स्वाभाविक प्रेम इसके साथ-साथ है उससे सृष्टिरूप बकरी बांधे अथवा भगवत्स्वरूप हाथी बांधे ।

कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि प्रेम कहींसे लाभ करना नहीं है केवल भगवत्की ओर लगादेनेसे उसका नाम भक्ति कहाजाता है । स्मरण रहे, कि ' लभते ' शब्दको भगवानने वाचारम्भणविकारमात्र कहा है । हे प्रतिवादी ! तूने जो यह शंका की है, कि " ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा " को फिर भक्तिकी क्या आवश्यकता रही ? तो इस वार्त्ताको निश्चय रख, कि माहेश्वरीमाया ऐसी प्रबलता रखती है, कि ब्रह्मभूतप्रसन्नात्माके चित्तको भी मोहित करडालती है जैसा, कि बडे-बडे महान् पुरुषोंका सुनागया है पर यह प्रबला माया भक्तिको तीन कालमें भी मोहित नहीं करसकती है । गोस्वामी तुलसीदासजीका वचन है, कि " **मोह न नारि नारिको रूपा । पन्नगारि यह चरित अनूपा** " इससे सिद्ध होता है, कि भक्ति ब्रह्मभूतप्रसन्नात्मा अर्थात् मुक्तिको दृढ करदेती है और सनातनकेलिये एकरस बनादेती है क्योंकि भक्तोंको कल्पकल्पान्तरका भी भय नहीं रहता । मुक्ति लाभ होनेके पश्चात् भक्ति अवश्य उमडती है । जैसे रसालका फल परिपक्व होनेसे मधुररसान्वित होकर वृक्षोंसे टपकने लगता है इसी प्रकार मुक्तिके परिपक्व होनेसे भक्तिरस आपसे आप उमड़कर टपकने लगजाता है । शंका मत करो !

सुनो ! अब मैं तुमको भक्तिका भेद बताता हूं । इस भक्तिके ११ भेद हैं जो आसक्तिके नामसे पुकारेजाते हैं ।

१. माहात्म्यासक्ति— भगवत्की महिमाका अनुभव करके प्रेमका उमड आना जैसे नारद और परीक्षित इत्यादिमें ।

२. रूपासक्ति— भगवतके संपूर्ण विश्वके मोहनेवाले सुन्दर रूपको देखकर बृजगोपिकाओंमें प्रेमका उमड आना । इसीलिये प्रेमके उदाहरणमें महर्षि नारदने " यथा ब्रजगोपिकानाम " सूत्रका पाठ दिया है ।

३. पूजासक्ति— भगवानकी सेवा पूजा द्वारा प्रेमका उमड आना जैसे महाराज पृथुराजमें, जिनको भगवत् यश सुननेके निमित्त सहस्रों कान होजाते थे । प्रमाण— " पुनि बन्दौं पृथुराज समाना । हरियश सुने सहसदश काना ॥ " (तुलसी) इस कलियुगमें रविदास और मीरांबाई इत्यादि भक्तोंका इतिहास प्रसिद्ध है । (देखो भक्तमाल)

४. स्मरणासक्ति— भगवत्के नाम और गुणका स्मरण करते-करते प्रेमका उमड आना जैसे भक्त प्रह्लादमें ।

५. दासासक्ति— भगवतकी सेवा करते-करते प्रेमका उमड आना जैसे सुग्रीव, अंगद, हनूमान, विदुर इत्यादिमें ।

६. सख्यासक्ति— भगवत्में सखा भाव करते-करते प्रेमका उमड आना जैसे अर्जुन, उद्धव, श्रीदामा और सुदामा इत्यादिमें ।

७. **कान्तासक्ति**— भगवत्में कांत अर्थात पतिका भाव करते-करते प्रेमका उमड आना जैसे राधिका, ललिता, विशाखा, रुक्मिणी इत्यादिमें।

८. **वात्सल्यासक्ति**— भगवत्में वत्सभावका अभ्यास करते-करते प्रेमका उमड आना जैसे दशरथ, कौशल्या, नन्द, यशोदा इत्यादि।

९. **आत्मनिवेदनासक्ति**— अपना तन, मन और धन भगवत्में अर्पण करदेनेसे प्रेमका उमड आना जैसे राजा वलि, विभीषण इत्यादि।

१०. **तन्मयासक्ति**— भगवत्के रूपमें तन्मय होजानेसे जो प्रेमका उमड आना है जैसे शंकर, सरभंग, शवरी इत्यादि।

११. **विरहासक्ति**— भगवत्के विरहमें आपको भूलते २ अश्रु, रोमांच, स्तंभ इत्यादि प्रेमरसोंमें डूबजाना जैसे भरत, कौशिल्या, दशरथ इत्यादि।

स्मरण रहे, कि इन ११ भेदोंमें जो भिन्न २ भक्तोंके नाम दियेगये हैं वे केवल रसकी विशेषता जनानेकेलिये हैं। तात्पर्य्य यह है, कि प्रत्येक भक्तमें उपर्य्युक्त ११ हों प्रकारके रस भरे रहते हैं इसलिये सबमें सबका उदाहरण देना उचित है पर जिस भक्तमें जिस रसकी अधिकता है उनका नाम उसी आसक्तिके साथ दिया गया इससे ऐसा नहीं समझना चाहिये, कि शेष आसक्तियां उनमें नहीं हैं ऐसा नहीं! सबमें सब आसक्तियां गौण और विशेष रूपसे निवास करती हैं।

इस भक्तिका वर्णन १२ वें अध्यायमें पूर्णप्रकार कर आये हैं इसलिये यहां संक्षिप्त वर्णन कियागया ॥ ५४ ॥

ऐसी भक्तिसे परिपूर्ण प्राणी भगवानको क्या और कैसा जानकर किस प्रकार होजाता है ? सो भगवान् अगले श्लोकमें वर्णन करते हुए कहते हैं—

मू०— भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥
॥ ५५ ॥

पदच्छेदः— यावान् (यत्परिमाणम । यथार्थज्ञानप्राप्त्यनन्तरम) च (पुनः) यः (परिपूर्णसत्यज्ञानानन्दघनः) अस्मि, माम् (अद्वितीयमजरमभयमशोकम् वासुदेवम) भक्त्या (एकान्तलक्षणया परया भक्त्या) तत्त्वतः (सर्वसंशयराहित्येन याथातथ्यस्वरूपतः) अभिजानाति (साक्षात्करोति) ततः (तत्पश्चात) माम (सत्यघनमानन्दस्वरूपं परमेशम्) तत्त्वतः (यथार्थरूपेण) ज्ञात्वा (बुद्ध्वा । विदित्वा । अनुभूय) तदनन्तरम (मद्भक्तिप्राप्त्यनन्तरम् । तज्ज्ञानानन्तरम्) विशते (मामेव प्रविशति । मत्स्वरूपे लयं याति । सायुज्यं प्राप्नोति) ॥ ५५ ॥

पदार्थः— (यावान) मैं वासुदेव जिस परिमाणवाला हूं अर्थात् जिस तत्ववाला हूं (च) और (यः) सचमुच जो कुछ (अस्मि) हूं (माम) तिस मुझको मेराभक्त (भक्त्या) भक्तिसे (तत्त्वतः) यथार्थतः (अभिजानाति) जानलेता है (ततः) तत्पश्चात् (माम) मुझे (तत्त्वतः) ठीक-ठीक (ज्ञात्वा) जान-

कर (तदनन्तरम्) तत्काल ही (विशते) मुझ वासुदेवमें प्रवेश करजाता है ॥ ५५ ॥

भावार्थ:— अब धर्मधुरधारी यमुनतटविहारी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ब्रह्मभूतप्रसन्नात्मा जीवन्मुक्त भक्तोंके विषय कहते हैं, कि

[भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः]

मेरा भक्त ही पराभक्तिके द्वारा यह ठीक-ठीक जानलेता है, कि मेरी महिमा कहांतक है और मैं कौन हूं ? क्योंकि जो साधारण पुरुष हैं जिनमें पराभक्तिका लेश नहीं है केवल गौणभक्तिद्वारा मेरी प्रतिमा इत्यादि बनाकर सेवा शुश्रूषासे अपना समय बिताते हैं वे यों समझते हैं, कि मैं मनुष्योंके समान खाता, पीता हूं, सोता-जागता हूं, चलता-फिरता हूं इत्यादि वे मेरी असीम महिमाका अनुभव नहीं करसकते हैं। हे अर्जुन ! तू अपने चित्तसे ही समझले, कि मेरी विराट्मूर्त्ति अवलोकन करनेसे पहले तू ही किस प्रकार मुझको अपना साधारण सखा समझरहा था फिर तूने मेरी विराट्मूर्त्तिके देखनेके पश्चात् किस प्रकार मेरी स्तुति की है और क्षमा मांगी है; कि "**सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखेति । अजानता महिमानं तवेदं, मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ॥ यच्चावहासार्थमसत्कृतोसि विहारशय्यासनभोजनेषु । एकोऽथवाप्यच्युत ! तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्** " (अ० ११ श्लो० ४१, ४२)

इसी प्रकार बहुतेरे प्राणी मुझको नन्द-यशोदा वा वसुदेव-देवकीका पुत्र मात्र समझते हैं और यों समझते हैं, कि मैंने

गोपिकाओंके घरसे दूध दही चुरा-चुराकर खाया है और गोपिकाओंके मध्य रासक्रीडा की है, नन्द-यशोदाके बछडे चराये हैं औरोंको कौन पूछे ब्रह्मदेवने भी मेरी लीलासे मोहित होकर मुझको साधारण चरवाहा समझ मेरे बछडोंको चुराकर पर्वतकी कन्दरामें रखदिया पश्चात् उसे जब मेरी असीम महिमाका बोध हुआ तब क्षमा मांगी। इसी प्रकार बहुतेरे पुरुष गौणभक्ति द्वारा मेरी सेवा शुश्रूषा तो करते हैं पर पराभक्तिसे विमुख रेहकरे यह नहीं जानते, कि मेरी महिमा कहां तक है और मैं कौन हूं ? हे पार्थ! मैं तुझसे पहेले बार २ कहचुका हूं, कि ब्रह्मका असीम महत्त्व सिमटकर मेरा रूप बनगया है। तात्पर्य यह है, कि सम्पूर्ण निराकार ब्रह्मकी विभूतियोंका मैं एक साकार विभूति हूं अर्थात् निराकार ब्रह्ममें जितने तत्व हैं वे सब मुझ वासुदेवस्वरूपके रोम-रोममें पडेहुए हैं। यदि मेरे एक रोमका करोडों अंश कियाजावे तो उस एक अंशमें ऐसे २ करोडों ब्रह्माण्ड क्षणमात्रमें बनते और विनशते देखेजावेंगे यदि देखनेवालोंके दिव्य नेत्रोंमें देखनेकी शक्ति होवे।

भगवानके इस महत्वके विषय श्रुति भी यों कहती है, कि—

"ॐ यत्र न सूर्यस्तपति यत्र न वायुर्वाति यत्र न चन्द्रमा भाति यत्र न नक्षत्राणि भान्ति यत्र नाग्निर्दहति यत्र न मृत्युः प्रविशति यत्र न दुःखानि प्रविशन्ति सदानन्दं परमानन्द शान्तं शाश्वतं सदाशिवं ब्रह्मादिवंदितं योगिध्येयं परं पदं यद्गत्वा न निवर्तन्ते योगिनस्तदेह चाभ्युत्क्रम। तद्विष्णोः परमं पदꣳ सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम। तद्विप्रासो विपन्यवो

जागृवांसः समिन्धते । विष्णोर्यत्परमं पदम् ” (अथर्ववेदीयवृहज्जवालोपनि० ब्रा० ८ श्रु० ६)

अर्थ—– जिस ब्रह्मके तेजोमय प्रकाशके सम्मुख न सूर्य्य तपता है, न वायु वहती है, न चन्द्रमा प्रकाश करता है, न तारागण जगमगा सकते हैं, न अग्नि जलसकती है, न मृत्यु प्रवेश करसकती है, न संसृति-दुःख प्रवेश करते हैं । जो सदानन्द, परमानन्द, शान्त, शाश्वत, सदा मंगलस्वरूप ब्रह्मादि देवोंसे वन्दित, योगियोंसे ध्यान किये-जाने योग्य कैवल्य परमपद है जहां जाकरे योगीवृन्द नहीं लौटते हैं जो वेदमंत्रोंसे कहागया है सो ही विष्णुका परमपद है जिसे विद्वान् सदा देखते हैं। कैसे देखते हैं ? तो कहेंते हैं, कि जैसे खुलेहुए नेत्रोंसे बिना किसी रोक-टोकके आकाशको विशद अर्थात् निर्मल देखते हैं तैसे विष्णुपरमपदको (विप्रासो) बुद्धिमान (विपन्यवः) स्तुति करनेवाले (जागृवांसः) प्रमादरहित अर्थोंके जाननेवाले (समिन्धते) सम्यक्प्रकारसे अपने हृदयमें प्रज्वलित करते हैं अर्थात् देखते हैं ।

लो और सुनो ! “ ॐ यदेकमद्वितीयम् । आकाशवत्सर्वगतं सुसूक्ष्मं निरञ्जनं निष्क्रियं सन्मात्रं चिदानन्दैकरसं शिवं प्रशान्तममृतं तत्परं च ब्रह्म ”। (शांडिल्योप० अ० २ श्रु० २)

अर्थ— सो जो एक है, अद्वितीय है आकाशके समान सर्व ठौर व्यापक है, निरञ्जन है, सर्वक्रियारहित है, सद्रूपमात्र है, चैतन्य है, आनन्द है, एकरस है, परम कल्याणस्वरूप है, शान्तस्वरूप है और अमृतस्वरूप है सो ही सबसे परे है और ब्रह्म है ।

यहां तक तो इस श्लोकमें कथन कियेहुए ' यावान् ' पदके तत्वतः जाननेका व्याख्यान कियागया अब 'यः' पदके तत्वतः जानने के विषय सुनो !

भगवान्के कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि यद्यपि उनका यथार्थ स्वरूप तत्वतः निराकार और साकार दोनोंसे विलक्षण है अर्थात् अव्यक्त है पर सृष्टि और संहारकी अपेक्षा वेद उनके दो रूपोंका वर्णन करता है । प्रमाण श्रु०— " द्वावेव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तञ्चेति " अर्थात् ब्रह्मके दो रूप हैं साकार और निराकार । जब उसे सृष्टि और संहारकी इच्छा होती है तो अपनी इन दोनों मूर्त्तियोंको काममें लाता है तहां निराकार तो आत्मारूप होकर फैलजाता है जो न देखाजाता है और न स्पर्श कियाजाकता है और साकार विराट्रूप होकर विस्तारको प्राप्त होजाता है जिसे हम देखते हैं और स्पर्श करते हैं । इसी साकार विभूतिमें उसका वासुदेवरूप प्रकट होता है । अर्थात यों कहो, कि संपूर्ण बिराट् सिमटकर वासुदेव और वासुदेव फैलकर विराट् बनजाता है जैसा, कि भगवान् अपनी प्रधान विभूतियोंको विभूतियोग नाम दशवें अध्यायमें दिखला आये हैं । इसी कारण विराट्को वासुदेवसे और वासुदेवको विराट्से गाढी प्रीति लगजाती है । क्योंकि जब एक नाम, एक गाम, एक रूप, एक वयस, एक गुण और एक जातिवाले दो पुरुषोंमें प्रीति लगजाना स्वाभाविक है तब जिन दो रूपोंमें सर्वगुण एकसमान होरहे हैं उनमें प्रीति क्यों नहीं लगेगी ? इसी कारण श्रुतिने इनको "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" कहा है । सो प्रीति क्या है ? तो कहना पडेगा, कि दो समान गुणके

पुरुषोंमें एक दूसरेको अपनी ओर खींचलेनेकी जो शक्ति है उसीका नाम प्रीति है जो सदा दो वस्तुओंमें होती है । क्योंकि बिना दो वस्तुओंके न तो कोई खिंचनेवाला होगा और न खींचेजानेकी कोई वस्तु होगी । अर्थात् प्रेमतत्वका प्रकाश बिना दोके नहीं होसकता । क्योंकि जो अकेला है वह किसके साथ रमण वा विहार करेगा ? फिर 'रमन्ते योगिनोऽस्मिन्' का अर्थ नहींलगेगा इसीलिये वह ब्रह्म स्वयं अकेला न रहसका उसे दो होना पडा । प्रमाण श्रु०— " ॐ स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत । "

(बृहदा० ब्रा० ४ श्रु० ३)

अर्थ—वह अकेला रमण नहीं करसका इसलिये उसने दूसरेकी इच्छा की । क्योंकि अकेला कोई रमण नहीं करसकता । संक्षिप्त तात्पर्य यह है, कि जब आपही दो रूप होगया तो एकको दूसरेसे स्वाभाविक स्नेह होना आवश्यक है ।

देखो ! जब प्राणी दर्पणमें अपना मुख देखता है तो उस दर्पण वाले मुखको देखकर कितना प्रसन्न होता है । दर्पणमें देखकर ललाट में चन्दन करता है, आंखोंमें सुरमा भरता है, नाकमें मोती डालता है केशोंको सुधारता है इत्यादि इत्यादि । कहां तक कहाजावे उस दर्पणवाले मुखसे इतनी प्रीति होती है, कि वस्त्र औ अलंकरणोंसे अलंकृत होकर फिर उसके सामने खडा होजाता है और उस अपनी दर्पण वाली मूर्तिको पुनःपुन देखनेकी इच्छा करता है ।

अब विचारना चाहिये, कि जब अपने बिम्बसे जो एक मिथ्या आकार है प्रीति होजाती है तो जो यथार्थमें एक ही रूप गुणके दो हुए हैं उनमें

परस्पर प्रीति क्यों नहीं होगी ? इसी कारण जीवको ईश्वरसे और ईश्वरको जीवसे अर्थात् भक्तको भगवत्से और भगवत्को भक्तसे गाढी प्रीति होजाती है यहां तक, कि भक्त भगवत्में तन्मय होजाता है ।

जैसे सूर्यकान्त काचमें सूर्यकी किरणें सिमटकर जब एक ठौर पडती हैं तब अग्नि भड़क उठती है और कपड़े जलने लगजाते हैं इसी प्रकार भगवत्का तेजोमयस्वरूप जब भक्तोंके हृदयरूप सूर्यकान्त काचपर एक ठौर पडता है तब प्रेमरूपी आग भडक उठती है फिर ऐसे हृदयवालेको भगवान् अपने हृदयसे लगालेता है । क्योंकि उस भगवत्का यथार्थ स्वरूप भक्तवत्सलताके रससे परिपूर्ण है इसलिये वह तत्वतः भक्तवत्सल कहाजाता है और यही उसका याथातथ्य स्वरूप है । तथा उसके स्वरूपके वर्णनमें श्रुति भी यों कहती है– "ॐ योऽसौ देवो भगवान्सर्वैश्वर्यसम्पन्नः सर्वव्यापी सर्वभूतानां हृदये संनिविष्टो मायावी मायया क्रीडति स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रः स इन्द्रः स सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि स एव पुरस्तात् स एव पश्चात् स एवोत्तरतः स एव दक्षिणतः स एवाधस्तात् स एवोपरिष्ठात्स एव सर्वम् " (शांडिल्यो० अ० ३ श्रु० १)

अर्थ— ऐसा जो यह देव भगवान् सब ऐश्वर्योंसे सम्पन्न है, सर्वव्यापक है, सब भूतोंके हृदयमें प्रवेश कियेहुआ है, मायापति है, अपनी माया द्वारा नाना प्रकारकी क्रियाओंका करनेवाला है, सो ही ब्रह्मा है, विष्णु है, रुद्र है, इन्द्र है और सो ही सब देवरूप है अर्थात्

विश्वदेव है, सो ही सब भूतमात्र है फिर वह भक्तोंके आगे है, पीछे है, बायें है दायें है, नीचे है, ऊपर है और वही सब ठौर है।

यहां तक इस श्लोकमें कथन कियेहुए ' यः ' शब्दके जानने का व्याख्यान कियागया।

उक्त प्रकार जो प्राणी भगवान्‌के कथन कियेहुए 'यावान्' और ' यः ' पदको तत्त्वतः जानता है अर्थात् यह जानता है, कि उस की महिमा कहां तक है और वह स्वयं कौनसा स्वरूप है सो भगवान् कहते हैं, कि [**ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्**] तब मेरा भक्त मुझको तत्वतः जानकर तत्काल मुझमें प्रवेश करजाता है अर्थात् मुझमें और उसमें कुछ अन्तर नहीं रहता मैं और वह एक होजाता हूं वह मेरे साथ और मैं उसके साथ निवास करता हूं।

इसी विषयको भगवान् पहले भी कहआये हैं, कि " **तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति** " (अ० ६ श्लो० ३)अर्थात् न वह मेरी आंखोंसे दूर रहता है और न मैं उसकी आंखोंसे दूर रहता हूं।

बहुतेरे विद्वान् वा मतावलम्बी ' विशते ' शब्दका अर्थ प्रवेश करना लगाते हैं। जैसे समुद्रमें नदियोंका जल प्रवेश करता है। पर ऐसा नहीं क्योंकि पहले तो यह स्थूल प्रवेश है, फिर जडवत् है, और नश्वर है इस प्रकारके प्रवेशसे यहां तात्पर्य्य नहीं है। यह 'प्रवेश' जिसके विषय भगवान् इस श्लोकमें कहरहे हैं अलौ-

किक है सूक्ष्म है और चैतन्य है। जैसे चित्त (दिल) का चित्तमें प्रवेश करना अर्थात् जिसे दिलका दिलसे मिलजाना, नेत्रका नेत्रसे मिलजाना अथवा नजरका नजरसे लड़जाना कहते हैं। इसी प्रकारके प्रवेशसे तात्पर्य है, कि जिसका प्रवेश यथार्थमें देखा नहीं जाता पर होता तो अवश्य ही है। अर्थात् चैतन्यका प्रवेश चैतन्यके साथ होता है। चैतन्य अपने स्वरूपको तथा अपने सखाके स्वरूपको भूल नहीं सकता। इसीलिये प्रवेश करनेके पश्चात् भी पूर्व कथन कीहुई एकादश आसक्तियों में किसी न किसी आसक्तिका स्मरण रहता ही है अर्थात् प्रवेश होजानेके पश्चात् भी " द्वैत " का भाव नहीं बिगड़ता जो सदा बना ही रहता है। कबतक बनारहता है ? जबतक वह पर-ब्रह्म जगदीश्वर अपने साकार विभवको स्वीकार कर विराट् होकर सुशोभित रहता है और अपने भक्तोंपर अपनी दया रखता है। संभव है, कि प्रलय होते समय उस द्वैत-भावका अभाव होकर एक अद्वैत निर्विकार निरवयव सच्चिदानन्दमात्र ही रहजावे तो रहजावे पर सृष्टिकी स्थिति तक तो अद्वैत हो ही नहीं सकता।

कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि मिश्रीमें मिश्री बनकर तद्रूप हो मिठास बनजाइये अथवा द्वैतबुद्धिसे अपनेको विलग रखतेहुए मिश्री को खाते रहिये। यह भक्ति उसको प्राप्त होती है जिसे पहले मुक्ति लाभ होचुकी है अर्थात् सब द्वन्द्वोंसे छूट निर्द्वन्द्व, निर्विकार, निर्लेप और निस्संग हो अपने प्राण-प्रिय परब्रह्म जगदीश्वर आनन्दकन्द कृष्णचन्द्रके संग समरूप होगया है।

वेदान्तवाले ' विशते ' शब्दका अर्थ ब्रह्मबोधमात्र बताते हैं अर्थात् प्राणीको ब्रह्मका बोध होजाना, ब्रह्ममें प्रवेश करना बताते हैं। पर भक्तोंके लिये प्रवेश करनेका अर्थ प्रेमरसमें सराबोर (तरबतर) होजाना है । अर्थात् भगवत्-प्रेममें इस प्रकार मग्न रहना, कि अपने तन-मनकी कुछ भी सुधि न रहे यहांतक, कि प्रेमसरोवरमें डुबकियां मारते-मारते स्थायी प्रेमके प्रलयकी दशा+ उत्पन्न होजावे ।

इसीको इस श्लोकमें भगवान्ने " विशते तदनन्तरम् " वाक्यसे संकेत कर दिखाया है ।

बहुतेरे टीकाकारोंने 'तदनन्तरम् 'का अर्थ मृत्युके पश्चात् अथवा ' प्रारब्ध क्षय होनेके पश्चात् ' किया है पर यह एकदेशिक अर्थ है । यथार्थ अर्थ इसका यही है, कि प्रेमकी दशा उत्पन्न होते ही तत्क्षण ही भगवत्स्वरूपमें डूबजाता है । प्रारब्धके क्षय वा शरीरके नाश होनेकी आवश्यकता नहीं है इसीलिये तुलसीदासजी प्रार्थना करते हैं, कि " जेहिं योनि जन्मौं कर्मवश तहँ राम-पद अनुरागऊँ " इससे सिद्ध होता है, कि प्रारब्ध तो नाश नहीं हुआ पर प्रेमने पीछा नहीं छोडा । भगवत्स्वरूपका स्नेह उसके साथ-साथ कल्पकल्पान्तर तक लगारहा ।

देखो ! काकभुशुण्ड और गरुड पक्षीके शरीरमें, शेष सर्पके शरीरमें, महावीर वानरके शरीरमें, जामवन्त भालूके शरीरमें विभीषण और प्रह्लाद राक्षसके शरीरमें अपना प्रारब्ध भोगतेहुए भगवत्में तन्मय

+ देखो हंसहिंडोल मचकी ३ प्रलयकी दशा

होरहे हैं इनमें बहुतेरे ऐसे हैं, कि जिनका कल्पपर्यन्त भी नाश नहीं होता इसलिये पराभक्तिद्वारा भगवत्में प्रवेश करजानेकेलिये प्रारब्ध वा शरीरका नाश होना आवश्यक नहीं है। कहीं रहो कुछ भी करते रहो पर भगवत्में प्रवेश किये रहो अर्थात् तन्मय होरहो ॥ ५५ ॥

उक्त विषयको भगवान अगले श्लोकमें दृढ करते हैं—

मू०— सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

पदच्छेदः— सर्वकर्माणि (शास्त्रविहितानि नित्यनैमित्तिकानि कर्माणि) सदा (सर्वदा । निरन्तरम्) कुर्वाणः (समाचरन्) अपि, मद्व्यपाश्रयः (अहं भगवान् सर्वान्तर्यामी वासुदेव एव शरणं वा आश्रयो यस्य सः) मत्प्रसादात (मदनुग्रहात) शाश्वतम (सनातनम । नित्यम) अव्ययम (विनाशरहितम) पदम् (स्थानम्) अवाप्नोति (प्राप्नोति । लभते) ॥५६ ॥

पदार्थः— (सर्वकर्माणि) सर्वप्रकारके कर्मोंको (सदा) सर्वदा (कुर्वाणः) करताहुआ (अपि) भी (मद्व्यपाश्रयः) मेरी शरण आयाहुआ पुरुष (मत्प्रसादात्) मेरे अनुग्रहसे (शाश्वतम्) अनादि (अव्ययम) और नित्य (पदम्) परमपदको (अवाप्नोति) प्राप्त करता है ॥ ५६ ॥

भावार्थः— अखिलब्रह्माण्डाधीश्वर प्रेम-पावन-पयोधि-मन्दर श्रीराधावर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र कर्म करतेहुए भक्तोंके

विषय कहते हैं, कि [सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः] मेरी शरण आयाहुआ पुरुष मेरे आश्रय सदा नित्य नैमित्तिकादि कर्मोंको करताहुआ भी अर्थात् अहंकार और कामना-से रहित अपने वर्णाश्रमका धर्म पालन करताहुआ और उनके फलों को मुझमें अर्पण करताहुआ [मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्] मेरी कृपासे नित्य वर्त्तमान अव्यय पदको प्राप्त करता है अर्थात् सब कुछ करताहुआ भी मेरा बना रहता है ।

भगवान्‌के कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि जैसे पनिहारी कूपसे जलका घट निकाल मस्तकपर रख दायें-बायें अपनी सखी सहे-लियोंसे हँसती बतराती चलीजाती है पर उसका मन अपने शीश और घटकी पेंदीके योगके समीप निवास करता है यदि तनक भी हटजावे तो घट झट मस्तकसे नीचे गिरजावे । इसी प्रकार भगवच्चरणारविन्द रूप शीतल जलसे भरेहुए घटकी पेंदीके साथ जो अपना हृदयरूप मस्तक का मध्य भाग मिलायेहुए सारे संसृति-व्यवहारोंका सम्पादन करता चलाजाता है वही सदा वर्तमान रहनेवाले अव्ययपदको प्राप्त होता है ।

मनकी एकाग्रता प्राणायामादि अष्टांग योग द्वारा इतनी नहीं होती जितनी भक्तियोग द्वारा होती है क्योंकि योगीके हृदयमें जो त्याग हुआ है वह संसृतिपदार्थोंको अनित्य जानकर हुआ है संभव है, कि " आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा । कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च " (अ० ३ श्लोक ३९).

भगवान्‌के इस वचनानुसार ज्ञान कभी-कभी कामरूप अग्निमें पडजावे तो फिर इस ज्ञानके भस्म होजानेका भी डर है इसलिये ज्ञानद्वारा

मनकी एकाग्रता शाश्वत नहीं है और विश्वास करने योग्य नहीं है पर कामाग्निसे करोडों गुण अधिक जो विरहाग्नि है वह कामको इस प्रकार भस्म करडालती है, कि इसका कहीं लेशमात्र भी नहीं रहता। इसलिये प्रेमयोगद्वारा विरहाग्निको भडकाकर जिसने सर्वप्रकारके संसृति-बन्धोंको भस्म करडाला है वही शाश्वत अव्यय पदको प्राप्त करता है क्योंकि उसका कर्म करना नहीं करनेके समान है। जैसे व्रजकी गोपिकाएं जब मस्तकपर दधि लेकर बेचने जाती थीं तो ' लो दधि ' के स्थानपर ' लो कन्हैया ' यह वाक्य उनके मुखसे सहसा उच्चारण होही जाता था अर्थात् भगवान्के मथुरा पधारजानेपर भी ये गोपिकाएं दधि बेचनेका कर्म सम्पादन करती तो थीं पर भगवद्विरहमें इनका दधि बेचना ऐसा लोप होजाता था, कि दधिका कहीं नाम मात्र भी इनके ध्यानमें नहीं रहता था। कान्हा ही कान्हा होजाता था। क्योंकि विरहसे द्वन्द्व भस्म होकर अनुरागकी वृद्धि उत्पन्न होती है जिसका नाम भक्ति है महर्षि शांडिल्य भी अपने सूत्रमें यों कहते हैं, कि "द्वेषप्रतिपक्षाभावाद्रसशब्दाच्च रागः" (शांडिल्यसू० ६)

अर्थ— द्वेषके प्रतिकूल अर्थात द्वेषसे रहित और 'रस' शब्द के अनुकूल अर्थात् प्रेमके रसोंके उत्पन्न करनेमें उपयोगी होनेके कारण इस भक्तिका नाम अनुराग है।

यद्यपि ज्ञानयोग भी नीची दृष्टिसे देखने योग्य नहीं है। क्योंकि ज्ञानी भी ईश्वरको प्राप्त करसकता है पर यह आवश्यक नहीं है, कि भक्तिकी प्राप्ति करनेके निमित्त लौटकर ज्ञानका अभ्यास कियाजावे

क्योंकि भक्ति स्वयं साधनशून्या है। इसलिये महात्माओंकी कृपा भगवत्कृपाके साथ मिलकरे बिना किसी साधनके भक्ति प्रदान कर-सकती है। प्रमाण— " मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा " (नारदसूत्र) इसलिये ज्ञानी अज्ञानी दोनोंको भगवद्भक्ति लब्ध होसकती है।

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि मेरी शरंण आयाहुआ प्राणी कर्मोंका सम्पादन करताहुआ भी शाश्वत अव्ययपदको प्राप्त होजाता है। अर्थात् ज्ञानयोगद्वारा जो अव्ययपदकी प्राप्ति है वह शाश्वत नहीं है पर भक्तिद्वारा जो अव्ययपदकी प्राप्ति है उसे शाश्वत कहसकते हैं। तात्पर्य्य यह है, कि जो पद सदाकेलिये हो और घटे-बढे नहीं एकरस रहे उसीको शाश्वत अव्ययपद कहते हैं। सो भक्तों ही को प्राप्त होता है अन्यको नहीं।

शंका— पहले तो भगवान् कहआये हैं, कि " तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते । प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः " (अ० ७ श्लो० १७) अर्थात् आर्त्त अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी चारे प्रकारके जो मेरे भक्त हैं उनमें ज्ञानी विशेष है इसलिये ज्ञानी मुझको बहुत प्रिय है और मैं उसे बहुत प्रिय हूं। परन्तु यहां तो तुम कहते हो, कि ज्ञान कामरूप दुष्पूर अग्निसे घिराहुआ है इसलिये ज्ञानद्वारा शाश्वत अव्ययपदका प्राप्त होना दुर्लभ है भगवानके वचनोंमें ऐसा विरोध क्यों ?

समाधान— अरे प्रतिवादी ! धूल पडे तेरी भूलपर थोडा विचार तो सही, कि तीसरे अध्यायमें जो भगवान्‌ने ज्ञानको कामरूप अग्निसे घिरा बताया उसके साथ भक्तिका संग नहीं है निरा ज्ञान ही ज्ञान है और अ० ७ के १२ वें श्लोकमें जो ज्ञानीको अपना प्रिय बताया उसके साथ भक्तिका मेल है अर्थात् केवल ज्ञानी नहीं वरु ज्ञानीभक्त मुझको प्रिय है । यदि भक्तिके साथ ज्ञान मिला हो अर्थात् भक्त यदि ज्ञानी होवे तो स्वर्णमें सुगंधके समान शोभा उत्पन्न होवेगी । शंका मत कर !

यहां जो भगवान्‌ने ' कुर्वाणः ' शब्दका प्रयोग किया है इसका अर्थ ऐसा नहीं समझना चाहिये, कि जैसे साधारण प्राणी अपने अन्तःकरणकी शुद्धि-निमित्त कर्मोंका सम्पादन करता है । क्योंकि भगवत्-शरण आये हुए पुरुषोंको अन्तःकरणकी शुद्धिकी आवश्यकता नहीं है उनका अन्तःकरण तो भगवत्‌के अन्तःकरणके साथ मिला-हुआ है फिर जो वस्तु परम शुद्ध, निर्मल और उज्ज्वल है वह कर्मरूप साबुनको रगडके क्या करेगा ? इसलिये " कुर्वाणः " कहनेसे भगवान्‌का मुख्य तात्पर्य्य यही है, कि मेरे भक्तोंके सामने जो कर्म आजाते हैं उन्हें उदासीनतापूर्वक सम्पादनमात्र कर-दिया करते हैं परन्तु उनसे किसी प्रकारकी हानि-लाभका प्रयोजन नहीं रखते । जैसे अर्जुनका युद्ध करना, गोपिकाओंका दधि बेचना, कबीरका कपडा बुनना और रविदासका जूता सीना उदासीनतापूर्वक सम्पादनमात्र है ऐसे ही कर्मोंसे यहां भगवान्‌का तात्पर्य है ॥ ५६ ॥

अब भगवान इस विषयको अर्जुनके प्रति विशेषरूपसे कहतेहैं—

मू०— चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७

पदच्छेदः— [हे अर्जुन !] **चेतसा** (विवेकबुद्ध्या । अन्तःकरणविवेकेन) **सर्वकर्माणि** (दृष्टादृष्टफलप्राप्तिकारणानि । लौकिकानि वैदिकानि च सर्वाण्याचरणानि) **मयि** (परमेश्वरे) **सन्न्यस्य** (समर्प्य । मदर्पणबुद्ध्या संकल्प्य) **मत्परः,** (अहमेव परा गतिर्यस्य सः) **बुद्धियोगम्** (कर्मफलसिद्ध्यसिद्धिसमत्वात्मकं योगम् । वासुदेवः सर्वमिति निश्चयात्मकं योगम्) **उपाश्रित्य** (समवलम्ब्य । आश्रित्य) **सततम्** (सर्वदा । निरन्तरम्) **मच्चित्तः** (मयि वासुदेवे चित्तम् यस्य सः । मन्मनाः) **भव** ॥ ५७ ॥

पदार्थः— [हे अर्जुन !] तू (**चेतसा**) चित्तसे (**सर्वकर्माणि**) सभी कर्मोंको (**मयि**) मुझ परमेश्वरमें (**सन्न्यस्य**) अर्पण कर (**मत्परः**) मुझमें परायण होकर (**बुद्धियोगम्**) कर्म-फलकी सिद्धि असिद्धिमें समत्वरूप बुद्धियोगका (**उपाश्रित्य**) आश्रय करे (**सततम्**) सर्वदा (**मच्चित्तः**) मेरेमें ही आसक्तचित्त (**भव**) होजा ॥ ५७ ॥

भावार्थः— चन्द्रवंशावतंस भक्तजनमानस हंस भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति नैष्कर्म्यसिद्धिके तात्पर्यसे लौकिक वैदिक कर्मोंके विषयं उपदेश करतेहुए यों कहते हैं, कि [**चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्परः**] अपने निर्मल चित्तसे सब लौकिक, वैदिक

कर्मोंको मेरेमें अर्पण करके मेरा परायण होजा अर्थात् हे अर्जुन ! जितने कर्म तेरे शरीरसे, वचनसे और मनसे उत्पन्न होपडें चाहें वे लौकिक हों वा वैदिक हों मेरेमें समर्पण करके अर्थात् उनका फल मुझमें परित्याग करके मत्परायण हो अपना सारा अवलम्ब मुझ ही को जानकर और सारा पुरुषार्थ मुझहीको मानकर अहर्निश मुझहीको ऊपर, नीचे, दायें, बायें आगे, पीछे देखताहुआ [बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव] बुद्धियोगका अवलम्बन करके सदा मच्चित्त होजा अर्थात् मेरेहीमें अपने चित्तकी सारी वृत्तियोंको बांध डाल और मुझसे अतिरिक्त अन्य किसीको भी अपना मत जान !

इसी विषयको भगवान् पहले भी इस गीतामें भिन्न २ ठौरपर कथन कर आये हैं जैसे "मयि सर्वाणि कर्माणि" (अ० ३ श्लो० ३०) "मन्मना भव मद्भक्तो" (अ० ९ श्लो० ३४) "मच्चिता मद्गतप्राणाः" (अ० १० श्लो० ९) "मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः" (अ० ११ श्लो० ५५) "मयि चानन्ययोगेन" (अ० १३ श्लो० १०)

भक्तोंके कल्याणनिमित्त उनके स्मरण करानेकेलिये यहां पुनः इस विषयका उपसंहारमात्र करदिया है ॥ ५७ ॥

अब भगवान् अर्जुनके प्रति अगले तीन श्लोकोंमें यह कहते हैं, कि मेरे वचनके मानने न माननेसे तुझे क्या लाभ वा हानि होगी ? सो सुन !

मू०— मच्चित: सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैव व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥
॥ ५८, ५९, ६० ॥

पदच्छेद:— मच्चित्तः (मन्मानसः सन् त्वम्) मत्प्रसादात् (ममानुग्रहात्) सर्वदुर्गाणि (संसारदुःखसाधनात् कामक्रोधादीन्) तरिष्यसि (अतिक्रमिष्यसि) अथ, चेत् (यदि पुनः) त्वम् (अर्जुनः) अहंकारात् (अहं नरावतारो न करिष्यामि इत्यहंकारात्) न, श्रोष्यसि (मद्वचनं नाकर्णयिष्यसि) विनंक्ष्यसि (तदा विनाशं यास्यसि) अहंकारम् (धार्मिकोऽहं तस्मान्नेदं क्रूरकर्म युद्धं विधास्यामीति मिथ्याभिमानम्) आश्रित्य (अवलम्ब्य) यत्, न (नैव) योत्स्ये (स्वगुरुभिः भ्रातृभिर्वा सह न युद्धं करिष्ये) इति (इदम्) मन्यसे (विचारयसि) ते (तवार्जुनस्य) व्यवसायः (युद्धत्यागनिश्चयः) मिथ्या (निष्फलः) एव [तर्हि] त्वाम् (युद्धपराङ्मुखमर्जुनम्) प्रकृतिः (क्षत्रियजात्यारम्भिका रजोगुणात्मिका प्रकृतिः। क्षत्रियस्वभावः) नियोक्ष्यति (युद्धे प्रवर्तयिष्यति । प्रेरयिष्यति । प्रवृत्तं करिष्यति) कौन्तेय! (हे कुन्तिपुत्रार्जुन !) स्वेन, स्वभावजेन (स्वाभाविकेन) कर्मणा (युद्धादि कर्मणा) निबद्धः (वशीकृतः ।

परवशीकृतः) मोहात (युद्धायुद्धस्वतन्त्रोऽहमित्यविवेकाज्ञानात) यत् (युद्धम्) कर्तुम् (विधातुम) न (नैव) इच्छसि (अभिलपसि) तत् (युद्धम्) अवशः (प्रकृतिपरवशः । क्षत्रियस्वभावपराधीनीकृतः) अपि, करिष्यसि (विधास्यसि) ॥ ५८, ५९, ६० ॥

पदार्थः— (मच्चित्तः) मुझमें निश्चल-चित्त हो तू (मत्प्रसादात) मेरे अनुग्रहसे (सर्वदुर्गाणि) सम्पूर्ण संसृति क्लेशोंसे (तरिष्यसि) पार होजावेगा (अथ चेत) और यदि (त्वम्) तू (अहंकारात) अहंकारसे [मेरा वचन] (न) नहीं (श्रोष्यसि) सुनेगा तो (विनंक्ष्यसि) नाश होजावेगा अर्थात् परमार्थतत्त्वसे गिरजावेगा (अहंकारम्) अहंकारके (आश्रित्य) वश होकर (यत्) जो (न) नहीं (योत्स्ये) युद्ध करूंगा (इति) ऐसा (मन्यसे) तू समझता है तो (ते) यह तेरा (व्यवसायः) संकल्प (मिथ्या) मिथ्या (एव) ही है (त्वाम्) क्योंकि तुझे (प्रकृतिः) तेरा क्षात्रियस्वभाव ही (नियोक्ष्यति) युद्धमें प्रवृत्त करदेगा (कौन्तेय !) हे अर्जुन ! (यत्) जिस युद्धकर्मको तू (मोहात्) मोहसे (न) नहीं (कर्तुम) करनेकी (इच्छसि) इच्छा करता है (तत्) उसको (अपि) भी (स्वेन) अपने (स्वभावजेन) स्वाभाविक क्षात्रियजातिके (कर्मणा) कर्मसे (निबद्धः) बद्ध और (अवशः) तिसके वश होकर (करिष्यसि) करेगा ॥ ५८, ५९, ६० ॥

भावार्थः— अशेषगुणाकेन्द्र व्रजेन्द्र भगवान श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति अपनी बात मानने न माननेका अर्थात् युद्ध

सम्पादन करने न करनेका लाभ वा हानि दिखलातेहुए कहते हैं, कि [मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि] जब तू मच्चित्त होजावेगा अर्थात् मेरे में अहर्निश अपना चित्त लगायेहुए सब कार्यों का सम्पादन करता रहेगा तो सर्वप्रकारके संसृतिक्लेशोंको शीघ्र पार करजावेगा। यद्यपि यह भवसागर महादुस्तर और अपार होनेके कारण नाना प्रकारकी क्लेशरूप तरंगोंसे लहरें लेरहा है जिसमें मत्कुण के समान इस जीवका कहीं पता नहीं लगता और जहां शुष्क अलावु (सूखी तुम्बीके समान) ब्रह्मलोकसे पाताल पर्यन्तके जीव ऊब डूब कररहे हैं ऐसे भयंकर भवसागरको 'मच्चित्त' होनेके कारण तू मेरी कृपासे ऐसे तरजावेगा जैसे गोपदजलके लांघजानेमें किंचित् मात्र भी क्लेश नहीं होता। इसके प्रतिकूल [अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि] यदि अहंकारवश मेरी बात नहीं सुनेगा तो नाशको प्राप्त होगा अर्थात् इस भवसागरमें डूब २ कर क्लेश पावेगा और कल्पकल्पान्तमें भी इसकी कठिनाइयोंको नहीं पार करसकेगा फिर तो परमार्थतत्त्वसे गिरजावेगा और कहीं भी तेरा ठिकाना नहीं लगेगा। अपने जातिधर्मको खोकर इस लोकको भी बिगाडेगा और मेरी बातके न माननेसे परलोकको भी नष्ट करडालेगा। इस भवसागरके रहनेवाले आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तापरूप मत्स्य, कच्छप और मगर तुझे नोंच खिसोट कर खाजावेंगे, प्रकृति रूप सुरसा हनूमानके सदृश तुझे मध्य मार्गमें निगलजानेके लिये मुख फैलावेगी। तहां जैसे श्रीकौशलकिशोर दशरथनन्दनकी आज्ञाके आश्रय कपीश हनूमान सुरसाकी परवाह न करके

एक छलांगमें समुद्रको पार कर गये इसी प्रकार तू भी इस भवसागरको पार कर अपने अभीष्ट-स्थान गोलोकमें पहुंच जावेगा। इसलिये तू मेरी बात मान और विधिपूर्वक युद्ध सम्पादन कर! यदि मन्दप्रारब्ध वश [**यदहङ्कार-माश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे**] अहंकारके वशीभूतहो ऐसा मनमें ठान लेगा, कि मैं युद्ध नहीं करूंगा अर्थात् यदि तुझको यह अहंकार है, कि मैं भी नरका अवतार हूं इसलिये मुझमें भी बहुतसी अलौकिक शक्तियां वर्त्तमान हैं। मैंने निवातकवचका सत्यानाश करदिया। साक्षात् तीनों लोकोंके संहार करनेवाले शिवके साथ युद्ध किया और गन्धर्वोंको परास्त किया इसलिये इस तुच्छ महाभारतयुद्धको जिसमें आचार्य और पितामहादिको मारना पडेगा न करूं तो मेरी कुछ भी हानि नहीं है। क्योंकि बीरोंमें मेरी गणना होचुकी और मैं जगद्विख्यात 'शूर' अर्जुन कहलाता हूं इसलिये एक युद्ध न किया तो इससे क्या?

अथवा तुझको इस अपने नश्वर शरीरके जीवित रखनेका अहंकार युद्धमें व्याकुल होनेसे मोह और भ्रमसे युक्त होनेका अहंकार वा किसी प्रकारका क्यों न हो तू मेरी बात नहीं सुनेगा तो तेरी कौनसी हानि होगी? सो सुन! [**मिथ्यैव व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वांनियोक्ष्यति**] यह तेरा व्यवसाय निश्चय करके मिथ्या ही होगा क्योंकि जब तू युद्धमें भागचलेगा और बाणोंकी चोट तुझे अस्तव्यस्त करेगी तो तेरी जो स्वाभाविक क्षात्रप्रकृति है वह अवश्य तुझसे युद्ध करावेगी! क्योंकि [**स्वभावजेन कौन्तेय! निबद्धः स्वेन कर्मणा**] हे कुन्तीका पुत्र अर्जुन! तू अपने स्वभावजकर्मसे बंधाहुआ है इसलिये तेरी प्रकृति तुझको अवश्यमेव यह दिखला देवेगी, कि [**कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात्**

करिष्यस्यवशोऽपि तत्] अज्ञानता वश जिस अपने जातिधर्म को तू प्रतिपालन नहीं करना चाहता उसे तू अवश्य परवश होकर अर्थात् अपने प्रकृतिजन्य स्वभावके वश होकर करेगा।

शंका— सबके हृदयकी गति जाननेवाले भगवान्को क्या ज्ञात नहीं था, कि सारी गीता उपदेश करनेपर भी अर्जुन युद्ध करेगा वा न करेगा? फिर ऐसा कहना; कि "अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि" अहंकारवश यदि तू मेरी बात नहीं सुनेगा तो नष्ट होजावेगा। इससे सिद्ध होता है, कि भगवान्ने रुष्ट होकर अर्जुनको शाप देदिया। ऐसा क्यों?

समाधान— भगवान् भली भांति जानते हैं, कि मेरी माहेश्वरीमाया ऐसी प्रबला और दुर्जया है, कि बडे-बडे देवोंको मोहित करडालती है और बडे-बडे बुद्धिमानोंके हृदयमें समयकी प्रेरणासे मेरी मायाके तीनों गुण न्यून और अधिक होतेरहते हैं जैसा; कि मैं पहले अर्जुनको समझाआया हूं; कि "रजस्तमश्चाभिभूय सत्वं भवति भारत। रजः सत्वं तमश्चैव तमः सत्वं रजस्तथा" (अ० १४ श्लोक १०)

अर्थ— हे भरतवंशके भूषण अर्जुन! कभी-कभी यह जो सत्वगुण है वह रज और तमको निर्बल करके प्राणीके शरीरमें वृद्धिको प्राप्त होता है इसी प्रकार रजोगुण भी सत्व और तमको जीतकर वृद्धि पाता है फिर तमोगुण भी सत्त्व और रजको जीतकर वृद्धि पाता है अर्थात् किसी विशेष कारणसे इन तीनोंमें जिस गुणकी वृद्धि होती है तो अन्य गुणोंको दाबलेता है और अपना बल दिखलाता है।

भूत, भविष्य और वर्त्तमानके जाननेवाले भगवान् पहलेसे जानरहे हैं, कि भीष्मपितामह युद्ध करते-करते जब पांडवदल व्याकुल करदेंगे, यहांतक, कि मुझसे भी मेरा प्रण छुडादेनेकी प्रतिज्ञा करेंगे फिर जिस समय मैं अपने परमभक्त भीष्मके वचनकी रक्षा निमित्त रथ छोड उनकी ओर दौडूंगा तो सम्भव है, कि उस समय अर्जुनमें बाणोंसे व्याकुल होजानेके कारण तामसी बुद्धि वा धृतिका प्रवेश होजावे तो संभव है, कि अर्जुनका धीरज छूटजावे और वह अपने सारथीको देख निराश्रय हो रथसे उतर कर किसी ओर चल-देवे तो युद्धकी बहुत बडी हानि होगी फिर भगवान् यह भी पहले हीसे जान रहे हैं, कि जब अर्जुनका प्राणप्रिय पुत्र वीर अभिमन्यु चक्र-व्यूहमें मारा जावेगा तो अर्जुन उदासीन हो युद्धसे मुख मोड लेवे ऐसी दशामें कौरवदलके वीर द्रोण, भीष्म, कर्ण, जयद्रथादि अर्जुनको घेरकर मार डालेंगे। इसी कारण भगवान् अर्जुनसे कहते हैं, कि " न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि " अर्थात् यदि तू मेरी बात नहीं सुनेगा अर्थात् युद्ध नहीं करेगा तो मारा जावेगा। तेरे शत्रु तुझे घेरकर मार डालेंगे।

यदि यह कहो, कि भगवान् अर्जुनके प्रति पहले कह आये हैं, कि " हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम् " (अ० २ श्लो० ३७) यदि मारा जावेगा तो तुझे स्वर्ग प्राप्त होगा तब मारे जानेसे हानि क्या हुई ? स्वर्ग लाभ हुआ फिर " विनंक्ष्यसि " पदका प्रयोग क्यों किया। तो उत्तर यह है, कि जो वीर वीरोंके सम्मुख लडता हुआ माराजाता है उसे स्वर्ग प्राप्त होता है और जो युद्धसे भगताहुआ

माराजाता है उसे स्वर्ग नहीं लाभ होता वरु " युद्धे चाप्यऽपलाय-नम " जो उसका अपना जातीयधर्म है तिसे छोडदेनेसे नरकका भागी होता है इसीलिये भगवान् अर्जुनके हृदयमें इस बातको दृढ करारहे हैं, कि यदि तू भागेगा तो नष्ट होजावेगा अतएव यहां " विनंक्ष्यसि " शब्द दृढताके तात्पर्यसे है शाप नहीं है। शंका मत करो!

यदि यह कहो, कि भगवानने तो यहां "अहंकारान्न श्रोष्यसि" कहा है जिसका अर्थ यों कर आये हैं, कि यदि अपनेको नरावतार होनेके अहंकारसे मेरी बात नहीं सुनेगा और भागेगा तो नष्ट होजावेगा। इससे शंकाका समाधान नहीं होता ? तो हे प्रतिवादी! तू स्मरण रख, कि अहंकार शब्दके अन्तर्गत सर्वप्रकारके अर्थोंका समावेश है क्योंकि नरके अवतार होनेका अहंकार, अपने शरीरका अहंकार, तिस शरीरको जीवित रखनेका अहंकार और फिर तिस शरीरमें अभिनिवेश होनेके कारण मोह, भय इत्यादिका अहंकार इन सब अहंकारोंसे युद्ध छोडना संभव है इसलिये भगवानने " अहंकारात् " शब्दका प्रयोग किया है।

दूसरी बात यह है, कि जो कार्य प्राणी अपने मनसे नहीं करना चाहता उसे प्रकृति अवश्य कराती है फिर तो उसे झखमारकर करना ही पडता है। इसलिये भगवानका यहां तात्पर्य यह है, कि हे अर्जुन! तू कितना भी ना-ना करेगा पर प्रकृति अवश्य हां! हां! करावेगी और तिस प्रकृतिका स्वामी भी उसके साथ होजाया करेगा ॥ ५८,५९,६०॥

उक्त विषयको भगवान् अगले श्लोकमें दृढ करते हैं—

मू०— ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१

पदच्छेदः— अर्जुन ! (हे पवित्रमानस धनञ्जय !) ईश्वरः (स्वस्वपापपुण्यकर्मानुसारं जीवानां शुभाशुभप्रवर्तकोऽन्तर्यामी) सर्वभूतानाम् (सर्वेषां प्राणिनाम्) हृद्देशे (वामपार्श्वे अष्टदलकमलकर्णिकायाम् । अन्तःकरणे । ब्रह्मरन्ध्रे वा) तिष्ठति (निवसति) [किं कुर्वन्?] मायया (सृष्टयादिजननामनुकूलस्वशक्त्या) सर्वभूतानि (ब्रह्मादि पिपीलिकांतानि) यन्त्रारूढानि (प्रारब्धयन्त्रारोपितानि) भ्रामयन् (इतस्ततश्चालयन्) ॥ ६१ ॥

पदार्थः— (अर्जुन !) हे अर्जुन ! (ईश्वरः) ईश्वर (सर्वभूतानाम्)समग्र प्राणियोंके (हृद्देशे) हृदयप्रदेशमें (तिष्ठति) स्थित है क्या करता हुआ स्थित है ? तो कहते हैं, कि (मायया) अपनी मायासे (यन्त्रारूढानि) प्रारब्धके यन्त्रपर (सर्वभूतानि) सब जीवोंको (भ्रामयन्) चारों ओर फिराता हुआ स्थित है ॥ ६१ ॥

भावार्थः— सर्वभूतान्तर्यामी अखिलजगत्स्वामी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति नहीं करनेवालेको अवश्य करानेवाले प्रधान परमेश्वरका परिचय देतेहुए कहते हैं, कि [ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति] हे अर्जुन ! सब प्राणीमात्रके हृदय प्रदेशमें वह ईश्वर सदा निवास करता है । अर्थात सृष्टिमात्रके जड-चेतनमें कोई भी उससे शून्य नहीं है ।

यहां 'हृद्देश' कहनेका तात्पर्य यह है, कि जैसे कोई परिधि (Circle) होती है तो हृद्देश उसका केन्द्र (Centre) कहलाता है। अर्थात् जैसे परिधिका हृत्स्थान केन्द्र है जो परिधिके बीचोंबीच स्थिर रहता है इसी प्रकार शरीररूपी परिधिका केन्द्र हृदयस्थान है अथवा ब्रह्मरन्ध्र है। यदि कहो, कि एक ही शरीररूप परिधिकेलिये हृदयस्थान जो अष्टदल कमलकी कर्णिका और ब्रह्मरन्ध्र जो सहस्रदलकमलकी कर्णिका है तहां दो केन्द्र क्यों मानते हो ? तो जानना चाहिये, कि इस शरीरके दो समभाग करके दक्षिण और वाम पार्श्वके नामसे दो परिधि बनायी हैं इसलिये दो केन्द्रोंकी आवश्यकता है पर वे दोनों केन्द्र एक दूसरेके सम्मुख एक सीधमें ऐसे पडेहुए हैं जैसे गाडीकी दोनों ओरके पहियोंके केन्द्र अर्थात् धुरी। इनही दोनोंके एक सीधमें होनेसे शरीररूप गाडी प्राणरूप वृषभ द्वारा अपनी आयुका बोझ लियेहुए चलरही है। जिसका चलानेवाला पूर्वोक्त केन्द्रस्थित ईश्वर है अर्थात् उसने जिस समय यह पांचभौतिक शरीर रचा तो यह ज्योंका त्यों जडवत् पड़ा था जब उस ईश्वरने देखा, कि बिना मेरी सहायताके यह कुछ नहीं करसकेगा तो मस्तकका बीच स्थान जो ब्रह्मरन्ध्र उसे फाडकर भीतर घुसगया। प्रमाण श्रु०— "ॐ अण्डस्थानि तानि तेन विना स्पन्दितुं चेष्टितुं वा न शेकुः। तानि चेतनीकर्तुं सोऽकामयत ब्रह्माण्डब्रह्मरन्ध्राणि समस्तव्यष्टिमस्तकान्विदार्य तदेवानुप्राविशत्। तदा जडान्यपि तानि चेतनवत्स्वकर्माणि चक्रिरे।" (पैंगलोपनि० श्रु० १ में देखो)

अर्थ— जितने अण्डस्थान अर्थात् शरीर थे वे उस ईश्वरके बिना स्फूर्त होने अथवा किसी प्रकारकी चेष्टा करनेके लिये समर्थ न हुए अर्थात् पांचों भूत अपने दश इन्द्रिय, चार अन्तःकरण और पांचों प्राणोंके साथ जडवत् पडेरहे तब उस ईश्वरने इन सबोंको चैतन्य करदेनेकी इच्छा की और ब्रह्माण्डभरके ब्रह्मरन्ध्रोंको अर्थात् संपूर्ण अथवा एक-एकके मस्तकको फाडकर उसी प्रकारका होकर प्रवेश करगया तत्पश्चात् ये पंचभूतादि जड वस्तु चेतनके समान सर्वकर्मोंका सम्पादन करनेलगे। जैसे कुलालने जब अपने जड-यंत्र (चाक) के ऊपर जड मृत्तिकाका पिंड रखदिया पर वह चक्र वा पिण्ड कुछ भी न करसका अर्थात् न ढकन बनासका न घट बनासका पर जिस समय चैतन्य कुलालने अपने दण्डसे चक्रको घुमादिया और अपने हाथका आश्रय मृत्तिकामें लगाये रहा तो उसके संकल्पानुसार घट, दीपक, हांडी, पतीली, कुल्हड इत्यादि बनते चलेगये और अपने-अपने कार्यमें लगादियेगये। इसी प्रकार प्रारब्धरूप जड चक्रपर पांचभौतिक शरीररूप पिण्डको रखकर ईश्वररूप कुलाल मायाके दण्डसे जब चलाता है तब ये मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग इत्यादि अपने-अपने कार्य करने लगजाते हैं। इसीलिये भगवान् कहते हैं, कि [**भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया**] वह ईश्वर अपनी मायासे प्रारब्धके यन्त्रपर आरूढ सब भूतोंको दशों दिशाओंमें फिराता हुआ जीवोंके हृत्स्थानमें स्थिर रहता है।

"**भ्रामयन**" शब्दके उच्चारण करनेसे भगवानका मुख्य तात्पर्य यह है, कि ब्रह्मलोकसे पाताल पर्यन्त जितने जीव हैं सब

एक लोकसे दूसरे लोकको ऊपर जाते और नीचे गिरतेहुए चक्कर खारहे हैं। कभी ब्रह्मलोकसे पाताललोक और कभी पाताललोकसे ब्रह्मलोक। कभी ब्रह्मासे कीट और कभी कीटसे ब्रह्मा। कभी ब्राह्मणसे कसाई और कभी कसाईसे ब्राह्मण। कभी स्त्रीसे पुरुष और कभी पुरुषसे स्त्री। कभी शशकसे श्याल और कभी श्यालसे शशक। कभी चातकसे चकोर और कभी चकोरसे चातक। कभी मेंढकसे मयूर और मयूरसे मेंढक बनते चलेजाते हैं और अपने-अपने प्रारब्धके चक्करमें दुख-सुख भोगते रहते हैं। किसीका अपना वश कुछ भी नहीं है जीवमात्र ईश्वराधीन है। वह ईश्वर ही सबोंको कूपघटिकायन्त्र अथवा कुलालचक्रके समान भ्रमा रहा है।

प्रमाण श्रु०— "ॐ जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्च्छामरणधर्मयुक्तो घटीयन्त्रवदुद्विग्नो जातो मृत इव कुलालचक्रन्यायेन परिभ्रमतीति" (पैंगलोप० अ० १ में देखो)

अर्थ— जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और मरणके धर्मसे युक्त घटी-यन्त्रके समान यह जीव ऊपर नीचे होता हुआ मिट्टीके समान कुलालचक्रन्यायसे भिन्न २ रूप बनता हुआ घूमता है।

इतना कहनेसे भगवान्‌का अभिप्राय यही है, कि अर्जुन अहंकारादि सर्वप्रकारकी अज्ञानताको परित्याग कर अपनेको कर्त्ता न मान ईश्वरको सबोंका नियामक जानकर युद्ध करना न छोड़ेगा।

शंका— पहले तो भगवान अ० ५ श्लो० १४ में कह आये हैं, कि " न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः। न कर्म

फलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते " अर्थात् वह महाप्रभु न कर्तृत्वको, न कर्मको और न कर्मफलके संयोगको रचता है सर्वत्र केवल स्वभावही वर्त्तमान है और अब कहते हैं, कि " भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया " सबके हृदयस्थानमें रहकर सबोंको अपनी माया द्वारा भिन्न २ प्रकारके कर्मोंमें फिराता रहता है। भगवान्के वचनमें ऐसा पूर्वापर विरोध क्यों ?

समाधान— अ० ५ के श्लोक १४ में जो 'प्रभु' शब्द है वह सच्चिदानंद परब्रह्मके दो स्वरूपोंमें अव्यक्तस्वरूपकी सूचना करता है अर्थात् जब वह महाप्रभु अपने अव्यक्तस्वरूपमें रहता है तब वह कर्तृत्व, कर्म और कर्मभोगसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखता परं जब वही अव्यक्त अपनी मायाको स्वीकार करे सत्त्वगुणको अंगीकार कियेहुए होकर प्रत्येक शरीरके मूर्धाको फाड, शरीरमें मूर्धासे हृदयकमलतक प्रवेश करजाता है तब उसीका नाम ईश्वर कहलाता है। इसीलिये भगवानने " ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे " कहा है जो अपनी ईश्वरे शक्तिसे साक्षीभूत होकर सब जीवोंके शुभाशुभ कर्मोंके सम्पादन होनेके निमित्त अपनी सत्ता प्रदान करता है। यही कारण है, कि मूर्धासे हृदयकमल तक संकल्प-विकल्प करने, समझने बूझने ग्रहण करने और त्यागने इत्यादिकी शक्ति वर्तमान है, उससे नीचे उदरमें, नाभिमें, कटिमें, मेढ्रमें, उरु इत्यादिमें समझने बूझने और ग्रहण करनेकी शक्ति नहीं है।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि वह महाप्रभु केवल सत्त्वगुण अंगीकार कर ईश्वर हो प्रत्येक जीवके साथ विलग-विलग निवास करता है जिसकेलिये श्रुतिने " द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया " कहा है । हे प्रतिवादी ! तू स्मरण रख, कि सत्ताकी अपेक्षा ब्रह्म और ईश्वरमें अन्तर है । ब्रह्म मायारहित है और ईश्वर मायाके सत्त्वगुणको अंगीकार कियेहुए है । अतएव अ० ५ के चौदहवें श्लोकमें 'प्रभु' शब्दका अर्थ ब्रह्म समझो जो सर्वप्रकारके कर्तृत्वसे रहित है, अक्रिय और अविनाशी है और वही जब ईश्वरस्वरूपको अंगीकार करता है तो संपूर्ण सृष्टिमात्रको ऊपर नीचे करता रहता है । इसलिये वहां ब्रह्म और यहां ईश्वरसे तात्पर्य है । यदि इस गूढ रहस्यको तुम नहीं समझ सकते हो तो चुप रहो शंका मत करो !

पाठकोंको सूचना दीजाती है, कि आज कल जो लोग कुकर्मी हैं वे संपूर्ण गीतामें इस श्लोकको कंठाग्र रखते हैं । यदि उनसे पूछो, कि तुम कुकर्म क्यों करते हो ? वेश्याके घरमें रात्रिभर क्यों पड़े रहते हो ? तो यही उत्तर देते हैं, कि " भ्रामयन् सर्वभूतानि " वही ईश्वर सब जीवोंको कर्मोंके चक्करमें फिरारहा है अर्थात वही सबकुछ कराता है, हम कुछ नहीं करते। पर ऐसे अज्ञानियोंको इस श्लोकके मर्मका बोध नहीं है । हां ! यदि वे ईश्वरनिष्ठ होजावें और सर्व कर्मोंको ईश्वराधीन समझें तब तो कहना ही क्या है ? फिर तो भगवान् स्वयं आगे कहेंगे, कि " अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि " पर ये अज्ञानी ईश्वरनिष्ठ नहीं हैं केवल अशुभ

कर्मोंका भार ईश्वरपर देदेते हैं और शुभकर्मोंके कर्त्ता आप बनजाते हैं। यदि इनसे पूछाजावे, कि यह जो सात महलकी अटारी अति उत्तम और सुन्दर बनी हुई है जिसके समान दूसरी कोई अटारी इस देशभरमें नहीं है उसको किसने बनाया है? तब आप झट कह पडते हैं, कि मैंने इसके बनानेमें बहुत यत्न किये मुलतानसे ईंटें मँगवायीं, जयपुरसे पत्थरके खम्भे मंगाये, जर्मनसे झरोखेकी जालियां मंगवायीं फिर इसको तयार करायी दूसरे किसीने भी मेरी सहायता नहीं की। ऐसे अज्ञानियोंसे पूछना चाहिये, कि जिस ईश्वरका नाम तुम वेश्यागमनके समय लेरहे थे अब तुम एकबार इस अटारीके विषय यह नहीं कहते, कि ईश्वरने मेरी सहायता की है वरु ईश्वरको भूलकर कहते हो, कि किसीने भी मेरी सहायता नहीं की। ऐसे मूर्खोंकेलिये यह श्लोक स्मरण रखना मानों धूर्तताके मूलको दृढ करना है क्योंकि यह श्लोक उसी पुरुषकेलिये है जिसने १७ अध्याय गीताके तत्त्वोंको भली भांति समझलिया है। इसीलिये भगवान्‌ने गीताशास्त्र समाप्त करनेके पश्चात अर्जुनके प्रति यह श्लोक कहा है।

शंका— तुम कितना भी कहो पर मेरे चित्तको तो यही ज्ञात होता है, कि वह ईश्वर ही हृदयमें निवास करके पाप, पुण्य इत्यादि सब कर्मोंको करवाता है, मैं पाप ताप कुछ भी नहीं करता। वही मुझको मद्यकी भट्ठी अथवा वेश्याके घरमें लेजाता है फिर मैं तुम्हारी बात कैसे मानूं? यदि तुम मुझे ठीक-ठीक समझाकर मेरी शंका का निवारण करदो तो मैं भलेही तुम्हारी बात मानलूं।

समाधान— अरे मतिवादी ! तेरी इस शंकाके निवारणार्थ तो भगवानने इस श्लोकमें " यन्त्रारूढानि " वाक्यका प्रयोग किया है तहां तात्पर्य यह है, कि जैसे पुतलीनचानेवालेकी पुतलियां भिन्न २ यन्त्रोंसे लगी रहती हैं और जिस समय वह पुतलियोंको नचाता है तो यन्त्रोंकी भिन्नताके कारण कोई पुतली नाचती है, कोई बाजा बजाती है, कोई हंसती है, कोई ताली पीटती है इत्यादि अर्थात् नचानेवाला सबोंमें एक ही कुञ्जी देता है पर यन्त्रके कारण पुतलियां भिन्न २ चेष्टाएं करती रहती हैं। अथवा जैसे लोहेके पुतलीघरोंमें भिन्न २ प्रकारके यंत्र लगे रहते हैं कोई लोहेको गलाता है, कोई लोहेका (Bars) तार बनाता है, कोई पेच (Screw) बनाता है इत्यादि पर कुञ्जी देनेवाला केवल एक ही बडे यंत्रमें कुंजी देदेता है फिर सबके सब यंत्र अपने-अपने कार्योंको करने लगजाते हैं। इसी प्रकार पूर्वजन्मार्जितकर्मानुसार प्रारब्धके यंत्रपर अर्थात् पाप और पुण्यके यन्त्रपर जीवमात्र आरूढ होरहे हैं अर्थात् चढे हुए हैं ईश्वर केवल कुंजी देनेवाला है। ये जीव अपने-अपने पाप और पुण्यके यन्त्रानुसार पाप और पुण्य कियाकरते हैं। ईश्वर केवल शक्तिमात्र प्रदान करनेवाला है उस एक ही शक्तिके द्वारा आंख देखती है, कान सुनता है, जिह्वा बोलती है इत्यादि २। जैसे कुंजी देनेवाला कुञ्जी देकर एक ठौर बैठजाता है और सब यंत्रोंके कार्योंको देखता रहता है इसी प्रकार ईश्वर शरीररूप यंत्रमें कुञ्जी देकर साक्षीमात्र हो बैठजाता है। यदि वह कुञ्जी न देवे तो शरीर मृतकके समान पडारहे अथवा यों समझो, कि जैसे जेबघडीमें एक ही कुञ्जी देनेसे तीन प्रकारकी सूइयां तीन प्रकारके कार्य करने लगजाती

हैं कोई घंटा बताती है, कोई मिनट बताती है और कोई सैकिण्ड बताती है। इसी प्रकार ईश्वरसत्ताको पाकर यह जीव पूर्वजन्मार्जित पाप और पुण्यके यन्त्रोंपर आरूढ हो इष्टानिष्ट कर्मोंका सम्पादन करता रहता है अर्थात् कोई पाप करता है, कोई पुण्य करता है और ईश्वर साक्षीमात्र रहता है पर जीवोंमें और पुतलियोंमें इतना भेद तो अवश्य है, कि ये जीव चैतन्य हैं और पुतलियां जड हैं। पुतलियां कुंजी देनेवालेको यह नहीं कहसकतीं, कि तुम मुझको इस यंत्रसे निकालकर बिछावनपर सुलादो पर जीव चैतन्य होनेके कारण ईश्वरके सम्मुख हो यह प्रार्थना करसकता है, कि हे भगवन्! हे नाथ! हे कृपालु! मुझे इस शुभाशुभ कर्मके यन्त्रसे छुडाकर शान्ति प्रदान करो। तात्पर्य यह है, कि जिसी समय यह जीव पाप-पुण्यके बखेडोंसे अपने अन्तःकरणको शुद्ध कर ईश्वरके सम्मुख होता है उसी समय वह जीवरूपी पुतलीको यन्त्रसे निकालकर मुक्ति तथा अपने चरणारविन्दोंकी भक्ति प्रदान करे नाचनेसे छुडादेता है। इसलिये हे प्रतिवादी! तू यदि दुःख-सुखसे छूटा चाहता है तो पाप-पुण्यकी ओर न जाकर ईश्वर-शरण होजा। क्योंकि तू चैतन्य है जड नहीं है, समझता है बेसमझ नहीं है, तू अवश्य जानता है, कि यह पाप है यह पुण्य है इसलिये करने और छोडनेकी सत्ता तुझमें है तू केवल अपनी अज्ञानतावश नाचरहा है। यदि तू यह कहे, कि जब तक प्रेरणा होती रहेगी तब तक मैं कैसे छुटूंगा? तो स्मरण रख, कि भगवत् शरण जाते ही कर्मोंकी प्रेरणा एकबारगी रुकजावेगी। फिर तुझको किसी प्रकारका प्रारब्ध नहीं भोगना पडेगा॥ ६१॥

सो भगवान स्वयं अगले श्लोकमें कहरहे हैं—

मू०— तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत !
तत्प्रसादात्परां शांतिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥
॥ ६२ ॥

पदच्छेदः— भारत! (हे भरतवंशोद्भवार्जुन!) सर्वभावेन (शरीरेण वाचा मनसा । सर्वविधिना । सर्वात्मना वा) तम् (सर्वान्तर्यामिनमीश्वरम) एव (निश्चयेन) शरणम (आश्रयम) गच्छ (याहि) तत्प्रसादात् (तदनुग्रहात) पराम् (प्रकृष्टाम् । श्रेष्ठाम) शान्तिम (उपरतिम्) [तथा] शाश्वतम् (नित्यम । अव्ययम् । विनाशरहितम) स्थानम (पदम) प्राप्स्यसि (लप्स्यसे) ॥ ६२

पदार्थः— (भारत !) हे भरतकुलोत्पन्न अर्जुन ! (सर्वभावेन) सर्व प्रकारके भावोंसे (तम, एव) उसी ईश्वरकी (शरणम) शरण (गच्छ) जा (तत्प्रसादात) उसके अनुग्रहसे (पराम) उत्कृष्ट (शान्तिम) शान्तिको (शाश्वतम्) नित्य अर्थात् सदा वर्त्तमान रहनेवाले (स्थानम) पदको (प्राप्स्यसि) प्राप्त करेगा ॥ ६२

भावार्थः— अब अमितानन्ददायक सकलचराचरनायक भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनको अन्तिम उपदेश करतेहुए कहते हैं,

---

O Parth approach resort Divne
with all emotions of love
His grace shall pay you peace benign
perpetual place above. "Hansa"

कि [तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत !] हे भक्तशिरोमणि अर्जुन ! तू सर्वप्रकारके भावोंसे अर्थात् मन, वच, कर्म तथा दास सख्यादिभावसे उसी ईश्वरकी शरण जा जो संपूर्ण जगत्को भृकुटिविलासमात्रसे नचानेवाला है ।

यहां " सर्वभावेन " कहनेका तात्पर्य उन ही ११ भावोंसे है जिनका वर्णन इस अध्यायके श्लोक ५४ में " आसक्ति " नाम करके कियागया है, ।

जब तू ऐसे महेश्वरकी शरणमें प्राप्त होजावेगा तब [तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्] उसीकी कृपासे तू परमोत्तम शान्तिको प्राप्त होगा और शाश्वतस्थान जो कैवल्य परमपद नित्य और अव्यय है उसे लाभ करेगा । फिर तू कृतकृत्य होजावेगा और किसी अन्य पदार्थके लाभ करनेकी इच्छा तेरे हृदयमें नहीं रहेगी ।

शंका— श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्रने अर्जुनके प्रति ईश्वरकी शरण आनेको कहा तहां यह तो नहीं बताया, कि वह ईश्वर कहां और किस स्थानमें रहता है जहां उसकी शरणमें प्राणी चलाजावे ?

समाधान— अजी प्रतिवादी ! तुम तो पल मारते ही बातें भूल जाया करते हो । अरे ! अभी तो भगवान्‌ने पूर्वश्लोकमें अर्जुनके प्रति यों कहा है, कि " ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति " हे अर्जुन ! वह ईश्वर प्रत्येक प्राणीके हृदयमें रहता है इसलिये

उसको ढूँढनेके लिये किसी लोकलोकान्तरमें जानेकी अथवा दोचार सहस्र योजन ऊपर चढनेकी आवश्यकता नहीं है। वह तो तुम्हारे साथ-साथ है। मैं पहले भी कह आया हूं, कि उसका निवास-स्थान अष्टदलकमलकी कर्णिकासे सहस्रदलकर्णिका पर्यन्त है। सुनो! मैं फिर तुमको श्रुतिका प्रमाण देकर सुनाता हूं। प्रमाण श्रु०—

"ॐ अथ वा न्यस्तहृदयपुण्ड्रमध्ये वा हृदयकमल मध्ये वा। तस्य मध्ये वह्निशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थिता। नीलतोयदमध्यस्थाद्विद्युल्लेखेव भास्वरा। नीवारशूकवत्तन्वी परमात्मा व्यवस्थित इति। अतः पुण्ड्रस्थं हृदयपुण्डरीकेषु तमभ्यसेत्"

(वासुदेवोपनिषद्में देखो)

अर्थ— अथवा खुलेहुए हृदय कमलकी कर्णिकामें वा हृदय-कमलके मध्य अग्निशिखामें जिसकी 'लौ' का उर्ध्वभाग सुईके अग्रभागके समान नुकीला है और नीले मेघके मध्य विद्युत्की रेखाके समान चमकती हुई है तहाँ ही वनके नीवार (धान्य) शिखाके समान अत्यन्त सूक्ष्मरूपसे वह परमात्मा व्यवस्थित है उसी हृदय-कमलमें कमलस्थ परमात्माका अभ्यास करे।

फिर वासुदेव भगवान कहते हैं, कि "तैलं तिलेषु काष्ठेषु वह्निः क्षीरे घृतं यथा। गन्धः पुष्पेषु भूतेषु तथात्मावस्थितोह्यहम्। ब्रह्मरन्ध्रे भ्रुवोर्मध्ये हृदये चिद्रविं हरिम्।" (वासुदेवोप० श्रु० १ में देखो)

अर्थ— जैसे तिलमें तेल, काष्ठमें अग्नि, क्षीरमें घृत, पुष्पमें गन्ध स्थित है ऐसे सब जीवोंमें मैं सर्वात्मा स्थित हूं। इसलिये

सुझ ईश्वरको इन स्थानोंमें अपनेही शरीरके भीतर एकाग्र मनसे देखो। शंका मत करो ! ॥ ६२ ॥

अब भगवान अपने वचनको समाप्त करतेहुए अर्जुनके प्रति कहते हैं—

मू०— इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

पदच्छेदः— मया (परमेश्वरेण) ते (मदनन्यभक्तपरमप्रियाय तुभ्यमर्जुनाय) इति (उक्तविधम) गुह्यात् (गोपनीयात अपि) गुह्यतरम (अतिगुप्तम् । गूढरहस्यम्) ज्ञानम (आत्मज्ञानम । गीताशास्त्रम्वा) आख्यातम (कथितम । निर्दिष्टम) एतत (मदुक्तं गीताशास्त्रम् । आत्मज्ञानम) अशेषेण (समग्रेण) विमृश्य (विचार्य्य) यथा (यादृशम) इच्छसि (अभिलषसि) तथा (तादृशम्) कुरु (आचर) ॥ ६३ ॥

पदार्थः—(मया) मेरेद्वारा (ते) तेरे लिये (इति) यह (गुह्यात) गोपनीयसे भी (गुह्यतरम) अत्यन्त गोपनीय (ज्ञानम) ज्ञान 'यह गीताशास्त्र' (आख्यातम) जो कहा गया (एतत) इस को (अशेषेण) सांगोपांग (विमृश्य) विचारकर (यथा) जैसी (इच्छसि) इच्छा हो (तथा) वैसा ही (कुरु) कर ॥ ६३ ॥

भावार्थः— परमतत्त्वप्रदर्शक गीतामृतवर्षक भगवान श्रीकृष्णचन्द्र इस गीताशास्त्रको समाप्त करतेहुए अर्जुनके प्रति कहते हैं

कि [इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया] हे अर्जुन ! यहांतक तेरे लिये गोपनीयसे भी अत्यन्त गोपनीय ज्ञान मेरे द्वारा कहागया है अर्थात् जिन गोपनीय तत्त्वोंको मैंने आजतक किसी अन्यके प्रति अपने मुखसे कथन नहीं किया था उन तत्वोंको मैंने तुझे अपना सखा और शिष्य जानकर सुनादिया।

तात्पर्य यह है, कि कर्म, उपासना और ज्ञानके जो गुह्यतम रहस्य थे वे मैंने तेरे सम्मुख अभिव्यक्त करदिये अर्थात् जैसे इन्द्रजाल-मायावी अपनी पिटारी खोल बड़े-बड़े बुद्धिमानोंको मोहित करनेवाली क्रीडाओंको प्रकट करडालता है इसी प्रकार अपनी माहेश्वरी मायाकी पिटारी खोल जो कुछ दिखलाना था तुझे दिखलादिया। इनमें जो-जो विशेषबातें थीं वे तेरे ध्यानमें अवश्य आगई होंगीं।

पाठकोंके कल्याणनिमित्त श्रुतिद्वारा यह दिखलादियाजाता है, कि कौन-कौनसी विशेष बातें भगवान्ने अर्जुनके प्रति कहीं जिनके वशीभूत होनेसे यह आत्मा जीवात्मा कहलाता है और जिनके छूट-जानेपर परमात्मस्वरूप होजाता है। प्रमाण श्रुतिः— " ॐ तापत्रयं त्वाध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकं कर्तृकर्मकार्यज्ञातृज्ञान-ज्ञेयभोक्तृभोगभोग्यमिति त्रिविधम। त्वङ्मांस शोणितास्थिस्नायु-मज्जाः षट्कोशाः। कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्य्यमित्यरिष-ड्वर्गः। अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमया इति पंच कोशाः। प्रियात्मजननवर्धनपरिणामक्षयनाशाः षड् भावाः। अशनायापिपासाशोकमोहजरामरणानीति षडूर्मयः। कुलगोत्र-

जातिवर्णाश्रमरूपाणि षड् भ्रमाः एतद्योगेन परमपुरुषो जीवो भवति नान्यः। " (मुद्गलोप० श्रु० ४ में देखो)

अर्थ—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीनों ताप। कर्त्ता, कर्म क्रिया, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, भोक्ता, भोग और भोग्य ये तीनों प्रकारके त्रिक वा त्रिपुटी। त्वचा, मांस, रुधिर, अस्थि (हड्डी) स्नायु (रग) मज्जा, छवों कोश। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य ये छवों अरिषड्वर्ग अर्थात् भूतात्मा। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय ये पांचों कोश। प्रिय, आत्मजनन, वर्धन, परिणाम, क्षय और नाश अथवा अस्ति, जायते, वर्द्धते, परिणमते अपक्षीयते, विनश्यति ये छवों भाव। भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा और मृत्यु ये छवों ऊर्मियां। कुल, गोत, जाति, वर्ण, आश्रम और रूप ये छवों भ्रम। इन ही सबोंके साथ मिलजानेसे परमपुरुष जीव कहलाता है और इनको त्यागदेनेसे फिर जैसाका तैसा परमपुरुष कहलाता है। यथार्थमें तो वह परमपुरुष जीव नहीं होता पर अन्तःकरणके विकारसे भ्रमात्मक-ज्ञान द्वारा उसे जीव कहना पडता है। जैसे निर्मल आकाश मेघमाला द्वारा विकृत कहाजाता है पर यथार्थमें मेघ वा विद्युत् इत्यादिकी उपाधि आकाशमें नहीं लिपटती इसी प्रकार केवल भ्रम ही भ्रम है। इनसे अतिरिक्त और भी जो विषय कथन कियेगये हैं उन्हें भी सुनलो! श्रुति द्वारा सुनाता हूं।

श्रु०— " ॐ स होवाचाथर्वा यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टांगानि। तत्र दशयमाः तथा नियमाः

आसनान्यष्टौ त्रयः प्राणायामाः पञ्च प्रत्याहाराः तथा धारणा द्विप्रकारं ध्यानम् । समाधिस्त्वेकरूपः ।

तत्राऽहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्य्यदयाजपक्षमाधृतिमिताहारशौचानि चेति यमा दश ।

तपः सन्तोषास्तिक्यदानेश्वरपूजनसिद्धान्तश्रवणह्रीमतिजपोव्रतानि दश नियमाः ।

स्वस्तिकगोमुखपद्मवीरसिंहभद्रमुक्तमयूराख्यान्यासनान्यष्टौ ।

प्राणापानसमायोगः प्राणायामो भवति रेचकपूरककुंभकभेदेन स त्रिविधः ।

अथ प्रत्याहारः । तत्र विषयेषु विचरतामिन्द्रियाणां बलादाहरणं प्रत्याहारः । यद्यत्पश्यति तत्सर्वमात्मेति प्रत्याहारः । नित्यविहितकर्मफलत्यागः प्रत्याहारः । सर्वविषयपराङ्मुखत्वं प्रत्याहारः । अष्टादशसु मर्मस्थाने क्रमाद्धारणं प्रत्याहारः ।

धारणा आत्मनि मनो धारणम् । दहराकाशे बाह्याकाशे धारणम् । पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशेषु पञ्चमूर्त्तिधारणं चेति ।

अथ ध्यानम् । सगुणं निर्गुणं चेति । सगुणं मूर्त्तिध्यानम् । निर्गुणमात्मयाथात्म्यम् ।

अथ समाधिः । जीवात्मापरमात्मैक्यावस्था त्रिपुटीरहिता परमानन्दस्वरूपाशुद्धचैतन्यात्मिका भवति । " (शांडिल्योपनिषत्में देखो)

अर्थ— महर्षि शांडिल्यने जब ब्रह्मर्षि अथर्वसे जाकर अष्टांगयोग के विषय पूछा है तब अथर्वने कहा, कि हे महर्षि शांडिल्य! यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये ही अष्टांगयोगके आठ अंग हैं।

दश यम, दश नियम, आठ आसन, तीन प्राणायाम, पांच प्रत्याहार, पांच धारणा और दो ध्यान हैं तथा एक समाधि है।

१. यम— तिनमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, जप, क्षमा, धृति, मिताहार और शौच ये यमके भिन्न-भिन्न दश अंग हैं।

२. नियम— तप, अस्तेय, आस्तिक्य, दान, ईश्वरपूजन सिद्धान्त श्रवण, ह्री, मति जप और व्रत ये नियमके दश अंग हैं।

३ आसन— स्वस्तिक, गोमुख, पद्म, वीर, सिंह, भद्र, मुक्त और मयूर ये आठ × आसन चौरासी लक्ष आसनोंमें मुख्य हैं।

४. प्राणायाम— प्राण और अपानके समान-योगको प्राणायाम कहते हैं सो तीन प्रकारका है रेचक, कुम्भक और पूरक।

५. प्रत्यहार— प्रत्याहारके पांच भेद हैं। विषयोंमें विचरनेवाली इन्द्रियोंको खींच लेना प्रथम प्रत्याहार है। जो-जो वस्तु प्राणी देखता

× इन आठों आसनोंको गुरुद्वारा जानलेना। लेखद्वारा इनको जानना कठिन है। इन आसनोंमें मुख्य मुक्त आसन जो सिद्धासन है तिसका यत्किंचित् वर्णन अ० ६ श्लोक १३, १४ में होचुका है देखलेना।

है उन सबको आत्मा समझना द्वितीय प्रत्याहार है। नित्य और विहित कर्मफलोंका परित्याग तृतीय प्रत्याहार है। सर्वविषयोंसे मुख मोडलेना चतुर्थ प्रत्याहार है। * अठारहों मर्मस्थानोंका क्रमसे धारण करना पांचवां प्रत्याहार है।

६. **धारणा**— आत्मामें मनका लगादेना पहली धारणा है। दहराकाश और बाह्याकाशमें मनका टिकादेना दूसरी धारणा है। पृथिवी आदि पांचों भूतोंको अपने वश करलेना तीसरी धारणा है।

७. **ध्यान**— ध्यानके दो भेद हैं, सगुणस्वरूपका ध्यान और निर्गुणस्वरूपका ध्यान। अर्थात् अपने इष्टदेवकी सगुणमूर्त्तिका ध्यान करना वा आत्माका ध्यान करना।

८. **समाधि**— जीवात्मा और परमात्माकी एकता त्रिपुटीसे रहित परमानन्दस्वरूपवाली शुद्धचैतन्यात्मिका अवस्था समाधि कही जाती है।

इसीलिये भगवान अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि ये सब विषय जो गूढतम थे उन्हें तेरे सामने कथन करदिये अब [**विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु**] इन विषयोंको विचार कर जैसी तेरी इच्छा हो वैसा कर अर्थात् युद्धसम्पादन कर! वा न कर सो तू जाने। मुझे जो कुछ कहना था कहदिया ॥ ६३ ॥

---

* पाद, अंगुष्ठ, गुल्फ, जंघा, जानु, उरु, अपायु, मेढ्र, नाभि, हृदय, कंठकूप, तालु, नासा, अक्षि, भ्रूमध्य, ललाट, मूर्धा और ब्रह्मरन्ध्र ये अठारह मर्मस्थान हैं।

हे अर्जुन ! इन उपदेशोंमें केवल एक उपदेशके विषय जिसे तुझे कभी भी नहीं छोडना चाहिये पुनः कहता हूँ—

मू०— सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
॥ ६४

पदच्छेदः— सर्वगुह्यतमम् (गुह्यादपिगुह्यम्) मे (मम-वासुदेवस्य) परमम् (सर्वोत्तमम् । सर्वश्रेष्ठम्) वचः (वचनम् । वाक्यम्) भूयः (पुनः) शृणु (आकर्णय) मे (मम) दृढम् (अत्यर्थम् । अत्यन्तम्) इष्टः (प्रियः) असि, ततः, (तस्मात) इति (इदम्) हितम् (सुखप्रदकथनम्) वक्ष्यामि (कथयिष्यामि) ॥ ६४ ॥

पदार्थः— (सर्वगुह्यतमम्) सबसे गोपनीय (मे) मेरा (परमम्) परम उत्तम (वचः) वचन (भूयः) फिरे (शृणु) सुन क्योंकि (मे) तू मेरा (दृढम्) अत्यन्त (इष्टः) प्रिय (असि) है (ततः) इसलिये (इति) यह (ते हितम्) तेरे हितका साधन करनेवाला वचन (वक्ष्यामि) कहूंगा ॥ ६४ ॥

भावार्थः— राजविद्याविशारद यादवेन्द्र भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र एतर्जुनके प्रति परमगुप्त तत्वके प्रकाश करनेकी प्रतिज्ञा करतेहुए कहते हैं, कि [सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः] हे

अर्जुन! फिर एक बार गुप्तसे भी गुप्त तत्ववाले मेरे वचनको तू सुनले! अर्थात् मैंने जो इस गीताशास्त्रमें तुझे अनेक रहस्य बताये उनमें कर्म-योग तो 'गुह्य' है उससे भी अधिक गूढ उपासनातत्व है जो गुह्य-त्र कहलाता है तिससे भी अधिक गूढ जो ज्ञानतत्व है उसे गुह्यतम कहते हैं और तिससे भी अधिक जो गूढ हो उसे सर्वगुह्यतम कहते हैं सो मैं तुझको सर्वगुह्यतम वचन कहूंगा क्योंकि [इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्] तू मेरा दृढ इष्ट है अर्थात परम प्रिय है इसलिये मैं तेरे हितका साधन करनेवाला वचन तेरे प्रति अवश्य कहूंगा।

प्रिय पाठको! सनातनसे ऐसी रीति चलीआरही है, कि प्रत्येक प्राणी अपने मनकी गूढ वार्त्ता अर्थात गोपनीय रहस्य अपने मित्रसे ही कहता है औरोंसे बहुतेरी बातें छिपावे तो छिपावे पर मित्रसे किसी गुह्य रहस्यका छिपाना प्रायश्चित्त है।

जब संसारी मित्रोंमें ऐसा नियम है तो हमलोगोंका सनातनसे सच्चा मित्र जो श्यामसुन्दर कृष्णचन्द्र है वह हमलोगोंके हितसाधन करनेवाले वचनको कैसे छिपाकर रख सकता है। इसीलिये भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! तू मेरा दृढ मित्र है इसलिये मैं तेरे हित साधनकेलिये एक " सर्वगुह्यतम " रहस्य कहता हूं सुन! और कुछ कर या न कर तेरी इच्छा। पर इस " सर्वगुह्यतम " रहस्यका तो अवश्य सम्पादन कर! ॥ ६४ ॥

अब वह सर्वगुह्यतम रहस्य क्या है? सो सुन!

मू०— मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
॥ ६५ ॥

पदच्छेदः— मन्मनाः (मयि परमेशे मनः चित्तं यस्य सः । सदा मच्चिन्तनपरमानसः) मद्भक्तः (ममभक्तः । मयि परमेश्वरे परमानुरक्तिर्यस्य सः) मद्याजी (मत्पूजनशीलः) भव, माम् (वासुदेवम्) नमस्कुरु (कायेन वाचा मनसा सर्वभावेन प्रणाम!) माम् (वासुदेवम्) एव (निश्चयेन) एष्यसि (प्राप्स्यसि) ते (तुभ्यमर्जुनाय) सत्यम् (यथार्थतया) प्रतिजाने (प्रतीज्ञां करोमि) मे (ममेशनशीलस्येश्वरस्य) प्रियः (इष्टः) असि (वर्तसे) ॥ ६५

पदार्थः— (मन्मनाः) फिर तू मेरे स्वरूपमें निरन्तर अपने मनको स्थिर रखनेवाला (मद्भक्तः) मेरी भक्ति करनेवाला (मद्याजी मेरी पूजा करनेवाला (भव) होजा (माम्) मुझको ही (नमस्कुरु) प्रणाम कर (माम) तो ऐसा करनेसे मुझ सर्वशक्तिमान् परमेश्वरको (एव) अवश्य (एष्यसि) प्राप्त करेगा (ते) तेरेलिये मैं अपनी (सत्यम्) सच्ची (प्रतिजाने) बात जनाता हूं (मे) क्योंकि तू मेरा (प्रियः) प्यारा मित्र (असि) है ॥ ६५ ॥

भावार्थः— अब जगद्धितैषी प्रेम तत्त्वान्वेषी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति "सर्वगुह्यतम" तत्त्व वर्णन करते हुए कहते हैं, कि [मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु] हे

अर्जुन ! तू मेरेहीमें मन लगा, मेरा ही भक्त हो, मेरा ही यजन कर और मुझहीको नमस्कार किया कर !

भगवान्‌के कहनेका मुख्य तात्पर्य यही है, कि जैसे मस्तकके ऊपर घट धरकर रस्सेपर चलने वाला नट अपनी मनोवृत्ति सर्वओरसे हटाकर उस रस्सेमें लगा देता है और जबतक एक ओरसे दूसरी ओर तक नहीं पहुंचता तबतक अपनी मनोवृत्ति स्थिर रखता है चंचल नहीं होता। इसी प्रकार तू संसृति व्यवहारोंको करताहुआ तथा महाभारत-युद्धमें युद्धकी सारी कलाओंको काममें लाता हुआ भी अपनी मनोवृत्तिको मेरे स्वरूपमें लगाये रख अर्थात् " मन्मना " हो रह। ऐसे 'मन्मना' होकर मेरी भक्ति करता हुआ अन्य देव देवियोंका आसरा छोड 'मद्याजी' मेरा ही यजन पूजन करता हुआ मुझ ही को नमस्कार कियाकर। ऐसा करनेसे हे अर्जुन ! [मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे] मुझ ही को तू प्राप्त होगा यह वार्त्ता तुझे सत्यरूपसे जनाता हूं क्योंकि तू मेरा प्रिय सखा है। इसी वचनको भगवान्‌ने श्रुतियोंमें भी कहा है—

प्रमाण श्रु०— ॐ स आदिनारायणोऽहमेव। तस्मान्मामेकं शरणं व्रज। मद्भक्तिनिष्ठो भव। मदीयोपासनां कुरु। मामेव प्राप्स्यसि। मद्व्यतिरिक्तमबाधितं न किंचिदस्ति। निरतिशयानन्दाऽद्वितीयोऽहमेव। सर्वपरिपूर्णोऽहमेव। सर्वाश्रयोऽहमेव। वाचामगोचरनिराकारपरब्रह्मस्वरूपोऽहमेव। मद्व्यतिरिक्तमणुमात्रं

न विद्यते । इत्येवं महाविष्णोः परममिममुपदेशं लब्ध्वा पितामहः परमानन्दं प्राप ” (त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषत् अ० ८ श्रु० ८ में देखो)

अर्थ— श्रीनारायण भगवान् ब्रह्मदेवके प्रति कहरहे हैं, कि सो आदिनारायण मैं ही हूं इसलिये मेरी शरण ग्रहण कर । मेरी भक्तिमें निष्ठा कर । मेरी उपासना कर । तब तू मेरेको ही प्राप्त होगा । मेरे अतिरिक्त सब वस्तु बाधित हैं । और मेरे बिना अबाधित कोई वस्तु नहीं है । तात्पर्य यह है, कि जहां मैं हूं तहां कोई वस्तु बाधा करनेवाली नहीं है । अतिशय आनन्दमय और अद्वितीय मैं ही हूं । सर्वत्र मैं ही परिपूर्ण हूं अथवा सबप्रकारकी कामनाओंसे मैं पूर्ण हूं । सबोंका आश्रय अर्थात् अवलम्ब भी मैं ही हूं । वाचासे अगोचर निराकार परब्रह्मस्वरूप मैं ही हूं । मेरे बिना अणुमात्र भी वर्त्तमान नहीं रहसकता । इस प्रकार महाविष्णुके परम उपदेशको लाभ कर पितामह ब्रह्मदेव परमानन्दको प्राप्त हुए ।

इसी वचनको भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र इस श्लोकमें कहकर अर्जुनको अपनी भक्ति स्वीकार करलेनेकी आज्ञा देरहे हैं ।

इस श्लोकका व्याख्यान अ० ६ श्लो० ३४ में होगया है इसलिये यहां संक्षेपतः वर्णन किया ॥ ६५ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें अपनी भक्ति प्राप्त होनेके उपायोंमें श्रेष्ठ और सुलभ उपाय वर्णन करतेहुए कहते हैं ।

मू०—सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६

पदच्छेदः— सर्वधर्मान् (अखिलान् । सकलान् । समस्तान् । वर्णाश्रमविहितधर्मान् । नित्यनैमित्तिकान्) परित्यज्य (विहाय) एकम् (केवलम) माम् (सकलान्तर्यामिनं ज्ञानमयं परमेश्वरं वासुदेवम्) शरणम् (आश्रयम । अवलम्बम् । आधारम्) व्रज (गच्छ । याहि । भज) अहम् (सर्वनियन्ता वासुदेवः) त्वाम् (अर्जुनम्) सर्वपापेभ्यः (सकलदुरितेभ्यः । समस्तकिल्विषेभ्यः । दुःखेभ्यः । अनिष्टेभ्यः । दुष्कर्मफलेभ्यः) (मोक्षयिष्यामि) (मोचयिष्यामि) मा शुचः (शोकं माकार्षीः) ॥ ६६ ॥

पदार्थः— (**सर्वधर्मान्**) सम्पूर्ण धर्मोंको (**परित्यज्य**) त्यागकर (**एकम्**) केवल (**माम्**) मेरी (**शरणम्**) शरण (**व्रज**) ग्रहणकर (**अहम्**) मैं (**त्वा**) तुझको (**सर्वपापेभ्यः**) सब पापोंसे (**मोक्षयिष्यामि**) मुक्त करदूंगा (**मा शुचः**) शोक मत कर ॥ ६६ ॥

भावार्थः— भक्तभूरिभयहारी तरणितनयातटविहारी मदनमुरारी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति भगवद्भक्ति लाभ होनेके उपायोंमें सर्वोत्तम उपाय बतलातेहुए कहते हैं, कि [**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज**] सर्व धर्मोंको त्यागकर केवल एक मेरी शरण आ जा। अर्थात् जितने प्रकारके शुभ-कर्म ज्ञान, यज्ञ, तप इत्यादि तूने आजतकके किये हैं जिनके फल एकत्र होकर तुझको इस

लोकमें चक्रवर्तीनिरश और परलोकमें स्वर्गसुख देनेवाले हैं उन सब फलोंको मेरे नामपर परित्याग करदे अर्थात् केवल मुझ ही को प्राप्त करनेके लिये सर्वोत्तम फलोंको चित्तसे त्याग मेरे नामपर निछावर करदे। सब सुखोंके बदले केवल मेरे मिलनेके सुखकी अभिलाषा करले।

प्रिय पाठको ! संसारका यह नियम है, कि जब कोई प्राणी किसी अमूल्य रत्नको प्राप्त करनेकी इच्छा करता है तो उसके यत्नमें अपना तन, मन और धन सब अर्पण करडालता है। जैसे विगाहक (समुद्रसे मोती निकालनेवाला) जब मोती निकालनेकी इच्छा करता है तब अपने पुत्र, कलत्र, धन, सम्पत्ति मित्र इत्यादिको त्याग अपने शरीरका भी मोह छोड अथाह समुद्रके भीतर डुबकी लगाकर मोती निकाल लाता है। इसी प्रकार भगवान् अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि कि हे धनंजय! तू भी पुत्र, पौत्रपर लोक इत्यादिके सुखोंको प्रेम-पयोधि के पुलिनपर परित्याग कर प्राणकी भी प्रीति छोड डुबकियां लगा मुझ मनोहर मनोवाञ्छित मोतीको निकालले। अर्थात् सब छोडछाड केवल मुझ ही को प्राप्त करले।

बहुतेरे मन्दमति इस श्लोकका मनमाना अर्थ यों करलेते हैं, कि भगवान् अर्जुनके प्रति यों कहरहे हैं, कि हे अर्जुन! तू सब धर्मोंको छोडदे! अर्थात् आजतक जो दान देता था वह बन्द करदे, कूपखुदवाता था उसे भरदे, वाटिका लगवा रहा था उसे कटवादे, अपने यहांकी गोशाला और पाठशालाओंको ढहवादे और तहांसे गुरुओंको और विद्यार्थियोंको मार-मार कर निकालदे। भिन्न२ क्षेत्रोंके द्वारा जो संन्यासियोंको और

अतिथियोंको अन्न प्रदान कियाजाता था वह सब उठवादे केवल इतना ही कहा करे, कि मैं तो कृष्णकी शरण हूं इसलिये कुछ नहीं करता। ऐसे अर्थ करनेवालेन वशिक्षित (College trained mind) इन दिनों भारतवर्षके प्रसिद्ध २ प्रान्तोंमें इतने अधिक होगये हैं, कि वे सब धर्मोंको त्याग हैट, कोटे, पतलून चढा होटलोंमें जा मक्खन (Butter) और पनीर (Cheese) खाकर सायंकाल बाईसिकल और मोटरोंपर चढ हवा खा आना अपना परम कर्त्तव्य और धर्म समझते हैं। पर उनको स्मरण रखना चाहिये, कि इस श्लोकका यह तात्पर्य नहीं है इसका अर्थ समझ लेना ऐसोंका काम नहीं है अतएव सर्वसाधारण पाठकोंके बोध निमित्त यहां इस श्लोकके जो अनेक गूढ अर्थ हैं वे परिष्कार-रूपसे दिखलादिये जाते हैं–

प्रथम अर्थ– यहां " सर्वधर्मान् परित्यज्य " कहनेसे भगवा-नका यथार्थ तात्पर्य क्या है ? सो सुनो! धृञ् धारणे धातुसे मन प्रत्यय होकर धर्म शब्द सिद्ध होता है अर्थात् जो वस्तु जिस अपने विशेष गुणको अनादिकालसे धारण करती चली आती है वह उस वस्तुका धर्म कहलाता है। जैसे पानीमें बहना, आगमें जलना, वायुमें स्फुरण, मेघमालेमें गरजना, विद्युत्‌में चमकना, आंखमें देखना, कानमें सुनना, जिह्वामें बोलना उनका स्वाभाविक धर्म है इत्यादि। इसी प्रकार सूक्ष्म तत्त्वोंमें भी जो सूक्ष्मत्वलिये हुआ विशेष गुण है वही उनका धर्म है। जैसे—

मैत्र्यां प्रसादः– मित्रतामें प्रसन्नता।

दयायां अभयम्— दयामें निर्भयता।

शान्त्यां सुखम्— शान्तिमें सुख ।

तुष्ट्यां मुद्— तुष्टिमें हर्ष ।

पुष्ट्यां गर्वः— पुष्टिमें बलका गर्व ।

उन्नतौ दर्पः— उन्नति करनेमें दर्प ।

बुद्ध्यां अर्थः— बुद्धिमें सर्वगूढतत्त्वोंका अर्थ ।

मेधायां स्मृतिः— मेधा जो बुद्धिसे भी अधिक सूक्ष्म तत्व है तिसमें स्मृति ।

तितीक्षायां क्षेमम्— सहिष्णुतामें कल्याण । ये सब स्वाभाविक धर्म हैं ।

भगवान्के कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि जैसे सर्वप्रकारकी स्थूल और सूक्ष्म वस्तुओंमें उनका अपना स्वाभाविकधर्म वर्त्तमान है इसी प्रकार मनुष्य-शरीरमें मानवधर्म वर्तमान है । जिस मानवधर्मके सिद्ध करनेकेलिये वेद, वेदांग, उपनिषद् और स्मृतियां बनीहुई हैं अर्थात् मनुष्योंमें जितने मानवधर्म अनेक पूर्वजन्मोंके कर्मोंके समूह संचितसे प्रारब्ध बनकर मनुष्योंमें वर्तमान होकर सम्पादन किये जारहे हैं उन ही का नाम धर्म है, यदि यह कहो, कि मनुष्यमें तो प्रारब्धके साथ पापकर्मके फल भी दियेगये हैं तो क्या वे भी धर्म ही के नामसे पुकारे जावेंगे ? उत्तर यह है, कि वे धर्मके नामसे नहीं पुकारे जासकते उनका नाम **अधर्म** कहा जावेगा । क्योंकि जितने पाप हैं वे मानवधर्मके अभाव होनेसे उत्पन्न होते हैं इसलिये उनका नाम धर्म नहीं कहाजावेगा वे तो अधर्म ही कहेजावेंगे ।

इसलिये यहां ' सर्वधर्मान् ' कहनेसे भगवानका तात्पर्य केवल शुभ कर्मोंसे है। यदि अशुभसे तात्पर्य होता तो 'धर्मान्' के स्थान-पर "सर्वाणि कर्माणि" काप्रयोग करते अतएव 'कर्म' शब्दका प्रयोग न करके 'धर्म' शब्दका प्रयोग किया है।

बुद्धिमान् भलीभांति समझसकते हैं, कि यहां " सर्वधर्मान् " और " परित्यज्य " इन दो पदोंके मध्यमें ' मयि ' पद गुप्त है अर्थात हे अर्जुन ! सब धर्मोंको मुझमें अर्पण करके मेरी शरण आजा ! सो भगवान पहले भी अर्जुनके प्रति कहआये हैं, कि " यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत " (अ० ६ श्लो० २७) अर्थात् जो कुछ तू करता-धरता है सब मेरेमें अर्पण करदे।

अब कहते हैं, कि अर्पण करना क्या है ? सो केवल मुखसे कह देना अर्पण नहीं है। जैसे कोई चक्रवर्ती किसीको कहे, कि मैं अपनी गद्दी तुम्हें अर्पण करदेता हूं तो इसका अर्थ यह नहीं है, कि बैठने-की जो तीन-चार हाथकी गद्दी है वही अर्पण करता हूं वरु इसका अर्थ यह है, कि अपने राज्यभरकी विविध सम्पत्तियोंको उनके स्थूल और सूक्ष्म पदार्थोंके सहित तुम्हें देदेता हूं। इसी प्रकार केवल इतना कहना, कि मैं अमुक ' कर्म ' भगवान्को अर्पण करदेता हूं इसका अर्थ यह नहीं है, कि उस कर्मको स्वरूपतः अर्पण करता हूं। क्योंकि स्वरूपतः अर्पण करनेसे अपना बन्धन छुडा, जिसे अर्पण किया उसे ही उल्टा बांधलेना है। जैसे कोई यजमान अपने पुरोधाको संकल्प देदेवे, कि आजसे मैंने अपना स्नान तुम्हें अर्पण

करेदिया तो उस पुरोधाको उसके पहले भी नित्य स्नान करना पडेगा तो जैसे स्नानरूप कर्मने पुरोधाको बांधलिया है ऐसे भक्तका अर्पण कियाहुआ कर्म भगवानको भी बांधलेगा इसलिये यहां स्वरूपतः अर्पण करनेका तात्पर्य नहीं है वरु फलतः अर्थात् उस धर्मका जो स्वर्गादि फल मिलनेवाला है उसे परित्याग करनेका नाम अर्पण है। जैसे वर-कन्याके विवाहमें उसके मा-बाप वर-कन्याके मिलनेका आनन्द पाकर धन सम्पत्ति उसके निछावरे किया करते हैं इस प्रकार भक्त अपने अनेक जन्मोंके यज्ञ, तप इत्यादिके फल जो नाना प्रकारके सुख हैं उन्हें भगवत्पर निछावर करदेवे।

इसी अर्थकी सूचना करनेवाला यह "सर्वधर्मान् परित्यज्य" रूप वाक्य आपके सम्मुख रखा हुआ है।

द्वितीय अर्थ— अब दश इन्द्रिय, चार अन्तःकरण और पंच प्राणोंका जो धर्म देखना, सुनना, बोलना इत्यादि उन्नीस हैं जिनका वर्णन अ० १५ श्लोक २० में करआये हैं वे बाहरकी मायाकृत वस्तुओंकी ओर लगेहुए हैं अर्थात उनको ग्रहण कियेहुए हैं इनका ग्रहण करना रोक कर अर्थात् उनको बाहरकी वस्तुओंसे मोड कर अन्तर्मुख भगवत्स्वरूपमें लगादेना ही सर्व धर्मोका परित्याग करकें भगवत्-शरण आना है। अर्थात् पहले जो यह प्राणी नेत्रोंसे अनेक सुन्दर रूपोंको देखता था, कानोंसे विविध प्रकारके रागतान सुनता था, जिह्वासे मित्रोंके साथ मधुर भाषण किया करता था वा षट्रसका स्वादलि... करता था और मनसे पुत्र, कलत्र, धन, सम्पत्ति इत्यादि विभव...

प्रसन्न हुआ करता था तहांसे उदासीन हो इन इन्द्रियोंको नश्वर प्रसन्नतासे हटा अमितानन्दस्वरूप भगवत्‌में लगाकर सर्वदा कृत-कृत्य होजाना यही सर्वधर्मोंका परित्याग कर भगवत-शरणमें आना है। अर्थात् बाह्यमुख वृत्तिको अन्तर्मुख करदेना ही सब धर्मोंको त्याग शरणमें आना है।

तृतीय अर्थ— इस श्लोकमें 'धर्म' शब्द फल, अर्थ, काम और मोक्षका उपलक्षण है इसलिये केवल "धर्मान् परित्यज्य" कहनेसे यही तात्पर्य है, कि प्राणी अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष इन चारोंका परित्याग करे। अर्थात् अपने अनेक जन्मोंके परिश्रमसे प्राणीने जो कुछ धर्म उपार्जन करलिया है अथवा अर्थ उपार्जन करलिया है तथा अपनी कामनाओंकी पूर्ति कर मोक्षकी भी प्राप्ति करली है तिन सबोंको भगवत्‌में अर्पण करदेवे। अब इनसे अधिक बढ़कर क्या है? जिसे प्राणी भगवानको अर्पण करेगा। इसलिये 'धर्मान्' कहनेसे भगवानका तात्पर्य यही है, कि तू अपने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष तकको मुझमें अर्पण करदे और उसके बदले मुझको मोल लेले। यही सर्वधर्मोंको अर्पण करके भगवत-शरणमें आना है।

चतुर्थ अर्थ— मानव-धर्मके अन्तर्गत चार वर्ण और चार आश्रम हैं जिनके धर्म पिछले श्लोकोंमें वर्णन कर आये हैं अर्थात् ब्राह्मणने जो तप आदि करके ब्रह्म धर्म प्राप्त किया है, क्षत्रियने जो प्रजापालन और यज्ञ इत्यादिसे क्षात्रधर्म प्राप्त किया है, वैश्यने जो गोरक्षा इत्यादि धर्म प्राप्त किया है और शूद्रने जो सेवाकर शूद्रत्वधर्म प्राप्त किया है

ये चारों अपने-अपने धर्मोंको भगवत्में अर्पणकर भगवत् शरण होजावें ।

शंका— ब्राह्मण ब्राह्मणत्वको, क्षत्रिय क्षत्रियत्वको और वैश्य वैश्यत्वको अर्पण करदें तो ऐसा करना उचित है अनुचित नहीं है पर शूद्र अपने शूद्रत्वको कैसे अर्पण करसकता है और भगवान् उसे कैसे स्वीकार करसकते हैं ?

समाधान— अरे प्रतिवादी ! फिर तेरी बुद्धि कर्मके स्वरूपतः त्यागकी ओर चलीगयी मैं पुनः २ तुझसे कहता चला आता हूं, कि स्वरूपतः अर्पण नहीं वरु फलतः अर्थात कर्मफलोंके अर्पणसे तात्पर्य है, तहां शूद्रने जो सहस्रवर्ष पर्यन्त किसी ब्रह्मविद् ब्राह्मणकी सेवा की है, मस्तकपर जल ढोकर स्नान कराया है, चरणोंको चांपा है तिसका जो अमोघ फल स्वर्गलोक है वह भगवानपर शूद्र भी निछावर करदेवे तो वह शूद्र भी भगवत्को प्राप्त करसकता है । जैसे धन्ना हज्जाम, शवरी भीलनी और निषाद मल्लाहने अपनी-अपनी सेवाका फल भगवत्में अर्पण कर भगवत्को प्राप्त करलिया ।

पञ्चम अर्थ— ' सर्वधर्मान परित्यज्य ' का यह है, कि आश्रम-धर्मको एक दुसरेमें लय करताहुआ अर्थात ब्रह्मचर्यको गृहस्थमें, गृहस्थको वानप्रस्थमें और वानप्रस्थको सन्न्यासमें लय करता हुआ उस सन्न्यासको भी उसकी भिन्न-भिन्न ऊंची श्रेणियोंमें लय करता हुआ उसकी अवधि तक पहुंच भगवत्में लय करदेवे। अर्थात सन्न्यासी जाति पांति स्पर्शास्पर्श इत्यादि वर्ण-धर्मको परित्याग कर भगवत्-शरण

होजावे । आलसी, अवधूत न बनकर प्रेमी अवधूत बने अर्थात् भगवत्के निमित्त वर्णाश्रमभेदको भी परित्याग कर देवे जैसा, कि नारदने कहा है, कि "न तत्र जातिकुलभेदाः" अर्थात् भगवद्भक्तिमें जाति-कुलका भेद नहीं रहता। यही अर्पण करके शरण आना हुआ। ऐसा न करे जैसे होटलियोंका जाति-पांति छोडकर छोटा साहबकी पदवी प्राप्त करना होता है वरु भगवद्भक्ति स्वीकार कर भक्तकी पदवी प्राप्त करे।

शारीरिक-धर्म जो खाना, पीना, शयन करना इत्यादि हैं इनको परित्याग कर भगवत्के नामपर अर्पण करताहुआ बनमें जा भगवत्प्राप्तिके निमित्त तप करे। जैसे स्वायम्भुव मनु और शतरूपाने भगवत्को और पार्वतीने महादेवको प्राप्त करलिया।

इस प्रकार अपनेको तपाकर भगवत्को प्राप्त करलेवे क्योंकि 'अतप्तस्य गतिर्नास्ति' जिसने अपनेको तपाया नहीं उसकी गति नहीं है। यही सर्व शारीरिक धर्मोंको सच्चे हृदयसे शरण आना कहलाता है।

अथवा इसका यों भी अर्थ करलो, कि भगवानके विरह-तापमें तपताहुआ भूख, प्यास, निद्रा इत्यादि सब भूल कर भगवत्-शरण आजावे।

अब शरण आना क्या है? सो वर्णन कियाजाता है तहां शरण तीन प्रकारकी होती है "तस्यैवाहं। ममैवासौ। स एवाहमिति त्रिधा" मैं उसका हूं, सो मेरा है और सो ही मैं हूं। तहां पहले जो कहा, कि

'तस्यैवाहम्' मैं उस महाप्रभुहीका हूं किसी दूसरेका नहीं तात्पर्य यह है, कि मैं जो अविद्याके संग होनेसे जीव नाम करके पुकारा जाता हूं सो केवल अविद्या-कल्पित भ्रममात्र है अर्थात् मैं जीव नहीं हूं उस ब्रह्मका अंश हूँ जैसा भगवान् पहले भी कहआये हैं, कि "**ममैवांशो जीवलोके**" (अ० १५ श्लो० ७)

इससे सिद्ध होता है, कि जैसे चिनगारी अग्निहीका अंश होनेसे अग्नि रूप ही है ऐसे ही मैं उसका अंश होनेसे उसीका रूप हूं। अर्थात् मेरे पास जितनी शारीरिक वा मानसिक सम्पत्तियां हैं उसीकी हैं मेरी कुछ भी नहीं। क्योंकि जब मैं उसका होचुका फिर मेरा क्या रहा ? इसलिये मेरा कर्म, धर्म, ध्यान, ज्ञान, बुद्धि, मेधा, शम, दम, तितीक्षादि षट्सम्पत्ति, श्रवण, मनन, निदिध्यासनादि साधन-चतुष्टय तथा अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष चारों पदार्थोंके सहित अन्य जो कुछ ऐश्वर्य हैं सब उसीके हैं। वह जब चाहे मेरे शरीरके किसी अवयवको वा मेरे पूर्वोक्त ऐश्वर्योंको जिस प्रकार चाहे काममें लेवे वा किसीको प्रदान कर-देवे यहांतक, कि मेरा शरीर भी कूकरको खिलादेवे, आगमें भस्म करदेवे, पानीमें बोरदेवे, वायुमें शुष्क करदेवे जो चाहे करे मुझे इस विषयमें कुछ भी बोलनेका स्वत्व नहीं है। जैसे पतिव्रता स्त्री तन, मन. धनसे अपने पतिकी ही होरहती है पति जो चाहे करे प० वह फिर किसी दूसरेकी ओर नहीं देखती इसी प्रकार जो प्राणी अपना सर्वस्व लिये हुए अपनेको भगवत्में सौंपदेता है और यों कहता है, कि 'तस्यैवाहम्' मैं उसीका हूं और मेरा जो कुछ है सब उसीका है और जो कुछ कर्म मुझसे उत्पन्न होते हैं सब उसी नारायणके हैं।

अर्थात् जैसे मार्जारी अपने बच्चेको आग लगते समय अपने मुखसे पकड दूसरे घरमें लेजाती है बच्चा कुछ भी नहीं जानता, कि मैं क्या हूं ? कहां हूं ? क्या कररहा हूं ? और क्या होरहा है ? इसी मार्जारन्यायसे जिसने अपनी गर्दन उसके मुखमें डालदी है और समझरहा है, कि मेरी रक्षा वा नाश जो कुछ करना है सब वही करेगा मैं कुछ नहीं जानता । इस प्रकार शरण लेनेको प्रथम शरण " तस्यैवाहम " का रूप कहते हैं ।

ब्रह्मदेवने भी भगवानकी स्तुति करतेहुए ब्रजमें इसका रूप यों वर्णन किया है-

" पुरेह भूमन ! वहवोपि योगिन,
त्वदर्पितेहा निजकर्मलब्धया ।
विबुद्ध्य भक्त्यैव कथोपनीतया,
प्रपेदिरेऽञ्जोऽच्युत ! ते गतिं पराम ॥ "

(श्रीमद्भागवत स्कंध १० अ० १४ श्लोक ५)

अर्थ--हे भूमन ! सर्वव्यापक !! अविच्छिन्नस्वरूप !!! मैं तो ऐसा जानता हूं, कि पूर्वमें बहुतेरे योगियोंने इस संसारमें अपने कर्म और भजनसे लाभ कीहुई अपनी सारी चेष्टाओंको आपमें अर्पण करके तथा कथा-श्रवणसे उत्पन्न हुई भक्तिके द्वारा आपको सुखपूर्वक जानकरके हे अच्युत ! आपकी परमोत्तम एवं सर्वोत्कृष्ट शरणको प्राप्त होगये ।

अब दूसरे प्रकारकी शरण 'ममैवासौ' के विषय सुनो ! इस पदका अर्थ यही है, कि यह मेरा है अर्थात यह कृष्ण मेरा ही है ।

जितने प्रकारके सम्बन्ध इस संसारमें एक दूसरेसे होते हैं वे सब उसी कृष्णके साथ हैं अन्यसे नहीं अर्थात् माता, पिता, आचार्य, सखा, सुहृद् जहांतक सम्बन्ध कहेजावें मुझे उसीसे हैं। यथा—

" त्वमेव माता च पिता त्वमेव,
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव सेव्यश्च गुरुस्त्वमेव,
त्वमेव सर्वं मम देव देव ! ॥ " अर्थ स्पष्ट है।

इसी प्रकारके अर्थको श्रुति भी प्रतिपादन करती है। प्रमाण श्रुतिः— " ॐ चक्षुश्च द्रष्टव्यं च नारायणः श्रोत्रं च श्रोतव्यं च नारायणो घ्राणं च घ्रातव्यं च नारायणो जिह्वा च रसयितव्यं च नारायणस्त्वक् च स्पर्शयितव्यं च नारायणो मनश्च मन्तव्यं च नारायणो बुद्धिश्च बोद्धव्यं च नारायणो अहंकारश्चाहंकर्त्तव्यं च नारायणः चित्तं च चेतयितव्यं च नारायणो वाक् च वक्तव्यं च नारायणो हस्तौ च दातव्यं च नारायणः धाता विधाता कर्त्ता विकर्त्ता दिव्यो देव एको नारायणो माता पिता भ्राता निवासः शरणं सुहृद्गतिर्नारायणः ॥ " (सुबालोपनिषत् श्रु० ६ में देखो)

अर्थ— मेरा नेत्र और उस नेत्रसे देखनेयोग्य पदार्थ नारायण ही है। मेरा कान और उस कानसे सुननेयोग्य पदार्थ नारायण ही है। मेरी नासिका और उस नासिकासे सूंघने योग्य पदार्थ नारायण ही है। मेरी जिह्वा और उस जिह्वासे स्वाद लेनेयोग्य नारायण ही है। मेरा चर्म और उस चर्मसे स्पर्श करने योग्य नारायण ही है। मेरा चर्म और उस चर्मसे स्पर्श करने योग्य

नारायण ही है । मेरा मन और उस मनसे मानने योग्य नारायण ही है । मेरी बुद्धि और उस बुद्धिसे जानने योग्य नारायण ही है। अहंकार और अहंकार करने योग्य वस्तु भी नारायण ही है । मेरा चित्त और उस चित्तसे जानलेनेवाला पदार्थ भी नारायण ही है । मेरा वचन और मेरे बोलनेका विषय भी नारायण ही है । मेरे दोनों हाथ और उन हाथोंसे दियेजाने योग्य पदार्थ भी नारायण ही है । मेरे दोनों पैर और चलने योग्य चाल भी नारायण ही है । धारण करनेवाला, विशेषरूपसे धारण करनेवाला, करनेवाला और नहीं करनेवाला वही एक दिव्य नारायण ही है । माता, पिता, भाई, घर, शरण, गति और हितसाधन करनेवाला मित्र भी नारायण ही है । उक्तप्रकारे भगवानसे सर्वप्रकारका सम्बन्ध लगा जो यों कहाकरते हैं, कि " ममैवासौ " यह कृष्ण मेरा है वे इस दूसरे प्रकारकी शरणवाले कहेजाते हैं ।

अब तीसरी शरण ' स एवाहम ' के विषय सुनो ! इस पदका अर्थ यों है, कि सो कृष्ण निश्चय करके मैं हूं । अर्थात शरण लेनेवालेने भगवतका ध्यान करते-करते यहांतक अपनेको उसके रूपमें मिलादिया, कि अब उसको अपनी शरीरकी कुछ भी सुधि नहीं है जो थोडी देर पहले अपनेको देवदत्त समझरहा था वह इस प्रकारकी शरणके अभ्याससे अपनेको वासुदेवरूप ही समझरहा है अर्थात् " अहं ब्रह्मास्मि " " तत्त्वमसि " " सोहमस्मि " " अयमात्मा-ब्रह्म " इन चारों महावाक्योंके मर्मोंको चरितार्थ कररहा है । गोस्वामी तुलसीदासजीने भी कहा है कि— " सोई जाने जेहि देहु जनाई,

जानत तुमहिं तुमहिं ह्वैजाई " फिर किसीने कहा है– " + मन् तू शुदम् तू मन शुदी मन तन शुदम तू जां शुदी। ताकस न गोयद बाद अज़ीं मन् दीगरम तू दीगरी " अर्थात् मैं तू होगया तू मैं होगया मैं तन होगया तू जान होगया फिर कोई ऐसा न कहे कि मैं दूसरा हूं और तू दूसरा है।

श्रुति भी कहती है-" ॐ अहमेवास्मि सिद्धोऽस्मि शुद्धोऽस्मि परमोऽस्म्यहम। अहमस्मि सदा सोऽस्मि नित्योऽस्मि विमलोऽस्म्यहम। षड्विकारविहीनोऽस्मि षट्कोशरहितोऽस्म्यहम अरिषड्वर्गमुक्तोऽस्मिअन्तरादन्तरोऽस्म्यहम्। सर्वदा समरूपोऽस्मि शान्तोऽस्मि पुरुषोत्तमः। एवं स्वानुभवो यस्य सोऽहमस्मि न संशयः " (मैत्रेय्यु० अ० ३ श्रु० १८, २४)

संक्षिप्त तात्पर्य यह है, कि अपने इष्टका ध्यान करते-करते जब प्राणी उसका रूप होजाता है तो उसके सब गुण उसमें प्रवेश कर-जाते हैं और तद्रूप होकर अपने आनन्दमें मत्त हो यों उच्चारण करने लगता है मैं सिद्ध हूं, शुद्ध हूं, श्रेष्ठ हूं जो मैं हूं सदा सो ही हूं, निर्विकार हूं, छवों विकार, छवों कोश और छवों ❀वर्गोंसे मुक्त हूं अर्थातये मुझको बाधा नहीं करसकते मैं सर्वदा समरूप हूं और पुरुषोत्तम हूं अर्थात् मैं कृष्ण हूं इस प्रकारका अनुभव जिसका है उसीको 'सोऽहमस्मि' पदके कहनेका अधिकार है अर्थात् वही प्राणी 'स एवाऽहम' रूप तीसरी प्रकारकी शरणका पात्र है।

+ من تو شدم تو من شدي من تن شدم تو جاں شدي
تاکس نه گوید بعد ازین من دیگرم تو دیگري

❀ विकार, कोश और वर्ग इनका वर्णन इसी अध्यायके श्लोक ६१ में करआये हैं। देखलेना।

भगवान्के कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि हे अर्जुन! जो प्राणी पूर्वोक्त कथन कियेहुए अर्पण और शरणको भलीभांति समझ रहा है वही सब धर्मोंको परित्याग कर मेरी शरण आनेवाला है। इस लिये हे अर्जुन! तू भी सब धर्मोंको परित्याग कर मेरी शरण आ जा!

इतना सुनकर अर्जुन इस शोकमें पडगया, कि हमारे सब धर्म तो ये लेलेवेंगे क्योंकि मैं इनके नामपर निछावर करदूंगा पर मेरे जो अधर्म बच जावेंगे उनकी क्या दशा होगी? उन्हें मैं किसे दूंगा और कौन लेगा? अन्तर्यामी भगवान् अर्जुनके हृदयकी बात जान गये और झट कह पडे, कि [**अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः**] हे अर्जुन! जब तू मेरी शरण आजावेगा तब मैं तुझको सब पापोंसे छुडालूंगा तू शोच मत कर! जैसे सिंहकी शरण आये हुएको श्याल वा कुत्ते कुछ नहीं करसकते ऐसे मेरी शरण आये हुए तुझ अर्जुनको तेरे पाप तापरूप श्याल और कुत्ते तेरा कुछ भी नहीं करसकते। मैं उनको अपने तेजसे भस्म कर डालूंगा।

शंका— इस प्रकार अपनी शरण आये हुएका पाप भस्म करदेना और इससे इतर पुरुषोंको पापफल भुगवाना क्या पक्षपात नहीं है? फिर जिस भगवानको तुम न्यायकारी और पक्षपातरहित बोलते हो उसमें ऐसा पक्षपात क्यों?

समाधान— अरे प्रतिवादी! तू पक्षपातका अर्थ नहीं समझता। पक्षपातका दोष वहां लगता है जहां दो प्राणी एक ही गुणके हों

उनमें एकेका आदर किया जावे और दूसरेका निरादर कियाजावे तब न्यायकारीको पक्षपातका दोष लगता है सो यहां भगवान्में नहीं है। क्योंकि भगवान् तो उनके अपराधोंको भस्म करेता है जो निःशंक हो सर्वआश्रयोंका परित्याग कर निष्काम हो विरहके तापसे जलते हुए विरही बनकर अपने सारे लाभ वा हानिको भस्म करते हुए भगवत्के चरणारविन्दोंकी धूरिमें लोट मारते-मारते तद्रूप होजाते हैं। ऐसे तद्रूप प्राणी करोड, दस करोड भगवतके सम्मुख होजावें तो सबोंकें पापोंको वह नाश करदेगा। क्योंकि सब एक गुणके हैं। पर सामान्य जीवोंमें और परमभक्ति द्वारा तन्मय हुए जीवोंमें पृथिवी और आकाशका अन्तर है दोनों एक गुणके नहीं हैं इसलिये पक्षपात सिद्ध नहीं होता। अतएव शंका मत करो!

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि तू किसी प्रकार शोच मत कर! तू मेरा इष्ट और प्रिय है। इतना ही नहीं वरु तू मेरा है और मैं तेरा हूं फिर शोच करना कैसा?

दूसरी बात यह है, कि जब कोई यजमान अपने पुरोधा इत्यादिको कोई घर दान करता है अर्थात् अर्पण करेता है तो अर्पण करते समय केवल उस घरके शुभ अवयवोंका नाम लेता है। जैसे गोशाला सहित, वा पाठशाला सहित मैं अमुक घरको दान करता हूं तहां उस घरके अशुभ अंगोंको अथवा अशुभ वस्तुओंको संकल्पमें नहीं पढता अर्थात् यों नहीं संकल्प करता है, कि पुरीष परित्यागस्थान (पायखाना) सहित, परनालेसहित, घरके मकडे, मच्छर, सर्प और विच्छू सहित

दान करता हूं परन्तु बिना पढे और संकल्प किये भी घरके शुभ अवयवोंके साथ अशुभ अवयव भी दान लेनेवालेके पास चले जाते हैं। दान लेनेवाला चाहें उनको रखे अथवा उनको तोडकर स्वच्छ करडाले, वा धर्म्मशाला इत्यादि बना लेवे। इसी प्रकार जब यह प्राणी अपनेको भगवत्के अर्पण करता है तो इसके धर्म और अधर्म दोनों ईश्वरके पास चले जाते हैं तब वह वासुदेव धर्मके बदले अपनी भक्ति प्रदान करता है और अधर्मोंको अपने तेजसे भस्म करडालता है।

भगवानने अपने मुखारविन्दसे कहा है, कि "**कोटि विप्रबध लागै जाही, आवै शरण तजौं नहिं ताही।**" अर्थात् जब भगवान् अपनी शरण आनेवालेके विप्रबधरूप पापको नष्ट करडालते हैं तो और सामान्य पापोंकी क्या गणना है।

फिर भगवानने विभीषणके विषय कहा है, कि "**सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम**" (वाल्मी० यु० का० सर्ग १८ श्लो० ३३)

अर्थ— एकबार भी जो प्राणी मेरी शरण आनेकेलिये यों कहता है, कि हे भगवन् ! मैं तुम्हारा हूं तो मैं उसके सर्वपापोंको नाश कर भूतोंसे अभय प्रदान करता हूं। अर्थात् मुक्त कर अपने स्वरूपमें मिला लेता हूं यही मेरा व्रत अर्थात् प्रण है।

इस श्लोकका अर्थ सामान्य पुरुषोंके समझने योग्य नहीं है और न उनके सम्मुख कहने योग्य है इसे तो वही समझे जो अनेक जन्मोंके पुण्योदय होनेसे भगवतकी परमभक्तिकी ओर झुकता है ॥ ६६ ॥

भक्तनयनाभिगम पूर्णकाम परमललाम श्रीघनश्याम गीताशास्त्रकी समाप्ति करते हुए अनधिकारियोंको इसके नहीं देनेकी आज्ञा अर्जुनके प्रति अगले श्लोकमें देते हैं—

मू०— इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७

पदच्छेदः— ते (तव हिताय) इदम् (सर्वशास्त्रार्थ-रहस्यं गीताशास्त्रम्) [आख्यातं मया किन्तु इदम् शास्त्रम्] अतपस्काय (तपस्याहीनाय । अवशेन्द्रियाय) कदाचन (कस्मिन्नपिकाले) न (नैव) वाच्यम् (वक्तव्यम् । उप-देष्टव्यम्) अभक्ताय (भक्तिरहिताय । श्रद्धावर्जिताय) न (नैव) [वाच्यम्] च (पुनः) अशुश्रूषवे (शुश्रूषां सेवां परिचर्यां वा अकुर्वते) न (नैव) [वाच्यम] च (तथा) यः (प्राणी) माम (वासुदेवम्) अभ्यसूयति (गुणे दोषमारोपयति तस्मै अपि) न (नैव) [वक्तव्यम्] ॥ ६७ ॥

पदार्थः— (ते) तेरे हितकेलिये जो (इदम्) इस गीताशास्त्रको मैंने कथन किया इसको (अतपस्काय) तपस्यारहित प्राणीको (कदाचन) कभी भी (न) नहीं (वाच्यम्) कहना (अभक्ताय) भक्तिरहितको भी (न) नहीं कहना (च) और (अशुश्रूषवे) जो महात्माओंकी सेवा शुश्रूषासे रहित है उसे भी (न) नहीं कहना (च) तथा (यः) जो (माम) मुझपर (अभ्य-सूयति) दोषारोपण करता है (न) उसे भी नहीं कहना ॥ ६७ ॥

भावार्थः— अब श्रीहलधरानुज वृष्णिकुलाम्बुज गरुडध्वज भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अनधिकारियोंके प्रति गीताशास्त्र नहीं देनेकी आज्ञा देतेहुए अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि [**इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन**] हे अर्जुन ! यह गीताशास्त्र जो तेरे लिये मैंने कथन किया इसे अतपस्काय और अभक्तोंको कभी भी नहीं देना। अर्थात् अपने-अपने वर्ण और आश्रमके धर्मोंका विधिपूर्वक प्रतिपालन करना ही तप कहलाता है सो जिसने ऐसे तपका सम्पादन नहीं किया, अपनी आयुको मिथ्या व्यवहारोंमें लगाकरे नष्ट करडाला, किसी तत्त्वके समझने बूझनेकी शक्ति जिसके अन्तःकरणमें नहीं आयी, ब्रह्मचर्यमें परिश्रम कर, विविध भांतिके क्लेशोंको उठा, विद्या और वीर्यका लाभ नहीं किया, गृहस्थाश्रममें अपनी धन सम्पत्ति द्वारा दान और यज्ञोंका सम्पादन नहीं किया, वानप्रस्थ होकर शीतोष्णका सहन, मौन, कृच्छ्र, चान्द्रायणादि व्रतोंका साधन नहीं किया, सन्न्यासी होकर सर्वप्रकारके परिग्रहोंसे रहित होकर योगबलसे अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं प्राप्त की तथा कायदण्ड, मनोदण्ड और वाग्दण्ड तीनों दण्डोंसे जिसने त्रिदण्डीका धर्म पालन नहीं किया ऐसे पुरुषको ' अतपस्क ' कहते हैं। फिर जो अतपस्क होरहा है वह भगवच्चरणारविंदोंका भक्त भी नहीं होसकता। क्योंकि वह अपने कर्मोंसे विहीन होकर भवसागरकी दारुण तरंगोंमें ऊब-डूब करते रहनेसे भगवद्भक्तिकी ओर मुख करनेका अवकाश ही नहीं पासकता इसलिये ऐसे तपस्याहीन अभक्तको यह गीताशास्त्र कदापि उपदेश करने योग्य नहीं है। कहावत है, कि "भैंसके

आगे वेणु बजाओ वह बैठी पगुरावै " अर्थात् जैसे भैंसके सम्मुख वेणु बजाना, शूकर और कूकरोंके आगे मोती बिखेरना, खरके शरीरमें अगरु चन्दन लेपन करना, बानरको विविध प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित करना और काकको कर्पूर सुंघाना निरर्थक है। ऐसे अतपस्क अभक्तको गीताशास्त्रका उपदेश करना भी निरर्थक है।

यदि थोडे कालकेलिये मान भी लिया जावे, कि अतपस्क अभक्तको किसी विशेष कारणसे यह गीता शास्त्र दे तो दें पर [न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति] जो प्राणी अशुश्रूषु हैं अर्थात् जिन्ने माता, पिता, आचार्यकी सेवा नहीं की है, इनसे विमुख रहा है इन्हींसे क्या ? वरु मुझसे भी विमुख रहकर जो मेरा निन्दक बनकर नास्तिकोंकी मण्डलीमें सभापतिका पद ग्रहण करता चला आता है, धोखेसे भी जिसके मुख द्वारा राम, कृष्णादि नामोंका उच्चारण नहीं होता है वरु जिसके चित्तमें यह निश्चय होगया है, कि कृष्ण जातिका अहीर है, नन्दके गउओंका चरवाहा है, गोपिकाओंके मध्य विविध भांतिकी कामक्रीडाओंको करनेवाला व्यभिचारी है परब्रह्मका अवतार नहीं है मनुष्य है ऐसे मेरी महिमा न जानकर मेरी निन्दा करनेवाले पुरुषको भूलकर भी गीताशास्त्र अर्थात् परमार्थ-विद्या उपदेश नहीं करनी चाहिये।

श्रुति भी यों कहती हैं, कि " ॐ विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेहमस्मि। असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥ यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशंते महात्मनः।

अर्थ— विद्या ब्रह्मवेत्ताओंके पास पहुंच कर बोली, कि हे ब्रह्मवेत्ताओ! तुम मुझे गुप्त रखो मैं तुम्हें भोग और मोक्ष दोनों प्राप्त करादूंगी यदि किसी कारणसे गुप्त न रखसको तो इतना अवश्य स्मरण रखो, कि जो लोग असूयादोषसे पूर्ण हैं अर्थात् मेरी निन्दा करनेवाले हैं और आर्जवधर्मसे रहित कुटिल और कपटी हैं उनको तो भूलकर भी मुझे न देना क्योंकि ऐसेको देनेसे कुछ लाभ नहीं होगा क्योंकि मैं ऐसोंके वश होकर अवीर्यवती अर्थात् पराक्रमरहित होजाऊंगी अर्थात् वन्ध्या स्त्रीके समान सारहीन होजाऊंगी। पर जैसे अनधिकारियोंको कभी नहीं देना चाहिये उसीके विपरीत उस पुरुषको शीघ्र देना चाहिये जिसकी भक्ति जैसी ईश्वरमें होवे वैसी गुरुमें होवे उसीकेलिये यह शास्त्र कथन कियागया है जिसे महात्मापुरुष प्रकाशित करते हैं।

शंका— गीताशास्त्र तो ऐसा अमूल्य रत्न है, कि जिसे पाकर मूर्ख भी ज्ञान लाभ करता हुआ संसृति-बन्धनसे मुक्त हो भगवत् शरण प्राप्त करलेता है फिर यदि ऐसे पुरुषोंको यह शास्त्र नहीं दियाजावेगा तो उनका कल्याण कैसे होसकता है? वे तो सदा भगवत्केलिये संसारमायामें भटकते ही रहजावेंगे फिर इस गीताशास्त्रसे उपकार ही क्या हुआ? भलेको तो सभी सुधारते हैं बुरेका सुधारना यथार्थ सुधारना है अतएव जगत्के उद्धार करनेवाले गीताशास्त्रको ऐसोंसे गुप्त रखनेकी आज्ञा भगवान्ने क्यों दी?

समाधान— अज्ञानियोंको ज्ञान प्राप्त कराकर संसृति-बन्धनसे मुक्त करादेनेकेलिये भगवान्ने नहीं रोका। ब्रह्मतत्त्वरहित आत्म-

विद्याविहीनोंके उद्धार करनेके निमित्त तो भगवानने परिश्रम करके इस गीताशास्त्रको प्रकट ही किया है। रोकना तो उनकेलिये कह-रहे हैं जो सब कुछ जान बुझकर भी अतपस्क, अभक्त, अशुश्रूषु और असूयादोषसे दूषित हैं मूढ नहीं हैं। अनेक देशकी विद्याओंमें परिश्रम कर रखा है यहांतक बुद्धिमान् हैं, कि बडे-बडे अभियोगोंमें पार्लमेंट तक पहुंचकर अपनी इच्छानुसार अभियोगोंका न्याय करवा डालते हैं और ऐसे प्रवीण हैं, कि व्योमयान (Aeroplan) और धूमयान (Balloon) बनाकर मीलों आकाशपर चढ जाते हैं। वेद वेदांगको प्राप्त कर शास्त्रार्थ द्वारा बडे-बडे विद्वानोंको परास्त कर डालते हैं औरचतुराईके साथ बात करनेमें आकाशसे पातालतककी सुधि लेआते हैं पर चार्वाकादि पूर्वके विद्वान्के समान नास्तिकत्वके मलसे अन्तःकरण मलीन होनेके कारण रामकृष्णादि अवतारोंको और विष्णु, रुद्र, इन्द्र, वरुण, कुबेरादि देव-ताओंको नहीं मानते मिथ्या समझते हैं। तीर्थोंको पानी, मन्दिरोंकी प्रतिमाओंको बुत (Idol) अर्थात् पुतला और दान यज्ञादि कर्मोंका करना द्रव्य और समयकी हानि करना बताते हैं ऐसे हठधर्मियोंके समीप यह गीताशास्त्र उच्चारण करने योग्य नहीं है क्योंकि उच्चस्वरसे पुकार-नेसे सोया हुआ जागता है जागाहुआ नहीं जागता। अर्थात् सब-कुछ जानबूझ कर भी कर्म, ज्ञान, योग, भक्ति इत्यादि शाश्वतसुख-प्रद तत्वोंसे हठकर विमुख रहता है। ऐसे हठधर्मियोंको यह शास्त्र देनेसे रोकदेना ही भगवानका मुख्य तात्पर्य है।

शंका— भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने जो अर्जुनके प्रति ऐसा कहा, कि मेरी निन्दा करनेवालोंको यह गीताशास्त्र नहीं देना ऐसा क्यों ?

जब साक्षात परब्रह्म जगदीश्वर हैं तो उनकी निन्दा कौन कर सकता है। क्योंकि जगदीश्वरको तो सभी देशवाले मानते हैं, कोई खुदा, कोई (God) कोई राम, कोई नारायण और कोई भगवान् कहकर मानता है। फिर यदि कृष्णचन्द्र भगवान् होते तो सब देशवाले उन्हें मानते पर देखाजाता है, कि सब देशवाले नहीं मानते हैं और उनको भी अपनी निन्दाका भय होता है इससे ऐसा अनुभव होता है, कि कृष्णचन्द्र जगदीश्वर नहीं थे क्योंकि ईश्वरको किसीकी निन्दा वा स्तुतिकी चिन्ता कैसी? अतएव श्रीकृष्णचन्द्रमें मनुष्यके समान निन्दा और स्तुतिकी चिन्ता होनेसे उनको भगवान् कहनेमें शंका होती है। इस शंकाको शीघ्र निवारण करो जिससे मुझे शान्ति प्राप्त होवे और मैं कृष्णचन्द्रको साक्षात् जगदीश्वर समझजाऊं।

समाधान— संसारका नियम है, कि उत्तमसे उत्तम रूप, गुण, बल, पराक्रम वा महिमावाली वस्तु क्यों न हो जब वह कुछ दिन हम लोगोंके साथ होजाती है और अहर्निश हम उससे काम लेना आरम्भ करते हैं तो हम लोगोंकी दृष्टिमें उसकी महिमाका निरादर होजाता है। शास्त्रोंमें लिखा है, कि "अतिपरिचयादवज्ञा" (Familarity breeds contempt) अर्थात् किसी वस्तुसे अति परिचयहोनेमें उसकी अवज्ञा होती है। इसीलिये किसीने कहा है, कि— "निकट निरादर होत है जस गंगाको नीर" अर्थात् दक्खिन देश रामेश्वरके रहनेवाले एक चिल्लु गंगा-जल पाकर आदर और सम्मानके साथ नेत्रोंमें लगाते हैं, मस्तकपर डाल अपना शरीर पवित्र करते हैं और घरोंमें छींट घरोंको निर्मल

और शुद्ध करते हैं। पर काशी वा प्रयागके रहनेवाले उसी गंगाजलसे शौच करआया करते हैं यह अतिसमीपता और अतिपरिचयका दोष है इसी आशयपर ये श्लोक दियेगये हैं जैसे– " अतिपरिचयादवज्ञा' संततगमनादनादरो भवति। लोकः प्रयागवासी कूपस्नानं समाचरति। अति परिचयादवज्ञा सन्ततगमनादनादरो भवति। मलये भिल्लपुरन्ध्री चन्दनतरुकाष्ठमिन्धनं कुरुते। "

" अति परिचय ते होत है अरुचि अनादर भाय,
मलयागिरिकी भीलनी चन्दन देत जराय ॥ " इन

सबोंका अर्थ स्पष्ट है)

दूसरी बात यह है, कि कैसा भी महानसे महान् पदार्थ क्यों न हो पर उसके महत्वको जो नहीं जानता वह उसकी सदा निन्दा ही कियाकरता है। जैसे– " न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं स तस्य निन्दां सततं करोति । यथा किराती करिकुंभजातां मुक्तां परित्यज्य बिभर्त्ति गुंजाम् ॥ " अर्थात् जो जिसके उत्कृष्ट गुणको नहीं जानता उसकी दृष्टिमें उसका आदर सम्मान नहीं होता जैसे जंगलकी भीलनी गजमुक्ताको फेंककर चिरमिठी (करजनी) की माला बनाकर पहनती है। फिर वृन्द कवि कहते हैं, कि–

" दोषहिंको उमहै गहै गुणन गहै खल लोक,
पिये रुधिर पय ना पिये लागि पयोधर जोंक ॥ "

अर्थात् जैसे स्त्रीके स्तनमें यदि जोंक लगा दो तो वह रुधिरको ही पीयेगा दूधको नहीं पीयेगा।

तीसरी बात यह है, कि यह संसार जो नश्वर है जिसमें नाना प्रकारके क्लेश होते रहते हैं। आंखोंके देखते-देखते लोग मुर्दोंको जलाआते हैं और यों समझते हैं, कि मुझे भी मरना होगा पर संसार में रहनेके कारण और परिचय होनेके कारण वे इन सब बातोंको ध्यानमें नहीं लाते।

चौथी बात यह है, कि जो अमूल्य वस्तु अपने नेत्रोंके सामने नहीं रहती है और जिसको हम नहीं देखते हैं उसपर कथनमात्र से विश्वास नहीं होसकता और न उसकी महिमा समझमें आती है। इसी कारण दूरदेशवालोंको कृष्णमें विश्वास नहीं हुआ।

इसी अति परिचयके विषय एक पौराणिक इतिहास वर्णन किया जाता है--

एकबारे देवर्षि नारदने भगवान्‌से प्रार्थना की—"हे भगवन्! आप गुप्त क्यों रहते हो?" यदि प्रकट होकर इस संसारमें किसी नदी वा समुद्रके तटपर ऊँचा सिंहासन लगा बैठ जाते तो संसारके सब प्राणी आनन्दपूर्वक आपका दर्शन करते और अपनी २ मनःकामना आपसे मांग लेजाते। भगवान्‌ने उत्तर दिया, कि हे नारद! तुम शाल्मलीद्वीपमें जाओ और चालीस दिवस पर्यन्त वहांका आनन्द लेकर लौट आओ तो मैं तुम्हारे प्रश्नका उत्तर दूंगा। इतना सुन नारदजी शाल्मलीद्वीपके एक विशाल नगरमें पहुंचे तो क्या देखते हैं, कि एक विशाल शाल्मली वृक्षसे चालीस सूंडका एक हाथी बंधा हुआ है जिसके देखनेकेलिये नगरके सहस्रों पुरुष एकत्र होरहे हैं सर्वत्र यही कोलाहल मचरहा है, कि चालीस सूंडका एक हाथी आया है चलो देखआवें।

इस प्रकारका कोलाहल बीस-पच्चीस दिवसतक उन्नतिपर रहा जब सब लोग देख चुके तो फिर उस हाथीके समीप एक मनुष्यभी नहीं आया। यदि कोई किसीसे कहता भी है, कि चलो हाथी देखआवें तो उत्तर देता है, कि जाओ भाई! तुम देख आओ, हम तो देख आये हैं। संक्षिप्त तात्पर्य यह है, कि चालीस दिवस बीतते-बीतते वहां एक मनुष्य भी नहीं रहा सन्नाटासा होगया। नारद यह लीला देखकर लौट आये और भगवान्से अपना उत्तर पूछा। भगवानने कहा, कि हे नारद! तुमने अबतक अपने प्रश्नका उत्तर नहीं पाया? देखो! तुमने वहां जाकर क्या देखा? नारदने चालीस सूंडके हाथीका सारा वृत्तान्त कह सुनाया। भगवानने पूछा पहले तुमने कितने मनुष्य देखे? नारदने उत्तर दिया! वहां तो पहले सहस्रों मनुष्योंकी भीड थी। भगवान्ने पूछा फिर क्या हुआ? नारदने कहा! भीड कम होते-होते चालीसवें दिन तो मैंने एक मनुष्यको भी उस हाथीके समीप नहीं देखा। भगवानने उत्तर दिया, कि यदि मैं भी किसी स्थानपर उच्चसिंहासन लगाकर बैठ जाऊं तो थोडे दिवसतक ऐसा कोलाहल रहेगा, कि भगवान् आये हैं! भगवान् आये हैं!! चलो अपनी-अपनी मनःकामना मांगलावें। फिर जब सब मेरा दर्शन पाचुकेंगे और अपनी कामना मांग लावेंगे तो एक भी पुरुष मेरे पास नहीं आवेगा। मैं अकेला सुनसानस्थानमें इधर-उधर टापमारता रहजाऊँगा। कोई भी नहीं पूछेगा, कि तुम कौन हो? एक हो? कि डेढ हो? कि पौन हो? अर्थात अति-परिचय होजानेके कारण मेरी सारी महिमा नष्ट होजावेगी इसीलिये मैं प्रकट होकर एक जगह नहीं बैठता।

प्रिय पाठको ! भगवान् जब-जब जहां-जहां धर्मका ह्रास और अधर्मकी वृद्धि देखते हैं तहां-तहां अपनी अलौकिक शक्तियोंको अंगीकार कर अवतार ले धर्मका सम्पादन करते हैं और अधर्मको नाश करडालते हैं।

अब यहां प्रथम कहीहुई चारों बातें आपके समीप आपडती हैं अर्थात् अतिपरिचय होनेसे अवज्ञा, अज्ञानताके कारण महत्वकी निन्दा, संसारको जानते हुए भी भूलजाना और समुद्र वा पर्वतसे विलग कियेहुए दूरदेशके पुरुषोंको अवतारोंकी सुधि न होनी। जैसे ब्रजमें अवतार लेनेसे अति.परिचयके कारण यशोदाका ऊखलसे बांधदेना, शिशुपालका अज्ञानतावश अहीर कहकर निरादर करना तथा दुर्योधनका भगवान्‌का प्रस्ताव न मानना, शत्राजीतका भगवत्को मणिकी चोरी लगादेना, पौंड्रक का मिथ्या वासुदेव बनकर आपका निरादर करना इत्यादि कार्योंसे प्रकट होता है, कि इन दोषोंसे दूषित होनेके कारण अज्ञानी पुरुष अवतारोंको सच्चिदानन्द परब्रह्म जगदीश्वर न जानकर मनुष्य समझते हैं। इसलिये मोहवश उनके गुणोंको न पहचानकर उनकी निन्दा करते हैं और दूरदेशवाले तो इसीलिये नहीं जानते, उनको भगवानके अवतारकी सूचना ही नहीं मिलती अर्थात् रामावतारका विषय तो जाने दो क्योंकि उसे तो कई लक्ष वर्ष बीतगये अब तो अयोध्यामें महाराज दशरथके महल और अटारियोंका चिन्हमात्र भी नहीं है पर कृष्णावतारको ही देखनेसे जिसे केवल पांच हजार वर्ष बीते हैं ऐसा अनुमान होता है, कि उस समय केवल यह आर्यावर्त्त ही सब देशोंमें श्रेष्ठ था। दूसरे जितने देश थे सब केवल वृक्षों और

पर्वतोंसे घिरे सुनसान पडे थे । कहीं-कहीं किसी प्रान्तमें दस-बीस (असभ्य) जंगली पुरुषोंकी टोली देखी जाती थी अब इस समय वृद्धि करते-करते वे बडे-बडे देश बनगये और विद्वानों तथा महात्माओंने वहां उत्पन्न होकर उन देशोंको धीरे-धीरे सुधारा है उस समय उनको कृष्णके अवतारकी सुधि नहीं थी वरु इसके प्रतिकूल यों कहना चाहिये, कि उनके देशोंमें भी जो महात्मा पुरुष उत्पन्न हुए उन्हें भी अति परिचयके कारण उनके विरोधियोंने उनका निरादर किया । जैसे हजरत ईसामसीह (Christ) के महत्त्वको न समझकर यहूदियोंने शूली पर खींचदिया । हजरत मुहम्मद साहबको उन्हींके सम्बन्धियोंने बहुत ही क्लेश देकर मक्कासे मदीना भगादिया । यहांतक, कि मुहम्मद साहबको उनका चाचा 'अबीलहब' उनको पत्थर लेकर मारने गया जिसके लिये कुरानमें लिखा है—

"तब्बत यदा अबीलहबिऊँ वतब मा अगना अनहो मालहू व मा कसब।" (देखो पारा आमं ३०)

टूटगये हाथ अबीलहबके टूटगये और वह आप भी टूट गया नहीं काम आया उसको उसका धन और नहीं काम आयी उसकी कमाई अर्थात् अबीलहब जब मारने गया तो उसका हाथ टूटगया और और वह स्वयं भी मर गया मुहम्मद साहब बचगये ।

تبت یدا ابی لهب وتب ما اغنٰے عنهٗ مالهٗ وماکسب

ترجمه

ٹوٹ گئے هاتهه ابی لهب کے اور ٹوٹ گیا وه آپ کام نه آیا اوسکو مال اوسکا اور نه جو کمایا

इन इतिहासोंसे सिद्ध होता है, कि सब देशोंमें महात्माओं और अवतारोंके निन्दक और विरोधी अवश्य होते आये हैं। यही इस संसारका नियम और स्वभाव है। इसीलिये भगवान श्रीकृष्णचन्द्रको सच्चिदानन्द परमेश्वरका अवतारे कहनेमें शंका मत करो त्रिकालदर्शी भगवान् जानते थे, कि अब द्वापरका अन्त है कलियुग आने वाला है जिसमें अतपस्कादि चार दोषोंसे दूषित सहस्रों पुरुष उत्पन्न होवेंगे जो धर्मकी निन्दा करना अपना कर्त्तव्य समझेंगे और इसीमें चारवाक् सुगन इत्यादि बड़े-बड़े विद्वान नास्तिक होंगे जो ईश्वरको नहीं मानेंगे। जब वे निराकार परब्रह्मको ही नहीं मानेंगे तो उनके अवतारोंको कब मानसकेंगे, वे अवश्य गीताशास्त्र सदृश ग्रन्थोंकी निन्दा करेंगे तथा उनके साथ मेरी महिमाको मटियामेट करेंगे इसीलिये अर्जुनके प्रति भगवान् यह शिक्षा देरहे हैं, कि ऐसे पुरुषोंको यह गीताशास्त्र नहीं देना ॥ ६७ ॥

भगवानने जैसे अभक्तोंको गीताशास्त्र प्रदान करनेसे रोका है ऐसे ही जहांतक शीघ्र होसके भक्तोंको देनेके लिये आज्ञा भी दी है जिसका फल अगले श्लोकमें कथन कररहे हैं—

मू०— य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८

पदच्छेदः— यः (भक्तिमार्गप्रदर्शकः) मयि (वासुदेवे) पराम् (सर्वोत्कृष्टाम्) भक्तिम्, कृत्वा (विधाय) इदम् (तत्त्वमसस्म्वादस्वरूपम गीताग्रन्थम्) परमम (मोक्षसाधनतया सर्वोत्कृष्टम) गुह्यम् (गोपनीयम) मद्भक्तेषु (कायेन वाचा मनसा सर्वथा मदनुरक्तेषु) अभिधास्यति (कथयिष्यति) [सः] माम

(सर्वान्तर्यामिनं वासुदेवम्) एव (निश्चयेन) एष्यति (प्राप्स्यति) असंशयः (अत्र सन्देहो नास्ति) ॥ ६८ ॥

पदार्थः— (यः) जो भक्तिमार्गका दिखानेवाला पुरुष (मयि) मुझमें (पराम्) परम (भक्तिम्) भक्ति (कृत्वा) कर (इमम्) इस (परमम्) परम (गुह्यम्) गुप्त गीताशास्त्रको (मद्भक्तेषु) मेरे भक्तोंके प्रति (अभिधास्यति) कथन करेगा (मामेव) वह मुझको ही (एष्यति) प्राप्त करेगा (असंशयः) इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ६८ ॥

भावार्थः—परमानन्दपरिपूर्ण वेदान्तवेद्य भक्तहृदयागार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र इस गीताशास्त्रको अपने भक्तोंके लिये शीघ्र प्रदान करनेके तात्पर्यसे कहते हैं, कि [**य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति**] जो प्राणी इस गुह्यातिगुह्य गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंके प्रति विधान करेगा वह मेरा परम भक्त होगा । अर्थात् जिस प्रकार मैंने इस उपासना और ज्ञानके तत्त्व विलग-विलग वर्णन किये हैं और उनके सबप्रकारके भेदोंका परिचय कराते-हुए परब्रह्मतक पहुंचनेके उपाय बताये हैं । जिसके द्वारा प्राणी संसृति-बन्धनसे छूट ऐसी शान्तिलाभ करता है जैसे कोई मृग वागुरके बन्धनमें पड़ाहुआ दुःख पारहा हो उसपर कोई दयावान् पुरुष दया-करके उसका बन्धन खोलदेवे और वह भागताहुआ किसी महान् कन्दरामें प्रवेश कर शान्ति लाभ करे इसीप्रकार इस शास्त्रद्वारा मैंने जीवोंको संसृति-बन्धनसे छुड़ा केवल परमपदरूप महान् पर्वतके शृंग-पर पहुंचा शान्तिकी कन्दरामें नित्य विश्राम करलेनेकी युक्तियां बतायीं

हैं तथा उपनिषद्रूप गौओंको दूहकर ज्ञानरूप क्षीर निकाल तिसे कथन कर परम निर्मल भगवत्शरणरूप मक्खन देदिया है। इसी प्रकार जो प्राणी इस परमामृतको मेरे भक्तोंकी कर्णकुहररूप वापीमें भरदेगा अर्थात् यह रहस्य मेरे भक्तोंको सुनावेगा वह [**भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः**] मेरी पराभक्ति लाभ करके मुझमें प्रवेश करजावेगा। इसमें तनक भी संशय नहीं है॥ ॥ ६८॥

उक्त प्रकार गीताशास्त्रको भक्तोंके निमित्त विधान करनेवाले सज्जनोंके विषय भगवान् कहते हैं, कि—

मू०— न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥
॥ ६९॥

पदच्छेदः— च (पुनः) मनुष्येषु (मनुष्याणां मध्ये) **तस्मात्** (एतच्छास्त्रस्यव्याख्यातुः सकाशात्) **अन्यः** (अपरः) **कश्चित्** (कोऽपि) **मे** (मम वासुदेवस्य) **प्रियकृत्तमः** (प्रियकारिषु श्रेष्ठतमः) **न** (नैव) **भविता** (भविष्यति) **च** (तथा) **मे** (मम वासुदेवस्य) **तस्मात्** (गीताशास्त्रोपदेशकात्) **भुवि** (जगति) **प्रियतरः** (इष्टतरः। अतिशयेन प्रियः) **न** (नैव) ॥ ६९ ॥

पदार्थः— (**च**) फिर (**मनुष्येषु**) मनुष्योंमें (**तस्मात्**) जिस गीताशास्त्रके उपदेश करनेवालेसे बढकर (**अन्यः**) दूसरा (**कश्चित्**) कोई (**मे**) मेरा (**प्रियकृत्तमः**) अत्यन्त प्रियकारी (**भविता**) नहीं होगा (**च**) और (**मे**) मेरा (**तस्मात्**)

उससे बढकर (भुवि) इस संसारमें (प्रियतरः) कोई प्यारा भी (न) नहीं होगा ॥ ६६ ॥

भावार्थः— अब करुणामय जगत्प्रिय भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि [न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः] हे अर्जुन ! जो प्राणी इस गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंके प्रति प्रदान करेगा उससे बढकर मनुष्योंमें कोई भी मेरा प्रिय नहीं । अर्थात् जो प्राणी इस गीताशास्त्रको नित्य पाठ करके मेरे भक्तोंको सुनावेगा और उसके गूढ रहस्योंको कथन करेगा एवं नाना प्रकारकी शंका समाधानसे सन्देहरहित करदेगा वही संसारके मनुष्योंमें मेरा प्रिय है और [भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि] उससे बढकर पृथ्वीमण्डलपर कोई भी मेरा प्रिय न होगा । अर्थात् उससे बढकर न तो कोई मेरा प्रिय है और न होगा ।

शंका— यदि केवल इस गीताशास्त्रको भक्तोंके प्रति सुनानेवाला ही भगवान्को अत्यन्त प्रिय है तो फिर इस गीताशास्त्रमें कथन किये हुए कर्मकांड, उपासना और ज्ञानके साधन करनेकी क्या आवश्यकता है? अर्थात् कहनेवाला एक खाटपरे और सुननेवाला दूसरी खाटपर पडा-पडा श्लोकोंको सुनाया करे और सुना करे तो बडी सुलभताके साथ भगवानको प्रिय होजावे ।

समधान— भगवानके कहनेका तात्पर्य यह है, कि जो प्राणी इस गीताशास्त्रमें कथन किये हुए भिन्न २ तत्त्वोंको समझाकर आज्ञानुसार कर्म, उपासना और ज्ञानका साधन करावेगा अर्थात् पहले

सकाम-कर्मोंका साधन कराते-कराते निष्काम होजानेका उपदेश करेगा तिन निष्काम-कर्मोंका साधन कराते कराते अन्तःकरणकी शुद्धि लाभ करवा, पश्चात् आत्मज्ञान द्वारा उसे संसार-बन्धनसे मोक्षकर परा-भक्तिमें प्रवृत्त कराते-कराते सर्वत्र मेरेहीको दिखलावेगा ऐसा पुरुष ही मुझको इस गीताका विधान करनेवाला समझाजावेगा और वही मेरा प्रिय होगा केवल सुनने-सुनानेसे तात्पर्य नहीं है यदि सुनने सुनानेसे भी तात्पर्य है तो भी सुनानेवालेको बडा लाभ है क्योंकि किसी कथाका एक वचनमात्र भी प्राणी सुनलेवे और उसे नित्य स्मरण रखे तो वह एक ही वचन उसको क्लेशोंसे उबार लेता है शंका मत करो ! ॥ ६९ ॥ फिर कहते हैं, कि—

मू०— अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७०

पदच्छेदः— [हे अर्जुन !] च (पुनः) यः (अधि-कारी) आवयोः (मम वासुदेवस्य तवार्जुनस्य च) सम्वादम् (सम्वादस्वरूपम्) धर्म्यम् (धर्मादनपेतम् । धर्मसहितम्) इदम् (मया त्वां प्रति उपदिष्टं गीताग्रन्थम्) अध्येष्यते (पठिष्यति । पाठं करिष्यति) तेन (पाठकेन) अहम् (वासुदेवः) ज्ञानयज्ञेन (एतद्गीताशास्त्रीयचतुर्थाध्यायोक्तद्रव्यादिसर्वयज्ञश्रेष्ठेन । ज्ञानरूपेण यज्ञेन) इष्टः (पूजितः) स्याम् (भवेयम्) इति (एवम्) मे (मम) मतिः (निश्चयः) ॥ ७० ॥

पदार्थः— (च) और (यः) जो अधिकारी पुरुष (आवयोः) हम दोनोंका (सम्वादम्) सम्वादस्वरूप (धर्म्यम्)

धर्मयुक्त (इदम्) यह गीताशास्त्र (अध्येष्यते) पाठ करेगा (तेन) उस पुरुषसे (अहम्) मैं (ज्ञानयज्ञेन) ज्ञानद्वारा (इष्टः) आराधित (स्याम) होऊं (इति) ऐसा (मे) मेरा (मतिः) निश्चय है ॥ ७० ॥

भावार्थः— भवबाधानिवारक सकलमंगलकारक भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि [अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं सम्वादमावयोः] हे अर्जुन! जो प्राणी हम दोनोंके धर्मरूप सम्वादको नित्य पाठ करेगा अर्थात् विधिपूर्वक एक-एक अक्षरके अर्थको गुरुद्वारा जानकर और समझकर नित्य पाठ करेगा तो [ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः] मैं ऐसे पुरुषसे ज्ञानद्वारा पूजित होऊं यह मेरी सम्मति है । अर्थात् जो इसको नित्य पाठ करेगा वह मानो नित्य मुझको पूजनेवाला समझा जावेगा । चतुःषष्ठि उपचारसे पंचोपचार पर्यन्त जो पूजाके विधान हैं उनमें इस गीताका अध्ययन करना भी एक विशेष अंग समझाजावेगा इसलिये प्राणियोंको उचित है, कि पूजनके पश्चात् नित्य गीताका अर्थ सहित अध्ययन कियाकरें । क्योंकि बिना अर्थ जाने अध्ययन करना यद्यपि सुखदायक तो है पर केवल परमपदतक पहुंचजानेकेलिये अर्थोंको जानकर तदनुसार आचरण करना ही श्रेष्ठ है । क्योंकि पूजा-पाठ इत्यादिकी समाप्ति ज्ञानमें ही होती है जैसा, कि भगवान् अ० ४ श्लो० ३३ में कहआये हैं, कि " श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप । सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते " सब कर्म ज्ञानमें जाकर समाप्त होजाते हैं इसलिये ज्ञानसे

बढ़कर अन्य कुछ भी तत्व संसारमें नहीं है। सो ज्ञान मेरी भक्तिमें जाकर लय होजाता है अतएव इस शास्त्रके अध्ययनद्वारा मैं पूजित होऊँगा यही मेरी दृढ सम्मति है ॥ ७० ॥

फिर कहते हैं—

मू०— श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभांल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्
॥ ७१ ॥

पदच्छेदः— यः (कश्चिदपि) नरः (मनुष्यः) श्रद्धावान् भक्तियुक्तः। आस्तिकबुद्धिः) च (पुनः) अनसूयः (असूयादोषरहितः) अपि, शृणुयात् (यस्मात्कस्मादपि कारुणिकाद्गीतापाठकमुखाद्गीताशास्त्रमाकर्णयेत) सः (असौ गीताश्रोता) अपि (निश्चयेन) मुक्तः (पापान्मुक्तः) पुण्यकर्मणाम् (पुण्यानुष्ठायिनाम) शुभान् (मंगलजनकान्) लोकान् (स्वर्गादिलोकान) प्राप्नुयात् (लभते) ॥ ७१ ॥

पदार्थः— (यः) जो (नरः) पुरुष (श्रद्धावान्) श्रद्धायुक्त (च) और (अनसूयः) परनिन्दारहित होकर (अपि) भी (शृणुयात) इस गीताशास्त्रको श्रवण करता है (सः) वह (अपि) भी (मुक्तः) पापसे मुक्त हो (पुण्यकर्मणाम्) पुण्य करनेवालोंके (शुभान्) पवित्र (लोकान्) लोकोंको स्वर्गादि (प्राप्नुयात) प्राप्त करता है ॥ ७१ ॥

भावार्थः— अब श्रीभक्तहृदयप्रमोदवनविहारी सकललोकमंगलकारी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति इस गीताका महत्व सुनने-

वालेको आशीर्वाद देतेहुए कहते हैं, कि [श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः] जो प्राणी श्रद्धावान है और निन्दारहित है वह सुनकरके भी लाभ उठावे अर्थात् एकाग्रचित्त होकर किसी अच्छे श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठके मुखसे इस गीताशास्त्रके उपदेशोंका श्रवण करे तो [सोऽपि मुक्तः शुभांल्लोकान् प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्] वह भी संसृतिबन्धनसे मुक्त होकर पुण्य करनेवालोंके शुभ लोकोंको अर्थात् स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त करे ।

हे अर्जुन ! यही मेरा अन्तिम आशीर्वाद सुननेवालोंके प्रति है । क्योंकि वेदशास्त्रोंमें श्रवण निष्ठाका अमोघफल वर्णन किया है और यह श्रवणनिष्ठा ज्ञानसाधनके चार उपायोंमें प्रथम उपाय है ।

देखो ! इसी तत्वको शिवशंकरके मुखारविन्दसे एक शुक (सुग्गा) पक्षी श्रवणकर शुकदेव मुनि बनगया ।

फिर नवधा भक्तिकी निष्ठाओंमें श्रवण पहली निष्ठा है जिसके द्वारा मुनिजन तथा श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठपुरुष संसृतिद्वन्द्वोंसे छुटकारा पाकर भगवद्भक्ति लाभ करते हैं। प्रमाण— " को वा भगवतस्तस्य-पुण्यश्लोकस्य कर्मणः । शुद्धिकामो न शृणुयाद्यशः कलिमलापहम । " (श्रीमद्भागवत स्कन्द १० अ० १ श्लो० १६)

अर्थ— आत्मशुद्धिकी कामनावाला ऐसा कौन पुरुष है ? जो * उत्तमश्लोकोंसे स्तुति कियेजाने योग्य कर्मवाले भगवानके कलिमल-हरण यशका श्रवण न करे । फिर कहते हैं—

* राजा नल तथा युधिष्ठिरादि महत्पुरुष भी पुण्यश्लोक कहेजाते हैं ।

" तच्छ्रद्धाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया ।
पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया ॥"
(श्रीमद्भागवत स्क० १ अ० २ श्लो० १२)

अर्थ— श्रद्धावान् मुनिजन गुरुमुखसे शास्त्रश्रवणनिष्ठाद्वारा ज्ञानवैराग्ययुक्त भक्तिको प्राप्त कर उस परमतत्वको अपने आपमें देखते हैं अर्थात् श्रवणनिष्ठाद्वारा ही भगवान्को प्राप्त होते हैं ।

इसी कारण भगवान् कृष्णचन्द्र इस गीताशास्त्रकी समाप्ति करते हुए अर्जुनके प्रति श्रवणनिष्ठाको मुख्य बताते हुए इस श्लोकमें कहते हैं, कि जो इसे श्रवण करे " सोऽपि मुक्तः शुभांल्लोकान् प्राप्नुयात् " सो भी स्वर्गादिलोकोंको प्राप्त करे इतना कहकर भगवान् चुप होगये ।

जब अर्जुनने देखा, कि परमललाम श्रीघनश्यामके मुखसरोजसे जो अमृतकी झडी लगीहुई मेरे कर्णकुहरोंद्वारा मेरे हृदयमें प्रवेश कर मेरी नवपल्लवित भक्ति निष्ठारूप वेलीको पूर्णरूपेण पुष्पित कररही थी उस अधराधरपल्लवमें अब सम्पुट लगा चाहता है ऐसा विचार मस्तक नीचे झुका अश्रुपात करता हुआ सिसक-सिसक कर रोने लगगया ।

भगवान् अर्जुनकी यह दशा देख अपने पीताम्बरसे उसके अश्रुओंको पोंछते हुए अत्यन्त प्रेमके साथ उसके मस्तकपर हाथ रख मधुर-मधुर वचनोंसे यों कहने लगे, कि हे मेरा परम प्रिय सखा अर्जुन ! रुदन मत कर ! देख ! तेरे कल्याणकेलिये मैंने युद्धके समय

यह शास्त्र प्रकट किया जिसके सुननेसे तेरे हृदयमें किसी प्रकारका मोह नहीं रहा ॥ ७१ ॥

शोच मत कर मेरी बात सुन !

मू०— कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ ! त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ! ॥ ७२ ॥

पदच्छेदः— पार्थ ! (पृथापुत्रार्जुन !) त्वया, एतत् (मयोपदिष्टं गीताशास्त्रम्) एकाग्रेण (सावधानेन) चेतसा (चित्तेन) कच्चित, श्रुतम् (अर्थतोऽवधारितम्) धनञ्जय ! (सर्वान् विजित्य धनाहरणशीलार्जुन !) ते (तव) अज्ञानसंमोहः (अविवेकजनितमोहः) कच्चित्, प्रनष्टः (सर्वथा विनष्टः ?) ॥ ७२

पदार्थः— (पार्थ!) हे पृथापुत्र! (त्वया) तूने (एतत्) यह गीताशास्त्र (एकाग्रेण) सावधान (चेतसा) चित्त द्वारा (कच्चित् श्रुतम्) क्या सुनलिया ? अर्थात् मैं आशा करता हूं, कि तूने इसे एकाग्रतापूर्वक सुनलिया होगा (धनञ्जय !) हे अर्जुन ! (ते) तेरा (अज्ञानसंमोहः) अज्ञानसे उत्पन्न मोह (कच्चित) क्या (प्रनष्टः) नष्ट होगया ? अर्थात् मैं आशा करता हूं कि नष्ट होगया होगा ॥ ७२ ॥

भावार्थः— अब भक्तवत्सल नटनागर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनको संतोष देतेहुए कहते हैं, कि [**कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा**] हे अर्जुन ! मैं आशा करता हूं, कि तू ने एकाग्रचित्त होकर इस गीताशास्त्रको श्रवण किया होगा। बहुतेरे मनुष्योंका स्वभाव है, कि कुछ कालतक बात करते २ जिधर-तिधरकी बातोंकी ओर ध्यान

लेजाते हैं एकाग्रचित्त नहीं रहते इसलिये सुनानेवालेके वचनको नहीं सुनते तहां उनकी मनोवृत्ति मूढत्वमें प्रवेश कियेरहती है अर्थात् मूढ-वृत्तिमें चलेजाते हैं चाहे वह वृत्ति क्षणमात्रकी हो या घंटे दो घंटे की हो इसलिये सुननेवाले बीचमें कभी-कभी बोलपडते हैं, कि फिर तो कहिये आपने क्या कहा ? यह मनुष्योंका स्वभावज दोष है। इसी कारण भगवान् अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि मैं आशा करता हूं, कि इस गीताशास्त्रके सुनते समय तू मूढवृत्तिकी ओर नहीं गया होगा वरु एकाग्रचित्त होकर प्रत्येक रहस्यके मर्मोंको समझगया होगा। गीताशास्त्र तेरे इस शरीरमें इस तरह प्रवाह कररहा होगा जैसे मस्तिष्कसे पैरोंके अंगुष्ठ तक समान-वायु प्रवाह करती है। तेरे रुधिरमें ऐसी पुलकावली भरगयी होगी, कि तू फूला न समाया होगा। फिर हे मेरे सखा अर्जुन! अब तू अश्रुपात क्यों करता है ? क्योंकि जब पहले पहल तेरे कहनेसे मैंने तेरे रथको योद्धाओंके सम्मुख खडा कर-दिया था तो तू भीष्म, द्रोणाचार्यादि महापुरुषोंको मारनेके भयसे अज्ञानताके कारण युद्ध छोड भागना चाहता था और सन्न्यासी बन भिक्षासे अपना समय बिताना चाहता था पर अब मुझे पूर्ण आशा है, कि [**कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय !**] हे धनंजय ! अज्ञानसे उत्पन्न जो तेरा मोह था वह अवश्य नष्ट होगया होगा अर्थात् अब तू अपना जातिधर्म जान युद्ध सम्पादन कर राज्यसुखका अधिकारी होगा। फिर तू अश्रु क्यों बहाता है मेरी ओर देख! शान्त हो जा और आनन्दपूर्वक युद्धका सम्पादन कर! यदि तू मेरे चुप होजानेसे शोकग्रस्त होता है तो ले फिर भी तेरे सम्मुख

यह शास्त्र और भी अधिक कहनेको उद्यत हूं! ले पूछ अब क्या पूछता है? इतना सुन अर्जुन बोला ॥ ७२ ॥

अर्जुन उवाच-

मू० — नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत!।
स्थितोस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

पदच्छेदः— अच्युत! (हे वासुदेव!) मया (अर्जुनेन) त्वत्प्रसादात् (तवानुग्रहात्) स्मृतिः (अनुभूतविषयज्ञानम्। अनुभवसंस्कारजन्यज्ञानम्। आत्मबोधः) लब्धा (प्राप्ता) मोहः (धर्मे-अधर्मधीदोषः। अज्ञानकृतविपर्ययात्मकबोधः) नष्टः (विनाशं गतः) गतसन्देहः (विनष्टसन्देहः। निवृत्तसंशयः) स्थितः (युद्धकर्त्तव्यतारूपे तवानुशासने स्थितः) अस्मि, तव (सर्वज्ञस्य मद्धितैषिणो वासुदेवस्य) वचनम् (युद्धादिशासनवाक्यम्) करिष्ये (पालयिष्यामि) ॥ ७३ ॥

पदार्थः— (अच्युत!) हे अच्युत! (त्वत्प्रसादात्) तुम्हारे अनुग्रहसे (स्मृतिः) स्मृति (मया लब्धा) मेरे द्वारा लाभकोगयी अर्थात मुझे आत्मबोध प्राप्त होगया और (मोहः) मोह (नष्टः) नाश होगया (गतसन्देहः) सन्देह दूर होगया (स्थितोऽस्मि) अब मैं अपने स्थानपर स्थित हूं (तव वचनम्) अब मैं तुम्हारा वचन (करिष्ये) ज्योंकात्यों पालन करूंगा ॥ ७३ ॥

भावार्थः— जगत्युद्धसार श्रीआनन्दकन्द ब्रजचन्दके समझानेपर अर्जुन यों बोला, कि [**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मया-**

ऽच्युत !] हे भगवन् ! आपकी कृपासे मेरा मोह नाश होगया और अब मुझे अपनी स्मृति प्राप्त होगयी अर्थात इस युद्धमें अज्ञानतावश जो अपने बन्धुबांधवोंके मरनेका शोक उत्पन्न होआया था वह नष्ट होगया। अब मैंने जानलिया, कि यह आत्मा " न हन्यते हन्यमाने शरीरे " शरीरके मारेजानेसे भी मारा नहीं जाता और यह भी जान लिया, कि " गतासूनगतासूंश्च " जो पंडित हैं वे मरनेजीनेवालेका शोच नहीं करते और तुमने जो मुझसे यह कहा, कि " स्वधर्ममपि " इस तुम्हारे वचनको सुनकर मैंने समझलिया, कि मेरा स्वाभाविक धर्मयुद्ध करना है इसलिये " स्वधर्मे निधनं श्रेयः " इस तुम्हारे वचनका प्रभाव मेरे हृदयपर ऐसा पड़ा, कि [स्थितोस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव] अब मैं अपने स्थानपर स्थित हूं अर्थात अपने इस रथपर युद्ध करनेको तयार हूं, मेरे जितने प्रकारके सन्देह थे सब मिट गये हैं इसलिये हे भगवन ! मैं आपका वचन अवश्य पालन करूंगा अर्थात निष्काम हो युद्धका सम्पादन कर अन्तःकरणकी शुद्धिद्वारा आत्मज्ञानकी प्राप्ति करता हुआ आपके चरणारविन्दोंकी भक्तिरूप पुनीत शीतल सरितामें सदाकेलिये आनन्दपूर्वक डुबकियां लेता रहूंगा। यही मेरी दृढ प्रतिज्ञा है यही मेरी अन्तिम अभिलाषा है इतना कहकर अर्जुन भी चुप होगया।

कहने सुननेवाले दोनों सखाओंके चुप होजानेसे गीताशास्त्रकी भी समाप्ति होगयी ॥ ७३ ॥

इस गीताशास्त्रके समाप्त होनेके पश्चात संजय अपने मनका भाव महाराज धृतराष्ट्रके प्रति पांच श्लोकोंमें प्रकट करता है।

सञ्जयउवाच—

मू०—इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
सम्वादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥
व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानिमं गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥
राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनःपुनः ॥
यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

॥ ७४, ७५, ७६, ७७, ७८, ॥

पदच्छेदः— इति (एवम्प्रकारेण) [हे धृतराष्ट्र !] अहम् (सञ्जयोऽहम्) वासुदेवस्य (सर्वान्तर्यामिनः श्रीकृष्णस्य) च (पुनः) पार्थस्य (पृथापुत्रस्यार्जुनस्य) इमम् (पूर्वोक्तगीताशास्त्ररूपम्) अद्भुतम् (चित्तस्यातिविस्मयकारकम्) रोमहर्षणम् (अद्भुतरसाधायकतया रोमाञ्चकरम्) सम्वादम् (परस्परालापम्) अश्रौषम् (श्रुतवान्) व्यासप्रसादात् (दिव्यचक्षुर्दानरूपोऽनुग्रहः व्यासस्य प्रसादः तस्मात्) अहम् (सञ्जयः) इमम्, परम्, गुह्यम् (निगूढरहस्यम्) योगम् (योगशास्त्रम्) स्वयम्, साक्षात् कथयतः (वदतः)

योगेश्वरात् (कर्मज्ञानभक्तियोगानामीश्वरः तस्मात्) कृष्णात् (भगवतो वासुदेवात्) श्रुतवान् (आकर्णितवान) राजन् ! (हे धृतराष्ट्र !) केशवार्जुनयोः (वासुदेवधनञ्जययोः) इमम्, पुण्यम् (पुण्यात्महम् । पवित्रम्) च (पुनः) अद्भुतम (विलक्षणम । आश्चर्यमयम) सम्वादम (गीतारूपं परस्परोलापम) संस्मृत्य (ध्यात्वा । स्मरणं कृत्वा) संस्मृत्य (ध्यात्वा) मुहुर्मुहुः (बारम्बारम्) हृष्यामि (प्रहृष्टो भवामि । हर्षयुक्तो भवामि तुष्यामि वा) राजन् (हे धृतराष्ट्र !) च, हरेः (सकलचराचरनायकस्य वासुदेवस्य । समस्तपापापहारिणो वाखिलदुरितहारकस्य) तत् (अर्जुनं प्रति प्रदर्शितम्) अत्यद्भुतम् (विलक्षणम । अत्याश्चर्यजनकम) रूपम (विश्वरूपम्) संस्मृत्य (ध्यात्वा । स्मरणं कृत्वा) संस्मृत्य (ध्यात्वा) मे (मम सञ्जयस्य) महान (विशालः) विस्मयः (आश्चर्यम) [जायते] च (तथा) पुनःपुनः (बारम्बारम) हृष्यामि (प्रसीदामि । हर्षमाप्नोमि) [हे धृतराष्ट्र!] यत्र (यस्मिन युधिष्ठिरपक्षे) योगेश्वरः (सर्वयोगसिद्धीश्वरः । सर्वज्ञः । सर्वशक्तिसम्पन्नः । भक्तदुःखभञ्जनः । नियतरचनाखचितजगत्सृष्ट्यादि घटनायोग्यस्य ईश्वरः) कृष्णः (साक्षान्नारायणः) [तिष्ठति तथा] यत्र (यस्मिन पक्षे) धनुर्द्धरः (गांडीवधनुर्धारी) पार्थः (पृथासुतः अर्जुनः तिष्ठति) तत्र (तस्मिन् पक्षे) श्रीः (राज्यलक्ष्मीः) विजयः (शत्रुपराजयजन्य उत्कर्षः) भूतिः (उत्तरोत्तरं राज्यलक्ष्म्याः प्रवृद्धिः) ध्रुवा (अव्यभिचारिणी । निश्चला । अचंचला) नीतिः (नयः) [वर्त्तते इति] मम (सञ्जयस्य) मतिः (विचारः) ॥ ७४, ७५, ७६, ७७, ७८ ॥

पदार्थः— (इति) इस प्रकारसे जो कुछ पूर्वमें कथन किया गया है तिस (वासुदेवस्य) श्रीकृष्णके (च) तथा (महात्मनः) महात्मा (पार्थस्य) अर्जुनके (अद्भुतम्) आश्चर्यमय (रोमहर्षणम्) रोमांचकारी (इमम) इस गीताशास्त्ररूप (सम्वादम्) सम्वादको (अहम्) मैंने (अश्रौषम्) सुना [हे धृतराष्ट्र !] (व्यासप्रसादात) व्यासजीके अनुग्रहसे (अहम) मैंने (इमम्) यह (परमम्) परम (गुह्यम) गोपनीय (योगम) योगशास्त्र (स्वयम्) परमेश्वररूप (योगेश्वरात) योगेश्वर (कृष्णात) कृष्ण भगवानके मुखारविन्दसे (साक्षात) प्रत्यक्ष (कथयतः) कथन होताहुआ (श्रुतवान) सुना (राजन् !) हे राजन् ! धृतराष्ट्र ! (केशवार्जुनयोः) श्रीकृष्ण और अर्जुनके (इमम) इस (पुण्यम्) पवित्र (च) तथा (अद्भुतम्) अद्भुत (सम्वादम्) सम्वादको (संस्मृत्य संस्मृत्य) स्मरण करते-करते (मुहुः मुहुः) बार-बार (हृष्यामि) हर्षको प्राप्त होता हूं (राजन !) हे राजन ! (च) पुनः (हरेः) श्रीकृष्णजीके (तत) उस (अत्यद्भुतम) विलक्षण (रूपम्) विश्वरूपको (संस्मृत्य संस्मृत्य) स्मरण करते-करते (मे) मुझे (महान) बडा (विस्मयः) आश्चर्य होता है (च) तथा (पुनः पुनः) बार-बार (हृष्यामि) हर्षको प्राप्त होता हूं (यत्र) जिस पक्षमें (योगेश्वरः) सब योगियोंके ईश्वर (कृष्णः) साक्षात श्रीकृष्ण भगवान (यत्र) तथा जिस दलमें (धनुर्द्धरः) गांडीवधनुर्धारी (पार्थः) पृथासुत अर्जुन रहते हैं (तत्र) तहां (श्रीः) राज्यलक्ष्मी (विजयः) विजय (भूतिः) ऐश्वर्योंकी

उत्तरोत्तर वृद्धि और (ध्रुवा) निश्चला अव्यभिचारिणी (नीतिः) + राजनीति वर्तमान रहती है ऐसी ही (मम) मेरी (मतिः) दृढ सम्मति है अर्थात् हे राजन् ! पांडव अवश्य विजय पावेंगे यह निश्चय रक्खो ॥ ७४, ७५, ७६, ७७, ७८ ॥

भावार्थः— अब संजय राजा धृतराष्ट्रके प्रति कहता है, कि [इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः] यह इतना जो पूर्वमें कथन कियागया तिस वासुदेव और महात्मा अर्जुनके [संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्] रोमांचकारी और आश्चर्यमय सम्वादको मैंने सुना ! अर्थात हे राजन ! मैं तो केवल आपका सारथी हूं मेरे मस्तिष्कमें इतनी शक्ति कहांसे आसकती है, कि मैं ऐसा गूढ रहस्य जो मेरी आंखोंसे दूरदेशमें कथन कियागया है बिना सुने वा देखे समझसकूं । पर फिर भी वासुदेव और महात्मा अर्जुनका सम्वाद जो मैंने आपको ज्योंकात्यों कह सुनाया सो केवल [व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्] केवल महर्षि व्यासदेवके अनुग्रहसे मैंने इस परम गुह्य रहस्यको यहां बैठे बैठे सुनलिया क्योंकि उक्त बादरायण ऋषिने मुझे दिव्यदृष्टि प्रदानकर यों कहदिया, कि तू यहां ही बैठा-बैठा महाभारतके सम्पूर्ण वृत्तान्तोंको महाराज धृतराष्ट्रके प्रति सुनाया कर ! इसलिये मैंने बैठे-बैठे दोनों महापुरुषोंके सम्वादको सुनलिया । वह सम्वाद कैसा है, कि [योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्] साक्षात स्वयं भग-

+ इस (वर्तते) पदको श्री, विजय, भूति और नीति चारोंके साथ लगाना चाहिये ।

वान कृष्णचन्द्रके मुखारविन्दसे कथन कियाहुआ है और मुक्ति तथा भक्तिका प्रदान करनेवाला है । सर्वप्रकार मंगलकारक है इसलिये [**राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य सम्वादमिममद्भुतम्**] हे राजन् ! इस आश्चर्यमय सम्वादको स्मरण करते-करते तथा इस [**केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च पुनःपुनः**] केशव और अर्जुनकी परम पवित्र वार्त्ता हृदयमें लाते-लाते मैं परमानन्द प्राप्त कररहा हूं ।

फिर [**तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः**] तिस भगवानके अद्भुत रूपको स्मरण करते-करते अर्थात अर्जुनके सम्मुख दिव्यदृष्टि प्रदान कर जो भगवानने अपना विराट्रूप दिखलाया तिस रूपको मैंने भी अपनी दिव्यदृष्टिसे देखलिया वह अद्भुतरूप मेरे हृदयसे कभी विलग होनेवाला नहीं है इसलिये [**विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः**] हे राजन ! मुझे महान आश्चर्य होता है और मैं बार-बार हर्षित होरहा हूं ।

अब संजय यह विचार कर, कि राजा धृतराष्ट्र कदाचित मेरी बातको सुन ! सन्धि करनेकी आज्ञा देदेवें तो युद्ध रुक जावे और सहस्रों वीर अकारण प्राण देनेसे बच जावें इसलिये फिर राजा धृतराष्ट्रसे कहता है, कि [**यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः**] जहां जिस पक्षमें, दलमें, स्थानमें, और जिस लोकमें योगेश्वर भगवान कृष्णचन्द्र अपनी योगमायासे सम्पूर्ण संसारको नचानेवाले उपस्थित हों तथा जहां गांडीव धनुषका धारण करनेवाला अर्जुन वर्तमान हो [**तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम**] तहां लक्ष्मी,

विजय और ऐश्वर्योंकी वृद्धि और अटल राजनीति अवश्य वर्तमान रहेगी। यही मेरी दृढ सम्मति है।

संजयके कहनेका तात्पर्य यह है, कि इस मेरे अन्तिम वचनको सुनकर राजा धृतराष्ट्र संधि करलेवें तो उत्तम होवे।

इसी आशयसे कहता है, कि हे राजा धृतराष्ट्र! तुम कृष्णको वसुदेवका पुत्र और अर्जुनको पाण्डुका पुत्र मत समझो क्योंकि इनकी गणना सामान्य पुरुषोंमें नहीं है। मैं अपनी दिव्य दृष्टिसे देख रहा हूं और अनेक पुराणोंद्वारा सुन चुका हूं, कि ये दोनों नर नारायणके अवतार हैं यह, निश्चय है, कि जहां एक अवतारकी स्थिति होती है तहां तो विश्वमात्रकी सम्पदा एक ही होजाती है। सब देव-देवी तहां ही पहुंचकर तिस अवतारकी सेवा करते हैं एवम् विपत्ती और शत्रुओंका नाश होजाता है। फिर जहां दो अवतार एकत्र होजावें तहांकी विजय, विभुति, श्री, नीति, प्रभाव, पराक्रम, तेज, शौर्य, वीर्य इत्यादिका तो कहना ही क्या है। इसलिये यदि तुम अपनी भलाई चाहते हो तो संधि करनेमें तनक भी विलम्ब मत करो! मैं अपनी दिव्य दृष्टिसे देख रहा हूं, कि यदि तुम संधि नहीं करोगे तो तुम्हारे सब पुत्र एक २ करके मारे जावेंगे, राज्यसे हाथ धोना पडेगा, हाथ मल-मलकर पछताना पडेगा और यही कहना पडेगा, कि हाय मैंने संजयकी बात नहीं मानी!

हे राजन! संसृति-सुख नश्वर है राज्य-सुख आगमापायी है। जो कुछ यह रचना देखी जाती है सब मायाकृत है इसलिये बुद्धिमान् इस मायाके प्रलोभनोंकी ओर नहीं देखते हैं। बहुतेरे तो राज्यसुख

परित्याग कर बनोंमें जा भगवद्भजनसे भगवत्स्वरूपको प्राप्त करते हैं क्योंकि यह संसार केवल एक स्वप्ननगर है। जैसे स्वप्नमें कोई दरिद्र करोडोंकी सम्पत्ति पाकर करोडों मुद्राओं और मोहरोंकी गिनती करने लगजाता है इतनेमें स्वप्न टूटजानेसे एक मुद्रा वा एक मोहर भी हाथ नहीं आता क्योंकि ये सब इन्द्रजालवत् हैं। प्रमाण— "**प्रकृतेः परिणामो वा जगत्किंचिन्द्रजालवत्**" अर्थात् इन्द्रजालके समान यह प्रकृतिका परिणाममात्र है यथार्थ कुछ भी नहीं। यदि यह कहो, कि मेरे ही पुत्र तो राज्यलोभसे युद्ध नहीं कररहे हैं पांडव भी तो राज्यके लोभसे युद्ध कररहे हैं तो हे राजन! पांडव लोभी नहीं हैं वे तो यों कहते हैं, कि हमारी शरीरयात्राके निर्वाहकेलिये केवल पांच ही ग्राम देदो। फिर पांच ग्राम देकर सन्धि करलेनेमें तुम्हारी क्या हानि है? तुम्हारे कल्याणके निमित्त मुझे जो कुछ उचित था कहदिया अब तुम्हारी इच्छा! जो चाहो करो! अब मैं फिर इस विषयमें कुछ कहनेकेलिये मुख नहीं खोलूंगा इतना कहकर संजय भी चुप होगया॥ ७४, ७५, ७६, ७७, ७८ ॥

वृन्दारण्ये तपनतनयातीरवानीरकुञ्जे,
गुञ्जन् मञ्जुभ्रमरपटलीकाकलीकेलिभाजि।
आभीराणां मधुरमुरलीनादसम्मोहितानां,
मध्ये क्रीडन्नवतु नियतं नन्दगोपालबालः॥ १ ॥

अभिनवनवनीतस्निग्धमापीतदुग्धं,
दधिकणपरिदिग्धं मुग्धमंगं मुरारेः
दिशतु भुवनकृच्छ्रच्छेदितापिच्छगुच्छ-

छविनवशिखिपिच्छालाञ्छितं वांछितं वः ॥ २ ॥
कौन्तेयस्य सहायतां करुणया गत्वा विनीतात्मनो,
येनोल्लंघितसत्पथः कुरुपतिश्चक्रे कृतान्तातिथिः ।
त्रैलोक्यस्थितिसूत्रधारतिलको देवः सदा सम्पदे,
साधूनामसुराधिनाथमथनः स्ताद्देवकीनन्दनः ॥ ३ ॥
देवः पायादपायान्नः स्मेरेन्दीवरलोचनः ।
संसारध्वान्तविध्वंसहंसः कंसनिषूदनः ॥ ४ ॥

पान्तु वो जलदश्यामाः शार्ङ्गज्याघातकर्कशाः ।
त्रैलोक्यमण्डपस्तम्भाश्चत्वारो हरिबाहवः ॥ ५ ॥
गुणात्मनस्तेऽपि गुणान्विमातुं,
हिताऽवतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य ।
कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पै-
र्भूपांसवः खे मिहिका द्युभासः ॥ ६ ॥
तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो,
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम् ।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते,
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥ ७ ॥
मन्दारमल्लिमकरन्दसुलुब्धभृंगाः,
प्रोत्कण्ठिताः सुमुदिरध्वनिभिर्मयूराः ।
वीणारवेण विगतक्रियगन्धवाहा,
माद्यन्ति वेणुरणितेन वलेन भक्ताः ॥ ८ ॥

केयूरचुम्बितमनोहरबाहुयुग्मं,
यच्चार्पितं भवति कण्ठतटे स्वमातुः ।
दुःखं विनाशयति संयतशृङ्खलायाः,
जाने कदा तदिह माल्यति हंसकण्ठे ॥ ६ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिब्राजकाचार्य्येण श्रीस्वामिना हंसस्वरूपेण विरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतायां हंसनादिन्यां टीकायां मोक्षसन्न्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥

॥ महाभारते भीष्मपर्वणि तु द्विचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥

इत्यष्टादशोऽध्यायः ।

पञ्चाशीत्यधिकैकोनविंशतिशततमे वैक्रमेऽब्दे फाल्गुनकृष्ण-
पञ्चम्यां गुरुवासरे समाप्तेयं व्याख्या ॥

॥ विक्रमसम्वत् १९८५ सन् १९२९ ई० ॥

श्रीमद्भगवद्गीता हंसनादिनीटीका समाप्ता

॥ अनेन श्रीकृष्णाग्रजः प्रीयताम ॥

सम्वत् १९८५ विक्रमी सन् १९२९ ई०
प्रथम बार १०००

अथ श्रीमद्भगवद्गीता-श्लोकानुक्रमणिका।



इति श्रीमद्भगवद्गीता-श्लोकानुक्रमणिका समाप्ता ।

शुद्धाशुद्धपत्रम् ।

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
अजुनके	अर्जुनके	३५३४	७
त	तु	३५६१	११
वैराग्यर्कं	वैराग्यके	३५६२	२०
चतुर्थे	चतुर्थ	३५६३	१
उपषाद्य	उपपाद्य	३६१७	६
गजस	राजस	३६४५	७
तेंपया	र्पणा	३६७७	४
अनोन्य	अन्योन्य	३६८१	४
सं	सं।	३६८१	६
दिखलतेहुए	दिखलातेहुए	३६८२	६
गुणत्मक	गुणात्मक	३६९२	११
सुग्व	मुग्ध	३६९७	६
चालियके	चालियकेलिये,	३७०४	२०
तेजप्रभृ०	तेजःप्रभृतीनि,	३७०६	६
वर्णानाम्मिति	वर्णानामिति	३७०७	१८
ब्रह्मण	ब्राह्मण	३७०८	१२
कर्णादौ	करणादौ	३७१८	१७
परमपद	परमपदकी	३७२४	७
परधर्मात्	परधर्मात	३७२४	८
जागृवासः	जागृवांसः	३७६१	१
त्यंथ	ऽत्यर्थ	३७७१	१४
सवर्कर्माणि	सर्वकर्माणि	३७७८	२०
मच्चिचता	मच्चित्ता	३७७९	१३
मच्चितः	मच्चित्तः	३७८०	१
विवेका	विवेक	३७८१	१
सी र्मे	सीधर्मे	” ८८	११
दुखसुःख	दुःखसुख	” ९०	७
मू र्छा	मूर्छा	” ”	११
कारज़ाता	करजाता	” ९१	१३
चित्तवो	चित्तको	” ९३	१६
कुंजी	कुंजी	३७९४	११
रतर्जुन	अर्जुन	३८०५	१६
अ	तर	” ६	४
मतीज्ञां	मतिज्ञां	” ७	१०
वालेन वशि	बाले नवशि	” १२	३
योगिन्	योगिन	३८२०	१०
तत्र	स्त्व	”	११
भागवत्	भागवत	”	१३
कस्मिन्न्यि	कस्मिन्नपि	” २७	६
इन्हासे	इन्हींसे	”	१०
नन्दके	नन्दकी	”	१४
यरय	यस्य	”	२१
गुरा	गुरौ	”	”
बूफकर	बूझकर	”	२
विद्वान्के	विद्वानोंके	”	११
Breesd	Breeds	”	१६
३२२५	३८३५		
तों	तो	३८३५	४
मद्भक्तेष्वभि	मद्भक्तेष्वभि	” ३८	१७
श्रेष्ठेन । ज्ञान	श्रेष्ठेन ज्ञान	” ४२	१८
पुण्यर्कमणाम्	पुण्यकर्मणाम्	” ४४	१८
तच्छद्द	तच्छब्द	” ४६	१
पुष्पित	पुष्पित	” ”	५४
संमोहः	सम्मोहः	” ४७	६
दिव्यवक्षु	दिव्यचक्षु	” ५१	१८
संजस्य	संजयस्य	” ५२	१२
हर्ष	हर्षं	” ”	१४
राज्यलक्ष्म्याः	राजलक्ष्म्याः	” ”	२०
सजय	संजय	” ”	१६
करने	करने	” ५७	३

पुस्तक मिलनेका पता

मैनेजर—त्रिकुटीमहल चन्दवारा
मुजफ्फरपुर (विहार)

Manager—Trikutimahal Chandwara
Muzaffarpur (Bihar)

तथा

मैनेजर—श्रीहंसाश्रम—
अलवर (राजपूताना)

Manager—Shri Hans Ashram
Alwar [Rajputana]